प्रवचन–1

स्वरूपाचरण चारित्र

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः, सिद्धाः कुर्युश्च मंगलम्।
आचार्याः पाठकाश्चापि, साधवो मम मंगलम्।।

आज मैं स्वरूपाचरण चारित्र के बारे में कुछ प्रकाश डालूँगी। मैंने अनेक ग्रंथों का स्वाध्याय किया है, अपने दीक्षा गुरु आचार्यश्री वीरसागर महाराज के मुख से बहुत कुछ सुना है लेकिन स्वरूपाचरण चारित्र का नाम नहीं सुना। अनगार धर्मामृत, समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रंथों में भी कहीं स्वरूपाचरण का नाम नहीं आया है। हाँ, छहढालाकार पं. दौलतराम जी ने छठी ढाल में स्वरूपाचरण चारित्र को लिया है। ग्रंथों में शुद्धोपयोग शब्द आया है। शब्द का अन्तर होते हुए भी अर्थ साम्य से स्वरूपाचरण चारित्र और शुद्धोपयोग पर्यायवाची शब्द दिखते हैं। उसी पर मैं प्रकाश डाल रही हूँ। मेरे सामने प्रवचनसार प्रमुख ग्रंथ है, इसमें नवमीं गाथा में लिखा है–

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणाम सब्भावो।।9।।

अर्थात् जब यह जीव शुभ और अशुभ रूप से परिणमन करता है तब यह शुभ और अशुभरूप होता है और जब शुद्धरूप से परिणमन करता है तब शुद्धरूप होता है। चूँकि जीव का स्वभाव परिणमनशील है। अब मैं टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि की पंक्ति बताती हूँ–

'शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति।' जब जीव शुभ अथवा अशुभ राग भाव

से परिणमन करता है तब शुभ व अशुभरूप होता है।

'यदा पुनः शुद्धेनारागभावेन परिणमति।' और जब जीव शुद्धरूप से अथवा अराग भाव–विराग भाव से परिणमन करता है, तब शुद्धरूप होता है।

शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभावाः सन् शुद्धो भवतीति, इसलिए शुद्ध अर्थात् अराग भाव से परिणत स्फटिक के समान परिणमन स्वभाव वाला जीव शुद्ध हो जाता है। अराग भाव क्या है?

श्री अमृतचंद सूरि का अभिप्राय अरागभाव से शुद्धभाव से है। कुछ लोग शुद्धभाव को चौथे गुणस्थान में घसीटते हैं लेकिन यह यहाँ नहीं घटेगा।

श्री जयसेनस्वामी की पंक्ति देखें–

'मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः।' श्री जयसेन स्वामी तात्पर्यवृत्ति टीका में कह रहे हैं कि मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग है।

'तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि देशविरत-प्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः।'

उसके बाद असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में तारतम्यता से शुभोपयोग है।

'तदनन्तरप्रमत्तादिक्षीणकषायांतगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः।'

अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक षट्के यानि छः गुणस्थान में सातवें, आठवें, नवमें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान तक तरतमता से शुद्धोपयोग है।

तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोग फलमिति भावार्थः।।9।।

इसके अनन्तर सयोगी और अयोगी जिन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है। यह श्री जयसेन स्वामी की भाषा है। यही भाषा छहढालाकार पं. श्री दौलतराम जी ने की भी है। मैं छहढालाकार की पूरी पंक्तियों का अर्थ बताती हूँ–

''यों है सकल संयम चरित, सुनिए स्वरूपाचरण अब।
जिस होत प्रगटे आपनी निधि, मिटे पर की प्रवृति सब।।''

पं. श्री दौलतराम जी ने पहले साधुओं के 28 मूलगुणों का वर्णन किया, फिर बारह तप, दसधर्म आदि उत्तरगुणों का वर्णन किया। इसके बाद उन्होंने कहा–सकल संयम चारित्र यानि पूर्ण संयम मुनियों के होता है। अतः यह सकल संयम चारित्र हुआ। अब स्वरूपाचरण को सुनें, जिसके प्रगट होते ही अपनी ज्ञानादि निधि–सम्पत्ति प्रगट हो जाती है और पर वस्तुओं से सब प्रकार की प्रवृत्ति हट जाती है, उसे स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। अब मैं बताती हूँ छहढालाकार इस स्वरूपाचरण चारित्र को कहाँ तक मान रहे हैं–

''जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया,
वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया।
निजमाहिं निज के हेतु निजकर, आप को आपै गह्यो,
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेद न रह्यो।।''

ये कह रहे हैं जिन्होंने पैनी प्रज्ञारूपी छैनी को अन्दर डाल करके अंतरंग में भेद विज्ञान किया है। वर्णादि-रूप आदि बीस गुणों से और रागादि भावों से अपने आत्मभाव को एकदम पृथक् किया है और अपने आप में यानि अपनी आत्मा में ही स्थिर हुए हैं, उस समय उनके गुण, गुणी, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय में कुछ भी भेद नहीं रह जाता, सब विकल्प मिट जाते हैं। यही भाषा श्री अमृतचंद्रसूरि की समयसार में है–

'उदयति न नयश्री रस्तमेति प्रमाणं। (अमृतचंद्र गाथा 13 की टीका में कलशकाव्य में) जहाँ पर प्रमाण भी अस्त हो जाते हैं, नयों का प्रकाश नहीं रहता है आदि। पं. श्री दौलतराम जी ने आगे कहा–

जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहाँ,
चिद्भाव कर्म चिदेस कर्ता, चेतना किरिया तहाँ।।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दशा,
प्रगटी जहाँ दृग ज्ञान व्रत, ये तीनधा एकहि लसा।।

आत्म ध्यान की अवस्था में शुभोपयोग की निश्चलदशा, शुद्धोपयोग की निश्चलदशा प्रगट हो जाती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र एकरूप बन जाते हैं यानि अभेद रत्नत्रय प्रगट हो जाता है। आगे देखिए–

परिमाण नय निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखे।
दृग ज्ञान सुख बल-मय सदा, नहिं आनभाव जु मो विखें।।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितें।
चित्पिंडचंडअखंड सुगुण, करण्ड च्युत पुनि कलनिते।
यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिनि अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिंद्र के नाहीं कह्यो।।
तबही शुकल ध्यानाग्नि करि, चउ घाति विध कानन दह्यो।
सब लख्यो केवलज्ञान करि, भवि लोक को शिवमग कह्यो।।

पं. श्री दौलतराम जी कह रहे हैं जब वे मुनिराज इस प्रकार का चिन्तन करते हुए अपने आप में– आत्म ध्यान में लीन हो जाते हैं, उस समय उनको जो आनन्द आता है, वह इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, अहमिन्द्र को भी नहीं मिलता। फिर क्या होता है? उस समय वे शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा चार घातिया कर्मरूपी वन को नष्ट कर देते हैं और केवलज्ञान से समस्त लोक-अलोक को जानकर भव्यों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि छहढालाकार स्वरूपाचरण नाम से शुद्धोपयोग को कह

रहे हैं और सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक पहुँचा रहे हैं क्योंकि बारहवें गुणस्थान के अंत में शुद्धोपयोग के बल से ही घातिया कर्मों को नाश करके केवली बनते हैं। इसमें जो सराग और वीतराग की बात आई, उसके बारे में मैं आपको बताऊँ- श्री कुन्दकुन्द स्वामी के प्रवचनसार में 12वीं गाथा की टीका में श्रीजयसेनस्वामी ने लिखा है-**'तच्चारित्रं अपहृतसंयमोपेक्षया संयमभेदेन सराग-वीतरागभेदेन शुभोपयोग शुद्धोपयोग भेदेन च द्विधा भवति।**

चारित्र के दो भेद हैं– अपहृत संयम, उपेक्षा संयम अथवा सराग चारित्र, वीतराग चारित्र अथवा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। इसी को भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रय भी कहते हैं। जो अपहृत संयम है उसके सराग चारित्र, शुभोपयोग, भेदरत्नत्रय ये पर्यायवाची नाम हैं और उपेक्षा संयम के वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग, अभेदरत्नत्रय ये पर्यायवाची नाम हैं। इसी को छहढालाकार ने अपने शब्दों में स्वरूपाचरण कहा है।

एक बात मैं आपको बताती हूँ। मैंने नियमसारप्राभृत ग्रंथ पर स्याद्वादचन्द्रिका टीका लिखी है। सन् 1985-86 में मैं कुछ अस्वस्थ चल रही थी। उस समय पं. श्री फूलचंद जी शास्त्री प्रतिदिन मेरे पास आते थे। एक दिन वे बोले– माताजी! मैं आपकी कुछ वैय्यावृत्ति करना चाहता हूँ यानि मैं कुछ स्वाध्याय आपको सुनाना चाहता हूँ। मैं उस समय ज्यादा बैठ नहीं पाती थी अतः मुझे संकोच रहता था। फिर भी उन्होंने कहा, माताजी आप लेटी रहिएगा मैं आपको स्वाध्याय सुनाऊँगा। ठण्डी के दिन थे, प्रतिदिन वे पुराने मंदिर से आते, उस समय हमारे यहाँ स्याद्वादचन्द्रिका का स्वाध्याय चल रहा था, उन्होंने कहा मैं इसी नियमसार ग्रंथ की, माताजी की लिखी टीका को सुनाऊँगा, मैं इसे पढ़ना भी चाहता हूँ। उन्होंने दो-तीन महीनों में उसे आद्योपांत सुनाया। कुछ थोड़े पेज आखिरी के बचे थे, तब उन्होंने एक दिन एक बात कही। स्वाध्याय में ब्र. मोतीचंद जी (वर्तमान में क्षुल्लक मोतीसागर), ब्र.रवीन्द्र जी भी बैठते थे। पं. जी ने कहा– माताजी! आपने टीका बहुत सुन्दर लिखी है, एक-एक शब्द चुन करके रखा है और न जाने कितने ग्रंथों के समयोचित उद्धरण भी दिए हैं। इस प्रकार से वे जितनी तारीफ कर सकते थे, खूब किया। फिर बोले– वर्तमान में दो धाराएं आगम में हैं लेकिन माताजी! आपने एक धारा का अनुसरण किया है। मैंने पूछा दो धारा कौन सी हैं, तो वे बोले– एक ने चौथे गुणस्थान में वीतराग चारित्र को माना है और एक ने सातवें गुणस्थान से माना है।

मैंने कहा– पं. जी आगम में तो दो धारा नहीं हैं। वर्तमान में विद्वानों में दो धारा हो रही हैं। पं. जी बोले– आगम में है। मैंने कहा– कौन से आगम में है। तो वे चिन्तन करके बोले– अनगारधर्मामृत में। सराग-वीतराग की व्याख्या करते हुए उसमें लिखा है। मैंने उसी समय ब्र. माधुरी (वर्तमान में आर्यिका चंदनामती) से अनगारधर्मामृत

मंगवाया। जो पंक्ति उन्होंने बताई थी मैंने उसे खोलकर उन्हें दिखाया, तो उनकी बात उनसे कट गई और सातवें की बजाय ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में चली गई। खूब मजा आया, वे भी हँसे, अन्तरंग में उन्हें झेंप भी आई, संकोच भी हुआ। वह पंक्ति थी–

ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षणं।

विरागे दर्शनं त्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम्।।51।। (अनगार धर्मामृत पृ. 152)

इसकी टीका पं. आशाधर जी ने स्वयं की है। उन्होंने टीका में लिखा है– **'दर्शनं सरागं स्यात् सरागे असंयत सम्यग्दर्शनादौ।'** सराग सम्यग्दर्शन कहाँ होता है? सराग में, सराग व्यक्ति में, सराग जीव में, चाहे वह स्त्री, पुरुष, देव हो, असंयत सम्यग्दृष्टि आदि राग सहित जीव में सराग सम्यग्दर्शन होता है और जो विराग में सम्यग्दर्शन होता हैवह वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है। वह कहाँ होता है? तो इनकी टीका आगे देखिए–

विरागे-उपशांतकषायादिगुणस्थानवर्तिनी दर्शनं स्यात्। विराग यानि उपशांत कषाय आदि गुणस्थानवर्ती जीवों के वीतराग सम्यग्दर्शन होता है और यह वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिमात्ररूप होता है। श्री जयसेन स्वामी तो सातवें से ले रहे थे जबकि पं. आशाधर जी ने ग्यारहवें, बारहवें में पहुँचा दिया। अब पं. जी की बोलती बंद हो गई। वे बोले– माताजी! आप तो सबसे आगे निकल गई हैं। मेरी बात मेरे से ही काट दी। बात यह है कि कभी-कभी गलतफहमी भी हो जाती है। टीका न पढ़कर 'विरागे आत्मशुद्धिमात्रम्' देखकर कोई चौथे में घटित करने लगते हैं।

अब मैं आपको आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के शब्दों में बताती हूँ वे कहते थे स्वरूपाचरण नाम से शब्द आगम में नहीं है। शुद्धोपयोग शब्द है जो कि सातवें से बारहवें गुणस्थान तक है। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र रहता है यह बात ध्यान में रखना चाहिए। ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान का जो यथाख्यात चारित्र या यथाख्यात संयम है, उसमें भी शुद्धोपयोग, अभेद रत्नत्रय, वीतराग चारित्र, उपेक्षा संयम ये सब पर्यायवाची नाम ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान तक पहुँचते हैं क्योंकि शुद्धोपयोग का फल अथवा अपहृत संयम के बाद उपेक्षा संयम का फल तेरहवां गुणस्थान है।

उपेक्षा संयम कहो या वीतराग चारित्र, वीतराग संयम कहो या शुद्धोपयोग, स्वरूपाचरण कहो या अभेदरत्नत्रय, ये सब पर्यायवाची नाम हैं। ये जब 12वें गुणस्थान में पहुँचते हैं, तो यथाख्यात चारित्र में भी घट जाते हैं।

तो कथंचित् मेरा कहना यह है कि सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक स्वरूपाचरण चारित्र है। सिद्धांत की भाषा में, धवला की भाषा में वह धर्मध्यान के भेदरूप में है क्योंकि धवलाकार ने वहाँ तक अर्थात् दसवें तक धर्मध्यान माना है। मूलाचार ग्रंथ में श्रीकुंदकुंद स्वामी ने 10वें गुणस्थान तक धर्मध्यान माना है। 11वें, 12वें गुणस्थान में शुक्लध्यान माना है। 12वें गुणस्थान तक, यथाख्यात चारित्र तक

यह व्याख्या चली जाती है।

एक बात मैं आपको और बताऊँ कि हस्तिनापुर में 13, 14, 15 अक्टूबर 2005 में विद्वानों की संगोष्ठी थी। उसमें यह विषय आया था। मैंने इस पर प्रकाश डाला। मुझे यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि दिल्ली में कतिपय विद्वानों ने अर्थ का अनर्थ किया है। मैं इस बात को बताना चाहती हूँ कि यथाख्यात संयम– यथाख्यात चारित्र में स्वरूपाचरण गर्भित है, न कि यथाख्यात चारित्र स्वरूपाचरण में गर्भित है। यथाख्यात चारित्र तो 11वें, 12वें गुणस्थान में होता है जबकि स्वरूपाचरण चारित्र 7वें से लेकर 10वें तक तो है ही, 12वें तक भी है, तो स्वरूपाचरण शब्द, अभेद रत्नत्रय शब्द, उपेक्षा संयम शब्द, शुद्धोपयोग शब्द ये 11वें, 12वें गुणस्थान में भी चले जाते हैं। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। अर्थ का अनर्थ कभी नहीं करना चाहिए।

छहढाला की पंक्ति का आधार लेकर ही मैंने कहा है–

सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो।
तबहि शुकल ध्यानाग्नि करि, चउघाति विध कानन दह्यो।।

शुक्लध्यान के द्वारा चार प्रकार के घातिया कर्मरूपी वन को दग्ध कर दिया। इसका मतलब यह है कि छहढालाकार 11वें, 12वें गुणस्थान में उस स्वरूपाचरण चारित्र को मान रहे हैं। एक बात और मैं खुलासा कर दूँ कि सन् 1955 में दिसम्बर में जब मैं आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के संघ में पहुँची। उस समय संघ में आर्यिका माताएं ब्रह्मचारिणियों को सिद्धान्त प्रवेशिका पढ़ाती थीं। जब यह चर्चा का विषय बना कि स्वरूपाचरण चारित्र को श्री गोपालदास वरैया ने सिद्धान्त प्रवेशिका में चौथे गुणस्थान में माना है और छहढालाकार ने स्वरूपाचरण चारित्र को सातवें से माना है, यानि सकल संयम के बाद माना है तो स्वरूपाचरण की व्याख्या ऐसे भी कर सकते हैं 'स्वरूपे आचरणं स्वरूपाचरणं'। श्री जयसेन स्वामी ने अभेद रत्नत्रय स्वरूप, निश्चय रत्नत्रय स्वरूप को एक रूप में घटित किया है। शुद्ध आत्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरणरूप अभेद रत्नत्रय ऐसा घटित किया है, तो 'स्वरूपे आचरणं स्वरूपाचरणं' इस शब्द से व्याख्या घट जायेगी।

उस समय आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज ने सिद्धान्त प्रवेशिका संघ में पढ़ाना ही बंद कर दिया। वे बोले पं. गोपालदास वरैया ने जो इसमें चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र लिख दिया है यह गलत है। इसलिए संघ में इसे कोई नहीं पढ़ेगा। इस बात को हमेशा ध्यान में रखना जो चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण को मानते हैं, वह कथमपि समयसार से, प्रवचनसार से या अनगार धर्मामृत से कहीं भी घटित नहीं होता है।

आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज और भी प्रमाण देते थे, उसे आर्ष परम्परा के सभी विद्वान पुष्ट करते थे। वे कहते थे कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी का बनाया हुआ

चारित्रपाहुड़ ग्रंथ है, उसमें चारित्र के दो भेद किए हैं– सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण। सम्यक्त्वाचरण को सम्यक्त्वरूप में लिया है जिसमें आठ अंग हों, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये चारगुण हों, वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। संयमाचरण चारित्र में उन्होंने 2 भेद किए हैं– देशसंयम, सकल संयम। देशसंयम की व्याख्या अविरत सम्यग्दृष्टि में नहीं घटेगी, पाँचवें गुणस्थान में घटेगी। अविरत सम्यग्दृष्टि यानि चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण है। संयमाचरण पाँचवें गुणस्थान से शुरू होता है उसमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत को लिया है।

यह पंक्ति मैं आपको बताऊँ–

दंसणवय सामाइय, पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारम्भ परिग्गह, अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य।।

(चारित्र पाहुड़ गाथा 22, पृ. 82)

पञ्चेवणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि, य सञ्जम चरणं च सायारं।।23।। पृ. 85

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत अथवा ग्यारह प्रतिमाएं ये सागार का संयमाचरण है और इसके बाद अनगार का संयमाचरण अट्ठाईस मूलगुणरूप है। तो सम्यक्त्वाचरण में उन्होंने स्वरूपाचरण को नहीं लिया है। कहने का मतलब ये रहा कि आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज, आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज एवं इस परम्परा के सभी साधु यह कहा करते थे कि सम्यक्त्वाचरण नाम का आगम में चारित्र आया है स्वरूपाचरण नाम से कोई चारित्र नहीं आया है। सन् 1959-60 में जब संघ में श्री ज्ञानसागर जी मुनि बने थे, वे भी इस विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश डालते थे। समयसार आदि के स्वाध्याय में श्री जयसेन स्वामी की टीका ले करके, शुद्धोपयोग को 7वें से स्वीकार करके, आत्म विशुद्धि मात्र जो वीतराग अवस्था है, उसे सातवें से ही घटित करते थे। सबको बहुत अच्छा लगता था। एक बार मैंने श्री ज्ञानसागरजी महाराज से आग्रह किया कि आपकी संस्कृत अच्छी है अतः आप श्री जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति टीका का हिन्दी अनुवाद कर दीजिए। चूँकि उस समय समयसार के जितने भी अनुवाद थे वे सब अमृतचन्द्रसूरि की टीका के अनुवाद थे। इसीलिए खींचतान करके अर्थ का अनर्थ हुआ करता था। तब श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने जयसेनाचार्य की टीका का हिन्दी अनुवाद बहुत अच्छा किया है, जो कि छप चुका है।

उसके अनन्तर मैंने हस्तिनापुर में सन् 1985-86 के बाद समयसार की दोनों टीकाओं का श्रीअमृतचन्द्रसूरि और श्री जयसेनस्वामी की टीकाओं का हिन्दी अनुवाद 'ज्ञानज्योति' टीका नाम से किया है। उसमें जगह-जगह भावार्थ और विशेषार्थ खोले हैं, आगे पीछे का संदर्भ जोड़ा है, जिससे कोई भी अर्थ का अनर्थ न कर सके।

समयसार की भाषा में क्या है? पहले तो ये निश्चय को लेते हैं, फिर व्यवहार को लेते हैं, फिर दोनों का समन्वय करते हैं यह उनकी एक पद्धति है। निश्चय को पकड़कर कोई एकांगी न बन जाए। केवल व्यवहार को समझकर कोई एकांगी न हो जाय, इसलिए फिर उन्होंने समन्वय किया है। मैंने समन्वयपरक गाथाएं एक बार निकालकर अलग से छपाई थी। दिल्ली में सन् 1980 में समयसार की वाचना में विद्वानों को दिया था। एक महीने तक वाचना चली, उस समय पं. श्री कैलाशचंद जी शास्त्री भी आये थे। उस वाचना में भाग लिया था और दो दिन उन्होंने भी इसका वाचन किया। पं. श्री जगन्मोहनलाल शास्त्री और अनेक विद्वानों ने भी इसका वाचन किया था। विशेष रूप में पं. श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य को आमंत्रित किया था, वे इसमें प्रमुखरूप से वाचन करते थे।

मैंने निश्चयपरक गाथाएं छाँट-छाँटकर अलग निकाली, व्यवहारपरक गाथाओं को अलग निकाला और समन्वयपरक गाथाएं भी अलग करके दिखाया है। लोगों को बहुत अच्छा लगा। इसमें जगह-जगह गाथाओं में मुनि शब्द आया है, श्रावक शब्द नहीं आया है। इस बात पर भी मैंने प्रकाश डाला था। नियमसार में एक भक्ति नाम का अधिकार है, उसमें श्रावक शब्द और मुनि शब्द दोनों आये हैं। सकल संयमधारी मुनि अर्थात् अट्ठाईस मूलगुणधारी मुनि में ये सब बातें शुद्धोपयोग की अर्थात् निश्चय की घटित हो जाती हैं। इस प्रकार मैंने आपको स्पष्ट बता दिया कि सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण दो ही अपने यहाँ माने हैं, स्वरूपाचरण को नहीं माना है। छहढालाकार के शब्दों में हम स्वरूपाचरण को लेते भी हैं तो इसमें कोई बाधा नहीं है। 'स्वरूपे आचरणं स्वरूपाचरणं' इन्होंने सातवें गुणस्थान से उसको घटित किया है। इन्होंने बहुत स्पष्ट कहा है–

'यों है सकल संयम चरित सुनिए स्वरूपाचरण अब।'

यहाँ तक इन्होंने सकलसंयम का वर्णन मूलगुण और उत्तरगुण रूप से कर दिया है और स्वरूपाचरण को इन्होंने शुक्लध्यान तक केवलज्ञान होने तक पहुँचाया है। इन सब बातों को देखते हुए यह समझ में आता है कि स्वरूपाचरण शब्द शुद्धोपयोग का पर्यायवाची शब्द है जो कि सातवें से शुरू होकर बारहवें तक रहता है और शुद्धोपयोग का फल 13वाँ, 14वाँ गुणस्थान है, जो कि केवली अवस्था में है यह निष्कर्ष निकलता है। इस बात को अच्छी तरह से समझना चाहिए।

वर्तमान में विचार करके देखा जाये कि हम लोग इसको क्यों पढ़ें, जब हम लोग इसके अधिकारी ही नहीं हैं। तो बात यह है कि भावना बहुत बड़ी चीज है। जब हम शुक्लध्यान की भावना, सिद्ध होने की भावना भाते हैं तो समयसार पढ़कर समयसाररूप बनने की भावना क्यों नहीं भा सकते? पिण्डस्थ ध्यान में जब तत्त्वरूपवती धारणा की जाती है तब ऊर्ध्वगमन की भावना भाई जाती है।

आज एकाग्रचिंतानिरोधरूप धर्मध्यान नहीं हो सकता है क्योंकि अपने में इतनी संहनन शक्ति नहीं है, आज धर्मध्यान भी भावनारूप है। आचार्यों ने जगह-जगह कहा है भावना, चिन्तन, अभ्यास यही सब चलते हैं, आज जिसे हम ध्यान कह देते हैं पिण्डस्थ ध्यान, पदस्थ ध्यान, कोई भी ध्यान हो, आज की भायी गई भावना एक न एक दिन शुक्लध्यानरूप परिणत हो सकती है। पाँचवें गुणस्थान तक ये भावनारूप चलेगी, छठे गुणस्थान में अगर भावलिंगी हैं तो छठे, सातवें में परिवर्तन करते रहेंगे। सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग कहीं-कहीं माना है। आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज कहा करते थे कि सातवें गुणस्थान में दो पाये हैं– एक स्वस्थान अप्रमत्त और दूसरा सातिशय अप्रमत्त। सातिशय अप्रमत्त से शुद्धोपयोग शुरू होता है और स्वस्थान अप्रमत्त में शुभोपयोग ही रहता है।

जो भी हो, वर्तमान में स्वस्थान अप्रमत्त ही है सातिशय अप्रमत्त नहीं है। अगर हम स्वस्थान अप्रमत्त में भी शुद्धोपयोग को मानें तो कोई आगम से बाधा नहीं आती है क्योंकि जहाँ शुभोपयोग को सातवें से शुरू किया है, वहाँ दो भेद नहीं खोले हैं। कहीं-कहीं खोला है अतः मुनि ही इसके अधिकारी हैं, हम और आप देशव्रती संयमासंयमी गुणस्थान की चरमसीमा को प्राप्त करने वाले इसकी भावना ही भा सकते हैं और भावना भाते ही रहना चाहिए क्योंकि भावना ही एक दिन फलवती होती है।

भावना, अभ्यास, चिन्तन बार-बार उसकी ओर अपना उपयोग लगाना, उसको प्राप्त करने की उत्कट– तीव्र अभिलाषा होना ये भी बहुत बड़ी बात है। कभी-कभी मैं प्रवचन में कह दिया करती हूँ कि खेल-खेल में जैसे बालक राजा बन जाते हैं, प्रधानमंत्री बन जाते हैं या खेल के खिलाड़ी बन जाते हैं, कुछ भी बन जाते हैं, ऐसे ही जब आप बार-बार चिंतन करेंगे कि मैं ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला होने से एक समय में ऊर्ध्वगमन करते-करते सिद्धालय में विराजमान हो गया हूँ। जहाँ भगवान महावीर विराजमान हैं, ऐसे सिद्धालय में मेरी आत्मा शुद्ध चिच्चैतन्यस्वरूप आठों कर्मों से रहित विराजमान है, ऐसी भावना भाने से एक न एक दिन वह अभ्यास फलीभूत हो जायेगा। इसीलिए सिद्धभूमियों की वंदना की जाती है, तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियों की वंदना की जाती है। तीर्थयात्रा का भी यही अभिप्राय रहता है।

भगवान शांतिनाथ ने हस्तिनापुर में जन्म लेकर राज्य किया और अनेक प्रकार से अपने चक्ररत्न के द्वारा दिग्विजय करके छहखण्डों को जीतकर एकछत्र शासन किया पुनः इसी हस्तिनापुर की भूमि में भगवान शांतिनाथ ने दीक्षा ग्रहण की, दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रकट हो जाता है। दीक्षा लेते समय इतनी विशुद्धि होती है कि पहले शुद्धोपयोग होता है फिर शुभोपयोग होता है।

किन्हीं भी दीक्षा लेने वाले दिगम्बर जैन साधुओं का भी यह नियम है कि वे पहले

सातवें गुणस्थान में जायेंगे, फिर छठे में आयेंगे। जब सामान्य साधुओं के लिए इतनी विशुद्धि मानी गई है तो भगवान तीर्थंकर के लिए कहना ही क्या? जिस भूमि पर भगवान शांतिनाथ ने दीक्षा लेकर मनःपर्ययज्ञान प्राप्त किया और अनेक प्रकार से ध्यान, तपश्चरण किया पुनः यत्र-तत्र पूरे भारत में विचरण करके इसी हस्तिनापुर की भूमि में वापस आकर सहस्राम्रवन में दिव्य केवलज्ञान प्राप्त किया। ऐसी पावन भूमि पर बैठ करके बार-बार यह चिंतन करना चाहिए कि ऐसी शुद्ध अवस्था को एक दिन हम भी प्राप्त करें।

द्वात्रिंशतिका-सामायिक पाठ में लिखा है–

''बोधिः समाधिः परिणाम शुद्धिः, स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्य सिद्धिः।
चिन्तामणिं चिंतित वस्तुदाने, त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवी!''।।11।।

ये प्रार्थना सरस्वती देवी से हम लोग किया करते हैं। यहाँ कहने का मतलब यह रहा कि जब तक हम शुद्धोपयोग की स्थिति को न प्राप्त कर सकें, तब तक शुभोपयोग में रहते हुए उस शुद्धोपयोग की भावना भाएं और उसे प्राप्त करने के पुरुषार्थ के लिए बार-बार चिंतन करें कि हे भगवन्! कब वह समय आवे, जब हम शुभोपयोग में रहते हुए अशुभोपयोग से पूर्णरूपेण बचें और शुद्धोपयोग को प्राप्त कर सकें।

'विषय कषाय वंचनार्थं पंचपरमेष्ठीनां आराधना।'

पंचपरमेष्ठियों की आराधना, विषय कषाय से अपनी आत्मा को छुड़ाने के लिए बार-बार की जाती है, ऐसी भावना भाते रहें। यही भावना श्रेयस्कर फलीभूत होएगी। इस प्रकार से स्वरूपाचरण के बारे में मैंने कुछ प्रकाश डाला है। इस पर आप चिन्तन करें, विचार करें और आगम के परिप्रेक्ष्य में इस तथ्य को– रहस्य को समझें, यही मेरी मंगल प्रेरणा है।

गृहस्थ धर्म भी मुक्ति में हेतु है

सन्तः सर्वसुरा सुरेन्द्रमहितं मुक्तेः परं कारणम्,
रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति कायेसति।
वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया भक्त्यार्पिताज्जायते,
तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः।।

अर्थ–जो रत्नत्रय समस्त देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रों से पूजित है, मुक्ति का अद्वितीय कारण है तथा तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला है, उसे साधुजन शरीर के स्थिर रहने पर ही धारण करते हैं। उस शरीर की स्थिति उत्कृष्ट भक्ति से दिये गये जिन सद्गृहस्थों के अन्न से रहती है उन गुणवान सद्गृहस्थों का धर्म भला किसे न प्रिय होगा? अर्थात् सभी को प्रिय होगा।

–आचार्य पद्मनन्दिदेव

प्रवचन–2

जम्बूद्वीप क्या है?

श्रीमते वर्धमानाय, नमो नमित विद्विषे।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा, त्रैलोक्यं गोष्पदायते।।

भव्यात्माओं!

आज मैं आपको जम्बूद्वीप में ले चलती हूँ। जम्बूद्वीप क्या है? मध्यलोक में सर्वप्रथम द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है। हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप की बहुत ही सुन्दर रचना बनी है, जिसे दर्शकगण धरती का स्वर्ग कहते हैं और बहुत ही पुलकित होकर दर्शन करके प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं होते। ऐसे जम्बूद्वीप के बारे में शास्त्रीय आधार से मैं आपको बताती हूँ। जम्बूद्वीप 1 लाख योजन विस्तृत थाली के समान गोलाकार है। यह बड़ा योजन है, जिसमें 2000 कोस यानि 4000 मील माने गए हैं, अतः यह जम्बूद्वीप 40 करोड़ मील विस्तार वाला है। इसमें बीचों बीच में सुमेरुपर्वत है। यह सुमेरुपर्वत 1 लाख योजन ऊँचा है। पृथ्वी में इसकी जड़ 1000 योजन मानी गई है और ऊपर 40 योजन की चूलिका है।

अब क्रम से मैं आपको बताती हूँ। सबसे पहले जम्बूद्वीप में 6 पर्वत और 7 क्षेत्र हैं। यद्यपि हस्तिनापुर के जम्बूद्वीप में प्रवेश करते समय सबसे पहले विदेह क्षेत्र आता है। विदेह क्षेत्र से होते हुए सभी लोग सुमेरु पर्वत पर चढ़ते हैं लेकिन आप इसे दक्षिण से समझेंगे, तो आपको ज्यादा स्पष्ट समझ में आएगा। जम्बूद्वीप के बाहर चारों तरफ घेर करके लवण समुद्र है। जम्बूद्वीप में दक्षिण से पूर्व पश्चिम समुद्र का स्पर्श करते हुए हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी ये छह पर्वत हैं। हिमवन आदि 6 पर्वतों से जम्बूद्वीप में 7 क्षेत्र हो जाते हैं। सबसे पहले हिमवन पर्वत के दक्षिण में भरत क्षेत्र है। भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत, ऐसे 7 क्षेत्र हैं। तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में आप सभी पढ़ते हैं कि हिमवन आदि छः पर्वतों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केशरी, पुण्डरीक, महापुण्डरीक ऐसे छः सरोवर बने हुए हैं। इन सरोवरों पर बहुत ही सुन्दर कमल खिले हुए हैं। हिमवन पर्वत के पद्मसरोवर में 1 लाख 40 हजार से अधिक कमल हैं लेकिन एक मुख्य कमल बहुत सुन्दर और विस्तृत है। उस कमल की कर्णिका पर भवन बने हैं। छः मुख्य कमल की कर्णिका पर छः भवनों में श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छः देवियाँ रहती हैं और मुख्य कमल के चारों तरफ जो कमल खिले हुए हैं, उनमें देवी के परिवार कमल, जो कि मुख्य कमल से आधे-आधे प्रमाण वाले हैं, उनमें भी भवन बने हुए हैं, उनमें परिवार देवियाँ रहती हैं। ये देवियाँ हमेशा भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में जब तीर्थंकर भगवान

माता के गर्भ में आते हैं, तब माता की सेवा के लिए आती हैं।

आप पंचकल्याणक में देखते हैं आठ देवियों के बनाने की परम्परा है। उनमें शान्ति और पुष्टि को और जोड़ देते हैं। विदेह क्षेत्र में, ऐरावत क्षेत्र में भी जब तीर्थंकर भगवान माता के गर्भ में आते हैं, तब ये देवियाँ बड़े उत्साह, भक्ति से, आनन्दपूर्वक, इन्द्र की आज्ञा से माता की सेवा के लिए आती हैं। हस्तिनापुर में आप जम्बूद्वीप में देखें, यहाँ 6 पर्वतों पर 6 सरोवर बने हैं, उनमें कमल पर देवियों के छोटे-छोटे भवन बने हैं और उनमें छोटी-छोटी देवियाँ विराजमान हैं। इन 6 सरोवरों से 14 नदियाँ निकलती हैं। जिनके नाम हैं–गंगा, सिंधु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकांता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, स्वर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा। प्रथम और अन्तिम सरोवर से 3-3 नदियाँ निकलती हैं, बाकी 4 सरोवरों से 2-2 नदियाँ निकलती हैं। इन 14 नदियों में से भरत क्षेत्र में दो नदियाँ आई हैं गंगा, सिंधु और ऐरावत क्षेत्र में दो नदियाँ गई हैं, रक्ता-रक्तोदा। इनके निमित्त से इन दोनों क्षेत्रों में यानि भरत और ऐरावत क्षेत्र में छः-छः खण्ड हो जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है– भरतक्षेत्र में बीचों बीच में लम्बा पूर्व और पश्चिम समुद्र को स्पर्श करता हुआ विजयार्ध पर्वत है, जिस पर विद्याधर लोग रहते हैं। विजयार्ध पर्वत के नीचे गुफाएं हैं। चक्रवर्ती जब दिग्विजय के लिए निकलते हैं, तब इन गुफाओं के द्वार को दण्डरत्न से खोलते हैं और छः महीने तक उसमें से अग्नि जैसी भयंकर ज्वाला निकलती है, जब वह ज्वाला शांत हो जाती है, तब उस गुफा से प्रवेश कर चक्रवर्ती विजयार्ध के दूसरी तरफ उत्तर में जाकर तीनखण्ड को जीतते हैं।

हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना में देखें। हिमवन पर्वत के पद्म सरोवर के पूर्व दिशा में सुन्दर तोरण बना हुआ है। तोरण द्वार से गंगा नदी निकलकर नीचे गिरती है और आगे बढ़ती हुई विजयार्ध पर्वत की गुफा से बाहर आ करके सर्पाकार बहती हुई पूर्व लवण समुद्र में प्रवेशकर जाती है। इसी प्रकार पद्म सरोवर के पश्चिम से सिंधु नदी निकलकर नीचे गिर करके विजयार्ध पर्वत की गुफा से आकर पश्चिम में लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। इस प्रकार विजयार्ध पर्वत के इधर तीन खण्ड और उधर तीन खण्ड हो जाते हैं। यानि गंगा-सिंधु नदी और विजयार्ध पर्वत के निमित्त से भरतक्षेत्र के छः खण्ड हो जाते हैं। इनमें से बीच का आर्यखण्ड और बाकी पाँच म्लेच्छ खण्ड कहलाते हैं। आज का उपलब्ध सारा विश्व इसी भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में है। हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में विश्व का नक्शा रखा हुआ है। इस नक्शे में जहाँ भारत लिखा है, वहाँ आप और हम सभी रह रहे हैं। इसी भारत देश में जन्मभूमि अयोध्या नगरी और सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखर ये शाश्वत तीर्थ हैं और बाकी सारे तीर्थ, भगवन्तों की पंचकल्याणक भूमियाँस्वरूप तीर्थक्षेत्र, अतिशयक्षेत्र सभी भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में हैं।

एक विशेष बात यह है कि जहाँ पर गंगा, सिंधु आदि नदियाँ गिरी हैं, वहाँ पर बहुत सुन्दर रचना है। वहाँ एक कुण्ड बना है, कुण्ड में छोटा सा पर्वत है, पर्वत के ऊपर गंगा देवी का भवन बना है, गंगा देवी अपने भवन में रहती है, गंगा देवी के भवन की छत पर खिले हुए कमल पर जटाजूट समेत एक अर्हंत भगवान की प्रतिमा विराजमान है, जहाँ से गंगा नदी नीचे की ओर गिरती है, वहाँ पर गोमुख का आकार बना हुआ है। यह सभी रचना शाश्वत अनादि निधन अकृत्रिम है, कभी कष्ट नहीं होने वाली, रत्नों से निर्मित है। उस गोमुख द्वार से गंगा नदी निकलकर साक्षात् भगवान के मस्तक पर मूसलाधार, मोटी धारा से गिरती हुई, भगवान का अभिषेक करती हुई विजयार्ध पर्वत की गुफा में जाकर दक्षिण द्वार से निकलकर पूर्व समुद्र में प्रवेश कर जाती है। इसी तरह से सिंधु नदी के नीचे रचना बनी हुई है। वहाँ सिंधु देवी का भवन बना हुआ है।इसी पद्म सरोवर से उत्तर तोरणद्वार से रोहितास्या नदी निकल कर हैमवत क्षेत्र में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। महाहिमवन पर्वत के महापद्म सरोवर से रोहित नदी निकलकर हैमवत क्षेत्र में बहती हुई पूर्व समुद्र में मिल जाती है, ऐसे ही आगे नदियों का क्रम है। 14 नदियाँ इस प्रकार से निकलती हैं। विदेह क्षेत्र में सीता-सीतोदा नदी है।

अब आप देखिए कि जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र कितना बड़ा है? 1 लाख योजन में 190 का भाग देने पर $526\frac{6}{19}$ योजन भरतक्षेत्र का प्रमाण आता है। भरतक्षेत्र से हिमवन पर्वत दूना, हिमवन पर्वत से हैमवत क्षेत्र दूना, इससे दूना महाहिमवान पर्वत है, इससे दूना हरिक्षेत्र, उससे दूना निषध पर्वत है। इसके बाद आधी-आधी व्यवस्था होकर हिमवन और शिखरी पर्वत का प्रमाण समान है। भरत, ऐरावत का प्रमाण एक समान है।

सृष्टि की रचना के क्रम में बताया है कि षट्काल परिवर्तन भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में ही होता है। म्लेच्छ खण्ड में पूरा परिवर्तन नहीं होता और न विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों में रहने वाले विद्याधरों में होता है। वहाँ केवल चतुर्थ काल के आदि से अन्त तक का परिवर्तन होता है, ऐसी व्यवस्था बनी है।

हैमवत क्षेत्र, हरिक्षेत्र और बीच में विदेह क्षेत्र है, उसमें दक्षिण में देवकुरु और उत्तर में उत्तरकुरु है और आगे रम्यक् क्षेत्र, हैरण्यवत क्षेत्र, इन छः क्षेत्रों में भोगभूमि की व्यवस्था है। हैमवत क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि, हरिक्षेत्र में मध्यम भोगभूमि, देवकुरु में उत्तम भोगभूमि है। इसी तरह से उत्तरकुरु में उत्तम भोगभूमि, रम्यक् क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि और हैरण्यवत क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। ये भोगभूमि की व्यवस्था शाश्वत है, अशाश्वत नहीं है। भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल में भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। बाकी तीन काल में कर्मभूमि की व्यवस्था रहती है। जो छः भोगभूमि शाश्वत बताई हैं, वे अनादिकालीन हैं,

अनन्त काल तक रहेंगी, इनमें कभी परिवर्तन नहीं होता। आदि से अंत तक व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रहती है। जैसे– जघन्य भोगभूमि में 1 कोस का शरीर, 1 पल्य की आयु आदि है।

अब मैं आपको विदेह क्षेत्र ले चलती हूँ, जहाँ पर बहुत सुन्दर व्यवस्था है। पहले मैं सुमेरु पर्वत का वर्णन करती हूँ, जिसका आप प्रतिदिन सामायिक में ध्यान करें, ब्रह्म मुहूर्त में उठकर 5 मिनट सुमेरु का ध्यान करें। इससे असंख्यातगुणी पाप कर्मों की निर्जरा होगी और असंख्यातगुणा पुण्य का आस्रव होगा, महान पुण्य का बंध होगा और एक न एक दिन आप सभी साक्षात् विदेहक्षेत्र में स्थित अकृत्रिम सुमेरु पर्वत का दर्शन कर लेंगे। अगर आपने हस्तिनापुर में सुमेरु पर्वत का दर्शन किया है, तो उसका ध्यान करें। उसको देखते हुए अकृत्रिम सुमेरु पर्वत का चिन्तन करें। अकृत्रिम सुमेरु पर्वत 10 हजार योजन विस्तृत और 1 लाख 40 योजन ऊँचा है। 1000 योजन की नींव है और 40 योजन की चूलिका है। सबसे नीचे भद्रशाल वन है, इसमें बहुत सुन्दर उद्यान– बगीचा है। नाना प्रकार के सुन्दर वृक्ष फूल लगे हैं। यहाँ एक बात ध्यान में रखना है कि यह सब वृक्ष, फल-फूल वनस्पतिकायिक नहीं हैं प्रत्युत् रत्नों से बने पृथ्वीकायिक है। इस भद्रसाल वन में चारों दिशा में एक-एक विशाल जिनमंदिर है। इनका नाम है त्रिभुवन तिलक जिनमंदिर। उनमें 108-108 जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। भद्रशाल वन से 500 योजन ऊपर जाकर नंदनवन है। 500 योजन अन्दर प्रवेश करके कटनी है। इसमें भी चारों दिशाओं में 4 जिनमंदिर हैं। आगे साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जाकर सौमनस वन है। इसका घटने का क्रम बहुत सुन्दर है, चाहे जैसा ऊबड़-खाबड़ आकार से नहीं घटा है, प्रत्युत् अणु-अणु के क्रम से घटता हुआ बहुत सुन्दर चिकना है। जैसा कि आप हस्तिनापुर में देखें। साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर सौमनस वन है, इसकी कटनी भी अंदर 500 योजन की है। इसमें भी चारों दिशाओं में 4 जिनमंदिर हैं। इसके ऊपर 36 हजार योजन जाकर पांडुकवन है। धीरे-धीरे क्रम से घटता हुआ है। उसकी भी कटनी 494 योजन की है। पाण्डुक वन की चारों दिशाओं में 4 जिनमंदिर हैं। उसके ऊपर 40 योजन की चूलिका है, जो कि नीचे 12 योजन चौड़ी है और ऊपर घटती हुई 4 योजन मात्र रह गई है। 4 योजन भी काफी बड़ा है अतः चूलिका का अग्रभाग 4000 मील से गुणा करने पर 16000 मील का हो जाता है। पाण्डुकवन में चारों विदिशाओं में 4 शिलाएँ हैं। ईशान में पांडुक शिला, आग्नेय में पांडुकम्बला, नैऋत्य में रक्ता और वायव्य में रक्तकम्बला, ऐसी 4 शिलाएँ हैं। पाण्डुकशिला पर भरतक्षेत्र के भगवान का, पाण्डुकम्बला पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का, रक्ता शिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का, रक्त कम्बला शिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक किया जाता है।

भरतक्षेत्र, जिसका विस्तार $526\frac{6}{19}$ योजन बताया है, इसको हम 4000 मील से गुणा करते हैं, तो 21 लाख 5 हजार 263 मील का क्षेत्र आता है अर्थात् भरतक्षेत्र बहुत विस्तृत है। जैनभारती, जम्बूद्वीप, त्रिलोक भास्कर पुस्तक में मैंने योजन को मील रूप बना-बना करके स्पष्टरूप से विस्तार से दिया है। इस प्रकार सुमेरु में 16 जिनमंदिर हो गए और सभी में 108-108 जिनप्रतिमाएँ हैं। हस्तिनापुर में सुमेरु में 1-1 प्रतिमाएँ विराजमान हैं। पाण्डुकवन में चारों शिलाएँ दिखाई हैं। समय-समय पर इन शिलाओं पर भगवान का जन्माभिषेक किया जाता है। अकृत्रिम सुमेरु पर्वत लगभग 61 हजार योजन ऊँचाई तक बहुत ही सुन्दर, सर्व वर्ण का, पंचवर्णी, रत्नों से निर्मित है। इसके आगे स्वर्णमयी है। इसकी चूलिका वैडूर्यमणि से निर्मित नीलमरत्न के समान चमकती हुई है। ऐसा यह सुमेरु पर्वत, इसकी वंदना, इसका ध्यान समस्त पापों को नष्ट करके महान पुण्य का सम्पादन कराने वाला है। इसका ध्यान कभी न कभी सुमेरु पर्वत पर जन्माभिषेक कराने का सौभाग्य प्राप्त करा सकता है। आप इतनी भावना अवश्य भायें कि हमें अकृत्रिम सुमेरु पर्वत पर अभिषेक करने का और देखने का सौभाग्य प्राप्त हो। जो व्रती हैं, सम्यग्दृष्टि हैं वे नियम से देव पर्याय को प्राप्त करेंगे और वहाँ जाकर सुमेरु पर्वत पर भगवान का जन्माभिषेक करने का, देखने का अवसर अवश्य प्राप्त करेंगे।

आपने जम्बूद्वीप महामहोत्सव-2005 में सुमेरु पर्वत की पाण्डुकशिला पर शांतिनाथ भगवान का जन्माभिषेक देखा। सुमेरु पर्वत के नन्दन वन, पाण्डुकवन, सौमनस वन के पूर्व दिशा के भगवन्तों का अभिषेक भी दिखाया गया। लोग बहुत प्रसन्न हुए। आस्था चैनल के माध्यम से लाखों, करोड़ों लोगों ने घर बैठे अभिषेक देखा। केवल भारत में ही नहीं, विदेशों में भी लोगों ने देखा। जगह-जगह से सूचना प्राप्त हुई। लोग प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं हो रहे थे।

अब हम आपको आगे बताते हैं,सुमेरुपर्वत के नीचे भद्रसाल वन की चारों विदिशा में 4 गजदंत पर्वत हैं। जो आगे आकर नील और निषध पर्वत का स्पर्श कर रहे हैं। मूल में इनकी ऊँचाई 400 योजन की है। इस गजदंत पर्वत पर भी जिनमंदिर हैं और देवभवन भी बने हुए हैं। दो-दो गजदंत पर्वत के बीच में देवकुरु और उत्तरकुरु है। उत्तरकुरु में बहुत ही सुन्दर जम्बूवृक्ष है, जो कि अकृत्रिम अनादिनिधन वनस्पतिकायिक न होकर पृथ्वीकायिक रत्नों से निर्मित है। इसमें जामुन के पत्ते, फूल, फल लगे हुए हैं। इस वृक्ष की उत्तरी शाखा पर एक जिनमंदिर बना हुआ है और 3 शाखाओं पर देवों के भवन हैं, ऐसे ही देवकुरु में बहुत ही सुन्दर शाल्मली वृक्ष है। उसकी दक्षिणी शाखा में जिनमंदिर है और तीन शाखा पर देवों के भवन हैं। इस प्रकार देवकुरु-उत्तरकुरु में जम्बूवृक्ष-शाल्मलि वृक्ष है। हवा के झकोरे से जिनके पत्ते हिलते हैं और फूल सुगंधि

युक्त हैं। फल साक्षात् फल के समान है, लेकिन उसे खा नहीं सकते हैं। हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप में धातु से बने हुए जम्बूवृक्ष और शाल्मलि वृक्ष हैं। इसमें भी फल लगे हुए हैं, जिन्हें कई बार बंदर तोड़ लेते हैं।

विदेह क्षेत्र में बीचों बीच में सीता नदी बह रही है। हस्तिनापुर में आप जम्बूद्वीप रचना में ध्यान दें, तो देखेंगे कि सीता नदी के आजू-बाजू में चलने के लिए पगडंडी बनाई गई है। सबसे पहले इसमें दीवाल है, जिसे वेदिका कहते हैं। सीतानदी के उत्तर में 4 वक्षार पर्वत हैं और दक्षिण में 4 वक्षार पर्वत हैं। जिनके नाम हैं क्रमशः-चित्रकूट, नलिनकूट, पद्मकूट और एक शैलकूट। दक्षिण में त्रिकूट, वैश्रवण, अंजन, आत्मांजन। इन वक्षार पर्वत के बीच में 3 विभंगा नदियाँ हैं। विभंगा नदियों के नाम यथास्थान लिखे हुए हैं। इस प्रकार 4 वक्षार पर्वत और 3 विभंगा नदियों के विभाजन से 8 क्षेत्र बन गए। इन 8 क्षेत्रों के नाम इस प्रकार हैं– कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला और पुष्कलावती, ये आठ विदेहक्षेत्र सीता नदी के उत्तर में बने हुए हैं। ये विदेहक्षेत्र भरतक्षेत्र की अपेक्षा चौगुने विस्तार वाले हैं क्योंकि विदेहक्षेत्र तक रचना दूनी-दूनी है। हस्तिनापुर में रचना दूनी-दूनी नहीं ली गई है क्योंकि बनाने में संभव नहीं थी अतः विदेह क्षेत्र छोटे-छोटे दिख रहे हैं। विदेह क्षेत्र में बीचों बीच में विजयार्ध पर्वत है और नील पर्वत की तलहटी में कुण्ड बने हुए हैं। उन कुण्डों के तोरण द्वार से रक्ता, रक्तोदा नदी निकलकर सीता नदी में प्रवेश कर जाती है। अतः प्रत्येक क्षेत्र के भी छः छः खण्ड हो जाते हैं। 5 म्लेच्छ खण्ड, 1 आर्यखण्ड है। विदेह क्षेत्र में शाश्वत कर्मभूमि रहती है। इस प्रकार से मैंने आपको 8 विदेहक्षेत्र की व्यवस्था बताई है।

जम्बूद्वीप के वर्णन में अब मैं आपको सीतानदी के दक्षिण भाग में ले चलती हूँ। यहाँ पर भी 4 वक्षार पर्वत और 3 विभंगा नदी के निमित्त से 8 विदेह क्षेत्र हो जाते हैं। एक बात बीच में मैं और बता दूँ, जहाँ से हम वक्षार पर्वत को, वत्सा आदि विदेह क्षेत्र को देखते हैं, उसके पहले देवारण्य बने हुए हैं, पश्चिम में भूतारण्य आता है यानि पूर्व विदेह के अंत में जम्बूद्वीप की जगती (वेदिका) के पास सीता नदी के दोनों किनारों पर रमणीय देवारण्य वन स्थित हैं और पश्चिम विदेह के अंत में जम्बूद्वीप की जगती(वेदिका) के पास सीतोदा नदी के दोनों किनारों पर भूतारण्य वन हैं। इन वनों में सुवर्ण, रत्न, चाँदी से निर्मित वेदी, तोरण, ध्वज पताकादिकों से मंडित विशाल प्रासाद हैं। इन प्रासादों में उपपाद शय्या, अभिषेक गृह, क्रीड़नशाला, जिनभवन आदि विद्यमान हैं।

सीतानदी के दक्षिण भाग में आठ विदेह देश के नाम है–

वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, सुरम्या, रमणीया, मंगलावती। इनमें भी विजयार्ध पर्वत हैं। प्रत्येक विजयार्ध पर्वत के ऊपर आजू-बाजू में दो-दो कटनी

हैं। पहली-पहली कटनी पर आभियोग्य जाति के देव रहते हैं। दूसरी-दूसरी कटनियों पर विद्याधर रहते हैं और तीसरी कटनी यानि सबसे ऊपर समतल भाग पर नौ कूट बने हुए हैं। इनमें एक कूट पर जिनमंदिर और 8 कूटों पर देवों के भवन बने हुए हैं। जम्बूद्वीप में सर्वत्र विजयार्ध पर्वत की यही व्यवस्था है। भरत, ऐरावत क्षेत्र में ऐसे ही विजयार्ध पर्वत हैं। विदेह क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत के नीचे गुफा से और दक्षिण तरफ निषध पर्वत की तलहटी में जो कुण्ड बने हुए हैं, उन कुण्डों से गंगा-सिंधु नदी निकलकर विजयार्ध पर्वत की गुफा से होते हुए निकलती हैं, तो इस एक-एक विदेह क्षेत्र के छः छः खण्ड करती हुई सीता नदी में प्रवेश कर जाती है। सब जगह प्रवेश के स्थान पर रत्नों से निर्मित तोरणद्वार बने हुए हैं। उन तोरणद्वारों के अग्रभाग पर सर्वत्र अकृत्रिम जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। इन जिनप्रतिमाओं को देवगण, मनुष्य, ऋद्धिधारी महामुनि भी नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार मैंने आपको पूर्व दिशा के 16 विदेह क्षेत्रों के नाम बताए। अब मैं आपको सुमेरु पर्वत के पश्चिम दिशा में ले चलती हूँ। यहाँ पर सीतोदा नदी के दक्षिण भाग में 4 वक्षार पर्वत हैं, उनके नाम हैं– श्रद्धावान, विजटावान, आशीविष और सुखावह। सीतोदा नदी के दक्षिण भाग में 4 वक्षार पर्वत हैं उनके नाम हैं– चन्द्रमाल, सूर्यमाल, देवमाल और नागमाल। इनमें तीन-तीन विभंगा नदियाँ हैं, अतः 4 वक्षार पर्वत और 3 विभंगा नदियों के निमित्त से सीतोदा नदी के दक्षिण में 8 विदेह क्षेत्र हो गए, जिनके नाम हैं क्रमशः पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंखा, नलिना, कुमुदा और सरित। प्रत्येक क्षेत्र के बीचों बीच में विजयार्ध पर्वत है। निषध पर्वत की तलहटी से गंगा, सिंधु नदी निकल करके सीतोदा नदी में प्रवेश करती हैं जिससे छः-छः खण्ड हो जाते हैं। एक आर्यखण्ड और 5 म्लेच्छ खण्ड। इस आर्यखण्ड में हमेशा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि महापुरुष जन्म लेते रहते हैं, जो कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं।

सीतोदा नदी के उत्तर तट में भी आठ क्षेत्र हो जाते हैं– वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गंधा, सुगंधा, गंधिला, गंधमालिनी। वक्षार पर्वत और विभंगा नदी के निमित्त से होने वाले इन 8 विदेह क्षेत्रों में भी प्रत्येक में बीचों बीच में विजयार्ध पर्वत की गुफाओं से बहती हुई छः छः खण्ड करती हुई सीतोदा नदी लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है।

इस प्रकार से पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में 32 विदेह क्षेत्र हो गए और 32 विदेह क्षेत्र में छः-छः खण्ड हो गए, 32 आर्यखण्ड हो गए। इन आर्यखण्डों में आज भी तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि विद्यमान हैं। पूर्व विदेह में पुष्कलावती क्षेत्र के आर्यखण्ड में श्री सीमंधर भगवान का समवसरण है, जो कि हस्तिनापुर के जम्बूद्वीप में चतुर्मुखी

प्रतिमा के रूप में छोटा सा दिखाया गया है। सीता नदी के दक्षिण में वत्सादेश के आर्यखण्ड में श्री युगमंधर भगवान का समवसरण है।

पश्चिम विदेह में सरित विदेह क्षेत्र में 'श्रीबाहु' भगवान का समवसरण है और वप्रा विदेह के आर्यखण्ड में 'श्रीसुबाहु' भगवान का समवसरण है। ये 4 समवसरण आज विद्यमान हैं। इन्हें विद्यमान तीर्थंकर या विहरमाण तीर्थंकर कहते हैं। असंख्य देवगण इनकी पूजाभक्ति करते हैं और मुनिगण भी समवसरण में भगवान की भक्ति-वंदना करते हैं। शिलालेखों में उत्कीर्ण लेखों से प्रतीत हुआ है और कुछ ग्रंथों में वर्णन आया है, कुछ टीकाकारों ने भी लिखा है कि आज से 2000 वर्ष पूर्व श्री कुन्दकुन्द स्वामी को एक देव उनकी जिनभक्ति से प्रसन्न होकर विमान में बिठाकर विदेह क्षेत्र में ले गया था, वहाँ पर श्री कुंदकुंद देव ने सीमंधर भगवान के समवसरण में पहुँचकर भगवान का दर्शन किया। वहाँ पर 500 धनुष शरीर की अवगाहना है। यहाँ भरतक्षेत्र में भी भगवान श्री आदिनाथ के समय 500 धनुष की अवगाहना, कोटि पूर्व की आयु आदि थी। विदेह क्षेत्र में श्री कुन्दकुन्द स्वामी को वहाँ के मनुष्य ने हाथ पर रख लिया और प्रश्न किया– हे भगवन्! यह इलायची के बराबर मनुष्य के समान कौन है? तब भगवान ने बताया कि यह भरतक्षेत्र से आए हुए हैं, इनका श्री कुन्दकुन्द नाम है, ये एक महामुनि आचार्य हैं। उस समय से उनका नाम एलाचार्य पड़ गया, ऐसा वर्णन आता है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने साक्षात् भगवान के मुख से जो सुना वह अष्टपाहुड़, समयसार आदि ग्रंथों में वर्णित किया है तथा इन्होंने 84 पाहुड़ लिखे। आज 84 पाहुड़ तो उपलब्ध नहीं हैं पर इनके द्वारा लिखित समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, रयणसार और अष्टपाहुड़ आदि ग्रंथ उपलब्ध हैं। इन ग्रंथों में से 108 गाथा साररूप में छाँटकर मैंने 'कुन्दकुन्द मणिमाला' नाम से एक छोटी सी पुस्तक बनाई है। इनके द्वारा लिखित मूलाचार ग्रंथ मुनियों के लिए और 'रयणसार' ग्रंथ श्रावकों के लिए बहुत प्रसिद्ध और उपयोगी है। अष्टपाहुड़ ग्रंथ में मुनि और श्रावक सभी के लिए उपयोगी बहुत ही सुन्दर वर्णन आया है। समयसार ग्रंथ तो अध्यात्म शिरोमणि, महासाधुओं के पढ़ने का ग्रंथ है। आज कुछ अव्रतियों ने, कुछ पण्डितों ने, कतिपय विद्वानों ने और कानजी भाई ने इसे पढ़कर निश्चयाभासी बनकर अनर्थ कर डाला। इन्होंने अर्थ का अनर्थ करके शास्त्र को शस्त्र बना दिया, वे निश्चयाभासी बन गए। सोनगढ़ एक पंथ बन गया, जिसे कानजी पंथ कहते हैं। इन लोगों ने मुनियों को नमस्कार नहीं किया। मुनियों को द्रव्यलिंगी, पाखण्डी, ढोंगी कहा। और यहाँ तक कह दिया कि यह सभी मुनि नरक जायेंगे और जो इन मुनियों को आहार देंगे, वे गर्भ में गल-गल कर मरेंगे। यानि गर्भ में ही उनका मरण हो जायेगा.....आदि कटु शब्दों का

प्रयोग किया। जिन्होंने वर्तमान में किसी पिच्छीधारी को नमस्कार नहीं किया, स्वयं प्रतिमारूप व्रत ग्रहण नहीं किया, प्रतिमाधारी अगर वहाँ जाते हैं, तो वे प्रतिमा छोड़कर अव्रती बन जाते हैं।

मैं बता रही थी कि समयसार ग्रंथ अध्यात्म का सर्वोत्तम ग्रंथ है। इसमें निश्चयपरक एवं व्यवहारपरक गाथाएँ हैं और समन्वयपरक गाथाएँ भी हैं। मैंने एक बार दिल्ली में सन् 1980 में इस ग्रंथ पर एक महीने वाचना रखी, जिसमें पं. श्री कैलाशचंद जी, पं. श्री जगन्मोहनलाल जी, पं. श्री कुंजीलाल जी, पं. श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य आदि अनेक विद्वान पधारे। विद्वानों के सामने जब वाचना हुई, तब मैंने व्यवहारपरक गाथाओं को अलग से उद्धृत किया था, निश्चयपरक गाथाओं को अलग छांटा था, समन्वयपरक गाथाओं को अलग लिया था। यह समयसार एक महान ग्रंथ है। समस्याओं से घिरे, आर्तरौद्र ध्यान से घिरे श्रावक हों या साधु, जिन्हें मानसिक अशान्ति हो, रुग्ण अवस्था हो या सल्लेखना का समय हो, इस समयसार ग्रंथ का अध्यात्म ही काम आता है।

''अहमिक्को खलु शुद्धो, दंसणणाण मइयो सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणु मित्तंपि।।''

अर्थात् मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानदर्शन स्वरूपी हूँ, अमूर्तिक हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। यह अध्यात्म चिन्तन मैंने स्वयं अनुभव किया है। समयसार ग्रंथ की ज्ञानज्योति नाम से हिन्दी टीका, अनुवाद भी मैंने किया है। समयसार का सार भी लिखा है। श्री अमृतचन्द्रसूरि और श्री जयसेनसूरि दोनों आचार्यों की टीका का हिन्दी अनुवाद करके अच्छी तरह से मैंने निश्चय-व्यवहार का समन्वय किया है। उसको पढ़कर आप निश्चित ही निश्चयाभासी नहीं बनेंगे और न व्यवहाराभासी बनेंगे बल्कि दोनों नयों का समन्वय करते हुए अपनी चर्या को आगम के अनुकूल ढाल करके आत्म चिन्तन करेंगे। यह समयसार निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा को शुद्ध बता करके, भगवान बता करके ध्यान करने की प्रेरणा देता है और संकट की घड़ी में शरीर से मोह को हटाता है, कम करता है। रुग्ण अवस्था में बहुत ही उपयोगी महान औषधि, महान रसायन है। मेरा स्वयं का अपना अनुभव है और सभी साधुगण इसका अनुभव करते हैं। व्यवहार के अनुसार अपनी चर्या, अपनी क्रिया में सावधान रहना चाहिए और निश्चयनय से अपनी आत्मा का चिंतन करना चाहिए, यही समयसार का सार है।

मैं आपको 32 विदेहों के बारे में बता रही थी, जहाँ शाश्वत कर्मभूमि है। वहाँ पर किसी प्रकार का कभी परिवर्तन नहीं होता है। वहाँ भूकंप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि अनेक प्रकार के प्राकृतिक प्रकोप नहीं आते हैं। आप सोचेंगे, ऐसे विदेह क्षेत्र में हम जन्म ले लें लेकिन ध्यान रखना सम्यग्दृष्टि नियम से देवायु को ही बांधता है। देवगति में ही

जन्म लेता है। अगर बद्धायुष्क यानि पहले उसने नरक की आयु बांध ली, फिर सम्यग्दृष्टि बना, तो पहले नरक तक ही जायेगा, नीचे नरक में नहीं और अगर तिर्यंच आयु बांध ली है, तो भोगभूमि का तिर्यंच होगा। इसी तरह अगर पहले मनुष्य आयु बांध ली, फिर सम्यग्दृष्टि बना, तो भोगभूमि का मनुष्य होगा, कर्मभूमि का नहीं। अगर आप विदेह क्षेत्र जाना चाहते हैं, तो सम्यग्दर्शन छोड़कर मिथ्यादृष्टि बनकर जाना होगा लेकिन ऐसी गलती आप कभी नहीं करना क्योंकि सम्यग्दृष्टि होकर आप नियम से, अगर आयु नहीं बांधी है, तो देवायु बाधेंगे, स्वर्ग में देवपद प्राप्त करेंगे और वहाँ से विदेह क्षेत्र जाकर सारा नजारा देख सकते हैं। वहाँ केवली भगवन्तों के दर्शन करके, साक्षात् सीमंधर भगवान के समवसरण में दर्शन करके उनकी सारी वाणी सुनकर अपने जीवन को सार्थक करेंगे।

32 विदेहों में शाश्वत कर्मभूमि है और भरत, ऐरावत क्षेत्र में अशाश्वत कर्मभूमि है। भोगभूमि के बारे में मैंने आपको बताया है कि जघन्य भोगभूमि में 1 कोस ऊँचा शरीर और 1 पल्य की आयु आदि है और भोगभूमि में 10 प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। उन कल्पवृक्षों से भोग्य सामग्री मिल जाती है। वहाँ कोई व्यापार, काम धंधा नहीं है। कदाचित्-क्वचित् उनके पुण्य कर्म के उदय से कोई चारण ऋद्धिधारी मुनि पहुँच गए और उन्हें सम्बोधन करके उन्हें सम्यक्त्व ग्रहण करा दे, यह तो संभव है पर वहाँ व्रत संभव नहीं है, कोई व्रती नहीं बन सकते हैं, सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं। वहाँ पर किसी को जातिस्मरण से सम्यक्त्व हो जाता है, किसी को गुरुओं के उपदेश से और किसी को आपस में धर्मचर्चा करने से सम्यग्दर्शन हो जाता है। जिनबिंब दर्शन का प्रसंग उन्हें नहीं प्राप्त हो पाता है, क्योंकि उनके न तो कोई ऋद्धि है और न कहीं इधर-उधर जा सकते हैं। भोगभूमि खासकर वही लोग जाते हैं, जो सत्पात्रों को दान देते हैं लेकिन जिनके सम्यक्त्व नहीं है, भद्रजीव हैं, मंदकषायी हैं, जो भव्यात्मा गुरुओं को आहार देते हैं वे विशेष पुण्य करके भोगभूमि में जन्म लेते हैं।

आगे मैं आपको बताती हूँ कि शाश्वत भोगभूमि 6 हैं और शाश्वत कर्मभूमि 32 हैं। इनके अतिरिक्त जहाँ अशाश्वत कर्मभूमि हैं, जहाँ षट्काल परिवर्तन की व्यवस्था है, वहाँ मैं आपको ले चलती हूँ। भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में जहाँ हम और आप रह रहे हैं, यहाँ शाश्वत तीर्थ अयोध्या है, जो कि अनन्तानन्त तीर्थंकरों की जन्मभूमि हो चुकी है, वर्तमान में यहाँ पर 5 तीर्थंकरों ने जन्म लिया है, श्री ऋषभदेव, श्री अजितनाथ, श्री अभिनंदननाथ, श्री सुमतिनाथ और श्री अनन्तनाथ। बाकी शेष तीर्थंकरों की जन्मभूमि अन्यत्र हो गई, यह हुण्डावसर्पिणी काल का दोष है।

मैं आपको हुण्डावसर्पिणी काल के दोष के बारे में और बताती हूँ – असंख्यात

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बीत जाने के बाद कहीं एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इसमें सुषमा-दुषमा नामक तृतीय काल की स्थिति में कुछ काल अवशेष रहने पर ही वर्षा आदि पड़ने लगती है। विकलत्रय यानि दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है। तृतीय काल के अंत में ही कल्पवृक्षों का अभाव होने लगता है। कर्मभूमि प्रारंभ हो जाती है। तृतीयकाल में 14 कुलकर उत्पन्न हो जाते हैं। प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से चक्रवर्ती का विजय भंग हो जाता है। जैसा कि आप जानते होंगे कि भगवान बाहुबली, श्री ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र, अद्वितीय कामदेव भी थे, इन्होंने भरत चक्रवर्ती के शासन को नहीं स्वीकारा। 6 खण्ड पृथ्वी को जीतने के बाद भी भरत चक्रवर्ती का चक्ररत्न अयोध्या के बाहर ही खड़ा रह गया। लोग भले ही भरत जी को दोष दें, पर भरत जी का इसमें कोई दोष नहीं। वह कर भी क्या सकते थे, कब तक बाहर बैठे रहते, जब तक चक्ररत्न अन्दर प्रवेश नहीं करता, तब तक साम्राज्य पट्ट पर, चक्रवर्ती पद पर उनका अभिषेक नहीं हो सकता था। 32 हजार मुकुटबद्ध राजा उस समय यह दृश्य देख रहे थे, क्यों चक्ररत्न अयोध्या में प्रवेश नहीं कर रहा है और जब यह ज्ञात हुआ कि उनके भाइयों ने अभी उनकी आधीनता स्वीकार नहीं की है इसलिए चक्ररत्न अन्दर प्रवेश नहीं कर रहा है, तब भरत ने पहले अपने 99 भाइयों के पास संदेश भेजा। संदेश सुनकर सभी भाई विरक्तमना होकर आपस में बोले, हम चक्रवर्ती के साम्राज्य काल में उनके शासन में नहीं रहेंगे और स्वाभिमानपूर्वक भगवान श्री ऋषभदेव के समवसरण में जाकर दीक्षा ले ली। जब बाहुबली के पास दूत गया, तब बाहुबली भरत जी की आधीनता न स्वीकार कर युद्ध के लिए तैयार हो गए।

मंत्रियों ने जब युद्ध के बारे में सुना, तो उन्होंने आपस में मंत्रणा की कि यह युद्ध व्यक्तियों के विनाश के लिए होगा क्योंकि ये दोनों चरमशरीरी हैं और तद्भव मोक्षगामी है अतः उन्होंने तीन युद्ध – दृष्टि युद्ध, जल युद्ध और मल्ल युद्ध निर्धारित किए। इन तीनों ही युद्ध में भरत जी हार गए क्योंकि भरत के शरीर की ऊँचाई 500 धनुष थी और बाहुबली की 525 धनुष थी। यह हुण्डावसर्पिणी काल का ही दोष है जो कि चक्रवर्ती का विजयभंग हुआ। भरत ने बाहुबली पर चक्र चला दिया। उस समय प्रजा ने उन्हें खूब धिक्कारा, लेकिन चक्रवर्ती करते क्या? कब तक बाहर बैठे रहते। लेकिन यह नियम है कि चक्ररत्न अपने वंशज पर नहीं चलता है अतः वह चक्ररत्न कामदेव बाहुबली की परिक्रमा देकर उनके हाथ में ठहर गया लेकिन बाहुबली चक्रवर्ती तो बन नहीं सकते थे अतः यह सब देखकर बाहुबली को उसी क्षण वैराग्य हो गया, उन्होंने बारह भावनाओं का चिन्तन करते हुए महल में जाकर

अपने पुत्र को राज्य दिया और जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर एक वर्ष का योग धारण कर लिया।

लोग कहते हैं कि बाहुबली जी को शल्य थी, वे एक पैर पर खड़े थे और यह सोच रहे थे कि मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ, यह बात बिल्कुल गलत है क्योंकि शल्य तीन हैं – मिथ्यात्व शल्य, माया शल्य और निदान शल्य। ये तीनों ही शल्य बाहुबली में नहीं थीं। महापुराण में बताया है कि उन्हें कभी-कभी यह विकल्प आ जाता था कि मेरे द्वारा भरत का अपमान हो गया है, उन्हें क्लेश हो गया, इसी कारण से वे शुक्लध्यान को प्राप्त नहीं कर पाये थे। वे अपने धर्मध्यान में छठे, सातवें गुणस्थान में उतरते-चढ़ते रहे। उनके सभी ऋद्धियाँ प्रगट हो गईं, मनःपर्ययज्ञान हो गया। यह सब भावलिंगी मुनि के ही होता है, द्रव्यलिंगी और शल्य वाले मुनि को ऋद्धि प्रगट नहीं हो सकती है। तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र आया है – **'निःशल्योव्रती'** निःशल्य ही व्रती होता है। फिर बाहुबली तो महाव्रती थे, उनके शल्य नहीं, विकल्प था। एक वर्ष बाद भरत आकर उन्हें नमस्कार करते हैं, उनकी पूजा करते हैं, बस उसी क्षण इनका विकल्प दूर हो जाता है, एक वर्ष का ध्यान पूर्ण हो जाता है और वे एकदम शुक्लध्यान में आरोहण करके केवली बन जाते हैं।

इस प्रकार मैंने आपको बताया कि हुण्डावसर्पिणी काल के दोष के कारण चक्रवर्ती का मानभंग हुआ और चक्रवर्ती के द्वारा ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति अर्थात् चतुर्थ वर्ण की स्थापना हुई। 32 विदेह क्षेत्रों में तीन वर्ण ही हैं, ब्राह्मण वर्ण नहीं है। और भी जैसे 363 पाखण्ड मत भगवान श्री ऋषभदेव की दीक्षा के समय बन गए। आप जानते होंगे, जब भगवान श्री ऋषभदेव ने प्रयाग में जाकर वटवृक्ष के नीचे जैनेश्वरी दीक्षा ली, उस समय 4000 राजाओं ने भी दीक्षा ले ली थी। भगवान ने तो 6 महीने का योग ले लिया था, पर वे राजागण मुनि अवस्था में भूख-प्यास को अधिक दिन तक झेल नहीं पाए, तो झरने का पानी पीने लगे, वन के फल खाने लगे, तब वनदेवता ने उन्हें मना किया, कि आप इस जिनमुद्रा में अनर्गल प्रवृत्ति नहीं कर सकते। तब उन लोगों ने नाना प्रकार के वेश बना लिए। उसी समय से 363 पाखण्ड मत चल गये और न जाने कितने भेद-प्रभेद हो गए, आज तो हजारों-हजारों मत हो गए हैं और भी जैसे हमेशा 63 शलाकापुरुष होते थे लेकिन इस बार 58 ही हुए। क्योंकि सोलहवें, सत्तरहवें और अट्ठारहवें तीर्थंकर चक्रवर्ती भी थे। इसके अतिरिक्त नौवें तीर्थंकर पुष्पदंत से लेकर धर्मनाथ तक सात तीर्थंकर के तीर्थकाल में धर्म का व्युच्छेद हो गया यानि चतुर्विध संघ – मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, श्रावक-श्राविका नहीं रहे 11 रुद्र, कलह प्रिय 9 नारद की उत्पत्ति भी हुण्डावसर्पिणी काल का दोष है। श्री पारसनाथ आदि तीर्थंकरों पर उपसर्ग होना भी काल का दोष

है। नाना प्रकार के वेषधारी, कुलिंगी, अनेक प्रकार के चण्डी-मुण्डी के मंदिर बन जाना यह सब भी काल दोष से है। यह बात हमेशा ध्यान रखना कि आज जो द्रव्य मिथ्यात्व दिख रहा है, यह काल दोष से है। भाव मिथ्यात्व तो सब जगह है – स्वर्ग में, नव ग्रैवेयक तक, नरकों में, 32 विदेहों में, भोगभूमि में सर्वत्र है लेकिन द्रव्य मिथ्यात्व नहीं है।

एक बात मैं आपको और बताऊँ, जो आज अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकंप, वज्राग्नि, दावानल आदि अग्नि का प्रकोप और अनेक प्रकार के आतंक होते हैं, यह सब भी कालदोष के कारण है। काल दोष से ही हस्तिनापुर में तीन तीर्थंकर जन्में, बनारस में दो तीर्थंकर जन्में और तीर्थंकर अन्यत्र जन्में। 24 तीर्थंकरों की 16 जन्मभूमियाँ हो गई हैं। इनमें से कालदोष के कारण ही कुछ अविकसित हैं, कुछ जन्मभूमियों की हालत ऐसी दयनीय हो गई है, जिसे देखकर मन में बहुत कष्ट होता है। तीर्थंकरों की जन्मभूमि के विकास के लिए ही मैंने तीर्थंकर जन्मभूमि विकास समिति भी बनाई है। इस समिति के माध्यम से जन्मभूमि का विकास कार्य चल रहा है। तत्काल में अयोध्या, कुण्डलपुर आदि अनेक तीर्थों का विकास हुआ है। भगवान श्री पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी जो कि अत्यन्त जीर्ण अवस्था में है, जहाँ यात्री न के बराबर जाते हैं, अभी जहाँ मूर्ति चोरी हो गई थी, वहाँ मैंने शिलान्यास करवा कर भक्तों को संकल्प कराया कि आप श्री पुष्पदंतनाथ भगवान की जन्मभूमि का विकास करें। उसका विकास कार्य चल रहा है। काल दोष के कारण ही 24 तीर्थंकरों की 5 निर्वाणभूमि बन गईं, जबकि सम्मेदशिखर शाश्वत निर्वाणभूमि है। हमेशा वहीं से सभी तीर्थंकर मोक्ष जाते हैं, लेकिन वर्तमान में 20 तीर्थंकर मोक्ष गए हैं। श्री ऋषभदेव, भरत, बाहुबली, कैलाशपर्वत से मोक्ष गए हैं। बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य चम्पापुरी से मोक्ष गए। श्री महावीर स्वामी पावापुरी से, श्री नेमिनाथ भगवान गिरनार पर्वत से मोक्ष गए।

पृथ्वी पर जो भूकंप आदि आते हैं उनमें एक कारण और भी है अत्यर्थ हिंसा। आज कई कत्लखाने बन गए हैं। जब वहाँ से पशुओं की भयंकर चीत्कार उठती है, तो पृथ्वी कांप उठती है। जब अधिक पाप होता है, तो पृथ्वी कांप उठती है इसलिए भूकंप आदि दुर्घटनाएँ होती हैं।

अब मैं आपको जम्बूद्वीप के 78 जिनमंदिरों का दर्शन कराऊँगी। मध्यलोक में जम्बूद्वीप से लेकर तेरहवें द्वीप तक 458 जिनमंदिर हैं। जम्बूद्वीप में 78 अकृत्रिम जिनमंदिर हैं, सुमेरु में 16 जिनमंदिर है – 4 भद्रसाल वन के, 4 नंदनवन के, 4 सौमनस वन के और 4 पाण्डुक वन के, सब मिलाकर 16 जिनमंदिर हुए। 1 जम्बूवृक्ष और 1 शाल्मलि वृक्ष को मिलाकर 18 हुए, 4 गजदंत पर्वत के ऐसे 22 हुए, 16 वक्षार

पर्वत के जिनमंदिर और 34 विजयार्ध के और 6 कुलाचल – हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी ये सब मिलाकर 78 जिनमंदिर जम्बूद्वीप में हैं।

हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप में जो आपको अनेकों जिनमंदिर दिखते हैं, उन्हें आप ध्यान से देखें तो उनमें 78 जिनमंदिर हैं बाकी देवभवन हैं उन देवभवनों में भी जिनमंदिर हैं। जैसे हिमवन पर्वत पर 11 कूट माने हैं, उन पर एक जिनमंदिर हैं, जिसे सिद्धकूट कहते हैं और बाकी 10 कूटों पर देवों के भवन हैं, उन भवनों पर जिनमंदिर दिखाए गए हैं जिन्हें गृह चैत्यालय कहते हैं। महाहिमवन पर्वत पर 8 कूट माने हैं, उनमें 1 सिद्धकूट और 7 देवभवन और उन पर जिनमंदिर हैं। निषध पर्वत पर 9 कूट हैं, उनमें 1 सिद्धकूट और बाकी देवभवन हैं। ऐसे ही नील, रुक्मी, शिखरी पर्वत पर जिनमंदिर और देवभवन दिखाए गए हैं। हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप में कुल मिलाकर 78 जिनमंदिर और 123 देवभवन बने हैं। जम्बूद्वीप के प्रवेश द्वार में एक अनावृत यक्ष का देवभवन बना हुआ है, जिसमें ऊपर जिनप्रतिमा विराजमान हैं। नीचे अनावृत यक्ष-यक्षिणी सहित बैठे हुए हैं। यह जम्बूद्वीप के रक्षक अनावृत यक्ष माने गए हैं और दूसरी तरफ क्षेत्रपाल विराजमान हैं।

इस प्रकार जम्बूद्वीप के 78 जिनमंदिर और 123 देवभवनों के ऊपर जिनमंदिर, उनमें जिनप्रतिमाएँ, उन्हें आप नमस्कार करें। यहाँ पर भगवान के 6 समवसरण भी दिखाए गए हैं। विदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर, श्री युगमंधर, श्री बाहु और श्री सुबाहु इन 4 तीर्थंकरों के समवसरण और भरतक्षेत्र में भगवान श्री ऋषभदेव का समवसरण, ऐरावत क्षेत्र में श्री बालचंद्र तीर्थंकर का समवसरण दिखाया गया है। यहाँ केवल चतुर्मुखी प्रतिमा दिखाई गई हैं। इन छः समवसरण में विराजमान भगवन्तों को भक्तिपूर्वक नमस्कार करें।

अब आपको यह बात स्पष्ट समझना है कि जैसे भरतक्षेत्र में षट्काल परिवर्तन चल रहा है, उसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र में भी षट्काल परिवर्तन हो रहा होगा। ऐरावत क्षेत्र में भी इस समय पंचमकाल होगा, ऐसा मेरा अनुमान है। चूँकि एक कथा आती है, जिसके माध्यम से मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि श्रीकृष्ण के समय द्रौपदी का अपहरण हुआ। अपहरण एक देव ने किया, वह देव द्रौपदी को धातकीखण्ड के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में ले गया, तो इसका मतलब यह है कि द्रौपदी के शरीर की अवगाहना प्रमाण ही वहाँ का राजा था अतः यह निश्चित है कि धातकी खण्ड के भरत और ऐरावत क्षेत्र में, पुष्करार्ध द्वीप के भरत और ऐरावत क्षेत्र में भी षट्काल परिवर्तन यहाँ के समान ही चलता रहता है। वर्तमान में जैसी स्थिति यहाँ है, वैसी स्थिति वहाँ होना संभव है।

इस प्रकार से सृष्टि रचना के क्रम में मैंने आपको 170 कर्मभूमि बताई। पूरे ढाई

द्वीप में 170 कर्मभूमि हैं, जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र और 32 विदेहक्षेत्र को मिलाकर 34 कर्मभूमि हैं। ऐसे ही पूर्वधातकी खण्ड में 34 कर्मभूमि, पश्चिम धातकी खण्ड में 34, पूर्व पुष्करार्ध द्वीप में 34, पश्चिम पुष्करार्ध में 34 सब मिलाकर 170 कर्मभूमि हैं। जिसमें विदेह क्षेत्र की 160 शाश्वत कर्मभूमि हैं। भरत और ऐरावत की 10 अशाश्वत कर्मभूमि हैं। जम्बूद्वीप में बाकी भोगभूमि की व्यवस्था है।

इस प्रकार से मैंने जम्बूद्वीप के बारे में आपको बताया। जम्बूद्वीप के दर्शन, वंदन से महान पुण्य का बंध होता है। मैं समझती हूँ–

'अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्, तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति।
हरिन्मणिं काचधिया दधानस्तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः।।

तीर्थ हस्तिनापुर में जैनेतर बंधु या कोई भी लोग आते हैं पर्यटन की दृष्टि से, मनोरंजन की दृष्टि से आकर घूमते है और यूँ ही हाथ जोड़ लेते हैं या फिर ऐसे ही दर्शन करते हैं तो भी बिना जाने, बिना देखे भी उनको पुण्य का बंध हो जाता है। जैसे मिश्री, शक्कर को बिना रुचि के भी खाने पर या कोई जबरदस्ती खिला दे, तो भी इसका स्वाद मीठा ही आता है, ऐसे ही तीर्थ दर्शन का फल अच्छा ही मिलता है। यह जम्बूद्वीप सदा काल स्थिर रहे और आप सभी इसकी वंदना करके पुण्य का संचय करते रहें, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

चारित्र के बिना मात्रज्ञान सिद्धिदायक नहीं है

सव्वं पिहि सुदणाणं सट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पढिदं पि।
समणं भट्ठचरित्तं णहु सक्को सुग्गइं णेदुं।।14।।
जडि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।
जदि सिक्खिऊण अयणं करेदि किं तस्स सिक्ख फलं।।15।।

अर्थ–संपूर्ण भी श्रुतज्ञान कालादि शुद्धिपूर्वक प्राप्त किया गया है तथा परिणामों की विशुद्धि से बारम्बार उसका अभ्यास भी किया गया है उसका व्याख्यान करने से तथा हृदय से सम्यक्धारण करने पर भी वह ज्ञान भ्रष्ट-चारित्र यति को अथवा चारित्र रहित को सद्गति में पहुँचाने के लिए समर्थ नहीं है। अतः चारित्र ही प्रधान है।

यदि दीपक हाथ में होते हुए भी कोई गड्ढे या कुएं में गिरता है तो दीपक उसका क्या करेगा? यदि ज्ञान प्राप्त करके भी कोई अनय-चरित्र का विनाश करता है तो उसकी शिक्षा का क्या फल है? अर्थात् श्रुतज्ञान का फल चारित्र धारण करना है यदि पढ़कर भी चारित्र से विमुख रहा तो वह ज्ञान के फल को नहीं प्राप्त कर सकता है।

–श्री कुन्दकुन्द देव

प्रवचन–3

आर्यिकाओं की नवधाभक्ति आगमोक्त है

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः सिद्धाः कुर्युश्च मंगलम्।
आचार्याः पाठकाश्चापि साधवो मम मंगलम्।।

भव्यात्माओं! मैं आर्यिका की चर्या के बारे में आपको बताती हूँ। आर्यिकाएँ यद्यपि उपचार से महाव्रती हैं फिर भी वे अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करती हैं, नवधाभक्ति की पात्र हैं और सिद्धांत ग्रंथ आदि को पढ़ने का, लिखने का उन्हें अधिकार है। इस विषय पर मैं आपको आगम के परिप्रेक्ष्य में बताती हूँ–

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में जो दीक्षाविधि मुनियों की मानी है, वही दीक्षा विधि आर्यिकाओं की भी मानी है। जिस प्रकार मुनियों के 28 मूलगुण होते हैं, उसी प्रकार आर्यिकाओं के भी 28 मूलगुण माने हैं। दीक्षा के समय जो संस्कार मुनियों पर किए जाते हैं, वही आर्यिकाओं पर भी किए जाते हैं।

एक बार किसी ने आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज से प्रश्न किया कि आर्यिकाओं के तो 26 मूलगुण ही हैं क्योंकि वे वस्त्र रखती हैं और बैठकर आहार करती हैं। तब आचार्यश्री ने कहा कि बैठकर आहार करना और दो साड़ी मात्र परिग्रह रखना यह उनका मूलगुण है अतः आर्यिकाओं के 26 मूलगुण न होकर 28 मूलगुण ही हैं। आचारसार ग्रंथ में लिखा है–

देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यन्ते बुधैस्ततः।
महाव्रतानि सज्जाति ज्ञप्त्यर्थमुपचारतः।।89।। (आचारसार)

गणधर आदि देवों ने आर्यिकाओं की सज्जाति आदि को सूचित करने के लिए उनमें उपचार से महाव्रत का आरोपण करना बताया है। यही कारण है कि ग्रंथों में महाव्रत पवित्रांगा, संयता, संयतिका आदि शब्दों का प्रयोग आर्यिका के लिए आया है और उन्हें मुनियों के समान पूज्य माना है। सागारधर्मामृत में आया है–

कौपीनेऽपि समुर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति।।36।।
(सागारधर्मामृत, पृ. 518)

अहो! आश्चर्य है, ऐलक लंगोटी में ममत्व परिणाम होने से उपचार से महाव्रती नहीं हो सकता किन्तु आर्यिकाएं साड़ी मात्र परिग्रह होते हुए भी उसमें ममत्व रहित होने से उपचार से महाव्रती कहलाती हैं। आर्यिकाएं ऐलक के द्वारा पूज्य मानी गई हैं। ऐलक देशव्रती ही माने गए हैं। आगम के परिप्रेक्ष्य में जैसा गुरुओं ने मुझे बताया है उसी का मैंने प्रमाण दिया है। मूलाचार ग्रंथ में भी लिखा है–

एसो अज्जाणं पिय सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।

सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं।।187।।(मूलाचार)

जितनी समाचारी विधि का वर्णन मुनियों के लिए किया है, उतनी ही समाचारी विधि आर्यिकाओं के लिए भी है। अहोरात्र, सभी काल में उन्हें ये सभी क्रियाएं विधिवत् करनी चाहिए। 'जहा जोग्गं' का अर्थ टीकाकार ने किया है 'यथायोग्य' अर्थात् वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे आतापन आदि जो योग हैं इन योगों को छोड़ करके तथा दिन में सूर्य की तरफ मुख करके खड़े होना, प्रतिमायोग आदि धारण करना, इन्हें छोड़कर बाकी सभी क्रियाएँ मुनियों के समान हैं। आचारसार में भी कहा है–

लज्जाविनय-वैराग्य-सदाचार-विभूषिते।

आर्याव्राते समाचारः संयतेष्विव किन्त्विह।।81।।(आचारसार पृ. 42)

लज्जा,विनय, वैराग्य और सदाचार से विभूषित आर्यिकाओं के समूह में समाचार विधि मुनियों के समान ही सारी समझ लेना चाहिए। किन्तु कुछ अन्तर है वह बताते हैं–

साधूनां यद्वदुद्दिष्टमेवमार्यागणस्य च।

दिनस्थान त्रिकालोनं प्रायश्चित्तं समुच्यते।। (प्रायश्चित्त ग्रंथ)

मुनियों के लिए जो क्रियाएँ बताई हैं, वही सब आर्यिकाओं के लिए भी बताई हैं अन्तर इतना है कि 'दिनप्रतिमायोग' आर्यिकाओं के लिए वर्जित है। इन्हीं आधार से आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज, आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज हमेशा आर्यिकाओं के लिए पूरी विधि मुनि के समान मानकर, वे नवधाभक्ति के लिए पात्र हैं, ऐसा हमेशा प्रतिपादन करते थे। यही कारण है कि इस परम्परा में आर्यिकाओं की नवधाभक्ति, पूजा आदि चल रही है। प्रथमानुयोग में भी अनेक प्रकरण आए हैं–

श्री रामचन्द्र जी जैसे महापुरुषों ने भी 'वरधर्मा' नाम की महागणिनी की पूजा की है। दूसरी बात यह है जैसे समवसरण में मुनियों में प्रमुख 'गणधर' माने गए हैं उसी प्रकार आर्यिकाओं में प्रमुख 'गणिनी' भी मानी गई हैं। तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में जहाँ 24 तीर्थंकरों के एक-एक गणधर के नाम हैं, वहीं एक-एक गणिनी के नाम भी प्रसिद्ध हैं। गणधर यानि गणों के नायक आचार्य के समान महान उसी प्रकार से 'गणिनी' यानि आर्यिकाओं में प्रधान, शिक्षा, दीक्षा, प्रायश्चित्त आदि देने के लिए सक्षम मानी गई हैं। गणिनी आचार्यों के समान पद को धारण करने वाली मानी गई हैं।

आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज और भी प्रमाण दिया करते थे। प्रायश्चित्त ग्रंथ में मुनियों और आर्यिकाओं का प्रायश्चित्त समान माना है। पुनर्दीक्षा, छेद, पारंचिक ये प्रायश्चित्त आर्यिकाओं के लिए नहीं माने हैं। क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं के लिए उससे आधा प्रायश्चित्त माना है। ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियों के लिए उससे आधा माना है। इससे भी ज्ञात होता है कि मुनियों की चर्या के समान, आर्यिकाओं की चर्या शास्त्र विहित है।

अब मैं आपको बताती हूँ कि जो यह चर्चा आती है कि क्या आर्यिकाएँ सिद्धान्त ग्रंथ पढ़ सकती हैं, उनकी टीका आदि लिख सकती हैं। मैं इसके लिए भी आपको प्रमाण बताती हूँ। वसुनन्दिश्रावकाचार में आया है–

दिण पडिमवीरचरिया तियालजोगेसुणत्थि अहियारो।

सिद्धंत रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं।। (वसुनंदि श्रा.पृ. 112)

पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक सभी देशविरत माने हैं, इनके लिए जिनप्रतिमा, वीर चर्या, त्रिकालयोग, आतापन, वृक्षमूल आदि योग करने का अधिकार नहीं है और सिद्धान्तग्रंथों के पढ़ने का और प्रायश्चित्त ग्रंथों के पढ़ने का भी अधिकार नहीं है। अब मैं मूलाचार की पंक्ति आपको दिखाती हूँ, जिसमें आर्यिकाओं को सिद्धान्त ग्रंथ पढ़ने का अधिकार है–

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।

एत्तो अण्णोगंथो कप्पदि पढिदुमसज्झाये।।97।। (मूलाचार)

अस्वाध्याय काल में 'विरद' यानि संयत– मुनियों के लिए और **'इत्थि वग्गस्स'** से स्त्रीवर्ग यानि आर्यिकाओं के लिए कहा है। टीकाकार ने लिखा है कि **तत्सूत्रं पठितुं अस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते।'** अर्थात् अस्वाध्यायकाल में सूत्र ग्रंथों का पढ़ना युक्त नहीं है, स्वाध्यायकाल में उसे पढ़ सकते हैं। इसका मतलब यह निकलता है कि आर्यिकाएं स्वाध्यायकाल में सिद्धांत ग्रंथ पढ़ सकती हैं, उन्हें सिद्धांत ग्रंथ पढ़ने का पूरा अधिकार है। अब आप पुराणों के और भी उदाहरण देखिए–

द्वादशांगधरोजातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी।

एकादशांग भृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना।।52।। (हरिवंश पुराण पृ. 213)

मेघेश्वर यानि जयकुमार भगवान के समवसरण में दीक्षित होकर भगवान के गणधर बन गए और शीघ्र ही द्वादशांग के धारी हो गए। सुलोचना भी आर्यिकादीक्षा लेकर ग्यारह अंग की धारिणी हो गईं। दिगम्बर सम्प्रदाय में वर्तमान में ग्यारह अंग और चौदहपूर्व ग्रंथ नहीं हैं, उनका अंश धवला ग्रंथ को माना गया है।

इस प्रकार देखा जाये जब आर्यिका 11 अंग की पाठी हो सकती हैं, तो आज सिद्धान्तग्रंथ पढ़ने और लिखने की पात्र क्यों नहीं हो सकतीं? शास्त्र में ऐलक और क्षुल्लक को अंग, पूर्व पढ़ने का अधिकार नहीं दिया है। आजकल कोई-कोई साधु, आर्यिकाओं को सिद्धान्त ग्रंथ पढ़ने का तो निषेध करते हैं और अव्रती पण्डितों के और अव्रती श्रावक-श्राविकाओं के बीच षट्खण्डागम ग्रंथ की वाचना करते हैं। मैं सोचती हूँ यह कहाँ तक उचित है? आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञा से विद्वानों ने इन ग्रंथों को पढ़ा और इसका हिन्दी अनुवाद भी किया है। ताड़पत्री से, मूल कन्नड़ लिपि से हिन्दी में अनुवाद करके उसको प्रकाशित कराया है।

आचार्यों ने सिद्धान्त ग्रंथों को पढ़ने में दिक्शुद्धि मानी है। अव्रती श्रावकों के बीच में जब इसकी वाचना होती है तो दिक्शुद्धि नहीं होती है जबकि दिक्शुद्धि होना आवश्यक है। दिक्शुद्धि का अर्थ मूलाचार में भी बताया है और षट्खण्डागम की धवला टीका में नवमीं पुस्तक में इसका विस्तार से वर्णन आया है–

'पच्छिम रत्ति सज्झायं.....(धवला पृ. 9)
णवसत्त पंचगाहा, परिमाण दिसि विभाग सोधीये।
पुव्वण्हे अवरण्हे, पदोसकाले य सज्झाये।।92।।(मूला.)

मूलाचार में बताया है पश्चिम रात्रि में स्वाध्याय को विसर्जित करके पुनः पूर्वाण्ह के स्वाध्याय के लिए दिक्शुद्धि करें। दिक्शुद्धि की विधि यह है कि चारों दिशाओं में 3-3 श्वासोच्छ्वासपूर्वक एक बार णमोकार मंत्र यानि 27 श्वासोच्छ्वासपूर्वक 9-9 बार णमोकार मंत्र का जाप्य करके दिक्शोधन विधि करें। पश्चिम रात्रि में सिद्धान्त ग्रंथों को पढ़ने का सामान्य मुनियों के लिए निषेध किया है। ऋद्धिधारी मुनियों के लिए छूट की है। 'दिगम्बर मुनि' और 'आर्यिका' नामक पुस्तक में मैंने दिग्शोधन विधि को बहुत स्पष्टरूप में लिखा है–

'अथ पौर्वाण्हिक वाचना क्रियायां पूर्वदिक्शुद्धिं करोम्यहं।' ऐसा बोलकर खड़े होकर पूर्व दिशा में 27 श्वासोच्छ्वासपूर्वक 9 बार णमोकारमंत्र का जाप्य करें, पुनः इसी विधि से दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में भी श्वासोच्छ्वासपूर्वक 9-9 बार णमोकार मंत्र पढ़कर दिक्शुद्धि करें। पुनः पूर्वाण्हकाल में स्वाध्याय करें। पूर्वाण्हकाल के स्वाध्याय के समापन के बाद अपराण्हकाल के स्वाध्याय के लिए 7-7 बार श्वासोच्छ्वासपूर्वक णमोकार मंत्र पढ़कर दिक्शुद्धि करें। पूर्वाण्ह में सायंकाल के स्वाध्याय के लिए दिक्शुद्धि कर ली जाती है पुनः अपरान्हकाल में स्वाध्याय को विसर्जित करके पूर्वरात्रि स्वाध्याय के लिए श्वासोच्छ्वासपूर्वक 5-5 बार णमोकार मंत्र पढ़कर चारों दिशाओं में दिक्शुद्धि की जाती है।

जब से मैंने मूलाचार ग्रंथ में और नवमीं पुस्तक धवला में दिक्शुद्धि की विधि पढ़ी है, तब से बराबर मैं षट्खण्डागम के लेखन के समय और षट्खण्डागम के स्वाध्याय के समय स्वयं दिक्शुद्धि करती हूँ और अपनी शिष्याओं से भी कराती हूँ। मैंने देखा है आजकल कोई-कोई साधु भी दिग्शुद्धि नहीं करते हैं। अस्वाध्यायकाल में जो सिद्धान्तग्रंथों के स्वाध्याय को वर्जित कहा है उसमें अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस को, आष्टान्हिक पर्व में, सामायिक काल में भी वर्जित कहा है। मैंने देखा है कुछ विद्वान जो प्रातः सामायिक का काल है उसमें भी धवला, समयसार आदि का स्वाध्याय करते रहते हैं। सूर्योदय के 2 घड़ी पहले और 2 घड़ी पीछे स्वाध्याय के लिए अकाल है। इस समय षट्खण्डागम आदि ग्रंथों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। इसी तरह मध्यान्ह में 12 बजे के 2 घड़ी पहले और 2 घड़ी पीछे तक का काल स्वाध्याय के

लिए अकाल माना है। इसी तरह सायंकाल में सूर्यास्त के 2 घड़ी पहले और 2 घड़ी पीछे तक अस्वाध्याय काल माना है। मैंने देखा है कहीं-कहीं वाचना करने वाले इन बातों का ध्यान नहीं रखते हैं जबकि उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए और भी स्वाध्याय के अकाल माने गए हैं, जैसे– दिग्दाह, उल्कापात, किसी का मरण, राजनैतिक क्षेत्र में किसी विशेष का मरण, साधुओं के मरण आदि में भी अकाल माना गया है और उसके लिए ग्रंथों में दिन की व्यवस्था बताई गई है, जैसे संघ में आचार्य का समाधिमरण हो तो संघ में तीन दिन का स्वाध्याय वर्जित है। सामान्य मुनि का मरण हो तो एक दिन का स्वाध्याय वर्जित है।

संघ में हम लोगों ने आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज की आज्ञा से ही सिद्धान्त ग्रंथ पढ़ा है, सुना है। ब्यावर में पं. पन्नालाल जी सोनी के सामने किसी से यह चर्चा आई थी, तब उन्होंने भी अनेक प्रमाण दिखाए थे। मूलाचार में एक और पंक्ति आई है। टीका में-**तपस्विनीनां साटकमात्र परिग्रहेऽपि तत्र ममत्व परित्यागादुपचारत्वे नैर्ग्रन्थ्य व्यवहरणानुसरणात्।**.....(मूलाचार पृ. 210)

तपस्विनी अर्थात् आर्यिकाओं में साड़ी मात्र परिग्रह होते हुए भी उनका उनमें ममत्व का परित्याग होने से उपचार से उनमें निर्ग्रंथ का व्यवहार पाया जाता है। आचार्यों ने आर्यिकाओं के लिए दो साड़ी अंग को प्रक्षादन करने के लिए माने हैं। आचार्यों ने पुराणों में आर्यिकाओं के लिए संयता शब्द दिया है। देखिए, पद्मपुराण तृतीय भाग में-**''त्यक्ताशेषगृहस्थवेषरचना मन्दोदरी संयता''।** मन्दोदरी गृहस्थ के वेश को छोड़कर आर्यिका बन गईं। पद्मपुराण में और भी आया है–

''साहं दुःख क्षयाकांक्षा दीक्षां जैनेश्वरी भजे।'' (पद्मपुराण तृतीय भाग पृ. 284)

सीता ने श्रीरामचंद्र जी से कहा– दुःख के क्षय की आकांक्षा से मैं जैनेश्वरी दीक्षा को ग्रहण करती हूँ।

'महाव्रत पवित्रांगा महासंवेगसंगता।' (पद्मपुराण तृतीय भाग)

पद्मपुराण में महाव्रत से पवित्र है अंग जिसका, ऐसे महासंवेग से संगत महासती सीता आर्यिका का वर्णन किया है। ऐसे अनेक वर्णन शास्त्रों में आए हैं अतः यह निश्चित समझना चाहिए कि आर्यिकाएं उपचार से महाव्रती हैं। भले ही इनका गुणस्थान पाँचवां-देशसंयत है, लेकिन ये देशव्रती नहीं हैं व्यवहार में मुनिवत् सारी चर्या मानी है और वे पूर्णरूपेण नवधाभक्ति की पात्र हैं।

आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज एवं आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज ने आगम के परिप्रेक्ष्य में विद्वानों की सभा में बैठकर एक-एक छोटे-छोटे विषयों को अच्छी तरह से विचार-विमर्श करके ही प्रत्येक प्रक्रिया लागू की है अतः इनकी परम्परा में आर्यिकाओं की चर्या में नवधाभक्ति बराबर चली आ रही है और चलती रहेगी।

एक विषय और आता है कि मुनियों को नमस्कार करते समय आर्यिकाएं,

महिलाएं तीन हाथ दूर से नमस्कार करें। मूलाचार ग्रंथ में आया है कि 3, 4, 5 हाथ दूर से नमस्कार करें। मैंने मूलाचार ग्रंथ, आचारसार, भगवती आराधना आदि अनेक ग्रंथों के आधार से 'आराधना' नाम की पुस्तक लिखी है। संक्षेप में 444 श्लोकों में उसे बनाया है। उसका अध्ययन करते हुए एक विद्वान ने प्रश्न किया कि जब आर्यिकाओं को 3,4,5 हाथ दूर से आचार्य, उपाध्याय, साधुओं को नमस्कार करने का विधान है, तो वे मुनियों के चरण नहीं छू सकती हैं। इस पर मैंने उन्हें समाधान दिया कि नमस्कार करने की व्यवस्था अलग है और चरण छूने की व्यवस्था अलग है। भगवान की वंदना में भगवान का स्पर्श न करते हुए दूर से वंदना करने की विधि बतलाई है इसलिए कि उस समय आसादना न हो। बाकी हर बातें विवेक से काम लेने की हैं।

मुनियों को 3,4,5 हाथ दूर से नमस्कार करने के लिए शास्त्र में लिखा है, तो इस बात पर कुछ लोग कह देते हैं कि मुनियों को आहार भी दूर से देना चाहिए लेकिन आहार देते समय 3,4,5 हाथ दूर से आहार देना संभव नहीं है। किसी महिला का हाथ मुनि के हाथ तक ग्रास देने में इतनी दूर से सक्षम नहीं हो सकता है। यह हास्यास्पद विषय है। नमस्कार की व्यवस्था केवल नमस्कार के समय लागू होगी, अन्य समय नहीं लागू होगी। आज महिलाएँ सभी मुनियों को आहार देती हैं, जिसे आप सभी स्वीकार करते हैं। सन् 1956-57 में एक शिवजी रामजी नाम के पण्डित जी ने कह दिया था कि महिलाएँ मुनियों को आहार नहीं दे सकती हैं, तब काफी हंगामा हुआ था, बहुत ही विवाद उठा था। यह सुनकर उस समय मुम्बई में नेमिसागर महाराज ने, उपवास कर लिया था। तब आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज ने उन्हें आहार लेने की आज्ञा भिजवाई थी। अनन्तर खानिया-जयपुर में आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के संघ में उन विद्वान को बुलाया गया और उन्हें मूलाचार की पंक्तियाँ दिखाई थी कि सूती यानि प्रसूती आदि महिलाएं आहार नहीं दे सकती हैं इसका मतलब यह हुआ कि बाकी समय वे शुद्ध हैं और आहार दे सकती हैं। आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज ने और आचार्यश्री महावीर कीर्ति जी महाराज ने उन्हें और भी अच्छे समाधान दिए थे।

आचार्य शांतिसागर जी की परम्परा में मुनियों की वैय्यावृत्ति – घी आदि से मालिश, पैर धोना आदि आर्यिकाएं नहीं करती हैं किन्तु श्राविकाओं के लिए नवधाभक्ति में पादप्रक्षाल आवश्यक है और पादप्रक्षाल बिना हाथ लगाए संभव ही नहीं है। चरण पर ऊपर से जल डालना अविनय का सूचक है। आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज का कहना था कि चौके में श्राविकाओं को मुनियों के चरण प्रक्षाल हाथ लगाकर करना चाहिए और श्रावक भी आर्यिकाओं के पाद प्रक्षाल करते समय हाथ से चरण स्पर्श करके पाद प्रक्षाल करें, इसमें कोई दोष नहीं है। आचार्यश्री कहते थे कि चौके में अगर श्रावक पूरी नवधाभक्ति न करें, तो उस चौके से निकल जाना चाहिए। जहाँ चौके में

पाद प्रक्षाल करके गंधोदक न लें,वहाँ से भी निकल जाना चाहिए। ऐसा वे हम लोगों को आदेश देते थे। तो यह सब व्यवस्थाएँ अलग हैं।

हमारे संघ में नवधाभक्ति के समय मुनियों के चरण स्पर्श की बराबर छूट रही है। चरण स्पर्श करने में मैं भी कोई दोष नहीं मानती हूँ। मैंने स्वयं आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के, आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के कभी-कभी विशेष प्रसंगों में चरण स्पर्श किए हैं और उन्होंने मस्तक पर पिच्छी रखकर आशीर्वाद भी दिया है। दीक्षाविधि करते समय आचार्यश्री मस्तक पर हाथ रखकर संस्कार करते हैं, यह दोष नहीं है। 3,4,5 हाथ दूर से दीक्षाविधि संभव नहीं है। स्पर्श करने मात्र से ब्रह्मचर्य में दोष नहीं आता है बल्कि मैंने जहाँ तक समझा है कि अगर कोई स्पर्श न भी करें, लेकिन उसकी दृष्टि ठीक नहीं है कटाक्षपूर्ण दृष्टि है, मान लीजिए कोई साधु किसी महिला के प्रति आसक्त है, वे ई ब्रह्मचर्य में स्खलित हो गया है तो उसकी कटाक्षपूर्ण दृष्टि से दूर से भी उसे दोष लग रहा है।

राजवार्तिक ग्रंथ में भी लिखा है कि कोई भी स्त्री, पुरुष आदि मिलकर देववंदना, पूजा आदि करते हैं, भाई-बहन मिलकर पूजा करते हैं, तो वह दोषास्पद नहीं है। ब्रह्मचर्य में दोष तो भावों से ही लगता है। केवल चरणस्पर्श मात्र से ब्रह्मचर्य में दोष नहीं लगता है। इन सभी बातों को विवेकपूर्ण दृष्टि से देखना चाहिए। मैंने देखा है कुछ संघों में जब ब्रह्मचारिणियाँ हाथ में भगवन्तों की, गुरुओं की फोटो ले लेती हैं, तो कुछ लोग कह देते हैं कि जब तुम इनके चरण छूते नहीं तो हाथ में कैसे ले लिया? तब वे कह देतीं कि ये अचेतन हैं, चेतन नहीं।

लेकिन चेतन मुनि के मन में चरण छूते ही विकार आ जाए, इस बात को मैं नहीं स्वीकार करती। कहने को तो एक व्यक्ति ने यहाँ तक कह दिया कि जो महिलाएँ या बालिकाएँ भगवान का अभिषेक करती हैं उन्हें ब्रह्मचर्य में दोष लग जाता है जबकि यह तो बहुत ही मूर्खतापूर्ण कथन है। भगवन्तों की मूर्तियाँ नग्न दिगम्बर, निर्विकार वेष में खड़ी हैं, कोई महिला अभिषेक करते समय विकारी हो जाये, ऐसा तीन काल में संभव नहीं है। यह सब हास्यास्पद पूर्ण कथन है। इन सब बातों को विवेक से ही सोचना चाहिए। महिलाओं के लिए अभिषेक करना, नवधाभक्ति करना, गुरुओं के चरण स्पर्श करना आदि सब शास्त्रों में वर्णित है। रानी चेलना ने भी मुनि के गले से मरा हुआ सर्प निकाला आदि ऐसे अनेक स्पष्ट उदाहरण देखे जाते हैं।

इस प्रकार इन सब बातों को मैंने आगम के परिप्रेक्ष्य में और गुरु परम्परा में जो देखा है और जो सुना है उसी के अनुसार समाधान दिया है। आप सभी विद्वानों को, सभी श्रावक-श्राविकाओं को इन सभी समाधानों को प्राप्त करके अपनी बुद्धि सही, समीचीन रखनी चाहिए और श्रद्धापूर्वक मुनियों की, आर्यिकाओं की नवधाभक्ति आदि करके अपने जीवन को भी सार्थक करना चाहिए, यही मेरा कथन है, यही मेरा आदेश है, उपदेश है और मंगल प्रेरणा है।

प्रवचन–4

विद्वानों के लिए दिशा निर्देश

वर्तमान में विद्वानों के लिए मैं कुछ दिशा निर्देश देना चाहती हूँ जैसा कि मैंने अपनी गुरुपरम्परा में देखा है, सुना है। बात यह है कि विद्वानों को आगम के परिप्रेक्ष्य में अपनी चर्या बनानी चाहिए और उसी के अनुकूल सभा में प्रवचन करना चाहिए। वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में दो भेद चले आ रहे हैं–तेरहपंथ और बीसपंथ। तेरहपंथ लगभग 400 वर्ष पुराना है। उसका उल्लेख पं. श्री बनारसीदास जी ने अपनी आत्मकथा में किया है जिसे मैंने पढ़ा है। इस विषय में मैं आपको नहीं ले जाऊँगी। मैं तो इतना कहूँगी कि आगम के परिप्रेक्ष्य में हर एक विषय को समझना और समझाना चाहिए। विद्वानों को प्रान्तीय परम्परा का दुराग्रह नहीं रखना चाहिए।

सबसे पहला उदाहरण पं. श्री सुमेरचंद जी दिवाकर का मैं आपको बताती हूँ। इन्होंने इसे अपने 'चारित्र चक्रवर्ती' और 'आध्यात्मिक ज्योति' ग्रंथ में लिखा है। ये चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के परमभक्त, अनन्यतम शिष्य रहे हैं। इन्होंने अपने मुख से स्वयं कई बातें बताई थीं। आचार्य शांतिसागर जी महाराज प्रतिदिन पंचामृत अभिषेक देखकर आहार के लिए उठते थे। मैंने स्वयं भी देखा है कि कुंथलगिरि में अंतिम दिन तक भी उन्होंने पंचामृत अभिषेक देखा है। उनकी समाधि के समय मैं एक महीना कुंथलगिरि रही। मैंने देखा प्रतिदिन पंचामृत अभिषेक की बोली होती थी। उत्तरप्रदेश के भी लोग बोली लेते थे, सेठ भागचंद जी सोनी-अजमेर ने भी एक दिन बोली ली थी और उन्होंने अपनी पत्नी के साथ बड़ी भक्ति और श्रद्धा से भगवान का पंचामृत अभिषेक किया था। एक दिन आचार्यश्री ने पं. श्री सुमेरचंद जी से कहा–आप पंचामृत अभिषेक को प्रमाणिक मानते हैं कि नहीं, तब पं. जी ने कहा–हाँ, आगम में लिखा है, मैं इसको प्रमाणिक मानता हूँ। तो आचार्यश्री ने कहा–फिर आप पंचामृत अभिषेक क्यों नहीं करते हैं? पं. जी ने कहा–मेरे प्रान्त में बुजुर्गों में परम्परा नहीं है, इसलिए मैं नहीं करता हूँ। एक दिन पंचामृत अभिषेक हो रहा था, आचार्यश्री देख रहे थे। पं. श्री सुमेरचंद जी जल का अभिषेक करके पीछे सरके, तो आचार्यश्री ने उनका हाथ पकड़ लिया और दूध के कलश से अभिषेक हो रहा था, उसमें उनका हाथ लगा दिया, यह लोगों के लिए कौतुक का विषय था। पं. श्री सुमेरचंद जी जब इस संस्मरण को सुनाने लगते थे, तो उनकी आँखों में अश्रु आ जाते थे, वे हर्ष-विभोर हो जाते थे और गुरु के उपकार को स्मरण करते और कहते कि आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज किस तरह से विद्वानों को आगमनिष्ठ बनाते थे और आगम के अनुरूप प्रवृत्ति करने की शिक्षा

देते, आदेश देते और जबरदस्ती प्रेरित भी करते थे।

मैं आपको आर्यिका विशुद्धमती जी के बारे में बताती हूँ जो सतना की थीं। उन्होंने मुझे बताया कि मेरी दीक्षा के समय आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज ने कह दिया कि तुम्हें सभा में पंचामृत अभिषेक करना होगा। तो मेरे सामने समस्या थी क्योंकि मैं बुंदेलखण्ड की थी और जहाँ कट्टर तेरहपंथी लोग रहते हैं, जहाँ पंचामृत अभिषेक नहीं करते हैं और न स्त्रियाँ अभिषेक करती हैं। तब मैंने पं. श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य, पं. श्री जगन्मोहनलाल शास्त्री और पं. श्री कैलाशचंद जी आदि से पूछा कि क्या आगम में प्रमाण है और मुझे अभिषेक करना उचित है? तब विद्वानों ने कहा–हाँ, आगम में प्रमाण है और जब आप आचार्यश्री शिवसागर जी को अपना गुरु बना रही हैं तो आपको उनकी बात मानकर अभिषेक करना चाहिए। उन्होंने बताया कि जब मैंने सभा में पंचामृत अभिषेक किया, उसके अनंतर मेरी दीक्षा हुई है।

पं. श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य को मैंने देखा कि वे दुराग्रही नहीं थे। दिल्ली में और हस्तिनापुर में मैंने उन्हें दो बार अपने प्रशिक्षण शिविर में कुलपति के पद पर आसीन कराया। दिल्ली दरियागंज की घटना है जब वे अष्टमी, चतुर्दशी को हरी नहीं लेते थे। यह एक प्रान्तीय परम्परा है मैं तो समझती हूँ सारे भारत की जैन समाज में ऐसा है लेकिन ऐसा कहीं अपने दिगम्बर परम्परा के जैन ग्रंथों में देखने को नहीं मिलता है। आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज कहते थे अगर आप अष्टमी, चौदस को हरी नहीं खायेंगे, दोष मानेंगे तो नवमी, दशमी को भी नहीं खा सकते। फल वृक्ष से अलग होने के बाद निर्जीव है। उसे प्रासुक करके खाने में कोई दोष नहीं है।

हम वनस्पति के कण-कण में जीव नहीं मानते। आचार्य वीरसागर जी महाराज ऐसा नहीं मानते थे कि फल को गरम करो, बिना गर्म किए फल सचित्त हैं, अचित्त नहीं। आचार्य शांतिसागर जी महाराज आदि सभी बिना गरम किए फल लेते थे। आचार्य संघ में हरे फल को, हरे फल के रस को लेने की परम्परा बराबर चली आई है।

आचार्यश्री ने मेरी माँ मोहिनी से भी कहा था कि अष्टमी-चतुर्दशी को अगर आपका गृहस्थाश्रम में हरी का त्याग भी है तो यहाँ संघ में आकर लेना पड़ेगा। उनके आग्रह से, आदेश से मेरी माँ मोहिनी ने भी अष्टमी, चतुर्दशी को हरी लेना शुरू किया था और मैंने भी आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज के कहने से ही अष्टमी-चतुर्दशी को हरी लेना शुरू कर दिया था। यह परम्परा किसी श्वेताम्बर मान्यता से आई है, अपने किसी दिगम्बर ग्रंथ में नहीं है। एक बार पं. पन्नालाल जी से हरी के विषय में चर्चा हुई। ब्र. माधुरी (वर्तमान में आर्यिका चंदनामती) ने सूखे चने, मटर आदि लाकर उसमें जीव

दिखा दिए। सूखे चने, मटर आदि में जीव पड़ जाते हैं। जब इन्हें पानी में भिगोया जाता है तो फूलने के बाद जीव दिखते हैं। तब पं. श्री पन्नालाल जी ने स्वीकार किया कि अष्टमी को सूखे चने, मटर आदि की सब्जी खाना यह आगम परम्परा नहीं है।

मैं एक उदाहरण और आपको बताती हूँ ब्र. श्री फागूलाल जी का। इन्होंने आचार्यश्री वीरसागर जी से मुनिदीक्षा ली थी। सन् 1956 में जब मैं संघ में पहुँची, तब ये क्षुल्लक श्री चिदानंद सागर जी थे। इन्होंने अपनी एक घटना सुनाई थी। इन्होंने बताया कि मैं कट्टर तेरहपंथी था, कलकत्ते में रहता था। दिगम्बर धर्म से प्रभावित होकर मैं ओसवाल श्वेताम्बर से दिगम्बर बन गया, मैंने दिगम्बर धर्म को अपनाया। संघ में ब्र.श्री प्यारेलाल भगतजी की संगति से मैं पूर्णरूपेण सुधारक विचारधारा का हो गया था। जब आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज का चातुर्मास ईसरी में हो रहा था, तब पंचामृत अभिषेक को देखकर मैंने प्यारेलाल जी से चर्चा की कि संघ में ऐसा क्यों होता है? महिलाएँ भी अभिषेक करती हैं यह सब क्या है? तब श्री प्यारेलाल जी ने कहा– यह सब आगमसम्मत है। आगम में दूध, दही वगैरह से अभिषेक का विधान है, यह कोई दोष नहीं है। आज जो यह तेरहपंथ की परम्परा चली है इसका कारण, कुछ लोगों ने दूध, दही से अभिषेक करके, गंधोदक विसर्जित नहीं किया होगा, उसमें जीव-जन्तु मरे होंगे, मक्खियाँ गिर गई होंगी, जिसे देखकर लोगों ने दूध, दही से अभिषेक करने को मना कर दिया होगा और एक कारण यह भी हो सकता है कि बाजार का दूध, दही लाकर अभिषेक कर दिया होगा जबकि शुद्ध दूध, दही जैसा कि श्रावक साधुओं को आहार में देते हैं, वैसा लाकर अभिषेक करना चाहिए था। कुछ इन्हीं कारणों से तेरहपंथ की परम्परा चली है।

क्षुल्लक श्री चिदानंद जी ने बताया कि तब मैंने ब्रह्मचारी अवस्था में उनसे पूछा कि अगर मैं अपने हाथ से गाय का दूध निकाल कर लाऊँ तो बेलगछिया के मंदिर में दूध, दही का अभिषेक कर सकता हूँ? तब प्यारेलाल जी ने कहा– हाँ, कर सकते हो, तब मैंने ऐसा किया लेकिन प्रान्तीय परम्परा से मंदिर में ऐसा अभिषेक न होने से कहीं बहुत ज्यादा विवाद का विषय न बन जाये अतः मैंने प्रतिदिन दूध का अभिषेक नहीं किया। पुरानी बाड़ी के मंदिर में पंचामृत अभिषेक की परम्परा थी अतः वहाँ जाकर मैं कभी-कभी दूध का अभिषेक कर आता था। मेरे कलकत्ता चातुर्मास में ब्र. श्री प्यारेलाल जी ने बीसपंथ परम्परा को आगमसम्मत कहकर समर्थन दिया था। जब मैंने सन् 1963 में कलकत्ता में बेलगछिया में चातुर्मास किया, उस समय ब्र. प्यारेलाल जी मुझसे अत्यधिक प्रभावित थे। वे मेरी प्रातः 4 बजे से रात्रि 10 बजे तक की चर्या अपनी आँखों से देखा करते थे और सभी बातों में रुचि लेते एवं मेरे पास अत्यधिक समय देते थे।

आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज की आज्ञा थी कि संघ में चैत्यालय रखना। उनका कहना था कि संघ में ब्रह्मचारिणी बहनें प्रतिमा जी रखें और प्रतिदिन पंचामृत अभिषेक-पूजन करें क्योंकि कहीं भी समाज में जाकर झगड़ा करना ठीक नहीं है, कहीं पर पंचामृत अभिषेक होता है कहीं नहीं, कहीं स्त्रियों को अभिषेक करने देते हैं कहीं नही। अतः संघ में प्रतिमा जी रखना जरूरी है। दूसरी बात यह भी है कि जब साधु एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए विहार करते हैं तो रास्ते में जगह-जगह पड़ाव डालना पड़ता है, जहाँ मंदिर नहीं होते तो साधु बिना दर्शन किए, बिना अभिषेक देखे आहार पर नहीं उठ सकते, अतः संघ में प्रतिमा जी रखना बहुत आवश्यक है।

मैंने प्रारंभ से लेकर आज तक सीरियस स्थिति में भी भगवान के दर्शन किए बगैर आहार नहीं किया है और न मैंने संघ में साधुओं को देखा है। आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की परम्परा से पूर्णरूपेण बंधे हुए साधुओं के संघ में चैत्यालय रहता है, संघ के ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियाँ अभिषेक करते हैं और प्रतिदिन साधु दर्शन करते हैं, अभिषेक देखते हैं, दर्शन करके ही आहार पर उठते हैं।

आज कुछ संघों में परम्परा चल गई है कि जब साधु शहर से विहार करते हैं तब यदि 50-60 किमी. तक जैन के गाँव नहीं आते हैं, जैन मंदिर नहीं हैं तो उनके साथ के श्रावक कहते हैं कि मैंने तो गुरु के दर्शन कर लिए, मेरे देवदर्शन का नियम पूरा हो गया है लेकिन ऐसा नहीं है, अभी साधु देव नहीं हैं यह बात ध्यान में रखना चाहिए, उनके दर्शन से देवदर्शन का नियम पूरा नहीं हो सकता।

आचार्यश्री शांतिसागर जी एवं आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के अनुसार भगवान के बिना दर्शन किए साधु को आहार पर नहीं उठना चाहिए, यह एक स्वस्थ परम्परा है। आज जो साधु अपने संघ में चैत्यालय रखते हैं, तो कुछ लोग उनकी टीका टिप्पणी करते हैं। आज विपरीत हो रहा है, बड़ा आश्चर्य हो रहा है और वैसा ही लगता है जैसा कि एक बार हम लोग विहार करके मेरठ से हस्तिनापुर आ रहे थे, तो बीच में एक इंचौली गाँव में ठहरे, वहाँ पर मंदिर नहीं है, उस दिन वहाँ पर कुछ श्वेताम्बर साध्वियाँ ठहरी हुई थीं। होता क्या है? उन साध्वियों ने वहाँ पर अपने कपड़े वगैरह धोए। मेरठ के कुछ सज्जन बहुत सी पूड़ी, सब्जी, नुक्ती, पकवान वगैरह सब बाजार की बनी हुई वस्तुएँ अपने खाने के लिए लेकर आये थे, जब उन्होंने अपने खाने के लिए सामान खोला, तो वे सभी श्वेताम्बरी साध्वियाँ वहाँ अपने पात्र लेकर पहुँच गईं और माँगकर उनका खाना ले लिया और खा लिया। जब जाने लग गईं तब हम लोगों से बोलीं– आप लोग उद्दिष्ट आहार लेंगी क्योंकि आपके निमित्त से यहाँ चौका बन रहा है। इस प्रकार कहकर वे हम पर दोषारोपण थोप गईं। हम हँसते रहे, आश्चर्य किया, उनको क्या

समाधान करना, क्या बात करना और वे सब तो ऐसा कहकर चल पड़ीं। तो ऐसे ही लगता है जो स्वयं आगम परम्परा को न निभायें, गुरु परम्परा से अतिरिक्त रहें और दूसरों की निंदा करने लग जाएँ, यह तो उल्टा हो रहा है।

मैं कलकत्ता चातुर्मास के समय की बात बताऊँ, एक दिन ब्र. प्यारेलाल भगत जी के सामने चर्चा आई कि संघ में प्रतिदिन चैत्यालय में पंचामृत अभिषेक होता है। 5 किलो दूध आता है, दूध से शांतिधारा होती है। वहाँ पर कुछ श्रावक लोग जो चौके के लिए शुद्ध दूध लेने जाते थे, वे शुद्ध दूध लाकर भक्ति से भगवान का अभिषेक करते थे। टीकमचंद जी और कई एक श्रावक भक्तिमान थे। उन्होंने अपना रोज का नियम बना रखा था कि जब तक माताजी यहाँ रहेंगी, तब तक हम रोज चैत्यालय में दूध से अभिषेक एवं शांतिधारा करेंगे। एक दिन किसी ने यह चर्चा उठाई कि प्रतिदिन इतना-इतना दूध आता है जो कि बेकार ही जाता है, किसी के पेट में नहीं जाता है। तब भगतजी ने समाधान दिया कि जो भगवान का दूध से अभिषेक और शांतिधारा कर रहे हैं वे तो महान पुण्य का संचय कर रहे हैं, तुम उसे गलत कहकर क्यों पाप बांध रहे हो? अरे! लोगों ने तो भगवान की भक्ति में हीरे-मोती चढ़ाए हैं, रत्न चढ़ाएँ हैं, सोने की गिन्नी, मोहरें चढ़ाई हैं। चढ़ा हुआ द्रव्य माली को जाता है, तो जाने दो, दूध भी जाता है जाने दो, तुम्हारा क्या बिगड़ता है, यह सब तो आगमसम्मत क्रियाएँ हैं।

मैं वहाँ मंदिर में भगवान के चरण का स्पर्श कर लेती थी, उस पर भी समाज में कुछ विवाद उठा था। तब भी ब्र. प्यारेलाल भगत जी ने उन लोगों से कहा कि देखिए, आप तेरहपंथी हैं तो भी आर्यिका को पड़गाहन करके चौके में उनका चरण प्रक्षाल करते हैं। नवधाभक्ति में चरण प्रक्षालकर चरण छूते हैं कि नहीं, तो वे बोले – छूते हैं, तो आर्यिकाएं सामान्य महिलाओं की कोटि में आपके लिए नहीं हैं? बोले – नहीं, वे तो पूज्य हैं, महान हैं। तब भगत जी बोले – जब वे महान हैं, पूज्य हैं तो भगवान के चरण का स्पर्श कर लिया तो इसमें आप तेरहपंथी को भी ऐतराज नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने समाधान दिया। कलकत्ता में एक ब्र. चमेलीबाई जी भी कट्टर तेरहपंथी थीं लेकिन भगतजी के अनुशासन में चलती थीं, हमारे पास बैठती थीं, पंचसंग्रह का खूब स्वाध्याय चलता था, गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि ऊँचे-ऊँचे ग्रंथों के स्वाध्याय चलते थे, वे 2-3 घंटे स्वाध्याय में भाग लेती थीं। कई बार स्त्री अभिषेक के बारे में चर्चा होती थी। मैंने उन्हें प्रमाण भी दिखाए और कहा कि अगर स्त्री अपवित्र है तो वह पंचकल्याणक में क्यों भाग लेती है?, इन्द्राणी क्यों बनती है?, जिनबालक को लेकर क्यों जाती हैं?, हवन में क्यों शामिल होती हैं?, स्त्रियाँ साधुओं को आहार देती हैं तो उन्हें शुद्ध मानेंगे कि नहीं? तब उनके गले मेरी बात उतर गई। उन्होंने एक दिन कहा –

माताजी! मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मैं भी अभिषेक जरूर करूँगी लेकिन यहाँ परम्परा नहीं है अतः मैं आपके संघ के चैत्यालय में अभिषेक करूँगी। कई बार वे चैत्यालय में आकर दूध से अभिषेक कर जातीं लेकिन जरा जल्दी आकर कर जाती थीं कि ज्यादा समाज में चर्चा का विषय न बने लेकिन उन्हें इस बात पर पूर्ण श्रद्धा हो गई थी।

वर्तमान में कई बातें ऐसी हैं, मेरा तो विद्वानों से यही कहना रहता है कि आप जिन-जिन साधुओं से बंधे हुए हैं, बंधे रहें लेकिन आप लोगों को अन्य साधुओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और न कभी वर्गभेद करना चाहिए। वर्तमान में साधुओं के निमित्त से आज वर्गोदय हो रहा है। कहा जाता है यह उस परम्परा के साधु के भक्त हैं, यह उस परम्परा के पण्डित हैं, ऐसा साधुओं के निमित्त से वर्गोदय होना बहुत गलत है, भगवान का शासन सर्वोदयी शासन है।

आगरा के एक सज्जन फिरोजाबाद में मंच पर खड़े होकर सर्वोदय पाठशाला का खूब प्रचार कर रहे थे कि हम सर्वोदय पाठशाला खोल रहे हैं और स्वयं वर्गोदय से बंधे हुए थे, वर्गोदय का प्रचार कर रहे थे। एक वर्ग से जुड़े थे, दूसरे वर्ग के साधु तक को नमस्कार नहीं करते थे। मुनि भक्त तो थे, लेकिन केवल अपने वर्ग की आर्यिकाओं, मुनियों को नमस्कार करते थे, दूसरे वर्ग के साधु-साध्वियों को नमस्कार नहीं करते थे अतः लोग उन्हें अच्छा नहीं कहते थे। स्वयं में भले ही वे अपने को राजा समझें लेकिन ऐसी बात अच्छी नहीं है।

देखा जाये तो साधुओं के निमित्त से, विद्वानों के निमित्त से या संस्थाओं के निमित्त से वर्गभेद नहीं होना चाहिए क्योंकि अपनी दिगम्बर जैन समाज मुट्ठी भर ही तो है। भगवान ऋषभदेव, भगवान महावीर का शासन, शाश्वत जैनधर्म, तीर्थंकर परम्परा यह सब हमारा और आपका बनाया हुआ नहीं है। हम और आप इसमें संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन नहीं कर सकते हैं। हमारा और आपका यही कर्तव्य है कि उस सर्वोदयी शासन में वर्गोदय न करें, विद्वान अगर दूसरे साधुओं का भी सम्मान और आगम का सम्मान सामने रख करके अपनी चर्या बनाते हैं और आगम के आधार को लेकर ही सभा में प्रवचन करते हैं, तो ठीक है।

आप सभा में तेरहपंथ, बीसपंथ विषय को न लें लेकिन अलग से जब आपके सामने चर्चा आवे तो बीसपंथ का खण्डन, जिनशासन देवी-देवताओं का खण्डन नहीं करना चाहिए। आगम में शासन देव-देवियों की पूजन का, भक्ति का विधान है। मैं इसके अनेकों प्रमाण आपको दिखा सकती हूँ। श्री पूज्यपाद स्वामी का पंचामृत अभिषेक पाठ में है, शिलालेखों में यह बात स्पष्ट है। इस अभिषेक पाठ में दिक्पालों का आह्वान, उनकोअर्घ्य चढ़ाना, शासन देव-देवियों का आह्वान, उनको अर्घ्य चढ़ाना स्पष्ट लिखा हुआ है।

आज यह देखा जाता है कि मेरे द्वारा रचित कल्पद्रुम विधान विद्वान कराने के

लिए ले जाते हैं, तेरहपंथ से करते हैं तो उसमें जो शासन देव-देवियों के अर्घ्य हैं, भगवान के माता-पिता के अर्घ्य हैं, उसको छोड़ देते हैं। उसके मंत्रों को भी बदल देते हैं, जबकि यह बहुत गलत है, किसी की कृति को कांट-छांट करना, घटाना-बढ़ाना, परिवर्तन करना आदि सब दोषास्पद है। देखा जाये तो यह विद्वानों के लिए उचित नहीं है। उन्हें हमेशा अपने प्राचीन ग्रंथों के आलोक में हर एक बात को समझना चाहिए और प्रान्त का, परम्परा का दुराग्रह छोड़ करके आगम के पक्ष का समर्थन करना चाहिए।

और भी कई एक विषय ऐसे हैं, सज्जातियत्व का विषय भी ऐसा है। वर्तमान में सूरिमंत्र के बारे में बड़ी चर्चा उठती है कि जहाँ पर आचार्य, मुनि न हों, वहाँ प्रतिष्ठा में कौन सूरिमंत्र दे जबकि यह बात निराधार है। आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज कहते थे कि किसी भी प्रतिष्ठा ग्रंथ में यह नहीं है कि मुनि ही सूरिमंत्र दे, सूरि का अर्थ है आचार्य, लेकिन यहाँ पर जो सूरिमंत्र है वह प्रतिष्ठाचार्य से संबंधित है। प्रतिष्ठाचार्य का अर्थ है जो प्रतिष्ठा कराने में सूरि हैं—प्रधान हैं अर्थात् उस विषय के आचार्य हैं। प्रतिष्ठाचार्य, पंडिताचार्य, विधानाचार्य ये सभी अपने-अपने विषय के आचार्य हैं, अतः प्रतिष्ठाचार्य को सूरिमंत्र देने के लिए पूर्ण अधिकार है।

इस प्रकार मैंने विद्वानों के लिए कुछ दिशा निर्देश दिए हैं, जिन्हें आप सभी विद्वान आगम के परिप्रेक्ष्य में प्रयोग में लाएंगे, ऐसा मेरा कथन है।

दिगम्बराचार्य गुरु सबसे बड़े वैद्य हैं

वेज्जादुरभेसज्जापरिचारय संपदा जहारोग्गं।
गुरुसिस्सरयण साहण संपत्तीए तहा मोक्खो।।
आइरिओ वि य वेज्जो सिस्सो रोगी दु भेसजं चरिया।
खेत्त बल काल पुरिसं पाऊण सणिं दढं कुज्जा।।

अर्थ—जैसे वैद्य, रोगी, औषधि और परिचारक के संयोग से आरोग्य होता है वैसे ही गुरु, शिष्य, रत्नत्रय और साधन के संयोग से मोक्ष होता है।

आचार्य वैद्य हैं, शिष्य रोगी है, औषधि चर्या है। इन्हें तथा क्षेत्र, बल, काल और पुरुष को जानकर धीरे-धीरे इनमें दृढ़ करे।

आचार्य देव वैद्य हैं, शिष्य रोगी हैं, औषधि निर्दोष भिक्षा चर्या है, शीत, उष्ण आदि सहित प्रदेश क्षेत्र हैं, शरीर की सामर्थ्य आदि बल है, वर्षा आदि काल हैं एवं जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद रूप पुरुष होते हैं। इन सभी को जानकर आकुलता के बिना आचार्य शिष्य को चर्यारूपी औषधि का प्रयोग कराये ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वैद्य रोगी को आरोग्य हेतु औषधि प्रयोग कराकर स्वस्थ कर देता है।

—मूलाचार-श्री वट्टकेराचार्य

प्रवचन—5

सृष्टि की व्यवस्था

नमः श्री पुरुदेवाय, धर्मतीर्थप्रवर्तिने।
सर्वा विद्या-कला यस्मा-दाविर्भूता महीतले।।

यह सृष्टि अनादि है, अनंत है और शाश्वत है। इसको रचने वाला कोई ईश्वर, सृष्टा, ब्रह्मा या विधाता नहीं है, प्रत्युत् यह स्वयंसिद्ध है, प्राकृतिक है, अनादिकाल से है और अनंतकाल तक रहेगी। जैन परम्परा के अनुसार आचार्यों ने बताया है कि यह संसार तीन लोक में विभक्त है—

लोगो अकिट्टिमो खलु, अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।
जीवाजीवेहिं फुडो, सव्वागासवयवो णिच्चो।।

यह लोक अर्थात् संसार अथवा शास्त्रीय भाषा में कहें तो लोकाकाश अकृत्रिम है, अनादिनिधन है, स्वभाव से निर्मित है और जीव-अजीव से भरा हुआ है। ये नित्य है और जो सम्पूर्ण आकाश है उसका एक अव्यव स्वरूप है। वस्तुतः आकाश के दो भेद हैं—अलोकाकाश और लोकाकाश। अलोकाकाश अत्यंत विस्तृत है और उसके बीचों-बीच में लोकाकाश है।

तीन लोक का आकार आपने देखा ही है, जैनधर्म का प्रतीक चिन्ह भी तीन लोक का यह आकार ही है। जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में आप खिड़की, दरवाजों, ग्रिल सभी में तीन लोक के इस आकार को देख सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति दोनों पैरों को फैलाकर खड़ा हो जाये और अपने दोनों हाथ कमर पर रख ले, तो जो 'पुरुषाकार' बनता है, वही तीनलोक अथवा लोकाकाश का आकार है। मैं प्रतिदिन इस पुरुषाकार लोकाकाश का ध्यान कराती हूँ, मैं स्वयं तीन लोक का आकार बनाकर खड़ी हो जाती हूँ और लोगों को भी इसी प्रकार खड़ा करती हूँ, इस ध्यान में बड़ा ही आनंद आता है।

यह लोकाकाश मूल में 7 राजू चौड़ा है, 14 राजू ऊँचा है, मध्य में घटते हुए बीचों-बीच में 1 राजू रह गया है, पुनः बढ़ते-बढ़ते ब्रह्म लोक के पास अर्थात् कोहनी वाले स्थान पर 5 राजू हो गया है और पुनः ऊपर की ओर सिद्धशिला तक घटते-घटते 1 राजू रह गया है। इसकी मोटाई सर्वत्र 7 राजू है। ऐसे इस लोकाकाश में सबसे नीचे अधोलोक में निगोद है, उसके ऊपर 7 नरक हैं, इनमें से प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी केतीन भाग हैं—खर भाग, पंक भाग और अब्बहुल भाग। अब्बहुल भाग में नारकी हैं और दो भागों में भवनवासी देवों के भवन बने हुए हैं, गौणरूप में व्यंतर देवों के भवन भी इन दोभागों में हैं।

अपने शरीर में नाभि स्थान पर 1 राजू चौड़े मध्यलोक की कल्पना करें, जिसमें थाली के समान आकार वाले गोलाकार असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, जिनमें से प्रथम द्वीप

का नाम है-'जम्बूद्वीप'। ऊपर ऊर्ध्वलोक में सौधर्म स्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि तक 16 स्वर्ग, 9 ग्रैवेयक, 9 अनुदिश और 5 अनुत्तर हैं, उसके ऊपर सिद्धशिला है।

आप लोगों को ध्यान यह रखना है कि इस लोकाकाश में अधोलोक 7 राजू ऊँचा है और ऊर्ध्वलोक भी 7 राजू ऊँचा है, जबकि मध्यलोक की ऊँचाई ऊर्ध्वलोक से मात्र 1 लाख 40 योजन ली गई है, जो राजू के सामने नगण्य ही है क्योंकि 1 राजू में असंख्यात योजन होते हैं। 1 योजन में 2000 कोस अर्थात् 4000 मील हैं।

जब मैं लोकाकाश का ध्यान कराती हूँ तो मेरा उद्देश्य रहता है कि जब आप अपने शरीर में ही शाश्वत जिनमंदिरों की स्थापना करके उनको नमन करेंगे, तो शरीर विशुद्ध हो जायेगा, आत्मा पवित्र हो जायेगी, असीम पुण्य का संचय होगा, शरीर से आधिव्याधि-रोग पलायमान हो जायेंगे और भूत-प्रेत-व्यंतर आदि की बाधाएँ भी दूर हो जायेंगी।

सर्वप्रथम नाभि से नीचे अधोलोक में भवनवासी देवों के 7 करोड़ 72 लाख जिनमंदिर हैं, उनको नमस्कार हो; मध्यलोक में जम्बूद्वीप से लेकर 13 द्वीप पर्यंत 458 जिनमंदिर हैं, उनको नमस्कार हो, ऊर्ध्वलोक में अर्थात् नाभि के ऊपर सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यंत 84 लाख 97 हजार 23 जिनमंदिर हैं, उनको नमस्कार हो। तीन लोक में कुल 8 करोड़ 56 लाख 97 हजार 481 जिनमंदिर हैं, इन सबमें 108-108 प्रतिमाएँ होने से कुल 925 करोड़ 53 लाख 27 हजार 948 जिनप्रतिमाएँ हैं, इन सभी जिनमंदिरों एवं जिनप्रतिमाओं को मेरा बारम्बार नमस्कार है, ऐसा चिंतवन करें।

पुनः मध्यलोक में देखिए, जहाँ व्यंतर देवों के जम्बूद्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्रपर्यंत असंख्यात भवन हैं, भवन-भवनपुर-आवास आदि, प्रत्येक में उनके जिनमंदिर बने हैं, जिनमें से प्रत्येक में 108-108 जिनप्रतिमाएँ हैं, उनको नमस्कार करिये। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारा इत्यादि पाँच प्रकार के जो ज्योतिष्क देव हमें दिख रहे हैं, वे भी जम्बूद्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र तक असंख्यात हैं, प्रत्येक के विमान में एक-एक जिनमंदिर है, तो इस प्रकार ज्योतिर्वासी देवों के असंख्यात जिनमंदिर हो गये और उनमें 108-108 प्रतिमाएं हैं, उनको नमस्कार करिए।

पुनः आप देखें ढाई द्वीप को अर्थात् सुमेरु पर्वत को वेष्टित किए हुए प्रथम 'जम्बूद्वीप', पुनः जम्बूद्वीप को घेरे हुए लवण समुद्र, उसके पश्चात् धातकीखण्ड द्वीप, उसके पश्चात् कालोदधि समुद्र और उसके बाद पुष्करार्द्ध द्वीप। इस ढाई द्वीप में 170 कर्मभूमि हैं, इन सभी कर्मभूमियों में जितने भी अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और जिनचैत्यालयरूप नवदेवता हैं, उनको नमस्कार करें, जितने भी कृत्रिम जिनमंदिर-जिनप्रतिमाएँ हैं, उनको नमस्कार करें, विद्यमान बीस तीर्थंकर – सीमंधर, युगमंधर, बाहु, सुबाहु आदि हैं, उनको नमस्कार करें। पाँच भरत-पाँच ऐरावत क्षेत्रों में भूत-भविष्यत-वर्तमानसंबंधी तीस चौबीसी के 720 तीर्थंकर

भगवन्तों को नमस्कार करें, साथ ही ढाई द्वीप की सभी कर्मभूमियों में जितनी भी पंचकल्याणक भूमियाँ हैं, निर्वाणभूमियाँ हैं, अतिशयक्षेत्र हैं, उन सबको नमस्कार करें।

इसके पश्चात् आपको सिद्धशिला का ध्यान करना है। लोक के अग्रभाग पर सिद्धशिला है, आप चिंतन करें कि जो मैंने पुरुषाकार लोकाकाश बनाया है, उसके ठीक अग्रभाग पर ढाई द्वीप के समान 45 लाख योजन विस्तृत उत्तान कटोरे के आकार वाली अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला मेरे मस्तक पर विराजमान है और उस पर अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं पुनः चिन्तन करें कि जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और ऊर्ध्वगमन स्वभावी मेरी आत्मा उसी सिद्धशिला पर पहुँचकर अनंत सिद्धों के बीच विराजमान हो गयी है, चिच्चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा सब कर्मों से पृथक् होकर सिद्धशिला पर पहुँच गई है, उन सब सिद्धों को मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

''त्रिभुवन के मस्तक पर, सिद्धशिला पर सिद्ध अनंतानंत।
नमूँ नमूँ त्रिभुवन के सभी, तीर्थ को जिससे हो भव अंत।।''

तो इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक, आल्हादपूर्वक प्रतिदिन ये तीन लोक का ध्यान मैं करती हूँ और आपको भी प्रतिदिन इस ध्यान को करना चाहिए।

तीन लोक की इस अनादिनिधन रचना के चिंतन के पश्चात् अब आपको सृष्टि की व्यवस्था के विषय में समझना है। ढाई द्वीप में 170 कर्मभूमियों में 160 कर्मभूमियाँ विदेह क्षेत्र में हैं, जहाँ शाश्वत कर्मभूमि है। वहाँ पर सदाकाल चतुर्थ काल की आदि (प्रारंभ) जैसी व्यवस्था ही रहती है अर्थात् यहाँ भरतक्षेत्र में भगवान ऋषभदेव के समय जैसा काल था, वही वहाँ सर्वदा विद्यमान रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। 160 विदेहों की तो यह व्यवस्था है।

अब आगे देखें! जम्बूद्वीप में एक भरत-एक ऐरावत हैं, धातकी खण्ड में 2 भरत-2 ऐरावत हैं, पुष्करार्द्ध द्वीप में दो भरत-दो ऐरावत हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर 5 भरत-5 ऐरावत क्षेत्र हुए , जिनमें से प्रत्येक के आर्यखण्ड में एक-एक कर्मभूमि होने से 10 कर्मभूमियाँ हुईं और कुल मिलाकर 160+10=170 कर्मभूमियाँ हो गईं। 5 भरत-5 ऐरावत क्षेत्रों में सदैव काल परिवर्तन होता रहता है। यह काल परिवर्तन अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालों के रूप में होता है। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी, पुनः अवसर्पिणी पुनः उत्सर्पिणी यह क्रम सदा चला करता है।

प्रत्येक अवसर्पिणी 10 कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है और प्रत्येक उत्सर्पिणी भी 10 कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है। वर्तमान में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी ही चल रही है। इस अवसर्पिणी में मनुष्यों की आयु, ऊँचाई, सुख इत्यादि में क्रम-क्रम से हानि होती जाती है और उत्सर्पिणी में वृद्धि होती जाती है।

अवसर्पिणी के 6 भेद होते हैं – सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा,

दुषमा और अति दुषमा। उत्सर्पिणी में यही क्रम विपरीत हो जाता है अर्थात् अति दुषमा, दुषमा, दुषमा-सुषमा, सुषमा-दुषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा। आपको यह ध्यान रखना है कि सुषमा-सुषमा, सुषमा और सुषमा-दुषमा में क्रम से उत्तम भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है।

इस बार भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी के स्थान पर हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है। हुण्डावसर्पिणी अर्थात् जिसमें अघटित घटनाएं घट जाएं, ये करोड़ों-करोड़ों कल्पकालों के बाद आता है, कितनी ही अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी बीत जाती हैं, तब एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है।

इस हुण्डावसर्पिणी के दोष से तृतीय काल के अंत में ही 14 कुलकर हुए, भगवान ऋषभदेव हुए, भरत चक्रवर्ती हुए और भगवान ऋषभदेव तृतीय काल के अंत में ही मोक्ष चले गये। वैसे तो अवसर्पिणी में चतुर्थ काल के आदि से अंत तक ही 24 तीर्थंकर होते हैं और उसी काल में मोक्ष जाते हैं परन्तु हुण्डावसर्पिणी के दोष से इस बार तृतीय काल में तीर्थंकर का जन्म एवं मोक्षगमन हुआ है।

प्रथम काल अर्थात् उत्तम भोगभूमि में 3 पल्य की आयु और 3 कोस ऊँचा शरीर था, घटते-घटते क्रम से द्वितीय काल में 2 पल्य की आयु और 2 कोस ऊँचा शरीर और तृतीयकाल में 1 पल्य की आयु और 1 कोस ऊँचा शरीर हो गया और घटते-घटते तृतीय काल के अंत में अंतिम कुलकर नाभिराय के शरीर की ऊँचाई 525 धनुष रह गई। एक धनुष में 4 हाथ माने गये हैं। भगवान ऋषभदेव की ऊँचाई 500 धनुष थी। युग की आदि में भोगभूमि समाप्त हो गई और कर्मभूमि प्रारंभ हो गई।

तीर्थंकर गर्भ-जन्म से ही मति, श्रुत व अवधि इन तीन ज्ञान के धारी होते हैं। अतः भगवान ऋषभदेव ने अपने अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की कर्मभूमि का स्मरण करते हुए चिंतन किया कि वहाँ पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण हैं तथा असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट् क्रियाओं के द्वारा जीवनयापन किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भरतक्षेत्र में भी वही व्यवस्थाएँ बनाना चाहिए अतः प्रभु ने प्रजा को इसी प्रकार का उपदेश दिया तथा क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णों की स्थापना की। इन्द्र को उन्होंने ग्राम, नगर, पुर, खेट इत्यादि बनाने की आज्ञा दी, जिसे देव कारीगरों ने देखते-देखते पूर्ण कर दिया। अनेकानेक ग्राम, नगर, शहर सब निर्मित हो गये, महल-मकान आदि निर्मित हो गये। पहले भोगभूमि में क्या था कि दश प्रकार के कल्पवृक्षों से महल, मकान, भोजन, वस्त्राभूषण इत्यादि सब प्राप्त हो जाते थे परन्तु कर्मभूमि में सब व्यवस्थाओं को बनाने की आवश्यकता थी अतः भगवान ऋषभदेव ने प्रजा को समस्त क्रियाएँ सिखाईं–कैसे बीज बोना, कैसे उगाना, कैसे धान्य काटना, कैसे आटा पीसना, कैसे भोजन बनाना, कैसे खाना-खिलाना इत्यादि सब व्यवस्थाओं से परिचित करा दिया।

चतुर्थ काल एक कोड़ा-कोड़ी सागर का था, उसमें 24 तीर्थंकर हुए (भगवान ऋषभदेव तृतीय काल के अंत में ही हो गये थे), 12 चक्रवर्ती हुए, 9 बलदेव, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, ऐसे 63 शलाका पुरुष हुए। 24 कामदेव, 9 नारद और रुद्र भी हुए हैं। इन सबका वर्णन आप महापुराण, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों के स्वाध्याय से समझ सकते हैं।

तो इस प्रकार इस क्रम से सृष्टि प्राकृतिक एवं स्वाभाविक रूप से चलती रहती है, जैसे मेघ स्वाभाविक रूप से ही आकाश में छा जाते हैं, उनसे स्वाभाविक रूप से जलवृष्टि होती है, आकाश में इन्द्रधनुष स्वाभाविक रूप से बन जाता है, स्वाभाविक रूप से ही शीत ऋतु, ग्रीष्म ऋतु, शरद ऋतु इत्यादि का परिवर्तन चलता रहता है, इसी प्रकार सृष्टि भी अपने क्रम से स्वतः ही चलती रहती है।

चतुर्थ काल की आदि में 525 धनुष ऊँचा बाहुबली का शरीर था, 500 धनुष ऊँचा भगवान ऋषभदेव का शरीर था, जबकि उत्कृष्ट आयु 1 कोटि वर्ष पूर्व की अर्थात् बहुत बड़ी आयु थी। चतुर्थकाल के अंत तक घटते-घटते शरीर की ऊँचाई 7 हाथ और आयु 120 वर्ष रह गई। धीरे-धीरे क्रम से घटते हुए शरीर साढ़े 3 हाथ का रह गया और पंचमकाल में भी यह घटने का क्रम जारी है।

चतुर्थकाल के अंत में 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का जन्म हुआ, आज से 2604 वर्ष पूर्व। उनके मोक्षगमन के पश्चात् 3 वर्ष साढ़े 8 माह तक चतुर्थकाल रहा तथा पुनः पंचमकाल प्रारंभ हुआ। हम और आप पंचम काल में निवास कर रहे हैं। आयु, शरीर की ऊँचाई, सुख आदि सभी में देखते-देखते ह्रास हुआ है, हो रहा है। आप देखते हैं आपके बाबा अथवा पिता में जो शक्ति थी चलने की, बोलने की, खाने की, पचाने की अर्थात् जो स्वस्थता थी, आज आप में उन सभी चीजों में ह्रास दिखायी पड़ता है, आपकी संतान की शक्ति आपसे भी कम है, तो इस प्रकार से षट्काल का परिवर्तन होता चला आ रहा है। आगे छठा काल आ जायेगा, उसमें अग्नि भी नहीं रहेगी क्योंकि पंचमकाल के अंत में ही अग्नि समाप्त हो जायेगी, राजा भी नहीं रहेगा, धर्म भी नहीं रहेगा, अत्यंत निकृष्ट यह काल होगा, मनुष्यों का जीवन पशुवत् व्यतीत होगा, अत्यंत दुःखी जीवन रहेगा। उसके पश्चात् उत्सर्पिणी काल आयेगा, जिसमें पहले छठा काल आयेगा, पुनः पाँचवां, चौथा इत्यादि तो इस प्रकार से सृष्टि के परिवर्तन का यह क्रम चला आ रहा है। जैन ग्रंथों के अनुसार सृष्टि की यह व्यवस्था स्वाभाविक रूप से चली आ रही है, किसी ब्रह्मा इत्यादि के द्वारा इसका संचालन जैन दर्शन में नहीं माना गया है। आज बालकों को पढ़ा दिया जाता है कि पूर्व में बंदर मनुष्य के पूर्वज थे, उनके रोम घिस गये, पूँछ घिस गयी तो उनसे धीरे-धीरे मनुष्यों का विकास हो गया, पर जैनागम के अनुसार ये कल्पनाएँ निराधार किंवदंतियाँ हैं।

हम मनु की संतान हैं, हमारे पूर्वज कहीं अधिक उन्नतिशील थे। मनु 'कुलकर' को कहते हैं। भगवान ऋषभदेव अंतिम 14वें कुलकर नाभिराय के पुत्र थे। 'मनु' से ही मानव बना है।

मनोरपत्यं मानवः (मनु की संतान को मानव कहते हैं) तो हम सब कुलकरों की संतान हैं।

देखिए! ये तो कोई भी नहीं कह सकता कि पहले बीज है कि वृक्ष, संतान परम्परा अनादि है। उसकी आदि नहीं है पर अंत तो है। बीज को जला दो तो उसकी परम्परा का अंत हो जायेगा। इसी प्रकार हमारी और आपकी परम्परा भी अनादिकाल से चली आयी है। हमारे पिता, उनके पिता, उनके पिता इत्यादि, यह पूर्वजों की परम्परा कब से चली आई है, हम नहीं कह सकते। सभी माता-पिता से ही उत्पन्न हुए हैं, अपने आप नहीं तो इस प्रकार हमारी यह कुल परम्परा उद्भव की दृष्टि से अनादि है परन्तु इस परम्परा को समाप्त किया जा सकता है। भगवान महावीर ने शादी नहीं की तो उनकी कुल परम्परा नहीं चली परन्तु और तीर्थंकरों ने शादी की तो उनकी परम्परा तो चली आ रही है, तो इस परम्परा का हमें गौरव होता है।

मैं तो कहूँगी कि हस्तिनापुर के निकट रहने वाले तीर्थंकर शांतिनाथ, कुंथुनाथ एवं अरहनाथ की वंश परम्परा के हैं। हम लोग अयोध्या के निकट जन्म लेने वाले भगवान ऋषभदेव की परम्परा, उनके खानदान के हैं। बनारस में रहने वालों को मैं गौरव से कहती हूँ कि आप उग्रवंश के, महाराज अश्वसेन के वंश के हैं। बिहार में रहने वालों को मैं कहूँगी कि आप राजा सिद्धार्थ के जो भाई इत्यादि रहे होंगे, उनकी वंश परम्परा के हैं तो बात ये है कि यह खानदान परम्परा कहीं न कहीं से चली आ रही है, उसका कोई आदि नहीं है और उसको बनाने वाला ईश्वर भी नहीं है, ये प्राकृतिक है और हमें इन सब बातों पर विश्वास रखना है।

ये विश्वास का विषय है। सोचिए! हमने लंदन नहीं देखा, अमेरिका नहीं देखा, जर्मन नहीं देखा पर फिर भी हम विश्वास करते हैं क्योंकि आप जैसे कई लोग वहाँ जाकर आते हैं और हमें बताते हैं, अतः जो चीज हमने नहीं देखी है, वह नहीं है, ऐसा कहना अथवा मानना उचित नहीं है। तो भगवान ने जो देखा है, सर्वज्ञ ने जो देखा है, उनकी वाणी में जो स्पष्ट है, वह है, ऐसा हमें दृढ़ विश्वास रखना है। इस प्रकार से संसार भी है, परलोक भी है, जीव का जन्म-मरण भी है, सुमेरुपर्वत भी है, जम्बूद्वीप भी है, स्वर्ग-नरक भी हैं, आत्मा का अस्तित्व भी है, इन सब बातों को हमें हृदय से स्वीकार करना है। सुमेरु पर्वत हमें साक्षात् नहीं दिखता है पर सर्वज्ञ देव की वाणी के अनुसार यह हमसे 20 करोड़ मील की दूरी पर है, तो हमें इसके प्रति किंचित्मात्र भी संशय नहीं रखना है। वैदिक ग्रंथों में भी सुमेरु पर्वत को मध्यलोक का मापदंड कहा

है तथा इस पर ब्रह्मा का निवास माना है। जैनागम के अनुसार सुमेरु पर्वत पर 16 अकृत्रिम चैत्यालय हैं, इसके पाण्डुक वन की 4 शिलाओं में से पाण्डुकशिला पर जन्मजात तीर्थंकर शिशु का जन्माभिषेक होता है। यहाँ जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में निर्मित सुमेरु पर्वत की पाण्डुकशिला पर भी भक्तगण भगवान का जन्माभिषेक करते हैं, जब भी किन्हीं तीर्थंकर भगवान का जन्मकल्याणक आता है, तब मेरी प्रेरणा से उन्हीं भगवान की प्रतिमा पाण्डुक शिला पर ले जाकर जन्माभिषेक किया जाता है। तो बात यह है कि हमारे शास्त्रों में जो वर्णित है, हमारे आचार्यों ने जो कहा है, वह सत्य है, यही दृढ़ विश्वासरूपी आस्तिक्य भावना है, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करो, परलोक को स्वीकार करो, चतुर्गति परिभ्रमण को स्वीकार करो, नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति अर्थात् इन चारों गति में से किसी न किसी गति से हम आये हैं और किसी न किसी गति में हमें जाना है। जैसे-जैसे पुण्य-पाप का हम संचय करेंगे, वैसी ही गति में हम जन्म धारण करेंगे। इसीलिए तो आचार्यों का कहना है कि आप अपनी प्रवृत्ति अच्छी बनाओ, आचरण अच्छा रखो, सम्यग्दृष्टी बनो, ज्ञान का अर्जन करो, अपना चारित्र ऐसा सदाचारमय बनाओ कि उच्चगति मिले, देवगति मिले। आप चाहें तो स्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं और चाहें तो पुरुषार्थ करके मोक्ष को भी प्राप्त कर सकते हैं। ठीक है कि आज पंचमकाल में मोक्ष नहीं है पर परम्परा से तो मोक्ष है।

तो इस प्रकार संक्षेप में मैंने ये व्यवस्था आपको बतायी। आपको याद रखना है कि मध्यलोक की 170 कर्मभूमियों में ही तीर्थंकर आदि महापुरुष होते हैं और इन्हीं कर्मभूमियों में आप या हम मुनि दीक्षा धारण करके, तपश्चरण करके अपने कर्मों को काटकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, इसीलिए इनका 'कर्मभूमि' नाम सार्थक है। 'कर्म' अर्थात् क्रियाएँ जहाँ पर की जायें, जहाँ असि-मसि-कृषि इत्यादि षट्आवश्यक क्रियाओं का अभ्यास हो, जहाँ श्रावक देवपूजा, गुरुपास्ति इत्यादि षट्क्रियाएं करते हों, जहाँ मुनि सामायिक, देववंदना, स्तुति आदि अपनी आवश्यक क्रियाओं को करके मोक्षपुरुषार्थ को सिद्ध करें, वही कर्मभूमि है। कर्मभूमि का अर्थ यही है कि जहाँ पर जीव कर्म करके सुख-दुख के भोक्ता बनते हैं और पुरुषार्थ करके कर्मों को काटकर परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं अतः इसका 'कर्मभूमि' नाम सार्थक है।

अपने को यह समझना है कि पूर्व में हमने कोई अशुभ कर्म संचित किया होगा, जिससे हमें पंचमकाल में मानव जीवन मिला, पर फिर भी मैं कहती हूँ कि अपने को महान पुण्यशाली मानो कि हमें जैन कुल, जैनधर्म मिला है, जिनवाणी का अध्ययन-स्वाध्याय का अवसर मिला, गुरुओं का समागम मिला, बहुत बड़ा पुण्य है। हम तो पंचमकाल में जन्म लेकर भी अपने को चतुर्थकाल से श्रेष्ठ मानते हैं, क्यों? क्योंकि

चतुर्थकाल में हमने यदि सम्यक्त्व प्राप्त किया होता, चारित्र ग्रहण किया होता तो हम मोक्ष प्राप्त कर लेते। तो वह चतुर्थकाल हमारे किस काम का था, जिसमें हमने मोक्ष पुरुषार्थ नहीं साधा और यह पंचमकाल हमारे लिए श्रेष्ठ है, जिसमें हमने धर्म पुरुषार्थ प्राप्त करके मोक्ष प्राप्ति के पुरुषार्थ का अभ्यास प्रारंभ किया है। तो इस प्रकार हमें इस पंचमकाल को भी अच्छा मानना है, जिसमें हमने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, समीचीन ज्ञान प्राप्त किया है, गुरुओं के समागम से हमें चारित्र धारण करने की पात्रता, योग्यता एवं भव्यता प्राप्त हुई है, आज हम अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रत, पंच महाव्रत ग्रहण कर सकते हैं, पुरुषार्थ कर सकते हैं, तो हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ यही है कि हम अपने सम्यग्दर्शन को दृढ़ रखें, भगवन्तों की भक्ति करते हुए, स्वाध्याय करते हुए अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करें। तीन ही रत्न हैं संसार में–

'देव, शास्त्र, गुरु रतन शुभ, तीन रतन करतार।'

देव की पूजा से आपको सम्यग्दर्शनरूपी रत्न मिलेगा, शास्त्र स्वाध्याय से आपको सम्यग्ज्ञानरूपी रत्न मिलेगा, गुरुओं के प्रसाद से आपको सम्यकचारित्ररूपी रत्न मिलेगा, तो तीन रत्न आपको तीन ही रत्न देने वाले हैं।

तो यही ध्यान रखना है कि कभी अपने आपको हम निरुत्साहित न करें वरन् सदैव विचार करें कि हम अतीव पुण्यशाली हैं, महान सौभाग्यशाली हैं, सदैव चिंतन करें कि मेरी आत्मा भगवान आत्मा है, शुद्ध निश्चयनय से हम भगवान आत्मा हैं और व्यवहारनय से हम संसारी हैं। हमें अपनी आत्मा को पवित्र भगवान आत्मा बनाना है। जितना पुरुषार्थ बन सके, उतना करके इस पंचमकाल में भी अपनी मनुष्य पर्याय को हमें सार्थक करना है।

धर्म एक सर्वश्रेष्ठ समुद्र है

चारुगुणसलिलपउरं संजमउत्तुंगउम्मिसंघायं।
णिम्मलतवपायालं समिदि महामच्छ संछण्ण।।
जमणियमदीवपउरं वरगुत्तिगंभीर सीलमज्जादं।
णिव्वाणरयणणिवहं धम्मसमुद्दं णमंसामि।।

अर्थ–सुन्दर गुणों रूप जल की प्रचुरता से संयुक्त, संयम रूप उन्नत ऊर्मि समूहों से सहित, निर्मल तपरूप पातालों से परिपूर्ण, समितियों रूपी महामत्स्यों से व्याप्त, यम-नियम रूप प्रचुर द्वीपों (जलजन्तु विशेषों) से संयुक्त, श्रेष्ठ गुप्तियों एवं गंभीर शीलरूप मर्यादा से सहित और निर्वाणरूप रत्नसमूह से सम्पन्न ऐसे धर्मरूप समुद्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

–जम्बूद्वीपपण्णत्ति-आचार्य पद्मनंदि

प्रवचन–6

वैराग्यपथ पर बढ़ते कदमों को रोकें नहीं

नमः श्री वर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते।।

भव्यात्माओं!

संसार में मनुष्य पर्याय अत्यन्त दुर्लभ है और उसको प्राप्त करके हमेशा उसको सार्थक करने का पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।

इष्टोपदेश ग्रंथ में आचार्यश्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं–

इतश्चिन्तामणिर्दिव्यः, इतः पिण्याक खण्डकं।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये, क्वाद्रियन्तां विवेकिनः।।

अर्थात् आपके एक हाथ में चिन्तामणि रत्न है और दूसरे हाथ में खली का टुकड़ा है, अब आप स्वयं विचार करें कि आप किसमें आदर करेंगे? चिन्तामणि रत्न में या खली के टुकड़े में?

इस पर किसी ने प्रश्न किया कि चिन्तामणि रत्न क्या है? उसको उत्तर मिला– **''धर्म है।''** पुनः प्रश्न किया–वह धर्म क्या है? तब समाधान देते हैं–जो संसार के दुःखों से प्राणियों को निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा दे, वह धर्म है। वह धर्म दो भागों में विभक्त है–गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म अर्थात् प्रवृत्तिधर्म और निवृत्ति धर्म अथवा भक्तिमार्ग-वैराग्यमार्ग।

इसमें विचार करने का विषय यह है कि पहले किस धर्म का निरूपण किया जाये? आप तो यही कहेंगे कि सबसे पहले गृहस्थधर्म को धारण करना चाहिए पुनः मुनिधर्म को, लेकिन आचार्यों ने ऐसा नहीं कहा है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रंथ में श्री अमृतचन्द्रसूरि जैसे महान आचार्य कहते हैं कि–

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्।।18।।

अर्थात् जो साधु सामने आए हुए भव्यप्राणियों को मुनिधर्म का उपदेश न देकर गृहस्थधर्म का उपदेश देते हैं, वे भगवान के प्रवचन में निग्रह अर्थात् प्रायश्चित्त के भागी माने गए हैं क्योंकि व्यवहार में भी देखा जाता है कि कोई भी व्यापारी ग्राहक को सबसे पहले बहुमूल्य वस्तु दिखाता है, जब ग्राहक उस महंगी वस्तु को लेने में सक्षम नहीं होता है, तब वह सस्ती वस्तु दिखाता है, उसी प्रकार साधुगण सर्वप्रथम मुनिधर्म का ही उपदेश देते हैं, बाद में गृहस्थधर्म का स्वरूप कहते हैं, ऐसा प्रथमानुयोग आदि पुराण ग्रंथों में वर्णन आता है।

इस संदर्भ में वज्रकुमार मुनि की कथा इस प्रकार है–

एक बार सोमदत्त ब्राह्मण अपनी गर्भवती पत्नी के दोहले की पूर्ति हेतु आम की खोज करते-करते एक उद्यान में पहुँचे। वहाँ वज्रकुमार मुनिराज आम्रवृक्ष के नीचे विराजमान थे। मुनि की तपश्चर्या के प्रभाव से असमय में ही उस वृक्ष में आम्रफल आ गए थे। सोमदत्त ने मुनि के निकट पहुँचकर उनको नमस्कार किया। मुनिराज ने उन्हें मुनिधर्म का उपदेश दिया, जिसके प्रभाव से वे सोमदत्त मुनि बन गये। मुनि बनने से पूर्व किसी व्यक्ति के द्वारा उन्होंने पत्नी के लिए आम भिजवा दिया। उपदेश का प्रभाव देखिए! गर्भवती पत्नी को छोड़कर सोमदत्त ने मुनिदीक्षा धारण कर ली।

इस प्रकार के अनेकों रोमांचकारी उदाहरण शास्त्रों में पढ़ने को मिलते हैं।

इसी संदर्भ में दूसरा कथानक है–

अयोध्या के राजा सुरेन्द्रमन्यु के पुत्र वज्रबाहु का विवाह हस्तिनापुर के राजा इभवाहन की कन्या मनोदया के साथ सम्पन्न हुआ। कुछ दिन बाद पुत्री मनोदया के भाई उदयसुन्दर अपनी बहन को विदा कराने उसकी ससुराल गए, उस समय वज्रबाहु अपनी पत्नी के गुण, सौन्दर्य आदि में इतने अधिक आसक्त थे कि वे उसको पीहर भेजने के लिए सहमत नहीं थे। तब उदयसुन्दर ने वज्रबाहु से भी हस्तिनापुर चलकर कुछ दिन वहाँ रहने की बात कही, वे तैयार हो गये और उनके साथ चल पड़े।

उस समय कन्यापक्ष और वरपक्ष के सब मिलाकर कुल 26 राजकुमार साथ में थे। नवविवाहिता मनोदया कन्या के साथ अन्य कई महिलाएँ भी थीं। उन सभी ने मार्ग में एक उद्यान में पड़ाव डाला। उस उद्यान में पर्वत की चोटी पर एक नग्न दिगम्बर मुनिराज ध्यान में लीन थे। सभी लोग वन क्रीड़ा आदि करने में मग्न थे। वन की शोभा देखते-देखते अचानक वज्रबाहु की दृष्टि मुनिराज के मुखमण्डल पर पड़ी, वे एकटक होकर मुनिराज को देखने लगे, उनके अन्तरंग में अनेक विचारधाराएँ हिलोरें लेने लगीं। वे सोचने लगे– "अहो! मनुष्यपर्याय ही सर्वोत्कृष्ट, श्रेष्ठ चिन्तामणि रत्न है। देखो! ये महासाधु कैसे तपश्चरण कर रहे हैं! अगर मैं भी इस प्रकार से संसार के विषय भोगों को छोड़कर ऐसी उत्तम जैनेश्वरी दीक्षा धारण करके आत्मिक, अतीन्द्रिय, उत्तम सुख को प्राप्त कर लूँ, तो कितना अच्छा होगा!"

इस प्रकार उनके हृदय में वैराग्य की भावनाएँ उमड़ पड़ीं, वे अपलक दृष्टि से मुनि को देखते हुए अपने चिन्तन में इतने निमग्न थे कि उन्हें यह आभास ही नहीं था कि कहाँ, क्या हो रहा है? तभी उनके साले उदयसुन्दर ने मजाक करते हुए कहा– अरे जीजाजी! क्या आप मुनि बनना चाहते हैं? एकटक होकर बहुत देर से आप मुनि को देख रहे हैं! क्या आपको दीक्षा लेना है क्या? वज्रबाहु ने अपने भावों को अन्तरंग में छिपाते हुए सहजता से उत्तर दिया– 'अगर मैं दीक्षा लेता हूँ तो आप क्या करेंगे?

बताइए। चूँकि उदयसुन्दर ने स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं की थी कि ये दीक्षा धारण कर लेंगे बल्कि वे समझ रहे थे कि सब बिल्कुल मजाक है, जब ये अपनी पत्नी अर्थात् मेरी बहन में अत्यधिक आसक्ति के कारण हमारे साथ अयोध्या से हस्तिनापुर चल रहे हैं, तो ये भला कैसे दीक्षा लेंगे? अतः उन्होंने भी सरलभाव से कह दिया– 'जब आप दीक्षा लेंगे, तब मैं भी दीक्षा ले लूँगा।" बस, फिर क्या था! बिना किसी से कुछ कहे सुने वे युवराज वज्रबाहु पर्वत की ओर चल पड़े, वहाँ पहुँचकर उन्होंने विवाह के समय के अपने बेशकीमती वस्त्र-आभूषण आदि उतारकर मुनिराज से निवेदन किया– 'भगवन्! मुझे जैनेश्वरी दीक्षा लेनी है, शीघ्र ही मुझे इस संसार समुद्र से पार पहुँचाने वाली जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कीजिए।' तभी उदयसुन्दर जोर-जोर से कहने लगे– जीजाजी! यह आप क्या कह रहे हैं? मैं तो यह सब मजाक में कह रहा था। आप वापस चलिए, मेरी नवविवाहिता बहन आपके बिना कैसे रह पाएगी? तब वज्रबाहु ने कहा– उदयसुन्दर! अब आप भी अपने कर्तव्य को निभाइए, अभी आपने कहा था कि आपके साथ मैं भी दीक्षा ले लूँगा अतः अब आप भी तैयार हो जाइए। यह सुनकर उदयसुन्दर भी तुरंत दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गए। इतना ही नहीं, साथ में आए सभी 26 राजकुमारों नेभी राज्यवैभव का त्याग करके, बिना माता-पिता की आज्ञा के जैनेश्वरी दीक्षा धारप कर ली।

अब मनोदया चिन्तन करती है– 'मुझ नवविवाहिता को छोड़कर मेरे पतिदेव महामुनि बन गए हैं, अब मेरा कर्तव्य क्या है? रोने-धोने से तो अब कुछ भी लाभ नहीं है।' इस प्रकार विचार करके वह मनोदया श्वेत साड़ी पहनकर आर्यिका दीक्षा के लिए तत्पर हो जाती है तथा उसके साथ में सभी राजकुमारों की पत्नियाँ भी दीक्षा धारण कर लेती हैं।

वास्तव में वह कितना रोमांचकारी दृश्य रहा होगा!

इधर अयोध्या में जब वज्रबाहु के बाबा ने यह समाचार सुना, तो वे विचार करने लगे कि– अरे! मेरे पोते ने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और मैं अभी घर में ही पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि में मग्न हूँ।"

इतना चिन्तन करते ही उनको भी राज्यवैभव से विरक्ति हो गई, तब उन्होंने वज्रबाहु के भाई को राज्यभार सौंपकर निर्वाणसंगम नामक महामुनि के पास जाकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली।

कहने का तात्पर्य यही है कि इस प्रकार के एक, दो नहीं, हजारों उदाहरण जैन ग्रंथों में भरे पड़े हैं। ये तो पूर्व समय की बात है, वर्तमान में भी इस प्रकार के उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज बताया करते थे कि जब वे संघ में आए और दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गए, तब उनमें उनके एक रिश्तेदार भी थे, जो उनको समझाने आए थे परन्तु उन्होंने भी दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया।

आज भी लगभग एक हजार साधुओं में ऐसे कई उदाहरण मिल जायेंगे।

कभी-कभी महिलाओं के मुँह से एक भजन सुना है, जिसकी पंक्तियाँ बहुत कर्णप्रिय लगती हैं–

जीवन के किसी भी क्षण में, वैराग्य उपज सकता है।
संसार में रहकर प्राणी, संसार को तज सकता है।।

अर्थात् किसी भी क्षण में किसी को भी वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। यह कोई नियम नहीं है कि बचपन में वैराग्य क्यों? शादी होने के बाद वैराग्य क्यों? गर्भवती महिला को छोड़कर वैराग्य क्यों? आदि।

यहाँ एक और रोमांचकारी कथानक प्रस्तुत है–

इसी जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में वत्सकावती देश है, उसमें अपराजित और अनन्तवीर्य नामक दो भाई बलभद्र और नारायण पद से सुशोभित थे। इनमें से बलभद्र अपराजित की कन्या सुमति, बहुत ही गुणवती एवं रूपवती थी। किसी समय अपराजित महाराज ने दमवर नाम के चारण ऋद्धिधारी महामुनि का पड़गाहन कर उन्हें नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान दिया, जिसके प्रभाव से वहाँ पंचाश्चर्यवृष्टि हुई। उसी समय वह सुमति कन्या आहारदान आदि क्रियाओं को देखकर प्रसन्नचित्त होती हुई महामुनि को नमस्कार करके उनके चरण सानिध्य में बैठ गई। बलभद्र महाराज अपराजित अपनी रूप और गुणों की खान, नवयौवन सम्पन्न कन्या को देखकर विचार करने लगे कि–'मुझे अब इस कन्या का विवाह करना है।' यह सोचकर उन्होंने कुछ क्षण बाद सभामण्डप में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने अपने मंत्रियों के साथ मंत्रणा करके एक विशाल स्वयंवर मण्डप तैयार कराया। हजारों राजपुत्र उस स्वयंवर मण्डप में उपस्थित हुए।

स्वयंवर की बात चली तो पहले आपको यह बता दूँ कि यह स्वयंवर प्रथा भी अनादि है। युग की आदि में भगवान ऋषभदेव के समय वाराणसी के महाराजा अकम्पन ने अपनी पुत्री सुलोचना के लिए स्वयंवर मण्डप तैयार कराया था, जिसमें सुलोचना ने हस्तिनापुर के युवराज (भरतचक्रवर्ती के सेनापति) जयकुमार के गले में वरमाला डाली थी, तब से यहाँ भारत में भी स्वयंवर की परम्परा चली आ रही है।

इधर अर्धचक्री बलभद्र अपराजित की पुत्री का स्वयंवर हो रहा था, कन्या सुमति हाथ में पुष्प और रत्नों की सुन्दर माला लेकर अपनी सखियों के साथ स्वयंवर मंडप में प्रवेश करती है। वह क्रम-क्रम से एक-एक राजकुमार के मुख पर दृष्टि डाल रही है, तभी अकस्मात् स्वर्ग से विमान में बैठकर एक देवी वहाँ आती है और वह देवी सुमति कन्या के सामने खड़ी होकर कहती है–

सखी! हमारी और तुम्हारी स्वर्ग में प्रतिज्ञा हुई थी कि हम दोनों में जो कन्या मध्यलोक में पहले जन्म लेगी, दूसरी कन्या उसे वैराग्य उत्पन्न कराकर दीक्षा दिलाएगी,

तुमको याद है कि नहीं! अकस्मात् सुमती को याद आने लगा। तब वह देवी आगे कहती है कि हम दोनों देवियाँ एक बार नंदीश्वर द्वीप में देवों द्वारा आष्टान्हिक पर्व में किए जा रहे महामह पूजायज्ञ में गए थे पुनः सुमेरु पर्वत की वंदना करने गए थे, वहाँ विराजमान धृतिषेण नामक महामुनिराज के दर्शन करके उनसे प्रश्न किया था कि–भगवन्! हम दोनों को मोक्ष की प्राप्ति कब होगी? तब मुनिराज ने बताया कि–इस भव से चौथे भव में तुम दोनों मुक्तिपद को प्राप्त करोगी।'' अतः हे सखी! मैं अवधिज्ञान से इन सब बातों को जानकर तुम्हें समझाने के लिए आई हूँ।

इतना सुनकर सुमतिकन्या को वैराग्य हो गया और उसी क्षण रत्नमाला वहीं पर रखकर वह विरक्तमना आर्यिका दीक्षा के लिए तत्पर हो गई। सभा मण्डप में उत्सुकता से बैठे सभी हजारों राजकुमार आश्चर्यचकित हो सुमति की ओर देखने लगे। तभी वहाँ महाराजा अपराजित भी आ गए, बोले–बेटी! क्या बात है? सुमति ने कहा–पिताजी! मुझे संसार के विषय-भोगों में नहीं फंसना है अपितु मुझे आर्यिका दीक्षा लेना है।' यह सुनकर पिता ने पुत्री सुमति को सहर्ष आर्यिका दीक्षा हेतु स्वीकृति प्रदान कर दी।

वास्तव में इस विचित्र संसार में सभी तरह के लोग देखे जाते हैं। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि जिस समय नारायण लक्ष्मण की मृत्यु हुई, मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र अत्यन्त विक्षिप्त अवस्था में लक्ष्मण के शव को लेकर विचरण कर रहे थे। उस समय सभी लोग रामचन्द्र को समझाते कि लक्ष्मण अब जीवित नहीं हैं, ये मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं परन्तु रामचन्द्र यह नहीं समझ पा रहे थे कि लक्ष्मण मर चुके हैं, वे कहते कि अभी लक्ष्मण उठेंगे, स्नान करेंगे, भोजन करेंगे। वे लक्ष्मण से कहते–उठो लक्ष्मण! तुम मुझसे बात क्यों नहीं करते हो? तुम आँख क्यों नहीं खोल रहे हो? क्या तुम मुझसे नाराज हो?

सीता के दोनों पुत्र–लव, कुश पिता की इस दयनीय अवस्था को देखकर विरक्त हो गए और जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करके वे वन में चले गए, तब रामचन्द्र कहते हैं–जाओ! देखो! उन दोनों को क्या हो गया है? क्या उन्हें वातरोग हो गया है? जाओ, उन्हें पकड़कर ले आओ! वे दोनों कहाँ चले गए? क्यों चले गए?

कर्मों की विचित्रता तो देखिए! स्वयं तो अशान्त थे ही, दोनों पुत्रों ने दीक्षा ले ली, तो उन्हें वापस लाओ-वापस लाओ कह-कहकर आकुलता करते थे।

एक बार नारायण श्रीकृष्ण एवं बलदेव, दोनों भाई अनेक परिजन एवं पुरजनों के साथ भगवान नेमिनाथ के समवसरण में पहुँचे। भगवान का दिव्य उपदेश सुनकर श्रीकृष्ण ने प्रश्न किया–भगवन्! देवों द्वारा बनाई गई यह द्वारिकानगरी कब तक रहेगी? भगवान की दिव्यध्वनि खिरी, श्री वरदत्त नामक प्रमुख गणधर ने बताया–हे नारायण श्रीकृष्ण! बारह वर्ष में यह द्वारिकानगरी भस्म हो जायेगी। वो कैसे भगवन्!

इसके उत्तर में गणधर देव बताते हैं– किसी समय द्वीपायनमुनि तपश्चर्या में लीन होंगे। कुछ राजपुत्र मदिरा पीकर उनके ऊपर उपसर्ग करेंगे, जिससे उनको क्रोध उत्पन्न होगा, उनकी तपश्चर्या के प्रभाव से क्रोधावेश में उनके शरीर से एक तैजस पुतला निकलेगा और वह पुतला बारह योजन की इस द्वारिकानगरी को भस्मसात् कर देगा। उन्होंने पुनः प्रश्न किया– भगवन्! फिर उस समय कौन जीवित बचेगा? उत्तर मिलता है– आप और बलभद्र आदि दो-तीन लोग ही बचेंगे। अब किसी ने प्रश्न किया– भगवन्! श्रीकृष्ण की मृत्यु कैसे होगी? तो गणधरदेव ने बताया कि– जरत्कुमार के बाण से इनकी मृत्यु होगी। यह सुनकर जरत्कुमार उसी समय घबराकर, घर छोड़कर कहीं चले गए, द्वीपायन मुनि ने बारह वर्ष तक के लिए उस क्षेत्र को छोड़ दिया परन्तु भगवन्तों की वाणी अटल होती है, उसको कोई टाल नहीं सकता।

उस समय श्रीकृष्ण ने राजमहल में आकर यह घोषणा कर दी कि 'मेरे जितने भी परिवार के लोग हैं, परिजन-पुरजन, रानी-पट्टरानियाँ, पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र आदि हैं, उनमें से जो भी राजसुख का त्याग करके दीक्षा लेना चाहें, ले सकते हैं, ऐसी मेरी आज्ञा है।''

उस समय प्रद्युम्न, शंबुकुमार आदि ने विरक्तमना होकर दीक्षा धारण की थी।

इस प्रकार वैराग्यपथ में बढ़ने वालों को रोकने वाले भी हैं और उन्हें आज्ञा देने वाले भी बहुत लोग हैं।

मुझे इस बात का गौरव है कि सन् 1952 में घर से निकलने के समय मेरे माता-पिता ने मुझे समझा-बुझाकर रोकने की बहुत कोशिश की परन्तु किसी प्रकार की जबर्दस्ती नहीं की। मुझे याद है कि जब बाराबंकी में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के केशलोंच के समय मैंने भी विरक्तमना होकर सभा में अपने केश उखाड़ने शुरू किए, उस समय मेरी माँ शोक से मूर्च्छित हो गई थीं। चूँकि सभा में उपस्थित सभी लोग जोर-जोर से शोर तो मचा रहे थे, परन्तु हाथ पकड़कर रोकने का साहस किसी में नहीं था। उस समय महाराज जी के संकेत से मेरी माँ के मामा बब्बूमल जी ने मेरा हाथ पकड़कर रोक दिया, तब तक मेरा आधा केशलोंच हो चुका था पुनः रात्रिभर मेरा और मेरी माँ का संवाद चला, मैंने माँ को खूब समझाया, तब मेरी माँ ने एक कागज पर लिखकर दिया कि– महाराज जी! आप मेरी बेटी को दीक्षा दे दीजिए, ऐसी मेरी आज्ञा है, यह दीक्षा को उत्तमरूप से निभाएगी।''

घर में मैं पिताजी को भी समझाया करती थी, वे मेरी हर बात को मानते थे। लोगों ने पिताजी को बहुत भड़काया कि इसे जबर्दस्ती उठाकर गाड़ी में डालो और घर ले जाओ परन्तु पिताजी ने यही कहा कि– मैं ऐसा नहीं करूँगा, मैं इसे समझाऊँगा, यह खुशी-खुशी चलेगी, तो ठीक है। उनके समझाने पर भी जब मैं नहीं मानी, तो वे बहुत विक्षिप्त होकर एक जंगल में जाकर बैठ गए। लोग खूब ढूंढते रहे, ऐसा लगता कि कुंए

में कूद गए अथवा अपघात कर लिया। अनेक लोग मुझसे कहते– क्या यही अहिंसा धर्म है? माता-पिता मर जाएँ और तुम दीक्षा ले लो! लेकिन मैंने दृढ़प्रतिज्ञ होकर यही कहा कि– संसार में अनन्त माता-पिता हो चुके हैं। कौन किसकी माता? कौन किसका पिता? कौन संसार में ऐसा है, जो किसी की माता न हुआ हो, जो किसी का पिता न हुआ हो! आदि। खैर.....दो-तीन दिन के बाद ताऊ जी उनको (पिताजी को) जंगल से ढूंढकर लाए, तब भी वह मेरे मोह में विक्षिप्त होकर रोते रहते थे।

हमारे संघ में एक संभवसागर जी मुनि थे। मेरी प्रेरणा से वे क्षुल्लक हुए पुनः मुनि बने, मैंने उनको सप्तम प्रतिमा के व्रत दिये थे। वह उदयपुर का बालक सुरेश, अपने माता-पिता का इकलौता पुत्र, जबर्दस्ती भाग-भागकर आता, उसको कमरे में बंद कर दिया जाता, तब भी खुलने पर जबर्दस्ती भाग आता।

सन् 1964 में मुझे पुनः शिखरजी में मिला, मैंने उसे सप्तम प्रतिमा के व्रत दिए, आगे वह संभवसागर क्षुल्लक हुए पुनः मुनि संभवसागर जी बने और अंत में सुन्दर समाधि को प्राप्त किया।

इसी संदर्भ में भगवान नेमिनाथ के पूर्वभव का बहुत ही रोमांचकारी वर्णन है–

पुष्करार्ध द्वीप में विजयार्ध पर्वत पर सूर्यप्रभ नाम के विद्याधर राजा थे। उनके तीन पुत्र थे– चिन्तागति, मनोगति और चपलगति। ये तीनों विद्याधर पुत्र अपनी विद्या के बल से प्रतिदिन सुमेरुपर्वत की वंदना करने जाया करते थे। उसी विजयार्ध की उत्तरश्रेणी में अरिन्दमन नामक नगर में अरिंजय राजा राज्य करते थे, उनकी महारानी अजितसेना की पुत्री प्रीतिमती थी। कन्या प्रीतिमती ने एक बार यह संकल्प कर लिया कि 'सुमेरु पर्वत की वंदना में जो मुझे जीत लेगा, मैं उसी के साथ विवाह करूँगी' इस गतियुद्ध में अनेकों राजकुमार प्रीतिमती से पराजित होते चले गए। ये तीनों विद्याधर पुत्र भी वहाँ पहुँचे। सर्वप्रथम मनोगति और फिर चपलगति तो इस गतियुद्ध में प्रीतिमती से पराजित हो गए। अब चिन्तागति नामक बड़े भाई के साथ गतियुद्ध प्रारंभ हुआ। इस बार चिन्तागति ने प्रीतिमती को पराजित कर दिया। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार प्रीतिमती ने हाथों में रत्नों की माला लेकर स्वयंवर मण्डप में प्रवेश किया और चिन्तागति के गले में वरमाला डालने को उद्यत हुई परन्तु चिन्तागति ने कहा– नहीं, यह वरमाला मेरे योग्य नहीं है, इसे तुम मेरे भाई के गले में डाल दो। प्रीतिमती ने कहा– ऐसा कैसे हो सकता है? गतियुद्ध में मुझे पराजित तो आपने किया है अतः मैं आपको ही पति के रूप में स्वीकार करूँगी, आपके भाई को नहीं। चिन्तागति ने कहा– चूँकि इससे पहले तुम्हारा मेरे दोनों भाइयों के साथ गतियुद्ध हो चुका है अतः तुम मेरे लिए त्याज्य हो। यह सुनकर प्रीतिमती कन्या को वैराग्य हो गया। उसने माता-पिता की आज्ञा लेकर आर्यिका दीक्षा धारण कर ली। उसके इस साहस को देखकर उसके साथ अन्य अनेक

कन्याओं ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली तथा अनेक राजकुमारों के साथ चिन्तागति आदि तीनों भाइयों ने भी जैनेश्वरी दीक्षा ले ली।

कालान्तर में ये चिन्तागति विद्याधर भगवान नेमिनाथ हुए हैं और कन्या प्रीतिमती राजुल के रूप में विख्यात हुई है।

आप देखिए! जम्बूकुमार की चार कन्याओं के साथ सगाई हो गई थी पुनः उन्हें वैराग्य हो गया। माता-पिता ने बहुत समझाया कि बेटा! तुम इन कन्याओं के साथ विवाह कर लो। कन्याओं के माता-पिता ने भी जम्बूकुमार से विवाह हेतु अतीव आग्रह किया। अन्ततः जम्बू कुमार ने स्पष्ट शब्दों में कहा – मैं इस शर्त पर विवाह करूँगा कि विवाह के अगले दिन प्रातःकाल ही मैं दीक्षा ले लूँगा। सबने उनकी शर्त मान ली क्योंकि सबको यह विश्वास था कि विवाह के बाद ये चारों कन्याएँ इन्हें अपने रूप-यौवन में आसक्त कर लेंगी, जम्बूकुमार दीक्षा की बात बिल्कुल भूल जाएंगे, इनका वैराग्य पलायमान हो जायेगा।

अन्ततोगत्वा जम्बूकुमार का विवाह हुआ। रात्रि भर चारों कन्याएं जम्बूकुमार से राग की बातें करती रहीं और जम्बूकुमार उनसे वैराग्य की बातें करते रहे। जम्बूकुमार की माता चोरी-छिपे यह सब सुनकर आकुल-व्याकुल हो रही थीं।

उसी समय राजमहल में विद्युत् चोर (500 चोरों का सरदार) चोरी करने आ गया, उसने जम्बूकुमार की माँ को विक्षिप्तावस्था में देखा तो उनसे पूछा – बहन जी! आप इतनी परेशान क्यों हैं? आप बार-बार इधर से उधर चक्कर क्यों लगा रही हैं? मैं यहाँ चोरी करने के लिए घुसा था।

उन्होंने कहा – भाई! तू सब कुछ ले जा, मगर मेरा बेटा जो सुबह दीक्षा लेने वाला है, तू उसे समझा दे। मैं उसके वियोग की कल्पना करके बहुत चिंतित हूँ। यह सुनकर वह चोर जम्बूकुमार को समझाने गया परन्तु जम्बूकुमार की वैराग्यवर्धक बातें सुनकर वह भी विरक्त हो गया।

प्रातःकाल जम्बूकुमार ने अपनी नवविवाहिता पत्नियों के साथ दीक्षा ले ली, उन सभी के माता-पिता ने भी दीक्षा ले ली, और तो और, उस चोर ने भी अपने 500 साथियों के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। चूँकि ये सभी चोर क्षत्रिय कुल के थे, मात्र संगति से चोर बन गए थे।

इस प्रकार के अनेकों उदाहरण शास्त्रों में हैं। कोई नवविवाहिता पत्नी को छोड़कर दीक्षित हो जाते हैं, कोई गर्भस्थ शिशु को राज्य सौंपकर दीक्षा ले लेते हैं तथा भगवान नेमिनाथ ने तो विवाह के बीच में तोरण से ही रथ को मोड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

बात यह है कि जिनका संसार कम हो जाता है अर्थात् जो मोक्ष के निकट पहुँच जाते हैं, ऐसे भव्य जीवों के भाव दीक्षा लेने के हो जाते हैं अन्यथा संसार में

कई लोग तो दुख से पीड़ित होकर अपघात कर लेते हैं परन्तु उनके दीक्षा लेने के भाव नहीं होते हैं।

एक बार की बात है, आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागर जी महाराज के सामने किसी ने कहा – ये जो लोग दीक्षा लेते हैं न! इनके घर में खाने का ठिकाना नहीं रहता है, इन्हें व्यापार करना नहीं आता है, अकर्मण्यता के कारण दीक्षा ले लेते हैं। आचार्यश्री ने कहा – किसी गरीब-दुखी को मेरे सामने बुलाकर लाओ, देखूँ! उसके दीक्षा के भाव होते हैं क्या? नहीं होंगे।

यह वास्तविकता है कि दीक्षा के भाव तो सम्पन्न घराने के लोगों में भी हो सकते हैं, किसी गरीब में भी हो सकते हैं, इस विषय में कुछ निश्चित नहीं है। कहा भी है –

''मुनि सकल-व्रती बड़भागी, भव-भोगनतें वैरागी''

अर्थात् जो महान पुण्यशाली हैं, उनके ही वैराग्य के भाव होते हैं अतः आप सभी का यह परम कर्तव्य है कि अगर आप स्वयं दीक्षा न ले सकें, तो जो लोग वैराग्य भाव से ओत-प्रोत होकर दीक्षा लेने के उन्मुख हैं, उनको कभी रोकें नहीं, अपितु उनको आज्ञा प्रदान करके उनकी अनुमोदना करें, इससे आपको भी महान पुण्य का बंध होगा।

इस प्रकार मनुष्य जीवन को सफल करने का यही उपाय है।

जिनप्रतिमा विराजमान करने का फल

कुत्थुंभरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पिलहेइ सो णरो तित्थयरपुण्णं।।481।।
जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं।
णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वण्णिउं सयलं।।482।।

–आचार्य वसुनन्दि

कुंस्तुवरखण्डमात्रं यो निर्माप्य जिनालयम्।
स्थापयेत्प्रतिमां स स्यात् त्रैलोक्यस्तुतिगोचरः।।245।।
यस्तु निर्मापयेत्तुङ्गं जिनं चैत्रं मनोहरम्।
वक्तुं तस्य फलं शक्तः कथं सर्वविदोऽखिलम्।।246।।

–आचार्य गुणभद्र

अर्थ–जो मनुष्य कुंथुम्भरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापन करता है, वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है।

प्रवचन–7

दहेज दो तो ऐसा दो

आज समाज में दहेज प्रथा ने कन्याओं के जन्म को भारभूत बना दिया है । जिन कन्याओं के माता-पिता नौकरी से आजीविका करने वाले हैं उनकी कन्याओं के विवाह की समस्या या तो वे स्वयं जानते हैं या जिनके पास आकर वे अपनी दुःख वेदना प्रगट करते हैं, वे जानते हैं। अथवा यों कहिए कि सभी जानते हैं क्योंकि प्रायः कन्यायें सभी के घर में जन्म लेती हैं अतः सभी को किसी न किसी दिन अनुभव आता ही आता है। अन्तर इतना ही है कि श्रीमन्तों को अनुभव कुछ कम आता है अथवा नहीं भी आता है। आज लड़के वालों की खुली मांग ने जैन समाज की सभ्यता का मुँह काला कर दिया है। जो लोग खुली मांग नहीं रखते हैं वे भी प्रायः किसी न किसी रूप में माँग लेते हैं। जो गृहस्थ मध्यम वर्ग के व्यापारी हैं उनकी भी लड़कियों के लिये दहेज दे पाना एक समस्या बनी हुई है।

इस दहेज की मांग के कारण आज 25-25, 30-30 वर्ष तक की लड़कियां कुंवारी ही दिख रही हैं और उनके माता-पिता चिन्ता से रात-दिन विक्षिप्त बने रहते हैं । ऐसे भी उदाहरण देखने में आते रहते हैं कि दहेज में इच्छित धन न मिलने के कारण कितनी लड़कियाँ अपने पीहर में ही पड़ी हुई हैं। यदि कोई ससुराल में हैं भी, तो सास-ससुर की उलाहना से तंग आकर जीवन को समाप्त करने की सोचने लगती हैं। इतना ही नहीं कोई-कोई बहुएँ तो अपघात करके मर भी जाती हैं। प्रतिवर्ष ऐसे कई एक उदाहरण सुनने में आ ही जाते हैं।

इन सब दुर्घटनाओं का मूल कारण यह दहेज की मांग है जो कि सभ्य समाज के लिए सर्वथा निंद्य है। माता-पिता अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार जो कुछ कन्यादान के समय दे देते हैं, वरपक्ष वालों को उसे ही बहुमूल्य समझना चाहिये और याचना प्रवृत्ति को जलांजलि दे देनी चाहिये। क्योंकि-

'यदि पुत्रः सुपुत्रः स्यात्संपदा किं प्रयोजनम् ।
यदि पुत्रः कुपुत्रः स्यात्संपदा किं प्रयोजनम् ।।

यदि अपना पुत्र सुपुत्र है तो सम्पत्ति से क्या प्रयोजन। अर्थात् वह स्वयं कमाकर अपना जीवन सुचारू बना सकता है और यदि पुत्र कुपुत्र है तो सम्पत्ति से क्याप्रयोजन है? अर्थात् वह पिता के द्वारा या ससुराल से प्राप्त हुई सम्पत्ति को दुर्व्यसन में ही लगा देगा।

यदि अपना पुत्र योग्य है तो उसके लिये अन्य किसी से याचना करके उसे दुःखी करने में क्या लाभ है और यदि अपना पुत्र योग्य नहीं है तो वह पराई सम्पत्ति को क्या संभालेगा ?

इसलिये आज दहेज प्रथा की निंदा करने मात्र से कुछ नहीं होगा, अपने कर्तव्य को संभालते हुए 'माँग' प्रथा को सर्वथा छोड़ देना चाहिए और प्राचीन तथा अच्छी परम्परा को चलाना चाहिये।

अब मैं आपको एक ऐसे ''दहेज'' का इतिहास सुनाती हूँ कि जिस दहेज ने साधुओं को जन्म दिया है।

महमूदाबाद के निवासी लाला सुखपाल दास जी और उनकी धर्मपत्नी 'फूलमती जी' एक अच्छे धर्मनिष्ठ, विवेकशील, श्रावक दम्पत्ति थे। उन्होंने अपनी पुत्री 'मोहिनी देवी' का विवाह टिकैतनगर के श्रेष्ठी धन्यकुमार के सुपुत्र 'छोटेलाल जी ' के साथ किया था। उस समय सुखपालदास जी ने पुत्री की धर्मभावना के अनुरूप तथा अपने धार्मिक संस्कारों के निमित्त से अपनी सुपुत्री मोहिनी को दहेज में एक ग्रंथ दिया जिसका नाम था 'पद्मनंदिपंचविंशतिका'। दहेज के इस ग्रंथ को मोहिनी देवी ने भी एक अमूल्य निधि समझा और ससुराल में प्रतिदिन नियमित क्रम से मंदिर के दर्शन के बाद उसका स्वाध्याय करती रहीं। वे प्रतिदिन विधिवत् शास्त्र को चौकी पर विराजमान कर 'ऊंकारं बिदुसंयुक्तं.....इत्यादि मंगलाचरण करतीं पुनः शास्त्र को खोलकर उसका एक संस्कृत श्लोक भी पढ़ लेतीं पुनः शास्त्र बन्द कर जिनवाणी की स्तुति करके उसे ऊपर विराजमान कर देतीं। जब वह शास्त्र पूरा हो जाता तो पुनः उसी का स्वाध्याय प्रारंभ कर देतीं क्योंकि उस ग्रंथ में उन्हें बहुत ज्ञान सामग्री प्राप्त हो रही थी।

उन मोहिनी देवी ने प्रथम संतान के रूप में कन्यारत्न को जन्म दिया जिसका नाम कन्या के नाना सुखपालदास जी ने पता नहीं क्या सोचकर 'मैना' रख दिया और उसे गोद में खिलाते हुये वे सहसा कह दिया करते थे कि यह 'मैना' घर में नहीं रहेगी, घर से उड़ जायेगी। दीक्षा के बाद नानी फूलमती ने यह बात प्रायः सभी को बताई थी।

वह मैना (मैं) जब 6-7 वर्ष की थी, तभी से मां मोहिनी ने मुझ से कभी-कभी उस ग्रंथ को पढ़ाकर सुनना शुरू कर दिया। जब मैं 8 वर्ष की हो गई, तब मुझे भी नियमित स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी और कहा कि तुम भी इसी 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' ग्रंथ का ही स्वाध्याय करो।

मैंने भी उसी विधि से नियमित रूप से उस ग्रंथ का स्वाध्याय प्रारंभ कर दिया । मुझे तो उस ग्रंथ ने साक्षात् मोक्षमार्ग दे दिया। उस ग्रंथ के पढ़ते-पढ़ते मुझे सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हो गई। मैंने सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा के सिवाय कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरू को नमस्कार करने का सर्वथा त्याग कर दिया। इतना ही नहीं, मुझे उसके स्वाध्याय से सम्यग्ज्ञान मिला, सम्यक् प्रकाश मिला और धीरे-धीरे मेरे हृदय में वैराग्य के अंकुर फूटने लगे।

मेरे मन में यह भाव उत्पन्न हुए कि मैं इस भव में आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर

शक्ति अनुसार संयम धारण करूँ और अगले भव में इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से लौकांतिक देव हो जाऊँ । यद्यपि आज मैं समझती हूँ कि आगामी भव में किसी पद की चाहना निदान है, यदि अपने परिणामों में विशुद्धि है तदनुरूप संयम है, तो कोई स्थान दुर्लभ नहीं है किन्तु याचना क्यों करना! फिर भी उस 8-10 वर्ष की वय में मेरे हृदय में इस पद्मनंदिपंचविंशतिका के स्वाध्याय से बहुत ही प्रसन्नता थी और इस ग्रंथ को ही अपना सर्वस्व समझती थी । उस समय मेरे लिय वह ग्रंथ भगवान के समान प्रतीत होता था और उसमें एक श्लोक भी ऐसा था कि जिससे मैं उस वाणी को साक्षात् भगवान की वाणी समझ रही थी। वह श्लोक यह है–

संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलौक्य चूड़ामणिः।
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः।।
सद्रत्नत्रयधारिणी यतिवरास्तासां समालम्बनं।
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः।।68।।

इस समय इस कलिकाल में भरतक्षेत्र में तीनों लोकों में श्रेष्ठ ऐसे केवली भगवान् नहीं हैं फिर भी जगत् को प्रकाशित करने वाले उनके वचन यहां विद्यमान हैं हीं और उन वचनों के आश्रयभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप उत्तम रत्नत्रय के धारक श्रेष्ठ मुनिराज भी विद्यमान हैं। इसलिये उन मुनियों की पूजा वास्तव में जिनवचनों की ही पूजा है, और इससे साक्षात् जिन भगवान की पूजा की गई है ऐसा समझना चाहिए।

यद्यपि उस समय तक मुझे मुनियों का दर्शन नहीं हुआ था इसलिए मैं यही समझती थी कि आज भी साक्षात् जिनेन्द्र देव की वाणी मौजूद है उसी के प्रकाश में अपनी आत्मा का हित मार्ग देखा जा सकता है।

इस ग्रंथ के एक-एक श्लोक मुझे बहुत ही प्रिय लगते थे और मैं उन्हें बार-बार पढ़ा करती थी। इस ग्रंथ में **'अनित्यपंचाशत्'** अधिकार को पढ़कर अनित्य भावना बढ़ती जाती थी। उसके बाद के 'एकत्वसप्तति' अधिकार आत्मा के एकपने का ज्ञान तो होता ही था साथ ही उसके अनंत अचिन्त्य गुणों का भी बोध हो गया था। ''चित्तत्वं तत्प्रतिप्राणिदेह एव व्यवस्थितम्''। यह चैतन्य तत्व प्रत्येक प्राणी के शरीर में ही विराजमान है। पुनरेव इस अधिकार का एक श्लोक आज भी मेरे मानस पटल पर अंकित है–

''दुःखं किंचित्सुखं किंचित् चित्ते भाति जडात्मनः।
संसारेऽत्र पुनर्नित्यं सर्वं दुःखं विवेकिनः।।74।।

संसार में कुछ दुःख और कुछ सुख है ऐसा मूर्ख प्राणियों के ही चित्त में प्रतिभास होता है किन्तु संसार में सदा दुःख ही दुःख है ऐसा प्रतिभास विवेकीजनों को होता है।

इसके बाद का ''यतिभावनाष्टक'' तो मैंने रट ही लिया था। जिसके एक श्लोक की भावना देखिये–

''ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रित शिलां मूलं तरोः प्रावृषि,
प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते।।
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यानप्रशांतात्मनाम् ।
मार्गे संचरतो मम प्रशमिनः कालः कदा यास्यति ।।6।।

जो साधु ग्रीष्म काल में पर्वत के शिखर के ऊपर बनी हुई शिला के ऊपर बैठते हैं, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान लगाते हैं और भयंकर शीतकाल में खुले स्थान पर स्थित होकर ध्यान करते हैं तथा जो आगम के अनुसार तपश्चरण करते हैं, ध्यान से सहित हैं और आत्मा को अतिशय शांत बना चुके हैं ऐसे उन साधुओं के मार्ग में चलते हुए अत्यन्त शांति के साथ मेरा काल कब बीतेगा।

आज भी यही भावना बनी हुई है। जबकि दीक्षा लेकर स्त्रीपर्याय में सर्वोत्तम ऐसे पद में स्थित हूँ। इन भावनाओं से मेरे हृदय में आनंद की लहर दौड़ पड़ती थी और आज भी जब ये श्लोक हृदय में आते हैं तो एक अद्भुत ही आनंद अनुभव होने लगता है।

इस ग्रंथ में केवल वैराग्य और मुनि भावना की ही चर्चा हो ऐसी बात नहीं है प्रत्युत गृहस्थ धर्म का भी बहुत सुन्दर विवेचन है। दान, पूजन और जिनेन्द्र देव की भक्ति का, आलोचना का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन है। श्रावकों के कर्तव्य में जिन मंदिर और जिन प्रतिमा के निर्माण कराने के महत्व को बताया है कि–

''बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या,
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता ,
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुं द्वयस्य।।22।।

जो भव्य जीव भक्ति से कुँदरू के पत्ते के बराबर जिनमंदिर बनवाते हैं तथा जौ के बराबर जिनप्रतिमा का निर्माण कराते हैं उनके पुण्य का वर्णन करने के लिये यहां सरस्वती भी समर्थ नहीं हैं फिर जो भव्यजीव उन दोनों का ही (जिनमंदिर और जिनप्रतिमा का) निर्माण कराते हैं उनके विषय में क्या कहा जाय! अर्थात् वे तो अतिशय पुण्यशाली हैं ही हैं।

इसी प्रकार से इस ग्रंथ में निश्चय पंचाशत, परमार्थविंशति, शरीराष्टक और ब्रह्मचर्याष्टक अधिकार भी अतिशय महत्वपूर्ण हैं।

संसार से भय और संयम में अनुराग कराने के लिये एक श्लोक तो अनर्घ्य मूल्यवान है। जिन्हें संसार के दुःखों से छूटने की इच्छा है मैं कहती हूँ उन्हें यह श्लोक बड़े-बड़े अक्षरों में लिखकर अपने शयनकक्ष और बैठक स्थान में लगा लेना चाहिए

जिससे सोते समय, जागते समय तथा पद-पद पर भी इस पर ध्यान जाता रहे। यदि कदाचित् किसी काल में यह श्लोक हृदय में उतर जायेगा तो मोक्षमार्ग में लगने में, संयम ग्रहण करने में देरी नहीं लगेगी। वह श्लोक यह है–

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः।
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयाऽनन्तशः ।।
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विमुक्तिप्रदां ।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तपदवीं तां देव पूर्णां कुरू ।।31।।

इस संसार में चिरकाल से भ्रमण करते हुये मैंने अनंत बार तो इन्द्र पद प्राप्त किया है और अनंतों बार निगोद पर्याय प्राप्त की है, तथा इन्द्र और निगोद के मध्य जितनी भी योनियां हैं-पर्यायें हैं उन सबकों भी अनंतों बार प्राप्त किया है। इनमें से कोई पर्याय हमारे लिये अपूर्व नहीं रही है। इसलिये हे भगवन् ! जिस पदवी को मैंने आज तक प्राप्त नहीं किया है ऐसी जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पदवी है उसी की पूर्णता करो। बस अब उसी पदवी की मुझे इच्छा है और कुछ भी नहीं चाहिए क्योंकि यह रत्नत्रय पदवी ही मोक्ष को प्रदान कराने वाली है।

यह श्लोक जितना उपयोगी हमारे लिये उस बाल्यकाल में हुआ था उतना ही क्या उससे भी अधिक उपयोगी मुझे आज प्रतीत हो रहा है क्योंकि अभी तो हमें एक देश ही रत्नत्रय प्राप्त हुआ है अभी महाव्रतों में उपचारता लगी हुई है। अतः आज भी मैं सतत श्री जिनेन्द्रदेव से यही प्रार्थना किया करती हूँ कि–

''भगवन् ! मेरे सम्यक्त्व की रक्षा हो, संयम (संयमासंयम) की रक्षा हो, वृद्धि हो तथा अंत में समाधिपूर्वक मरण हो जिससे मुझे सुगति की प्राप्ति हो और इस भव में नहीं तो आगे-तीसरे भव में मुझे इस रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त करने की शक्ति मिले। ''

इस प्रकार इस पद्मनंदिपंचविंशतिका ग्रंथ के स्वाध्याय से मुझे जितनी उपलब्धि हुई है वह वचनों से नहीं कही जा सकती है पुनः उसको लिखना तो केवल नाम मात्र है। यहां मुझे केवल इतना ही बताना है कि यह ग्रंथ प्रत्येक गृहस्थ और साधु सभी के लिये स्वाध्याय का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका पठन, चिन्तन, मनन और वाचन प्रत्येक ज्ञान-पिपासु को करना चाहिए, इतना ही नहीं अपने पुत्र-पुत्रियों को भी यह ग्रंथ पढ़ाना चाहिए और साथ ही अपने इष्ट, मित्र, परिवार जनों को भी इसको पढ़ने की प्रेरणा देनी चाहिए तथा अपनी कन्याओं को यही ग्रंथ दहेज में देना चाहिए।

जब मेरे वैराग्य की बात घर में स्पष्ट हो गई और मैंने यह निर्णय दे दिया कि मैं विवाह के बन्धन से कतई नहीं बंधूंगी। तब पिता महमूदाबाद जाकर महिपाल दास जी को लिवा लाए । वे आकर मुझे समझाने लगे जब कुछ परिणाम नहीं निकला तब वे मुझे फटकारने लगे और गुस्सा करने लगे। इससे भी कुछ नतीजा नहीं निकला देखकर

वे शांत होकर पूछने लगे–

''मैना! तुमने इतनी छोटी उम्र में भला क्या देखा है जो तुम्हें वैराग्य हो गया है और तुम दीक्षा की चर्चा कर रही हो। ''

तब मैंने कहा–

'मैंने बचपन से 'पद्मनंदिपंचविंशतिका का स्वाध्याय किया है उसी से मुझे वैराग्य हो गया है।' पुनः मैंने बहुत से श्लोक सुना-सुनाकर उनका अर्थ बताना शुरू कर दिया। कुछ देर तक प्रश्नोत्तर चलता रहा बाद में वे अपनी बहन (मेरी गृहस्थावस्था की माँ) सेबोले–

'जीजी! तुमने पद्मनंदिपंचविंशतिका, दर्शन कथा, शीलकथा, जम्बूस्वामीचरित, आदि पढ़ा-पढ़ा कर इस लड़की को बरबाद कर दिया है इसका दिमाग खराब कर दिया है अब यह हमारे, तुम्हारे वश की नहीं रही है.....।'

खैर, घटना तो लम्बी चौड़ी है। मैं यहां विषयांतर में न ले जाकर इसी ग्रंथ का माहात्म्य बतलाना चाहती हूँ। पुनः जब आचार्य देशभूषण जी महाराज टिकैतनगर आये, उनके सामने भी मेरी चर्चा रखी गई तब महाराज जी ने कहा कि–

'ऐसे-ऐसे श्मशान वैराग्य बहुतों को होते रहते हैं, इस तरह कोई दीक्षा नहीं ले सकती है।'

अनंतर महाराज जी ने भी मेरे से यही पूछा–

'तुम्हें वैराग्य कैसे हुआ? '

उस समय भी मैंने विनय से हाथ जोड़कर गुरूदेव से निवेदन किया कि–

'महाराज जी ! मुझे इस पद्मनंदिपंचविंशतिका ग्रंथ के स्वाध्याय से अच्छी तरह विदित हो गया है कि यह संसार असार है इसमें एक संयम ही सार है।' पुनः इन्द्रत्वं च निगोदतां च.....दुःख किंचित्.....सुखं किंचित्.....इत्यादि श्लोक बोलना शुरू कर दिया। कुछ क्षण बाद आचार्य श्री ने मां से कहा–

'इस लड़की को सच्चा वैराग्य है, श्मशान वैराग्य, मर्कट वैराग्य अथवा क्षणिक वैराग्य नहीं है।'

अस्तु.....।

इस ग्रंथ के प्रसाद से मैंने तो दीक्षा ली ही तथा जिन्हें यह ग्रंथ दहेज में मिला था उन्होंने भी दीक्षा ले ली और आर्यिका रत्नमति माताजी के नाम से 13 वर्ष दीक्षित जीवन में रहने के पश्चात् हस्तिनापुर में उनकी सुन्दर समाधि हुई है। उन्होंने एक बार बताया था कि मैं जब घर में एक बार इस ग्रंथ को पढ़ रही थी कि मेरे मन में ब्रह्मचर्य व्रत की भावना उठी, मैंने मन में ही अष्टमी-चतुर्दशी को पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने का नियम ले लिया था जिसे कि मैंने विवाह के बाद गार्हस्थ जीवन में परिपूर्ण निभाया था।'

इतना ही नहीं उन्होंने इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर-करके अपने बालक-बालिकाओं

को दूध के साथ ऐसा अमृत पिला दिया था कि जिससे उनके धर्म संस्कारों से संस्कारित तथा मेरे निमित्त को पाकर उनकी पुत्री मनोवती भी आज आर्यिका अभयमती माताजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी पुत्री कु. माधुरी आज आर्यिका चंदनामती माताजी के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनके सुपुत्र रवीन्द्र कुमार शास्त्री भी आजन्म ब्रह्मचार्य व्रत को लेकर दि.जैन त्रिलोक शोध संस्थान की उन्नति में लगे हुए हैं और अपनी आत्मा का कल्याण करते हुए धर्म की सेवा में समर्पित है।

यह सब है इस ग्रंथ के स्वाध्याय का प्रसाद जो कि सभी गृहस्थों को ऐसे आदर्श दहेज देने की प्रेरणा दे रहा है। इस ग्रंथ की महिमा मैंने आपको इसलिए बताई कि इससे प्रेरणा पाकर धार्मिक ग्रंथों को दहेज में देने की परम्परा चले जो प्रत्येक नवदंपत्ति को धर्मपथ में चलने की प्रेरणा देवे जिससे उनके गृहस्थ जीवन में धर्मपरंपरा अक्षुण्ण बनी रहे और उसके प्रसाद से उन सभी के जीवन में सुख-संपत्ति, संतति और शांति की वृद्धि हो। इसी भावना से मैंने आपको बताया है आप सभी श्रावकों को यह नियम करना चाहिए कि–

'हम अपनी कन्याओं को तो दहेज में धर्म ग्रंथ देंगे ही साथ ही अन्य संबंधीजनों की कन्याओं को भी दहेज में अथवा भेंट में धर्मग्रन्थ अवश्य देंगे।

तभी आज के युग में धन संपत्ति के दहेज की मांग कम होगी, जिससे कन्याओं का जीवन सुखी होगा और सर्व परिवारों में सुख, शांति का साम्राज्य फैलेगा।

जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन का महत्व

जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के दर्शन की भावना करते ही दो उपवास का फल मिल जाता है। चलने की अभिलाषा करते ही तीन उपवास का फल, चलने का आरंभ करते ही चार उपवास का फल, चलते-चलते पाँच उपवास का फल, कुछ दूर चले आने पर बारह उपवास का फल, बीच मार्ग में पहुँच जाने पर पन्द्रह उपवास का फल, सुमेरु की चोटी का दर्शन करते ही एक मास के उपवास का फल, मंदिर में प्रवेश करने पर छह मास के उपवास का फल, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का फल, तीन प्रदक्षिणा देने पर सौ वर्ष के उपवास का फल, जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने से हजार वर्ष के उपवास का फल मिलता है। पुनः जिनप्रतिमा के सन्मुख खड़े होकर भावपूर्वक स्तुति करने से अनंत उपवास का फल प्राप्त होता है। यथार्थ में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से बढ़कर और कोई उत्तम पुण्य नहीं है।

–पद्मपुराण, पर्व 32, पृ. 99

प्रवचन–8

श्रवणबेलगोला : एक दृष्टि

मूर्ति प्रतिष्ठा का समय–

बाहुबली चरित्र में प्रतिष्ठा तिथि दी गई है–

कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुत विभवसंवत्सरे मासिचैत्रे।
पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुंभलग्ने सुयोगे।।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटित भगणे सुप्रशस्तां चकार।
श्रीमच्चामुण्डराओ बेल्गुलनगरे गोम्मटेशप्रतिष्ठाम् ।।

अर्थात् काल्कि सं. 600 में विभव संवत्सर में चैत्र शुक्ला पंचमी, रविवार को कुंभलग्न, सौभाग्ययोग, मृगशिरा नक्षत्र में चामुंडराय ने बेल्गुल नगर में गोम्मटेश की प्रतिष्ठा कराई।

इस निर्दिष्ट तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। फिर भी पं. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य लिखते हैं कि ''भारतीय ज्योतिष गणना के आधार पर विश्वसंवत्सर चैत्र शुक्ला पंचमी, रविवार को मगशिर नक्षत्र का योग 13 मार्च सन् 981 में घटित होता है। अतः मूर्ति का प्रतिष्ठाकाल सन् 981 होना चाहिये।''

इस बाहुबली मूर्ति की सुन्दरता अपने आप में अपूर्व ही है। दोनों चरणों के आस-पास में साँप की वामियाँ दिखाई गई है, जिनके अग्रभाग से सर्प मुख फाड़े हुए देख रहे हैं। ऊपर चलकर लतायें बड़ी ही सुन्दरता से जाँघों से निकलकर भुजाओं को वेष्टित कर रही हैं।

मूर्ति के एक तरफ पाषाण में गहरे अक्षरों में खुदा हुआ है, ''चावुंडराजे करवियले, गंगराजे सुत्ताले कर वियले ।'' यह मराठी भाषा है अर्थात् इस मूर्ति का निर्माण चामुण्डराय ने करवाया है और इसके चारों तरफ की प्रदक्षिणा गंगराज ने बनवाई है।

कहा जाता है कि भरतेश्वर ने पन्ने की मूर्ति बनवाई थी, वह आजकल पेशावर (पाकिस्तान) के किसी भाग में है। जो भी हो आज वह सर्वथा अनुपलब्ध है। उसे कुक्कुट सर्पों ने घेर लिया था अतः उसकी 'कुक्कुटजिन' के नाम से प्रसिद्धि थी। उत्तर भारत की उस मूर्ति से भिन्नता के कारण चामुण्डराय द्वारा स्थापित यह मूर्ति 'दक्षिणकुक्कुटजिन' कहलाई जाने लगी।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी कहा है–

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरूवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मियदाक्खणाकुक्कुटजिणो जयउ ।।968।।

गोम्मटसार संग्रह रूपसूत्र, ग्रंथ, गोम्मटशिखर पर के ऊपर चामुण्डराय के द्वारा बनवाये गये जिनमंदिर में विराजमान एक हाथ प्रमाण इंद्रनीलमणिमय नेमिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा तथा उन्हीं चामुण्डराय द्वारा निर्मित 'दक्षिणकुक्कुटजिन' की मूर्ति जयशील होवे।

इस गाथा से यह बात स्पष्ट है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार आदि ग्रंथों की रचना इस मूर्ति प्रतिष्ठा के बाद में ही की है तथा चन्द्रगिरि पर्वत पर एक मंदिर है जिसका नाम है 'चामुण्डरायवसादि'। इस मंदिर को बनवाकर चामुण्डराय ने उसमें इन्द्रनीलमणि की नेमिनाथ की प्रतिमा विराजमान करवाई थी आज वह अनुपलब्ध है।

डा. ए. एन. उपाध्याय ने अपने एक लेख में लिखा था कि चामुण्डराय का घर का नाम 'गोम्मट' था। उनके इस नाम के कारण ही उनके द्वारा स्थापित बाहुबली मूर्ति का गोम्मटेश्वर नाम पड़ा है अर्थात् गोम्मटेश्वर का अभिप्राय है चामुण्डराय के देवता । इसी कारण इस विंध्यगिरि को भी 'गोम्मट' कहते हैं। इसी गोम्मट उपनामधारी चामुण्डराय के लिये श्री नेमिचन्द्राचार्य ने अपने रचित जीवकांड, कर्मकाण्ड ग्रंथों को भी 'गोम्मटसार' नाम दे दिया है।

यही कारण है कि उपर्युक्त गाथा में आचार्य देव ने अपने ग्रंथ, विंध्यगिरि और बाहुबली मूर्ति के साथ में 'गोम्मट' शब्द का प्रयोग किया है।

पुनरपि बाहुबली मूर्ति की प्रसंशा करते हुए आचार्य देव लिखते हैं–

जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं ।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ।।969।।

जिस चामुण्डराय के द्वारा बनवाये गये बाहुबली जिनबिंब के मुख को सर्वार्थसिद्धि के देवों ने तथा सर्वावधि परमावधिज्ञान के धारक योगीश्वरों ने देखा है वह चामुंडराय उत्कृष्ट रीति से जयशील होवे।

पुनः आचार्यदेव उनके द्वारा निर्मित जिनमंदिर आदि की प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

'जिसका अवनितल वज्र सदृश है, जिसका 'ईषत्प्राग्भार' नाम है, जिसके ऊपर स्वर्णमयी कलश है, और तीन लोक में उपमा देने योग्य ऐसा अद्वितीय है, ऐसा जिनमंदिर जिसने बनवाया है वह चामुण्डराय जयशील होवे।

जिसके द्वारा चैत्यालय में खड़े किये हुए खंभे के ऊपर स्थित जो यक्ष के प्रतिबिंब है उनके मुकुट के आगे के भाग की किरणों ने रूप जल से सिद्ध परमेष्ठियों के आत्म प्रदेशों के आकार रूप शुद्ध चरण धोये हैं ऐसा चामुण्डराय जयशील होवे।'

अर्थात् चामुण्डराय ने 'जिनमंदिर में जो स्तम्भ बनवाये है उनमें यक्षों की प्रतिमायें स्थापित की हैं उनके मुकुटों में रत्न जड़े हुए हैं जिनकी किरणें बहुत ऊँचे आकाश तक फैल रही हैं जो कि मानों सिद्धों के चरणों का प्रक्षालन ही कर रही हैं। (आज इन

स्तम्भों में यक्षमूर्तियाँ तो है किन्तु उनके मुकुटों में रत्न नहीं है)

इस प्रकरण से जो यक्षों की मूर्तियों को भट्टारकों द्वारा बनवाई गई मानते है और आगम विरूद्ध कहते हैं उन्हें सोचना चाहिये कि आज से 1000 वर्ष पूर्व आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के समय न तो भट्टारक ही थे और न वे आचार्य देव आगमविरूद्ध विचार के पोषक ही थे। अतः यक्ष मूर्तियों की परम्परा और जिनमंदिर में शासनदेवी-देवों की परम्परा अतिप्राचीन है, पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य है और आगमसम्मत है।

इन गोम्मटसार आदि ग्रन्थ रचना के बारे में एक जनश्रुति प्रसिद्ध है कि–श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती षट्खण्डागम ग्रन्थराज–धवला का स्वाध्याय कर रहे थे, उसी समय चामुण्डराय गुरू के दर्शनार्थ आये। गुरूदेव ने उस काल में स्वाध्याय बन्द करके ग्रन्थ को एक ओर रख दिया। चामुण्डराय ने आश्चर्य से पूछा–

'भगवन्! आप किस ग्रंथ का स्वाध्याय कर रहे थे और अकस्मात् मेरे आते ही आपने अपना स्वाध्याय क्यों बन्द कर दिया?'

गुरू ने कहा–

'चामुण्डराय! यह सिद्धान्त ग्रंथ षट्खंडागम है। इसमें जीवस्थान आदि का बहुत ही सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन है। उस ग्रंथराज का स्वाध्याय श्रावकों के लिये शास्त्रसम्मत नहीं है। अतः मैंने बन्द कर दिया है।'

चामुण्डराय ने जिज्ञासा व्यक्त की–

'भगवन्! इसके रहस्य को हमें भी समझाइये।'

तब गुरूदेव ने कहा–

'अच्छा, मैं तुम्हें इन सिद्धान्त ग्रंथों के रहस्य को समझाने के लिये इनके सार को ग्रहणकर ग्रंथ रचना करूँगा जिससे तुम और तुम्हारे सदृश कितने ही भव्यजीव सिद्धान्त ग्रंथों के सार को समझ सकेंगे।'

इसके अनंतर श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने अपने परम शिष्य चामुण्डराय के निमित्त जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार ऐसे पाँच ग्रंथों में जीव, कर्म, तीनलोक, सम्यक्त्व-चारित्र लब्धि और कर्मों के नाश का उपाय इन विषयों को संगृहीत करके इन ग्रंथों का पंचसंग्रह यह नाम दिया। प्रारम्भ के दो ग्रंथों को तो अपने प्रिय शिष्य के नाम से 'गोम्मटसार' ही नाम रख दिया। जैसा कि ऊपर गाथा 968 में स्वयं ही उन्होंने कहा है–गोम्मटसार कर्मकाण्ड की अंतिम गाथा में आचार्य देव पुनः अपने शिष्य की विशेषता प्रगट करते हुए एवं उसे आशीर्वाद देते हुए कहते है–

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटराएण जा कया देसी।
सोराओ चिरकालं णामेण य वीरमचंडी ।।972।।

गोम्मटसार ग्रंथ के गाथासूत्र लिखते समय गोम्मटराय ने देशी भाषा अर्थात्

कर्णाटकवृत्ति बनाई है वह 'वीरमार्तण्ड ' नाम से प्रसिद्ध चामुण्डराय बहुत काल तक जयशील होवे।

अब मैं आपको भगवान बाहुबली की मूर्ति की विशेषता बताऊँ–

इस मूर्ति का सौन्दर्य अपने आप में इतना विशेष है कि वर्तमान में उपलब्ध सभी मूर्तियों में यह अनुपमेय ही है। शिल्पी ने मूर्ति को सर्वांगीण सुन्दर बनाने में कोई कमी नहीं रखी है फिर भी पता नहीं क्यों उसने अनुपात में मूर्ति के हाथ की एक अंगुली को कुछ छोटा रख दिया है। हो सकता है दृष्टिदोष से मूर्ति को बचाने के लिये ही उसने ऐसा किया हो।

गोम्मटेश्वर द्वार के बाई तरफ एक पाषाण पर एक शिलालेख है जो कि शक् सं. 1102 का है। उसमें कन्नड़कवि पं. वोप्पण ने मूर्ति की महिमा को प्रगट करते हुए एक काव्य कहा है जिसका अर्थ यह है–

'जब मूर्ति आकार में बहुत ऊँची और बड़ी होती है तब उसमें प्रायः सौन्दर्य का अभाव रहता है। यदि मूर्ति बड़ी भी हुई और उसमें सौन्दर्य भी रहा तो भी उसमें दैवी चमत्कार का होना असम्भव-सा है किन्तु आश्चर्य है कि यहाँ इस गोम्मटेश्वर की मूर्ति में तीनों का मेल दिख रहा है। अर्थात् यह मूर्ति 57 फुट ऊँची होने से बहुत बड़ी है, सौन्दर्य में बेजोड़ है और दैवी चमत्कार को प्रकट करने वाली है। अतः यह प्रतिबिम्ब सम्पूर्ण विश्व के द्वारा पूजित होने से अपूर्व ही है।'

दिगंबर जैन मूर्तियों की नग्नता को देखकर प्रायः कुछ विधर्मी लोग तो हँसी किया करते हैं लेकिन इस मूर्ति को देखकर देश क्या विदेश के लोग भी भव्य शांतमुद्रा से प्रभावित होकर अच्छे-अच्छे उद्गार व्यक्त करते रहते हैं। जिससे ऐसी प्रतीत होता है कि भगवान् बाहुबली ने प्रारंभ में ध्यानावस्था में क्रूर पशु-पक्षियों को भी परम शांति प्राप्त कराई थी। उनके ध्यान के प्रभाव से जात-विरोधी जीव भी जन्मजात वैर केाछोड़कर परस्पर में प्रीति करने लगे थे। यही कारण है कि आज उनकी प्रतिमा के सामेनभी जैनेतर लोग दिगंबरत्व के प्रति द्वेष भाव को छोड़कर परम प्रीति को प्राप्त हो जाते हैं

उस मूर्ति की नग्नता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध साहित्यकार काका कालेलकर कहतेहै–

'सांसारिक शिष्टाचार में फँसे हुए हम उस मूर्ति की ओर देखते ही सोचने लगते हैं कि यह मूर्ति नग्न है। लेकिन क्या नग्नता वास्तव में हेय है ? अत्यन्त अशोभन है? यदि ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसके लिए लज्जा आती। फूल नंगे रहते हैं, पशु-पक्षी भी नंगे रहते है; प्रकृति के साथ जिनकी एकता बनी हुई है वे शिशु भी नंगे रहते हैं। उनको अपनी नग्नता में लज्जा नहीं लगती। उनकी ऐसी स्वाभाविकता के कारण ही हमें भी उनमें लज्जा जैसी कोई चीज नहीं दिखाई देती । लज्जा की बात जाने दीजिये। इस मूर्ति में कुछ भी अश्लील, वीभत्स, जुगुप्सित, अशोभन और अनुचित लगता है– ऐसा

किसी भी मनुष्य का अनुभव नहीं। इसका कारण क्या है ? यही कि नग्नता एक प्राकृतिक स्थिति है। मनुष्य ने विकारों को आत्मसात् करते-करते अपने मन को इतना अधिक विकृत कर लिया है कि स्वभाव से सुन्दर नग्नता उससे सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं, अपने कृत्रिम जीवन का है। बीमार मनुष्य के आगे पके फल, पौष्टिक मेवे या सात्विक आहार स्वतन्त्रतापूर्वक रखे नहीं जा सकते। यह दोष खाद्य पदार्थ का नहीं,बीमार की बीमारी का है। यदि इस नग्नता को छिपाते हैं तो नग्नता के दोष के कारण नहीं बल्कि मनुष्य के मानसिक रोग के कारण । नग्नता छिपाने में नग्नता को लज्जा नहीं है। वरन् उसके मूल में विकारी मनुष्य के प्रति दयाभाव है, उसके प्रति संरक्षणवृत्ति है। ऐसा करने में जहाँ ऐसी श्रेष्ठ भावना नहीं होती, वहाँ कोरा दम्भ है।

परन्तु जैसे बालक के सामने नराधम भी शान्त और पवित्र हो जाता है, वैसे ही पुण्यात्माओं तथा वीतरागों के सम्मुख भी मनुष्य, शांत और गम्भीर हो जाता है। जहाँ भव्यता है, दिव्यता है, वहाँ ही मनुष्य विनम्र होकर शुद्ध हो जाता है। यदि मूर्तिकार चाहते तो माधवीलता की एक शाखा को लिंग के ऊपर से कमर तक ले जाते और नग्नता को ढकना असम्भव न होता। लेकिन तब तो बाहुबली भी स्वयं अपने जीवन के प्रति विद्रोह करते प्रतीत होते। जब बालक सामने आकर नंगे खड़े हो जाते हैं, तब वेकात्यायनी व्रत करती मूर्तियों की तरह अपनी नग्नता छिपाने का प्रयत्न नहीं करते। उनकी निरावरणता ही जब उन्हें पवित्र करती है; तब दूसरा आवरण उनके लिए किस काम का ?

जब एक जैनेतर साहित्यकार की लेखनी से नग्नता के प्रति इतने अच्छे शब्द लिखे जा सकते हैं तब आज जैनों को इसके नग्नत्व का कितना गौरव है सो क्या शब्दों से कहा जा सकता है ? यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारतवर्ष में आज यही एक मूर्ति ऐसी है कि जो अनेक मूर्तिद्रोही आततायीजनों के दुर्भावों को खंडित कर नग्नता को– दिगंबरत्व को जीवित रखे हुए है और दिगंबर जैन अनुयायियों का मस्तक सारे विश्व में ऊँचा किये हुए है।

इस मूर्ति की ऊँचाई 57 फुट है, परन्तु पहले की पुस्तकों में 70 या 63 फुट की बतायी गयी है एक सिरे से दूसरे सिरे तक सीने की चौड़ाई 26 फुट, अँगूठों की लम्बाई 2 फुट 9 इंच, हाथ के बीच की उँगली 5 फुट 3 इंच, पैर की लम्बाई 9 फुट, एड़ी की ऊँचाई 2 फुट 9 इंच और कमर 10 फुट है।

पैर की लम्बाई को 18 से गुणा करने पर 70 फुट 3 इंच प्रमाण है। बायें पैर के पास के शिलालेख में ऐसा संकेत भी है। यही प्रमाण प्रायः पुरानी पुस्तकों में है। परन्तु इसके बाद भारत के जनरल गवर्नर सर प्रार्थरबेलेस्ली ने 1999 में दर्शन करके 60 फुट 3 इंच प्रमाण बताया। मैसूर संस्थान के चीफ कमिश्नर मि0 बौंरिंग ने स्वयं मापकर 57 फुट बताया है।

आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज कहा करते थे कि 'मनुष्य पर्याय को पाकर जिसने तीन तीर्थों के दर्शन नहीं किये उसका जीवन व्यर्थ चला गया–1.सिद्ध क्षेत्रों में सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र, 2.अतिशयक्षेत्रों में श्रवणबेलगोल के भगवान बाहुबली और साधुओं में चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज'।

गुरूदेव के इन शब्दों का स्मरण आते ही दोनों ही पवित्र क्षेत्रों के प्रति मस्तक झुक जाता है, परोक्ष वंदना हो जाती है और 'गुरूणां गुरूः' आचार्य शांतिसागर जी के चरणों में परोक्ष वंदना हो जाती है।

इस श्रवणबेलगोल तीर्थ में आमने-सामने दो पर्वत हैं। वहाँ के निवासी एक पर्वत को 'चिक्कवेट्ट' दूसरे को 'दोदुबेट्ट' कहते हैं। यह कन्नड़ भाषा है। हिन्दी में इसे छोटा पर्वत और बड़ा पर्वत कहते हैं। इन्हीं पर्वतों के दूसरे नाम है चन्द्रगिरि और विंध्यगिरि।

सम्राट् चंद्रगुप्त से सम्बन्ध रखने के कारण ही इस पर्वत का नाम चंद्रगिरि पड़ गया है। इसका वर्णन यहाँ के अनेक शिलालेखों में उत्कीर्ण है। यहाँ पर सल्लेखना व्रत लेकर समाधिमरण करने वाले त्यागियों की संख्या सैकड़ों-हजारों में बतलाई जाती है। 555 ऐसे शिलालेख मिलते हैं जिसमें इन सभी तथ्यों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पता नहीं कितने शिलालेख नष्ट हो गये हैं। इस तीर्थ के आस-पास 30-40 मील की दूरी तक प्राचीन कन्नड़ भाषा के सैकड़ों शिलालेख बिखरे पड़े हैं जिनमें अतीत युग का जैन इतिहास उत्कीर्ण पड़ा है। मैसूर विश्वविद्यालय ने प्रमुख शिलालेखों का संकलन किया है।

इस क्षेत्र के ज्ञात इतिहास से लेकर श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु से लेकर आगे तक अनेक महान आचार्य हो चुके हैं। यहीं पर श्री भद्रबाहु कुरूदेव ने सल्लेखना ग्रहण की है और यहीं पर चंद्रगुप्त मुनिराज ने अपनी गुरूभक्ति का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी पर्वत से चामुण्डराय ने बाण छोड़ा था जो कि सामने के पर्वत के शिखर से टकराया था। वही शिलाखंड 1000 वर्षों से भगवान् बाहुबली के प्रतिबिंब रूप से असंख्य प्राणियों को आत्मशांति का अनुभव करा रहा है।

इस चंद्रगिरि का प्राचीन नाम 'कटवप्र' है जिसे कन्नड़ में 'कल्बप्पु' कहते हैं। इसे तीर्थगिरि और ऋषिगिरि भी कहते हैं।

यह पर्वत समुद्रतल से 3053 फुट ऊँचा है। नीचे के मैदान से मात्र 75 फुट ऊँचा है और विंध्यगिरि की अपेक्षा यह 275 फुट नीचा है। इस पर्वत पर 500 फुट लम्बाई और 225 फुट चौड़ाई के घेरे में 18 जिनमंदिर हैं। दक्षिण में मंदिर को 'बसदि' कहते हैं। अतः उनके नाम क्रम से (1) पार्श्वनाथ बसदि, (2) कत्तले बसदि, (3) आदिनाथ बसदि, (4) अनंतनाथ बसदि, (5) चंद्रगुप्त बसदि, (6) शांतिनाथ बसदि, (7) सुपार्श्वनाथ बसदि, (8) चंद्रप्रभ बसदि, (9) चामुण्डराय बसदि, (10) शासन बसदि, (11) मज्जिगण

बसदि, (12) एरडुकट्टे बसदि, (13) सवति गंधवारण बसदि, (14) तोरिन बसदि और (15) शांतीश्वर बसदि आदि हैं। इनके अलावा 'कूंगे ब्रह्मदेव स्तम्भ, महानवमी मण्डप, भरतेश्वर (अपूर्णमूर्ति) इरूवे ब्रह्मदेव मंदिर, कंचिन दोणे, लक्किदोणे भद्रबाहु गुफा और चामुण्डराय शिला ये विशेष दर्शनीय स्थल है एवं महत्वपूर्ण इतिहास को लिये हुए हैं।

इन सबका विस्तार तो अन्य पुस्तकों से दृष्टव्य है। यहाँ पर कुछ विशेष का ही परिचय मैं बताती हूँ–

पहली है चंद्रगुप्त बसदि–कहा जाता है कि यह मंदिर चंद्रगुप्त सम्राट के द्वारा बनवाया गया है। कुछ लोग उनके पौत्र अशोक के द्वारा निर्मित भी मानते हैं। इस मंदिर में तीन कोठों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ, पद्मावती और कूष्माण्डिनी की मूर्तियाँ हैं। सभाभवन में क्षेत्रपाल की मूर्ति है और बरामदे की दाई ओर धरणेन्द्र यक्ष तथा बाईं ओर सर्वाण्ह यक्ष बने हुए हैं।

इस मंदिर में ऐतिहासिक महत्वपूर्ण रचना है मंडप की दीवार पर उकेरा गया जाली का दृश्य। इस जाली में 90 फलक या चित्रखंड हैं। इन फलकों में श्रुतकेवली भद्रबाहु और चंद्रगुप्त के जीवन से सम्बन्धित दृश्य अंकित हैं।

दूसरी है चामुण्डराय बसदि–इस मंदिर में तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा है और गर्भग्रह के दरवाजे पर सर्वाण्ह यक्ष तथा कूष्माण्डिनी यक्षी की मूर्तियाँ हैं। यह मंदिर चामुंडराय द्वारा निर्मित है। श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मटसार में इसी मंदिर की प्रशंसा में चामुण्डराय को आशीर्वाद दिया है। बाहरी दरवाजे के दोनों बाजुओं पर नीचे की ओर लेख (क्र0151) है 'श्री चामुण्डराय माडिसिदं।' इसके अनुसार चामुण्डराय ने इसे ईश्वी सन् 982 के लगभग में बनवाया है।

कहा जाता है कि आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने इसी मंदिर में बैठकर गोम्मटसार ग्रंथों की रचना की है।

तीसरी है भद्रबाहु गुफा–अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ने यहीं पर शरीर छोड़ा था। यहाँ पर उनके चरण अंकित हैं। एक लेख (क्र0251)यहाँ पाया गया था किंतु अब वह यहाँ नहीं है। कहते है कि चंद्रगुप्त ने बारह वर्ष तक यहीं पर गुरू चरणों की उपासना करते हुए ध्यान किया था। आज भी लोग इन चरणों की भक्ति से मनोकामना की पूर्ति होना मानते हैं।

चौथी है चामुण्डराय शिला–चंद्रगिरि के नीचे एक चट्टान है जो कि 'चामुण्डराय शिला' के नाम से प्रसिद्ध है। किंवदन्ती है कि चामुण्डराय ने इसी शिला पर खड़े होकर विंध्यगिरि पर बाण छोड़ा था। जिसके फलस्वरूप जगद्वंद्य गोम्मटेश्वर की मूर्ति का दर्शन हुआ था। इस शिला पर कई जैन गुरूओं के आकार और नाम उत्कीर्ण हैं।

पाँचवा है विंध्यगिरि पर्वत–यह विंध्यगिरि समुद्रतल से 3347 फुट ऊँचा है और

आसपास के मैदान से 470 फुट ऊँचा है। यह ठोस पत्थर (चिकने ग्रेनाइट) का पहाड़ है। यह नीचे घेरदार है और ऊपर क्रमशः छोटा होता चला गया है और सबसे ऊपर पहुंचकर इसका रूप गोल गुम्बद जैसा हो गया है। एक जनश्रुति यह भी है कि 'चामुण्डराय ने चंद्रगिरि से बाण छोड़कर यहाँ का पत्थर वेधा था इसलिए इसे प्रारम्भ में 'वेध्यागिरि' कहते होंगे पश्चात् वही जनभाषा में विंध्यगिरी बन गया होगा।

इस पर्वत के शिखर पर पहुंचने के लिए 650 सीढ़ियाँ पत्थरों को काटकर बनाई गई हैं। ऊपर समतल चौक एक घेरे से घिरा हुआ है। चौके के ठीक बीचोंबीच भगवान् बाहुबली की विशाल मूर्ति खड़ी है।

मूर्ति का विवरण एक लेख (क्र0336) में दिया है। यह लेख एक कन्नड़ काव्य है। यह 1180 ई. सन् के लगभग बोप्पण कवि द्वारा रचा गया है।

गोम्मटेश्वर बाहुबली मूर्ति के दोनों बाजुओं में यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। बाहुबली मूर्ति के चरणों के पास में सटी हुई साँपों की वामियाँ बनी हुई हैं जिनमें से सर्प मुख निकाले हुए हैं और उसी के पास से माधवी लता ऊपर चढ़ती हुई जाँघों से लिपट कर ऊपर जाकर बड़े सुन्दर ढंग से भुजाओं को वेष्टित कर रही हैं।

मूर्ति के सामने मण्डप में नौ छतें हैं। इनमें आठ छतों पर आठ दिग्पालों की मूर्तियाँ हैं और बीच की छत में पूर्णकुंभ हाथ में लिये इन्द्र की मूर्ति बनी हुई है।

मूर्ति के दोनों ओर प्रदक्षिणालय (कन्नड़ में सुत्तालय) है और चारों ओर परकोटे हैं। इसका निर्माण गंगराज ने सन् 1115 ई0 में किया था। इस प्रदक्षिणालय के भीतर 40 मूर्तियाँ और एक शिलालेख है। मूर्तियों में एक सिद्ध परमेष्ठी, एक कूष्माण्डिनी यक्षी और एक गणधरचरण हैं। मुख्य मण्डप की दाईं ओर से जाते ही इस क्षेत्र की शासनदेवी कूष्माण्डिनी से आगे चंद्रनाथ स्वामी हैं। इसके आगे प्रदक्षिणालय शुरू होता है। इसके भीतर क्रमशः पार्श्वनाथ को आदि लेकर बाहुबली भगवान् की पर्यंक मूर्तियाँ हैं।

बड़े भगवान् बाहुबली की मूर्ति के ठीक सामने बाहर में 'गुल्लिकायिज्जी देवी' खड़ी हैं जिनके ऊपरी भाग में मंडप में ब्रह्मदेव यक्ष की मूर्ति विराजमान है।

इसी पर्वत पर एक 'त्यागद ब्रह्मदेव स्तंभ' है। जहाँ पर बैठकर चामुण्डराय शिल्पियों को और गरीबों को दान दिया करते थे। इस पर्वत पर सिद्धर बसदि, चेन्नण्ण बसदि, ओदेगल बसदि, चौबीस तीर्थंकर बसदि, पंचपरमेष्ठी बसदि आदि नाम से जिनमंदिर हैं।

इस पर्वत पर चढ़ते समय सीढ़ियों के पास में एक छोटा-सा मंदिर है। जिसे 'ब्रह्मदेव मंदिर' कहते हैं। इसे कन्नड़ में 'जारगुप्पे' कहते हैं।

श्रवणबेलगोल में अन्य और भी जिनमंदिर हैं। भट्टारक श्री चारूकीर्ति भट्टाचार्य

का जो मठ है उसमें भी जिनमंदिर है वहां पर कुछ प्रतिमायें उत्तम-उत्तम रत्नों की भी हैं जो अंदर में सुरक्षित रहती हैं। समयानुसार भट्टारकजी उनका दर्शन कराते रहते हैं। जैन मठ के सामने 'भण्डार बसदि' नाम से एक मंदिर है जिसमें चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमायें, नंदीश्वर प्रतिमायें आदि विराजमान हैं। इसके अतिरिक्त और भी कई मंदिर हैं। जिनके नाम अक्कनबसदि, सिद्धांत बसदि, 'दानशले बसदि' 'नगर जिनालय', मंगाई बसदि आदि प्रसिद्ध हैं।

इस क्षेत्र के आस-पास के छोटे-छोटे गांवों में जिनमंदिर हैं। जिननाथपुर अरगल बसदि, कम्बदल्लि, हलेबेल गोल आदि जिनके नाम हैं।

क्षेत्र से कुछ दूरी पर हलेविल, वेलूर, गोम्मटगिरि आदि स्थानों पर जिन मंदिर हैं जो कि दर्शनीय हैं।

इस श्रवणबेलगोल को जैनबद्री भी कहते हैं। इस क्षेत्र के दर्शन करने हेतु दक्षिण जाने वाले यात्री लोग मूद्रबिद्री, कार्कल, वरांग, हुम्मच, कुंदकुदाद्रि धर्मस्थल, वेणूर आदि क्षेत्रों के भी दर्शन अवश्य करते हैं।

दक्षिण में जगह-जगह भगवान बाहुबली की मूर्तियों को तीर्थंकर के समान वंद्य माना ही है। यही कारण है कि एलोरा की गुफाओं में भी कई एक जगह भगवान पार्श्वनाथ और भगवान् बाहुबली की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं।

उत्तर प्रांत में भी देवगढ़, खजुराहो आदि तीर्थों पर बाहुबली की मूर्तियां देखने को मिलती हैं। ग्वालियर किले की गुफाओं में भी बाहुबली की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। वर्तमान में आरा, फिरोजाबाद, सिद्धवरकूट, हस्तिनापुर आदि स्थानों पर बाहुबली की मूर्तियां विराजमान की गई हैं। बंबई में पोदनपुर नाम से बनाये गये तीर्थ सदृश पावन स्थल पर तीन मूर्तियों में ऋषभदेव, भरत और बाहुबली की ही मूर्तियां हैं। 28 वर्ष पूर्व आचार्य-रत्न देशभूषण जी महाराज की प्रेरणा से अयोध्या के मंदिर में भी ऐसे ही तीन मूर्तियां स्थापित की गई थीं।

यद्यपि भगवान् बाहुबली तीर्थंकर नहीं थे फिर भी उनकी मूर्तियों की परंपरा अतीव प्राचीन है यह उनके अप्रतिम त्याग और तपश्चरण का ही प्रभाव है जो कि आज उनकी मूर्ति की स्थापना से दिगंबरत्व के गौरव को सर्वतोमुखी कर रहा है और आगे भी करता ही रहेगा। यह गोम्मटेश्वर बाहुबली की मुर्ति भी युग युग तक असंख्य प्राणियों को मोक्षमार्ग का संदेश सुनाती ही रहेगी।

ऐसे उन महामना का दर्शन-वंदन आदि करके भक्ति के द्वारा अपनी आत्मा को आप सभी समुन्नत बनावें, यही मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–9

क्या बाहुबली के शल्य थी

भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में भगवान बाहुबली के ध्यान के बारे में जैसा वर्णन किया है उसके आधार से उनके शल्य मानना उनका अवर्णवाद है।

प्रतिमायोगमावर्षमातस्थे किल संवृतः ।।106।। पर्व 36
गौरवंस्त्रिमिरून्मुक्तः परां निशल्यतां गता।।137।।

'एकलविहारी अवस्था को प्राप्त बाहुबली ने एक वर्ष तक के लिए प्रतिमायोग धारण किया। वे रसगौरव, शब्दगौरव और ऋद्धिगौरव इन तीनों से रहित थे, अत्यंत निःशल्य थे और दश धर्मों के द्वारा उन्हें मोक्ष मार्ग में अत्यंत दृढ़ता प्राप्त हो गई थी।'

मति ज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुध्द्यादयोऽभवन् ।
श्रुतज्ञानेन विश्वांगपूर्ववत्वादि विस्तरः ।।147।।
परमावधिमुल्लंघ्य स सर्वावधिमासदात् ।
मनः पर्ययबोधे च संप्रापद् विपुलां मतिम् ।।147।।

'तत्श्चरण का बल पाकर उन मुनिराज के योग के निमित्त से होने वाली ऐसी अनेक ऋद्धियां प्रगट हुई थीं जिससे कि उनके तीनों लोकों में क्षोभ पैदा करने की शक्ति प्रगट हो गई थी। मतिज्ञान की वृद्धि से कोष्टबुद्धि आदि ऋद्धियां एवं श्रुतज्ञान की वृद्धि से समस्त अंग पूर्वों के जानने की शक्ति का विस्तार हो गया था। वे अवधिज्ञान में परमावधि को उल्लंघन कर सर्वावधि की ओर मनःपर्यय में विपुलमति मनःपर्यय को प्राप्त हुये थे।

सिद्धान्तग्रंथ का यह नियम है कि भावलिंगी व वृद्धिंगत चारित्र वाले मुनि के ही सर्वावधिज्ञान होता है तथा 'विपुलमति मनःपर्यय तो वर्धमान चारित्र वाले एवं किसी न किसी ऋद्धि से समन्वित मुनि के ही होता है।

आगे भगवान जिनसेन सभी प्रकार की ऋद्धियों की प्रगटता मानते हुए कहते हैं कि 'उनके तप के प्रभाव से आठ प्रकार की विक्रिया ऋद्धि प्रगट हो गई थी। आमर्शौषधि, जल्लौषधि, क्ष्वेलोषधि आदि औषधि ऋद्धियों के हो जाने से उन मुनिराज की समीपता जगत का उपकार करने वाली थी। यद्यपि वे भोजन नहीं करते थे तथापि शक्ति मात्र से ही उनके रस ऋद्धि प्रगट हुई थी।

उनके शरीर पर लतायें चढ़ गई थीं। सर्पों ने वामियाँ बना ली थीं और वे निर्भीक हो क्रीड़ा करते थे परस्पर विरोधी तिर्यंच भी क्रूर भाव को छोड़कर शांत चित्त हो गये थे। विद्याधर लोग गति भंग हो जाने से उनका सद्भाव जान लेते थे और विमान से

उतर कर ध्यान में स्थित उन मुनिराज की बार-बार पूजा करते थे। तप की शक्ति के प्रभाव से देवों के आसन भी बार-बार कंपित हो जाते थे जिससे वे मस्तक झुकाकर नमस्कार करते रहते थे। 'कभी-कभी, क्रीड़ा के लिये आई हुई विद्याधरियां उनके सर्व शरीर पर लगी हुई लताओं को हटा जाती थीं।

इस प्रकार धारण किये समीचीन धर्मध्यान के बल से जिनके तप की शक्ति उत्पन्न हुई थी ऐसे वे मुनि लेश्या विशुद्धि को प्राप्त होते हुए शुक्ल ध्यान के सन्मुख हुये एक वर्ष का उपवास समाप्त होने पर भरतेश्वर ने आकर जिनकी पूजा की है, ऐसे महामुनि बाहुबली केवलज्ञान ज्योति को प्राप्त हो गये। वह भरतेश्वर मुझ से संक्लेश को प्राप्त हो गया। यह विचार बाहुबली के हृदय में रहता था, इसलिये केवलज्ञान ने भरत की पूजा की अपेक्षा की थी। प्रसन्न बुद्धि सम्राट भरत ने केवलज्ञान उदय के पहले और पीछे विधिपूर्वक उनकी पूजा की थी। भरतेश्वर ने केवलज्ञान के पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करने के लिये की थी और केवलज्ञान के बाद जो पूजा की थी वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करने के लिये की थी।

इसप्रकार महापुराण के इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। कि भगवान बाहुबली को कोई शल्य नहीं थी। मात्र इतना विकल्प अवश्य था कि भरत को मेरे द्वारा संक्लेश हो गया था सो भरत के पूजा करते ही वह दूर हो गया।

"आप जाइये, कहां जायेगे। भरत की भूमि पर ही तो रहेंगे। ऐसे मंत्रियों के द्वारा व्यंग्यपूर्ण शब्द के कहे जाने पर बाहुबलि कुछ क्षुब्ध से हुये और मान कषाय को धारण करते हुए चले गये तथा दीक्षा ले ली। उस सयम से लेकर उनके मन में यही शल्य लगी हुई थी कि मैं भरत की भूमि में खड़ा हूँ। अतः उन्हें केवलज्ञान नहीं हो रहा था तब भरत ने आकर भगवान ऋषभदेव से प्रश्न किया कि बाहुबली को एक वर्ष के लगभग होने पर भी अभी तक केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ है। भावान ने कहा 'भरत। उसके मन में शल्य है अतः तुम जावो और समझाओ कि भला यह पृथ्वी किसी की है। हमारे जैसे तो अनंतों चक्रवर्ती हो चुके हैं फिर भला यह पृथ्वी मेरी कैसे है।' इत्यादि समाधान करने पर बाहुबली की शल्य दूर हुई और उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया।"

यह किंवदन्ती महापुराण के आधार से तो गलत हो ही, साथ ही सिद्धान्त की दृष्टि से भी बाधित ही है। जैसे कि शल्य तीन होती है माया, मिथ्या और निदान ।

माया या अर्थ है वंचना .....ठगना, छल कपट पूर्ण व्यवहार करना । तो उन्हें थी नहीं । मिथ्याशल्य-मिथ्यात्व को कहते हैं। 'मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ यह विपरीत ही मिथ्यात्व शल्य कही जा सकती है सो भी बाहुबली के मानना संभव नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि साधु के सर्वावधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और अनेक ऋद्धियां प्रगट

नहीं हो सकती थीं। निदान शल्य का अर्थ है आगामी काल में भोगों की वाञ्छा रखते हुये उसी का चिन्तन करना सो भी उन्हें नहीं मानी जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि तत्वार्थसूत्र में भी श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि **''निःशल्योव्रती''** जो माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्यों से रहित होता है वही व्रती कहलाता है। पुनः यदि बाहुबली जैसे महामुनि के भी शल्य मान ली जावेतो वे महाव्रती क्या अणुव्रती भी नहीं माने जा सकेगें। पुन वे भावलिंगी मुनि नहीं हो सकते और न उनके ऋद्धियों का प्रादुर्भाव माना जा सकता है।

यदि कोई कहे कि पुनः एक वर्ष तक ध्यान करते रहे और केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ, सो भी प्रश्न उचित नहीं प्रतीत होता।

एक वर्ष का ध्यान तो अन्य महामुनियों के भी माना गया है जैसे उत्तरपुराण में भगवान शांतिनाथ के पूर्वभवों में एक उदाहरण आता है–

वज्रायुध ने विरक्त होकर सहस्रायुध को राज्य दिया, पुनः क्षेमंकर तीर्थंकर के पास जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और बाद में उन्होंने 'सिद्धिगिरि' पर्वत पर जाकर एक वर्ष के लिये प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके चरणों का आश्रय पाकर बहुत से वमीठे तैयार हो गये। उनके चारों तरफ लगी हुई लतायें भी मुनिराज के पास जा पहुँचीं। इधर वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध ने भी विरक्त हो अपना राज्य शतबली को दिया और दीक्षा ले ली। जब एक वर्ष का योग समाप्त हुआ तब वे अपने पिता वज्रायुध के पास जा पहुँचे। अनंतर पिता-पुत्र दोनों ने चिरकाल तक तपस्या की, पुनः वैभार पर्वत पर पहुंचकर अंत में सन्यास विधि से मरण कर अहमिंद्र हो गये।

यह प्रकरण भगवान शांतिनाथ के पांचवें भवपूर्व का है । यह घटना पूर्व विदेह क्षेत्र की है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेहादि क्षेत्रों में ऐसे-ऐसे महामुनि एक-एक वर्ष का योग लेकर ध्यान किया करते हैं।

भगवान बाहुबली चतुर्थकाल की आदि में क्या तृतीयकाल के अन्त में जन्में थे और ध्यान में लीन हुए थे तथा मुक्ति भी तृतीय काल के अन्त में प्राप्त की थी। अतः उनमें एक वर्ष के ध्यान की योग्यता होना कोई बड़ी बात नहीं है। पुनः शल्य थी इसलिये केवलज्ञान नहीं हुआ यह कथन संगत नहीं प्रतीत होता है। रविषेणाचार्य ने भी बाहुबली के शल्य का वर्णन नहीं किया है। यथा–उन्होंने उसी समय सकल भोगों को त्याग दिया और निर्वस्त्र··· दिगम्बर मुनि हो गये तथा एक वर्ष तक मेरूपर्वत के समान निष्प्रकंप खड़े रहकर प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके पास अनेक वामियाँ लग गईं जिनके बिलों से निकले हुऐ बड़े-बड़े सांपों और श्यामा आदि की हरी-हरी लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया। इस दशा में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

अतएव भगवान बाहुबली के शल्य नहीं थी।

'कोई कहते हैं कि भरत से साथ ब्राह्मी-सुन्दरी बहनों ने भी जाकर उन्हें संबोधा जब उनकी शल्य दूर हुई।'

यह कथन भी नितान्त असंगत है 'क्योंकि भगवान वृषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद पुरिमताल नगर के स्वामी भरत ने छोटे भाई वृषभसेन ने भगवान से दीक्षा ले ली और प्रथम गणधर हो गये। ब्राह्मी ने भी दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रमुख गणिनी पद प्राप्त किया एवं सुन्दरी ने भी दीक्षा ले ली।

इसके बाद चक्रवर्ती ने घर आकर चक्ररत्न की पूजा करके दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया जहां उन्हें साठ हजार वर्ष लग गये। अनंतर आकर बाहुबली के साथ युद्ध हुआ है। अतः भगवान बाहुबली का आदर्श जीवन महापुराण के आधार से लेना चाहिए। चूंकि ग्रंथराज महापुराण ऋषिप्रणीत होने से 'आर्षग्रंथ' माना जाता है।

गुरु के बिना संसार समुद्र नहीं तर सकते

न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः।
नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः।।
बन्धवो गुरवश्चेति द्वये संप्रीतये नृणाम्।
बन्धवोऽत्रैव संप्रीत्यै गुरवोऽमुत्र चात्र च।।

जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र नहीं तिरा जा सकता है उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना यह संसाररूपी समुद्र नहीं तिरा जा सकता है। इस संसार में भाई और पुत्र दोनों ही मनुष्यों की प्रीति के लिए होते हैं, किन्तु भाई तो इस लोक में ही प्रीति उत्पन्न करते हैं और गुरु इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकों में विशेषरूप से प्रीति के लिए होते हैं। अर्थात् भाई से इस लोक में ही सुख मिलता है तथा गुरु से इस भव और परभव में भी सर्वत्र सुख, कल्याण और मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है। अतः सदैव गुरु के चरणों की सेवा करते रहना चाहिए।

–भगवज्जिनसेनाचार्य

प्रवचन–10

मुनिमुद्रा सदा पूज्य है

भव्यात्माओं! जो मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोविनय में सदा लीन रहते हैं वे ही वंदनीय हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के भेद से आराधना के चार भेद होते हैं। जो मुनि इन चारों प्रकार की आराधनाओं में निरंतर लगे रहते हैं और अन्य गुणी मनुष्यों के प्रति किसी प्रकार का मात्सर्यभाव न रखते हुये उनके गुणों का वर्णन करते हैं वे मुनि नमस्कार के योग्य हैं।

ऐसे दिगम्बर मुनियों के स्वाभाविक नग्न रूप को देखकर जो मनुष्य उन्हें नहीं मानते हैं उल्टा उनके प्रति द्वेष भाव रखते हैं वे संयम को प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि हैं। वास्तव में नग्न दिगम्बर मुद्रा सहजोत्पन्न स्वाभाविक मुद्रा है। उसे देखकर जो पुरूष उसका आदर नहीं करता है, प्रत्युत् नग्नमुद्रा में अरूचि करता हुआ यह कहता है कि नग्नत्व में क्या रखा है, क्या पशु नग्न नहीं होते ? साथ ही दूसरे के शुभ कर्म में द्वेष रखता है वह दीक्षा को प्राप्त होने पर भी मिथ्यादृष्टि है। श्री कुन्दकुन्ददेव का स्पष्टतया यही कहना है कि मुनि का वेष सहजोत्पन्न दिगम्बर मुद्रा ही है। जिन्होंने हिंसा आदि पांच पापों का सर्वथा त्याग कर दिया है वे म्लेच्छ आदि दुष्ट पुरुषों के उपसर्ग से भयभीत होकर किसी प्रकार के आवरण को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उपसर्ग के आने पर उसे सहन करना ही मुनि का कर्तव्य है। इसी प्रकार जो शीत आदि परीषह सहन नहीं कर सकते हैं तथा जिनके विकार वासनाओं का शमन नहीं हुआ है वे जैनेश्वरी दीक्षा के पात्र नहीं हैं। उन्हें उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक, क्षुल्लक के पद में रह कर संयम को पालन करना चाहिये, ऐसा आचार्यों का उपदेश है। इसलिये मुनिपद को ग्रहण कर उसी के अनुरूप चर्या करना उचित है।

जो देवों से वंदित तथा शील से सहित तीर्थंकर परमदेव के रूप को धारण करनेवाले ऐसे नग्न दिगम्बर मुनियों को देखकर स्वयं गर्विष्ट होते हुए उन्हें नमस्कार नहीं करते हैं वे सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि हैं। तीर्थंकर भगवान भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के द्वारा वंदनीय हैं तथा शील और व्रतों से विभूषित हैं। इनके नग्नरूप को देखकर अथवा तीर्थंकर देव की नग्नमुद्रा के धारी मुनियों को देखकर जो जैनाभास अथवा अन्यधर्मी लोग गर्व करते हैं उनकी उपासना नहीं करते हैं, वे सम्यक्त्वरूपीरत्न को गंवा देते हैं, पुनः दीर्घकाल तक संसार रूपी समुद्र में उन्मन्जन निमज्जन किया करते हैं।

उपासकाध्ययन में भी कहा है–

ये गुरूं नैव मन्यंते तदुपास्ति न कुर्वते।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेपि दिवाकरे।।

जो गुरू को नहीं मानते हैं और उनकी उपासना नहीं करते हैं उनके लिए सूर्योदय होने पर भी अंधकार ही बना रहता है।

वास्तव में देखा जाय तो मिथ्यात्व ही घोर अंधकार है और सम्यक्त्व का उदय ही सूर्य का प्रकाश है। जब तक दिगम्बर गुरूओं के प्रति श्रद्धा भक्ति नहीं होती है तब तक मोक्षमार्ग की पहली सीढ़ी जो सम्यग्दर्शन है उसका लाभ भी असंभव ही है। कोई गुरूओं के प्रति द्वेष करता रहे और अपने को सम्यग्दृष्टि कहता रहे यह बात संभव नहीं है। क्योंकि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा ही मोक्षमार्ग है ऐसा श्री गौतमस्वामी ने स्वयं कहा है–"इमं णिग्गंथ पवयणं -मोक्खमग्गं।" यह निर्ग्रन्थ मुद्रा ही प्रवचन है, मोक्ष मार्ग है। इस लिये दिगम्बर मुनि गुरू है, सदा वंदनीय है।

अब जो वंदनीय नहीं है श्री कुन्दकुन्ददेव उनके बारे में कहते हैं–

"असंयमी की वंदना नहीं करनी चाहिए और जो वस्त्ररहित होकर भी असंयमी है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है। ये दोनों ही समान हैं इनमें एक भी संयमी नहीं है।"

जो संयम को पालन करते हुए भी असंयत हैं अर्थात् वस्त्र धारण किये हुए हैं वे वंदनीय नहीं हैं। ऐसे ही जो वस्त्र रहित होकर भी संयम से रहित हैं–मात्र वेष को धारण करने वाले हैं उसकी चर्या आगम के विरूद्ध है वे भी नमस्कार के योग्य नहीं हैं।

जैनागम में पूज्यता संयम से बतलाई गई है, संयम महाव्रती के ही होता है और महाव्रती निर्ग्रन्थ होने से नग्न ही रहता है वे गृहस्थ के समान ही असंयमी है अतः वे वंदना के योग्य नहीं हैं। इसी प्रकार जो नग्न होकर भी वास्तविक संयम से रहित है आगम की मर्यादा से बाह्य है वह भी असंयमी है अतः नमस्कार के योग्य नहीं है। यद्यपि संयमासंयम के धारक ऐलक, क्षुल्लक और ब्रह्मचारी आदि भी गृहस्थ के द्वारा वंदनीय होते हैं तथापि यहां गुरू का प्रकरण होने से उनकी विवक्षा नहीं की गई है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक अपने पद के अनुसार जो व्रत ग्रहण करते हैं उनका वे ठीक तरह से पालन करते हैं अतः वस्त्र सहित होने पर भी उसे असंयमी नहीं कहा जाता है किंतु संयमासंयमी नहीं कहा जाता है। पर जो पंचमहाव्रत का नियम लेकर भी वस्त्रधारण करते हैं वे अपने गृहीत संयम से च्युत होने के कारण असंयमी कहेजाते हैं। इस गाथा में श्री कुंदकुंद स्वामी ने द्रव्य संयम और भाव संयम दोनों को उपादेय बतलाया है। अपनी मान्यता के अनुसार संयम के धारक होने पर भी जो सवस्त्र हैं उनके द्रव्य संयम भी नहीं है वे अवंदनीय हैं। साथ ही वस्त्र रहित होने से जो द्रव्य संयम के धारक हैं किंतु यदि उनके भाव संयम नहीं है तो वे भी वंदनीय नहीं हैं क्योंकि मोक्ष प्राप्ति के लिये द्रव्य शुद्धि और भावशुद्धि दोनों ही आवश्यक हैं।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि किसी मुनि का द्रव्यसंयम निर्दोष है और भावसंयम नहीं है उसकी परीक्षा हम और आपको कर सकना असंभव है अतः यह विषय अवधिज्ञानी मुनि और केवली भगवान के ही गम्य है। अतः द्रव्यसंयम को देखकर द्रव्य वेषधारी मुनि को नमस्कार करना, उन्हें आहार दान देना श्रावकों का

कर्तव्य है। उदाहरण के लिए संघ में रहते हुए पुष्पडाल मुनि द्रव्य संयमी थे, भावसंयमी नहीं थे किंतु श्रावकों द्वारा उन्हें नमस्कार किया जाना, आहार दिया जाना चालू था बल्कि संघस्थ मुनियों में भी वंदना-प्रतिवंदना चालू थी। हां, जैसे अभव्यसेन मुनि की चर्या में सदोषता देखकर क्षुल्लक ने उन्हें नमस्कार नहीं किया। अतः नमस्कार करने, न करने में बाह्य चर्या ही दृष्टव्य है न कि अंतः परिणाम।

आगे श्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं कहते हैं–

न शरीर की वंदना की जाती है, न कुल की वंदना की जाती है और न जातियुक्त मनुष्य की वंदना की जाती है। किस गुणहीन की वंदना करूं? क्यों, गुणहीन मनुष्य न मुनि हैं और न श्रावक ही हैं।

वास्तव में न तो किसी शरीर की पूजा होती है, न कुल-पितृपक्ष की पूजा होती है और न जाति-मातृपक्ष ही पूजा की जाती है। जिसमें संयम नहीं है वह सुन्दर, स्वस्थ शरीर, उच्च कुल और उच्च जाति वाला होकर भी अपूजनीय ही रहता है। कुंदकुंद स्वामीकहते हैं कि मैं किसी भी गुणहीन की वंदना नहीं कर सकता हूँ। क्योंकि संयमगुण से भ्रष्ट पुरुष न मुनि ही हैं और न श्रावक ही हैं। तात्पर्य यही है कि गुणवान मुनि ही वंदनीय हैं।

पुनः आचार्य कहते हैं–

मैं उन मुनियों को नमस्कार करता हूँ जो तप से सहित हैं। साथ ही उनके शील को, गुण को, ब्रह्मचर्य को और मुक्ति प्राप्ति को भी सम्यक्त्व तथा शुद्धभाव से वंदना करता हूँ।

अनशन, अवमौदर्य आदि के भेद से तप के बारह भेद हैं। शील के अठारह हजार भेद होते हैं। गुणों के चौरासीलाख भेद हैं और ब्रह्मचर्य नवबाढ़ की अपेक्षा नौ प्रकार का है, जो तप, शील, गुण, और ब्रह्मचर्य से संपन्न हैं, श्री कुंदकुंददेव ने यहाँ पर उन मुनियों को नमस्कार किया है। ऐसे मुनि ही अपनी साधना से कर्म, नोकर्म और भावकर्म से रहित स्वस्वरूप की उपलब्धि रूप सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। यह स्वस्वरूपोपलब्धि ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है। इसी को आचार्य देव ने श्रद्धापूर्वक शुद्ध भाव से नमस्कार किया है।

इन महामुनियों के गुणों का स्मरण करने से, उन्हें नमस्कार करने से वे महान गुण अपनी आत्मा में प्रगट होते हैं। यही कारण है कि आचार्य कुंदकुंदेव भी ऐसे महर्षियों को "वंदामि" आदि शब्दों के द्वारा भावभक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं। आज के इस निकृष्ट काल में भी उनके प्रतीक नग्न दिगम्बर मुनि विचरण कर रहें हैं। ये निर्दोष महाव्रत को पालने वाले महामुनि तीन लोक में वंद्य हैं, मोक्षमार्ग के सच्चे पथिक हैं, प्रत्येक श्रावक को उनकी भक्ति, पूजा, उपासना करनी ही चाहिये। उनकी भक्ति, पूजा आदि करके आप सभी श्रावक अपने मनुष्य जन्म को सफल करें, यही मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–11

अनादिसिद्ध णमोकार मंत्र

संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक मानव किसी न किसी रूप में अपने इष्टदेव का स्मरण करता है। चाहे वह जैन हो या बौद्ध, सिक्ख हो या ईसाई, हिन्दू हो या मुसलमान, आराध्यदेव सभी ने माना है। लगभग सभी धर्म व जाति के लोग अपने से ऊपर कोई महाशक्तिमान् ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उन्हीं में से जैनधर्म का मूल मंत्र णमोकार मंत्र है। आप सभी लोगों को याद होगा यह मंत्र–

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

इस मंत्र का अर्थ यह है–अरहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्वसाधुओं को नमस्कार हो। पाँच पदों में इन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। इसमें कोई व्यक्ति विशेष का नाम न लेकर गुणों को ही नमन किया है।

जो चार घातिया कर्मों का नाश कर चुके हैं उन्हें अर्हंत परमेष्ठी कहते हैं और जिन्होंने संपूर्ण आठों कर्मों का नाश कर मोक्ष अवस्था प्राप्त कर लिया है वे सिद्ध कहलाते हैं। अरहंत, सिद्ध पद को प्राप्त करने के इच्छुक 36 गुणों का पालन करने वाले चतुर्विध संघ के नायक आचार्य परमेष्ठी होते हैं। संघ में शिष्यों को पठन-पाठन कराने वाले 25 गुणों को धारण करने वाले उपाध्याय परमेष्ठी कहे जाते हैं तथा रत्नत्रय की साधना में लीन 28 मूलगुणों को पालने वाले साधु परमेष्ठी होते हैं।

वर्तमान में इन पाँचों परमेष्ठियों में से तीन परमेष्ठी के दर्शन प्रत्यक्ष रूप में हो रहे हैं। पंचमकाल में इस कर्मभूमि में अरहंत होते नहीं और जब अरहंत ही नहीं हैं तो सिद्ध पद की प्राप्ति कैसे होगी। अतः अरहंत, सिद्ध की स्थापना धातु या पाषाण की प्रतिमाओं में करके उनकी पूजा की जाती है। इस महामंत्र को उठते-बैठते चलते-फिरते प्रतिक्षण जपना चाहिए जिससे कि कोई भी अमंगल मंगल में परिवर्तित हो जाता है।

आप प्रतिदिन मंदिर में पढ़ते भी हैं–

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

अर्थात् अपवित्र अवस्था में भी णमोकार मंत्र को मानसिक रूप में हमेशा जपने से पापों का क्षालन होता है। पाँच पद वाला यह मूल मंत्र 35 अक्षरी मंत्र कहलाता है। इसको संक्षिप्त रूप में जानने के लिए प्रत्येक पद का प्रथम अक्षर लेकर "असिआउसा" यह मंत्र बनाया गया है। इस असिआउसा मंत्र को जाप करने से पाँचों परमेष्ठियों को

नमस्कार हो जाता है। आप सब इस मंत्र की महिमा जानते हैं कि एक मरते हुए कुत्ते को जीवंधर कुमार ने णमोकार मंत्र सुनाया था जिसके प्रभाव से कुत्ता मरकर यक्षेन्द्र (देव) हो गया था और उस महामंत्र के अपमान का फल भी मालूम ही है।

सुभौम नामक एक षट्खंडाधिप चक्रवर्ती था। वह एक दिन अपने रसोईघर में भोजन करने गया, उसके रसोइए ने गरम-गरम खीर परोस दी। उस गरम खीर के खाने से चक्रवर्ती का मुंह जल गया और इस गुस्से के कारण उसने खीर का बर्तन उठा कर रसोइए के सिर पर पटक दिया जिससे रसोइया तुरंत मर गया और मरकर व्यंतरदेव हो गया। मैं आपको यह बता चुकी हूँ कि वैर और स्नेह के संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चलते हैं। व्यंतर देव को कुअवधिज्ञान से पूर्व भव का सारा वृतान्त ज्ञात हो गया तब उसके हृदय में राजा से बदला लेने की भावना जागृत हो उठी। देव तो वह्था ही, विक्रिया से अनेकों रूप बनाने की क्षमता थी अतः एक दिन वह मनुष्य के वेष में सुन्दर सुस्वादु फल लेकर राजदरबार में आ गया और विनयपूर्वक राजा को भेंट किया।

राजा सुभौम ने ऐसे मधुर फल जीवन में कभी नहीं खाये थे अतः उन्हें लालच आ गया। उन्होंने उस व्यक्ति से पूछा कि ये फल कहाँ मिलते हैं? बस फिर क्या था उस व्यंतर को तो अपनी सफलता नजर आने लगी, उसने कहा-राजन्! आप मेरे साथ चलिए, समुद्र के उस पार बहुत बड़ा बगीचा है वहाँ ऐसे बहुत सारे फल मिलेंगे। उसके कथन पर मंत्रियों को कुछ आशंका हुई, उन लोगों ने राजा को गुप्त मंत्रणाएँ दी कि राजन्! इसके कथन में कुछ मायाजाल प्रतीत होता है आप साथ में न जावें किन्तु जिह्वालोलुपी राजा ने किसी की एक न सुनी और चल दिया वेषधारी व्यंतर के साथ फलों को प्राप्त करने। "बुद्धि कर्मानुसारिणी" अर्थात् कर्म के अनुसार उसकी बुद्धि हो गई थी।

राजा और व्यंतर दोनों समुद्र के बीच में पहुँच गये। अब तो व्यंतर को अपना मनोरथ सिद्ध करने का स्वर्ण अवसर मिल गया। उसने अपना असली रूप प्रगट कर राजा से अपने पूर्व भव का समाचार बताया और बोला – राजन्! जैसे तुमने मुझे मारा था वैसे ही अब मैं तुम्हें जीवित नहीं छोडूंगा। इस अथाह समुद्र में अब तुम बच नहीं सकते। राजा सुभौम समझदार था। अतः विपत्ति के समय वह महामंत्र णमोकार को मन में पढ़ने लगा। देखिए! उस परमब्रह्म रूप मंत्र का प्रभाव, व्यंतर देव की मारक शक्ति भी कुंठित हो गई। वह सुभौम को मार नही सका। व्यंतरदेव ने समझ लिया कि यह अपने इष्टदेव का स्मरण कर रहा है इसीलिए मेरी शक्ति कुण्ठित हो गई है। अतः उसने कुछ कूटनीतिपूर्वक राजा से कहा –

अरे मूर्ख राजन्! यदि तुझे अपने प्राण प्रिय हैं तो मन में चिंतित मंत्र को पानी में लिखकर पैर रख दे तब मैं तुझे छोड़ सकता हूँ अन्यथा तू वापस राजमहल नहीं पहुँच सकता। यद्यपि राजा नियम में दृढ़ था किन्तु व्यंतर की मायावी बातों में आकर जीवन

का लोभ आ गया उसने सोचा कि जीवन रहेगा तो पुनः धर्मसाधना कर लूँगा। मन में इस प्रकार सोचकर राजा ने वहीं जल में णमोकारमंत्र लिखकर पैर रख दिया, बस व्यंतर की मारक शक्ति जागृत हो गई और उसने सुभौम चक्रवर्ती को समुद्र में डुबो दिया।

महामंत्र के अपमान की भावना से सुभौम चक्रवर्ती मरकर सातवें नरक चला गय।

सरस्वती का अपमान करने वाला व्यक्ति भला अच्छी गति को कैसे प्राप्त कर सकता है? कर्मसिद्धान्त कभी राजा या रंक को नहीं देखता वह तो अपना कार्य करता है। आज भी हम देखते हैं कि लोग धार्मिक कैलेण्डरों का अविनय करते हुए डरते नहीं हैं किन्तु ध्यान रखो कि जिस किसी पुस्तक, कैलेण्डर, चाबी के गुच्छे आदि में भगवान के फोटो हों या णमोकार आदि मंत्र लिखें हों तो उन्हें कभी इधर-उधर नीचे स्थानों में नहीं रखना चाहिए सदैव उनकी विनय करनी चाहिए।

णमोकार मंत्र को मैंने आपको "असिआउसा" के पाँच अक्षरी मंत्र रूप भी बताया। "अ" से अरहंत परमेष्ठी, "सि" से सिद्ध, "आ" से आचार्य, "उ" शब्द से उपाध्याय और "सा" से साधु इस प्रकार पाँचों परमेष्ठी का हृदय में चिंतन करते हुए असिआउसा का जाप्य करना चाहिए।

इसी प्रकार से महामंत्र का वाचक "ॐ" शब्द भी है। जो परंब्रह्म परमात्मा का सूचक होने से सर्वसम्प्रदाय मान्य है। प्रत्येक मंत्र के प्रारंभ में ॐ जुड़ा होता है। यह एकाक्षरी मंत्र है, इसका ध्यान करने से मस्तिष्क के समस्त तनाव दूर हो जाते हैं। भगवान् तीर्थंकर की दिव्यध्वनि भी ॐकार रूप मानी गई है। यह "ॐ" शब्द कैसे बना है इसकी प्रक्रिया देखिए-

णमो अरहंताणं का अकार ले लें, णमो सिद्धाणं पद में सिद्ध जीव अशरीरी – बिना शरीर के होते हैं अतः अशरीरी का अ ले लिया तो अ+अ=आ बना। आगे णमो आइरियाणं का आ+आ=दीर्घ आ ही रहा, णमो उवज्झायाणं का उ, आ+उ=ओ बना, णमो लोए सव्वसाहूणं में साधु से मुनि शब्द को ग्रहण किया है अतः मुनि का मकार लेकर "ओम्" बन गया। इसे ओम् और ॐ दोनों प्रकार से लिखा जाता है। पाँचों पदों का सार इस "ॐ" मंत्र की ही माला फेर लेने से महान पुण्यबंध होता है। अपनी और दूसरों की शांति के लिए प्रतिक्षण इसका उच्चारण करना चाहिए।

आप लोग रामायण देखते हैं उसमें सुग्रीव और रामचन्द्र की कैसी मित्रता दिखाई गई है। कभी आपने जैन रामायण का स्वाध्याय किया हो तो ज्ञात होगा कि इस एक णमोकार मंत्र के निमित्त से दोनों का संबंध जन्म-जन्मान्तर तक रहा है।

महापुर नगर में एक श्रावक पद्मरुचि सेठ किसी समय घोड़े पर चढ़कर अपने गोकुल की तरफ जा रहे थे। उन्होंने उस समय पृथ्वी पर पड़े हुए एक मरणासन्न बैल को देखा। पद्मरुचि घोड़े से उतरकर दयाबुद्धि से उसके पास बैठकर कान में णमोकार मंत्र

सुनाने लगे। उस मंत्र को सुनते हुए बैल की आत्मा शरीर से निकल गई और मंत्र के प्रभाव से उसी नगर के राजा छत्रच्छाय की रानी के गर्भ में आ गया और नव मास के बाद पुत्र उत्पन्न हो गया। उसका नाम वृषभध्वज रखा गया।

अनंतर पूर्व संस्कारवश उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो गया। बैल पर्याय के बोझा ढोना आदि दुःखों तथा मरते समय महामंत्र श्रवण का दृश्य उसके स्मृति पटल पर झूलने लगा। वह बचपन से ही णमोकार मंत्र को सदा पढ़ा करता था। किसी एक दिन वह घूमता हुआ उसी स्थान पर पहुँचा जहाँ उस बैल का मरण हुआ था। जातिस्मरण के कारण वह वहाँ के सभी स्थानों को पहचान कर अपने उपकारी को ढूँढ़ने का उपाय सोचने लगा। कुछ सोचकर उसने उसी स्थान पर बहुत बड़ा जिनमंदिर बनवाया। उसमें दीवालों पर अनेकों चित्र भी बनवाए। उसी मंदिर के द्वार पर अपने द्वारपालों को नियुक्त कर दिया कि जो व्यक्ति इस चित्र को बड़े ध्यान से देखे मुझे उसके दर्शन करा देना।

संयोग की बात एक दिन वंदना की इच्छा करते हुए पद्मरुचि श्रावक उस मंदिर में आ गये और आश्चर्यचकित हो उस चित्र को देखने लगे और मन में सोचने लगे कि णमोकार मंत्र सुनाते हुए यह मेरा ही चित्र किसने बनाया है। अत्यधिक एकाग्रता से इनको चित्रपट देखते हुए इनके मनोभाव को समझकर द्वारपालों ने शीघ्र ही वृषभध्वज राजकुमार को यह समाचार पहुंचा दिया।

वृषभध्वज शीघ्र ही वहाँ आकर परमोपकारी पद्मरुचि सेठ को पहचान कर उनके चरणों में गिर गया और यह बताया कि यह बैल का जीव मैं ही हूँ। उसने कहा कि हे परम दयालु सेठ! मृत्यु के संकट में आपने हमें महामंत्र रूपी औषधि देकर इस उत्तम भव को प्राप्त कराया है। इस मंत्रदान का मूल्य यद्यपि मैं नहीं चुका सकता, फिर भी आज्ञा दो मैं आपका क्या उपकार करूँ? इस प्रकार दोनों परममित्र बन गये। कुछ भवों के पश्चात् पद्मरुचि का जीव मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र हुआ, बैल का जीव सुग्रीव हुआ है। सुग्रीव विद्याधर ने सीता की खबर मंगाने में और रावण के साथ युद्ध में रामचन्द्र की बहुत सहायता की है। अनंतर ये रामचन्द्र, सुग्रीव, हनुमान आदि महापुरुष दैगम्बरी दीक्षा लेकर घोरातिघोर तपश्चरण करके तुंगी गिरि पर्वत से मोक्ष गये हैं। हम लोग प्रतिदिन निर्वाणकांड में इन सिद्धस्वरूप महापुरुषों की वंदना करते हैं–

राम हणू सुग्रीव सुडील, गव गवाख्य नील महानील।
कोटि निन्यानवे मुक्तिपयान, तुंगीगिरि वंदों धरध्यान।।

देखो! हमें कितने उदाहरण देखने और सुनने को मिलते हैं कि णमोकार मंत्र के स्मरण से कितने ही जीव तिर गये। अधिक नहीं तो कम से कम चौबीस घंटे में आधा घंटा समय निकालकर अपनी आत्मा का चिंतन अवश्य करना चाहिए जिसमें 9 बार ॐकार की ध्वनि करते हुए स्थिरतापूर्वक पंचपरमेष्ठी का अवलंबन लेना चाहिए।

प्रत्येक कार्य के प्रारंभ में, समापन में, रात्रि को सोते समय, सोकर उठते ही नित्य णमोकार मंत्र का स्मरण अवश्य करना चाहिए। कभी किसी को तीव्र वेदना हो रही हो, एक कटोरी में छना हुआ शुद्ध जल सामने चौकी पर रखकर णमोकार मंत्र की एक माला फेरकर उस जल को पिला दीजिए वेदना तुरंत दूर हो जायेगी। विज्ञान भी आज इस बात को सिद्ध कर चुका है कि जल के सामने पढ़े जाने वाले मंत्र को जल उन पुद्गल शब्द वर्गणाओं को खींचता है और उससे शरीर के अंदर भी प्रभाव पड़ता है इसीलिए आचार्यों ने यंत्र-मंत्र का महत्व बतलाया है। यूँ तो बारह भावना में कहा है–

मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई।

यद्यपि यह सत्य है कि मरते हुए जीव को कोई मंत्र-यंत्र जीवित नहीं कर सकते फिर भी देवगति आदि उत्तम गति को प्राप्त करा देते हैं और कभी अकालमृत्यु को भी टाल देते हैं। धनंजय कवि जैसे भक्त ने मंत्रौषधि से ही बालक के ऊपर चढ़े सर्प विष को दूर कर उसे जीवनदान दिया था। णमोकार मंत्र के माहात्म्य में ही बतलाया है कि इस मंत्र के विविध प्रयोगों से बिच्छू आदि के विष भी उतर जाते हैं।

इसीलिए इस मंत्र के विषय में कह दिया है–

एसो पंचणमोयारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

अर्थात् यह पंचनमस्कार मंत्र समस्त पापों का नाश करने वाला है और सभी मंगलों में पहला मंगल है। अतः अपने जीवन में मंगल की कामना करने वाले प्रत्येक मानव को इस महामंत्र का स्मरण अवश्य करना चाहिए।

भक्ति मार्ग सबके लिए श्रेयस्कर है

जस्सतियं धम्मपहं णिगच्छे तस्संतियं वेणयियं पउंजे।
काएण वाचा मणसा विणिच्य सक्कारए तं सिर पंचमेण।।

जिनके पास मैंने धर्म को प्राप्त किया है उनके निकट मैं विनय का प्रयोग करता हूँ। मन-वचन-काय से शिर झुकाकर पंचांग नमस्कारपूर्वक मैं (गौतम स्वामी) उन वर्धमान स्वामी का सत्कार (नमस्कार) करता हूँ।

और तभी वे श्रावक के लिए कहते हैं कि–

जिणवयणधम्मचेइयपरमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामायियं तं खु।।

जिनागम, जिनधर्म, जिनप्रतिमा, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और जिनमंदिर इन नवों की (नवदेवताओं की) जो नित्य ही त्रिकाल में वंदना करता है, उसके यह सामायिक प्रतिमा नाम का व्रत होता है।

–श्री गौतम स्वामी

प्रवचन–12

अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है

धम्मो मंगलमुद्दिट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो।।

संसार में समस्त प्राणियों के लिए धर्म मंगल स्वरूप है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। वह धर्म अहिंसा, संयम और तपरूप भी है, जो व्यक्ति अपने मन में उस धर्म को धारण करते हैं उसे देवता भी प्रणाम करते हैं।

मंगल शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है–

मं-मलम् गालयति इति मंगलम् अर्थात् मल–पापों का जो नाश करे वह मंगल है और दूसरी प्रकार से मंगं–सुखं लाति इति मंगलम् अर्थात् जो सुख की प्राप्ति करावे उसे मंगल कहते हैं। सभी कार्यों के प्रारंभ में मंगलाचरण इसी उद्देश्य से किया जाता है ताकि बिना किसी विघ्न बाधा के उसे निर्विघ्न सम्पन्न किया जा सके एवं यह हेतु भी होता है कि मेरा शुभ कार्य मेरे और समस्त प्राणियों के लिए सुखकारी होवे।

प्रत्येक पूजा-पाठ के प्रारंभ में भी आप मंगलाष्टक में "कुर्वन्तु मे मंगलम्" इत्यादि मंगलपाठ पढ़कर अपने और दूसरों के मंगल की कामना करते हैं। इसी प्रकार का मंगल धर्म में निहित होता है।

भव्यात्माओं! धर्म एक मिश्री के टुकड़े की भाँति है। जैसे मिश्री को आप चाहे स्वरूचि से खाएँ अथवा कोई जबदस्ती खिला देवे किन्तु मुँह में जाने के बाद वह मीठी ही लगती है कभी कडुवी नहीं लगती उसी प्रकार से धर्म को चाहे स्वरुचि से पालें अथवा गुरु प्रेरणा से, वह तो सदैव अचिन्त्य फल को प्राप्त कराता है। वास्तव में तो धर्म आत्मा का स्वभाव ही है। "वत्थु सहावो धम्मो, दंसणमूलो धम्मो, चारित्तं खलु धम्मो" इत्यादि रूप से भिन्न-भिन्न परिभाषाओं में धर्म का प्रतिपादन किया गया है।

वर्तमान की युवा पीढ़ी धर्म के नाम से दूर भागती है। मैं सोचती हूँ कि ऐसा क्यों है? बहुत चिन्तन करने के बाद यह बात समझ में आती है कि इस यांत्रिक युग में मानव भी बिल्कुल यंत्रवत्–मशीन के समान हो गया है। चौबीस घंटों में उसने अपने धर्म/कर्तव्य की ओर चिंतन करने का प्रयास नहीं किया।

हमारे पूर्वजों ने बड़े-बड़े मंदिरों का निर्माण कराया और उसे धर्म का साधन बताया किन्तु वहाँ भी जाकर दर्शन करने की लोगों को फुर्सत नहीं है। यहाँ हस्तिनापुर में दर्शनार्थ आने वाले कितने ही महानुभावों को जब मैं मंदिर जाने की या गुरुओं के पास जाने की प्रेरणा देती हूँ तब उनका यही कहना रहता है–माताजी! हमारे पास

समय ही नहीं है इतना व्यस्त हूँ। दूसरी बात आती है कि किसी प्रकार समय निकालकर गुरुओं के पास चले भी जाएँ तो वहाँ सिवाय त्याग की बात के और कुछ होता ही नहीं है। वे कहते हैं कि हम रात्रि भोजन त्याग, कन्दमूल त्याग आदि कैसे कर सकते हैं? और इसी डर से वे धर्म कर्म से दूर रहते हैं। अरे भाई! मैं सोचती हूँ कि धर्म की गाड़ी तो सदैव धक्के से ही चलती है गुरुओं की प्रेरणा भले ही आज कटु प्रतीत होती है किन्तु ये ही हाथ पकड़कर मोक्षमार्ग में लगाने वाले सच्चे गुरु होते हैं।

जैसे दुकानदार जब अपने ग्राहक को कई प्रकार की वस्तुएँ दिखाता है तब ग्राहक किसी न किसी वस्तु को पसंद करके खरीद ही लेता है, उसी प्रकार धर्म भी एक व्यापार है और उसका प्रतिपादन करने वाले निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ, दुकानदार हैं। दर्शनार्थ आने वाले भव्यात्मा ग्राहकों को वे भिन्न-भिन्न रूप से धर्म के स्वरूप को बताते हैं। अनेक बातों में से यदि एक बात भी उसके गले उतर गई तो समझो कार्य सफल ही हो गया। मैं प्रतिदिन यह अनुभव करती हूँ कि इस पंचमकाल में तो सबसे अधिक अहिंसा धर्म के बारे में लोगों को बताने की आवश्यकता है क्योंकि आज मानव ही मानव का संहारक हो गया है। हिन्दुस्तान में चारों ओर धर्म और जाति के नाम पर हिंसा का तांडव नृत्य चल रहा है। आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है–

"अहिंसाभूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं" अर्थात् संसार में प्राणिमात्र की अहिंसा परमब्रह्म स्वरूप है और उसका ज्ञान कराने वाली है। इसका मतलब यह नहीं कि किसी प्रकार का धर्म संकट आने पर भी हाथ पर हाथ रखकर बैठ जावें। अहिंसा धर्म की अत्यन्त सूक्ष्म परिभाषा करते हुए हिंसा के 4 भेद बताये गये हैं–संकल्पी हिंसा, आरंभी हिंसा, उद्योगिनी हिंसा और विरोधिनी हिंसा। इन चारों हिंसाओं में सम्यग्दृष्टी श्रावक तो संकल्पी हिंसा को छोड़कर बाकी तीन हिंसा से बच नहीं सकता है।

देखो! क्षायिक सम्यग्दृष्टि राम घमासान युद्ध करने के बावजूद भी अहिंसक ही रहे। जैन रामायण पद्मपुराण में पढ़ने से समझ में आता है कि मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने मात्र एक अपनी पत्नी सीता के लिए रावण से युद्ध नहीं किया बल्कि समस्त नारी जाति के ऊपर किये जाने वाले अत्याचारों का समूल चूल विध्वंस कराने हेतु ही युद्ध का सहारा लिया था। सभी जानते हैं कि युद्ध बिना हिंसा के नहीं होता और उस समय भी राम-रावण दोनों ही सेनाओं में न जाने कितनी जनता मारी गई किन्तु अंत में धर्म की विजय हुई। रावण की अक्षौहिणी सेना होने के बावजूद भी उसके पाप ने उसे धराशायी कर दिया। उस रावण का नाम सदा-सदा के लिए इतना बदनाम हो गया कि आज कोई भी माता-पिता अपने पुत्र का 'रावण' यह नाम रखना पसंद नहीं करते हैं और राम का नाम बड़े आदर्श से लिया जाता है क्योंकि उन्होंने धर्मयुद्ध करके आसुरी प्रवृत्ति का विध्वंस किया था।

इसी प्रकार से धर्म और धर्मायतनों पर जब भी कोई विपत्ति आवे आप अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए सदैव तन, मन, धन से उनकी रक्षा के लिए कटिबद्ध रहें। इतिहास जहाँ अकलंक देव जैसे जैनधर्म की ध्वजा को दिगदिगन्त में फहराने वाले महान आचार्य का नाम स्मरण कराता है वहीं उनसे पहले अपने मस्तक को बलिवेदी पर चढ़ाने वाले निकलंक को कभी विस्मृत नहीं कर सकता। इसी हस्तिनापुर की भूमि पर आप देखें, पूर्व इतिहास का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों के ऊपर जब यहाँ बलि ने अग्निकांड का भयंकर उपसर्ग किया था उस समय विष्णुकुमार महामुनिराज ने अपना मुनिवेष छोड़कर भी उस उपसर्ग का निवारण किया था।

जैनधर्म में तो कर्म सिद्धांत की प्रमुखता है। कर्म के वश होकर यह जीव प्रतिक्षण सुख-दुख का अनुभव करता है। अहिंसा के विषय में तो जितना सूक्ष्म विवेचन जैन सिद्धांत में पाया जाता है उतना कहीं भी नहीं है।

आचार्य श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा का लक्षण बतलाया है–

''प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'' अर्थात् प्रमाद के योग से किसी के प्राणों का घात करना हिंसा है। इस परिभाषा के अनुसार कोई जीव भले ही हिंसा नहीं कर रहा है परन्तु उसका चित्त प्रमाद और कषाय से युक्त है तो वह हिंसक ही कहा जायेगा तथा प्रमाद कषाय रहित व्यक्ति यदि अपनी क्रियाओं में सावधान है और अंजान में उससे किसी प्रकार की हिंसा भी हो जाती है तो भी वह अहिंसक माना जाता है क्योंकि प्रधानता तो भावों की है। कई बार ऐसा देखा जाता है कि दो-चार लोग एक पास बैठते हैं और अकारण ही चर्चा छिड़ जाती है अमुक व्यक्ति का अहित हो जावे या वह मर जावे तो अच्छा है इत्यादि पर के अशुभ चिंतन के विचारों से उसका अहित होवे या न होवे किन्तु आत्महिंसा तो हो ही जाती है।

एक व्याघ्र और शूकर के ही भावों को देखिए–

एक बार दो दिगम्बर मुनिराज एक गुफा में रह रहे थे उस गुफा में एक शूकर भी रहता था। मुनिराज के द्वारा उपदेश प्राप्त कर वह एक भक्त की भाँति वहीं पर गुरु रक्षा के भाव से बैठा रहता था। एक दिन मनुष्य की गंध पाकर एक व्याघ्र मुनियों को खाने के लिए झपटा हुआ आया। सुअर उसे दूर से ही देखकर गुफा के द्वार पर आकर डट गया ताकि वह भीतर बैठे हुए मुनियों की रक्षा कर सके। जैसे ही व्याघ्र ने आक्रमण किया बस सूअर के साथ उसका युद्ध छिड़ गया। दोनों ही लड़ रहे थे परन्तु दोनों के भावों में बड़ा अंतर था। एक के भाव थे मुनिरक्षा करने के और दूसरे के भाव हिंसा के थे। लड़ते-लड़ते दोनों मर गये, मुनिरक्षा के भाव से सुअर तो पहले स्वर्ग में देव हो गया और व्याघ्र मुनि हिंसा के भाव से नरक चला गया।

पशु होकर भी एक सुअर ने कर्त्तव्य का पालन किया और अपने प्राण तक न्योछावर कर दिये क्योंकि वह अहिंसक बन गया था। किसी भी जाति या धर्म में कभी हिंसा को श्रेयस्कर नहीं माना है। अहिंसा के बल पर ही हमारे हिन्दुस्तान ने आजादी प्राप्त की है। आप सभी जानते हैं कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी अहिंसक थे। यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो प्रतीत होता है कि हिंसा और अहिंसारूप भावों की श्रृंखला परस्पर में जन्म-जन्मान्तर तक चला करती है।

धर्म को पालन करने में जातिवाद का कोई बंधन नहीं होता यदि एक पशु जैसे पामर प्राणी ने भी उसे जीवन में धारण कर लिया तो महान बन गया और यदि उच्च कुल में जन्म लेकर किसी ने हिंसा आदि अनार्य कृतियों को जीवन में उतारा तो उसकी कुलीनता व्यर्थ है।

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या संपद्धर्माच्छरीरिणाम्।।।

अर्थात् धर्म के प्रसाद से कुत्ता भी मरकर देव बन जाता है और किल्विष–पाप के कारण देवता भी मरकर कुत्ते जैसी निंद्य पर्याय को प्राप्त कर लेते हैं।

आपको मालूम है जैन किसे कहते हैं? ''कर्मारातीन् जयति इति जिनः'' सबसे पहले तो जिन की परिभाषा बताते हुए आचार्यों ने कहा है कि कर्मरूपी शत्रुओं को जिन्होंने जीत लिया है वे जिन कहलाते हैं और फिर ''जिनो देवता यस्य स जैनः'' अर्थात् वे जिनेन्द्र भगवान को देवता मानने वाले जैन कहे जाते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जैन धर्म किसी व्यक्ति विशेष का न होकर ''सार्वभौम'' धर्म बन जाता है इसीलिए इसे विश्वधर्म भी कहा जाता है और प्राणिमात्र के लिए यह हितकारी होता है। कहा भी है–

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।
धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यंच समान।।

सांसारिक सुख की सिद्धि और परमार्थ की सिद्धि सभी कुछ धर्म से ही प्राप्त होती है।

हिंसा के चारों भेदों का लक्षण जानना भी आवश्यक है।

1. संकल्पी हिंसा–अभिप्रायपूर्वक किसी भी छोटे या बड़े जीव को मारना संकल्पी हिंसा है।

2. आरंभी हिंसा–चूल्हा जलाना, चक्की पीसना, पानी छानना आदि आरंभ कार्य करके भोजन बनाना, खेती आदि करना आरंभी हिंसा है।

3. उद्योगिनी हिंसा–धन कमाने के लिए बड़े-बड़े व्यापार करना, कारखाने खोलना उसमें होने वाली हिंसा उद्योगिनी हिंसा है।

4. विरोधिनी हिंसा–धर्म, धर्मायतन और धर्मात्माओं की रक्षा के लिए हिंसा करना विरोधिनी हिंसा है। जैसे कि श्री रामचन्द्र ने की थी।

इन चारों हिंसा में से गृहस्थाश्रम में रहने वाले गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसाओं का ही त्याग कर सकते हैं। क्योंकि भोजन आदि करने हेतु आरंभ करने से उस योग्य हिंसा तो होती ही है फिर भी सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिए। इसी प्रकार धन के बिना गृहस्थी नहीं चल सकती इसलिए व्यापार करना ही पड़ता है उसकी हिंसा भी गृहस्थ के लिए क्षम्य है। किन्तु चमड़ा, शराब, हड्डी की खाद, भट्टे आदि हीन कार्य सद्गृहस्थ को नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार श्री गौतम स्वामी द्वारा कथित गाथा के द्वारा मैंने आपको धर्म की परिभाषा सुनाई है इसमें अहिंसा, संयम और तप को भी धर्म कहा है। गृहस्थ के योग्य अहिंसा का वर्णन मैंने संक्षेप में आपको बताया है संयम और तप का वर्णन फिर कभी बताऊँगी।

स्वाध्याय का माहात्म्य

निरस्त सर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः।
प्ररूढजन्मांकुरशोषपूषा स्वाध्यायतोऽन्योस्ति ततो न योगः।।
गुणाः पवित्राः शमसंयमाय्य विबोधहीनाः क्षणतश्चलन्ति।
कालं कियन्तं तलपुष्पपूर्णास्तिष्ठन्ति वृक्षाः क्षतमूल बंधाः।।

अर्थ–जिस स्वाध्याय के द्वारा प्राणीवर्ग की समस्त इन्द्रियों और कषायों को प्रवृत्ति से रहित किया जाता है और जो बढ़ते हुए भावांकुर के सुखाने के लिए सूर्य सदृश है, ऐसे स्वाध्याय से बढ़कर अन्य कोई योग–ध्यान नहीं है अर्थात् स्वाध्याय करते समय पाँचों इन्द्रियों का अशुभ व्यापार छूट जाता है और कषायों की प्रवृत्ति भी नहीं दिखती है, मन केवल अर्थ के चिन्तन में शांत रहता है तथा संसार की परम्परा घट जाती है। आज के युग में इस स्वाध्याय के अतिरिक्त और ध्यान क्या किया जा सकता है?

कषायों की मंदतारूप प्रशम भाव और संयम आदि जितने भी पवित्र गुण हैं वे सब यदि ज्ञान से रहित हैं तो क्षणमात्र में चलायमान हो जाते हैं। जिन वृक्षों का मूल जड़–बंधन विनष्ट हो गया है, ऐसे पत्र, पुष्पों से परिपूर्ण भी वृक्ष कितने समय तक खड़े रह सकते हैं? अर्थात् जैसे जड़ के उखड़ जाने से हरे-भरे वृक्ष भी गिर जाते हैं वैसे ही ज्ञान के बिना शम-संयम आदि गुण अधिक काल नहीं टिक पाते हैं। इसलिए सतत ही जैन आगम का स्वाध्याय करना चाहिए।

–श्री अमितगतिसूरि

प्रवचन–13

साधु और गृहस्थों की चर्या

प्राचीनकाल से कृषि प्रधान इस भारतदेश में ऋषियों की परम्परा चली आ रही है। इन्हीं की त्याग तपस्या के बल पर देश का मस्तक गौरव से ऊँचा उठा हुआ है।

भगवती आराधना में आचार्य श्री शिवकोटि ने बताया है–

यस्य देशं समाश्रित्य साधवः कुर्वते तपः।
षष्ठमंशं नृपस्तस्य लभते परिपालनात्।।

कितनी महानता बताई इन ऋषियों के बारे में कि जिस देश का आश्रय लेकर साधु तपस्या करते हैं उनकी तपस्या का छठा भाग पुण्य वहाँ के राजा को स्वयं ही मिल जाता है।

आप कहेंगे कि तपस्या तो साधु ने की और उसका पुण्य राजा को कैसे मिल गया? इसलिए मिला कि वह राजा साधु की तपस्या में किसी प्रकार की विघ्न बाधा उपस्थित न करने के कारण घर बैठे ही उनके पुण्य में सहभागी बन गया। आप भी हमेशा ध्यान रखो कि यदि स्वयं तपश्चर्या न कर सको तो न सही किन्तु तपस्वियों की निंदा कभी मत करो वर्ना मात्र शब्दों के वाग्जाल से महान् पाप का बंध हो जायेगा और कुछ भी निंदा नहीं करने मात्र से पुण्य का बंध हो जाता है।

मोक्षमार्ग की गाड़ी सदैव दो पहियों पर चलती है एक साधु धर्म और दूसरा गृहस्थ धर्म है। अनादिकाल से दोनों ही धर्म इस पृथ्वी पर चले आ रहे हैं। गृहस्थ श्रावक के बिना साधुओं की चर्या नहीं निभ सकती और साधु के बिना गृहस्थ कभी मोक्षमार्गी नहीं बन सकता। प्रत्येक मजहब ने गुरु को मान्यता दी है। कहा भी है–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पांय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।

अर्थात् गुरु ही गोविन्द (भगवान) तक पहुँचने का मार्ग बताते हैं इसलिए गुरु का स्थान सर्वपूज्य है। णमोकार मंत्र में भी आप देखें कि सिद्ध परमेष्ठी जिन्होंने संपूर्ण कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त कर लिया है। उनसे पूर्व चार घातिया कर्मों का क्षय करने वाले अरहंतों को नमस्कार किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सिद्ध छोटे हो गये और अरहंत बड़े हो गये। अरहंत केवली अपने प्रवचन के द्वारा हमें सिद्ध परमात्मा का ज्ञान कराते हैं इसीलिए उन्हें पहला स्थान दिया गया है। कुछ लोग तो यहाँ तक भी कह देते हैं कि अरहंतों के पास दिव्य समवसरण आदि बाह्य वैभव होता है इसलिए जैनियों ने पद को नहीं वैभव को नमस्कार किया है। किन्तु उन्हें यह शायद ज्ञात नहीं है कि यह बाह्य वैभव तो विनाशीक है, अरहंतों को भी इसे तो छोड़ना ही पड़ता है।

किन्तु सिद्धों को तो अन्तरंग वैभव अविनश्वर-शाश्वत रूप में प्रगट हो जाता है जिसकी उपमा संसार की किसी वस्तु से नहीं दी जा सकती। दूसरी बात अरहंत भगवान अपने दिव्य वैभव से भी चार अंगुल (अधर) रहकर अपनी वीतरागता का परिचय देते हैं।

आज आप हस्तिनापुर की जिस भूमि पर बैठे हैं इसका कण-कण हमें साधु और श्रावक के समन्वय का संदेश देता है। यह तीर्थ बड़ा प्राचीन तीर्थ है। कृतयुग की आदि में इन्द्र ने अयोध्या, बनारस, हस्तिनापुर आदि नगरियों की रचना की थी। तभी से इस भूमि का अस्तित्व चला आ रहा है। भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ इन तीनों तीर्थंकरों ने इसी भूमि पर जन्म लेकर छह खण्ड पृथ्वी पर शासन चलाया था, हस्तिनापुर उन दिनों उनकी राजधानी थी।

यहाँ से भगवान आदिनाथ के जीवन का घटनाचक्र भी जुड़ा हुआ है। आप लोगों को मालूम होगा कि आज से करोड़ों वर्ष पूर्व तीर्थंकर आदिनाथ ने जब जैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी उस समय उनके साथ चार हजार राजाओं ने दीक्षा ले ली थी। वृषभदेव तो दीक्षा लेते ही छह महीने का योग लेकर मौनपूर्वक खड़े हो गए किन्तु दो-चार दिन के बार उन सभी राजाओं को भूख प्यास की बाधा सताने लगी। उन्हें तो यह पता नहीं था कि अब क्या करना चाहिए अतः वे सब भ्रष्ट हो गए, आखिर कहाँ तक सहते भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी। बात यह थी कि आदिनाथ ने अपने राज्यकाल में प्रजा को असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और कला ये छह क्रियाएँ जीवनयापन की बतलाई थीं किन्तु जैन साधु भोजन किस प्रकार करें यह नहीं बताया था इसीलिए सभी मुनि जंगल के कंदमूल आदि फलों को खाकर, झरने का पानी पीकर तथा अन्य अयोग्य वस्त्र, चीवर आदि धारण करके भ्रष्ट हो गये।

छह महीने बीत गए, तब मुनि ऋषभदेव आहारचर्या के लिए निकले किन्तु जनता को कुछ पता नहीं कि ये क्यों घूम रहे हैं। देखते-देखते एक वर्ष निकल गया किन्तु ऋषभदेव को योग्य आहार की प्राप्ति नहीं हुई।

एक दिन हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को रात्रि में कुछ स्वप्न दिखे। सबसे पहले स्वप्न में उन्होंने सुमेरु पर्वत देखा। प्रात:काल स्वप्न फल पूछने पर ज्ञात हुआ कि आज आपके नगर में कोई ऐसा महापुरुष पधारने वाला है जिसका सुमेरु पर्वत पर अभिषेक हुआ हो। बस देखते ही देखते मुनिराज वृषभदेव का नगरी में आगमन हो गया, उन्हें देखते ही श्रेयांस अपने राजसिंहासन से उठ पड़े और नमस्कार किया।

देखो! कैसी शुभ घड़ी आई। श्रेयांस राजा वृषभदेव की मुद्रा देखते हैं और तत्क्षण ही उन्हें अपने आठवें भव पूर्व का जातिस्मरण हो जाता है कि मैंने इसी प्रकार के दिगम्बर मुनि को एक जंगल में आहार दिया था। अतः आहारचर्या की मुद्रा में उनका पड़गाहन कर राजा श्रेयांस ने अपने बड़े भाई सोमप्रभ और भाभी के साथ मुनिराज की

नवधाभक्ति करके इक्षुरस का आहार दिया।

हस्तिनापुर का राजमहल उस दिन धन्य हो गया था, क्योंकि तीन लोक के नाथ तीर्थंकर का आहार होने से वहाँ पंच आश्चर्य की वृष्टि होने लगी। स्वयमेव रत्नों की वर्षा होने लगी, पुष्पवृष्टि होने लगी, गंधोदक झरने लगा, देवों ने दुंदुभि बाजे बजाए और खूब जय-जयकारों से हस्तिनापुर गूँज उठा था। अयोध्या में राजा भरत को सूचना मिलते ही वे हस्तिनापुर आ गए और आहारदान की महिमा जानकर उन्होंने राजा श्रेयांस की खूब सराहना की तथा दानतीर्थ प्रवर्तक की उपाधि से उन्हें अलंकृत किया। युग की आदि में जैसे भगवान आदिनाथ ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन प्रारंभ किया वैसे ही श्रेयांस ने आहारदान देकर दानतीर्थ की प्रवृत्ति प्रारंभ की। यदि श्रेयांस ने आहारदान नहीं दिया होता तो आज हमें साधुओं के दर्शन ही नहीं प्राप्त हो सकते थे। क्योंकि आहार के बिना औदारिक शरीर चल ही नहीं सकता और शरीर ही धर्मसाधना कराने वाला है।

उन्हीं तीर्थंकर आदिनाथ के मार्ग पर चलने वाले दिगम्बर जैन साधु-साध्वियाँ आज लगभग 1200 की संख्या में विद्यमान हैं। वर्तमान का साधु संघ चार भागों में विभक्त है– मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका। जहाँ ये चारों श्रेणी के साधु सम्मिलित होकर रहते हैं उसे चतुर्विध संघ कहा जाता है। चतुर्विध संघ में श्रावक-श्राविका भी सम्मिलित हैं। इस बीसवीं सदी में चारित्रचकवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने साधु परम्परा का पुनरुद्धार किया अतः आप सभी को सुलभतया साधुओं के दर्शन प्राप्त हो रहे हैं। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने स्वयं कहा है–

भरहे दुस्समकाले, धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे, ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।

अर्थात् इस पंचम काल में भी धर्मध्यान को करने वाले साधुगण हैं और पंचमकाल के अंत तक रहेंगे जो ऐसा नहीं मानते वे अज्ञानी हैं आप स्वयं देखिए कि जब आज आप श्रावक चौबीस घंटे खाते-पीते हैं, भक्ष्य-अभक्ष्य का कोई विचार नहीं है, किसी प्रकार का संयम नहीं पलता ऐसे खोटे समय में भी मात्र एक समय भोजन करके शरीर को तपस्या की अग्नि में जलाने वाले निर्ग्रन्थ (नग्न दिगम्बर) गुरु हमें दिख रहे हैं, सोचो तो सही कितने आश्चर्य की बात है। इन गुरुओं की चर्या कभी देखी है आपने? सुनो मैं संक्षेप में तुम्हें इनकी चर्या– क्रिया के बारे में बताती हूँ–

जिन नग्न दिगम्बर गुरुओं के हाथ में मोर पंख की पिच्छी और नारियल या काष्ठ का कमण्डलु होता है उन्हें "मुनि" कहते हैं। ये 28 मूलगुण का पालन करते हुए अपने रत्नत्रय की साधना करते हैं। वे 28 मूलगुण कौन-कौन से हैं?

5 महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), 5 समिति (ईर्या,

भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग), पंचेन्द्रिय विजय, छह आवश्यक (सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग) केशलोंच, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त। अब आप देखें कि इन 28 मूलगुणों का पालन ये साधुगण अपने जीवन में किस प्रकार करते हैं। जिस प्रकार संसार से विरक्त होकर कोई पुरुष दिगम्बर आचार्य गुरु के पास जाकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण करता है उस समय गुरु विधिवत् उस शिष्य के मस्तक पर दीक्षा विधि के संस्कार करते हैं और 28 मूलगुण पालन करने का आदेश देते हैं।

1. अहिंसा महाव्रत—पाँच स्थावर और त्रस इन छह काय के जीवों की हिंसा का पूर्ण त्याग।

2. सत्य महाव्रत—सूक्ष्म और स्थूल हर प्रकार के झूठ बोलने का त्याग।

3. अचौर्य महाव्रत—जल और मिट्टी के सिवाय समस्त परवस्तुओं को बिना दिये नहीं लेना।

4. ब्रह्मचर्यव्रत—अपनी पत्नी आदि स्त्रीमात्र का त्याग कर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत।

5. अपरिग्रह महाव्रत—धन, मकान, स्त्री, पुत्र आदि बाह्य परिग्रह एवं राग-द्वेष आदि अंतरंग परिग्रह का त्याग।

6. ईर्या समिति—चार हाथ आगे जमीन को देखते हुए पद विहार करना।

7. भाषा समिति—प्राणीमात्र से हित—मित—प्रिय एवं आगम के अनुकूल वचन बोलना।

8. एषणा समिति—गृहस्थों के द्वारा नवधाभक्तिपूर्वक दिये गये शुद्ध प्रासुक आहार को ग्रहण करना।

9. आदान निक्षेपण समिति—मयूर पिच्छी के द्वारा परिमार्जन करके देख शोध कर वस्तु रखना, उठाना।

10. उत्सर्ग समिति—मर्यादायुक्त स्थान को देख शोध कर मलमूत्र विसर्जन करना।

11. स्पर्शनेन्द्रियजय—सुखदायक कोमल स्पर्शादि में या कठोर कंकरीली भूमि आदि के स्पर्श में आनंद या खेद नहीं करना।

12. रसना इंद्रियजय—जिह्वालोलुपता का त्याग कर गोचरीवृत्ति से रूखा-सूखा नीरस भोजन ग्रहण करना।

13. घ्राणेंद्रियजय—सुगंध-दुर्गन्ध दोनों में समताभाव रखना।

14. चक्षुइंद्रियजय—सुन्दररूप वाले अथवा असुंदर पदार्थों को देखकर समदृष्टि रखना।

15. कर्णेंद्रिय जय—अच्छे-अच्छे संगीत आदि एवं कर्णकटु शब्द सुनकर भी वीतराग भाव होना।

16. सामायिक—प्रतिदिन सुबह, दोपहर और शाम तीनों कालों में देववंदना विधिपूर्वक सामायिक करना।

17. स्तव—कृतिकर्मपूर्वक चौबीस तीर्थंकर की स्तुति करना।

18. वंदना—कृतिकर्मपूर्वक अरहंत सिद्ध आदि की वंदना करना।

19. प्रतिक्रमण—अपने ज्ञात-अज्ञात दोषों के क्षालन हेतु दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करना।

20. प्रत्याख्यान—एक दिन के आहार के पश्चात् दूसरे दिन तक चतुर्विध आहार का त्याग, रस परित्याग या बेला, तेला आदि करना।

21. कायोत्सर्ग—काय से ममत्व का त्याग कर नौ, सत्ताईस या एक सौ आठ बार णमोकार मंत्र का जाप्य करना।

22. केशलोंच—अपने सिर तथा दाढ़ी मूंछ के केशों को प्रति दूसरे, तीसरे या चतुर्थ माह हाथों से उखाड़ना।

23. अचेलक—संपूर्ण वस्त्रों का त्याग कर नग्न दिगम्बर वेश धारण करना।

24. अस्नान—दीक्षा के पश्चात् जीवन पर्यंत के लिए स्नान का त्याग।

25. भूमिशयन—लकड़ी के पाटे, चटाई, घास अथवा भूमि पर शयन करना।

26. अदंतधावन—मुख की शोभा हेतु दाँतों का परिमार्जन नहीं करना।

27. स्थितिभोजन—खड़े होकर करपात्र में भोजन करना।

28. एकभक्त—चौबीस घंटे में, दिन में एक ही बार श्रावक के घर में आहार ग्रहण करना।

नग्न दिगम्बर वेष को धारण करने वाले प्रत्येक मुनि के लिए इन समस्त मूलगुणों का पालन करना आवश्यक होता है। आज के भी सभी मुनिराज इन 28 मूलगुणों का पालन करते हैं। सभी लोग केशलोंच करते हैं, पद विहार करते हैं, एक बार भोजन करते हैं, नग्न रहते हैं, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि सब कुछ तो करते हैं इसीलिए उनकी मुद्रा जिनमुद्रा कही जाती है। इसी प्रकार आर्यिका जिनका कि स्त्रीपर्याय में चरमसीमा (नग्नत्व) का त्याग होता है उनके लिए आचार्यों ने एक साड़ी मात्र परिग्रह बताकर वह भी उनका मूलगुण कहा है। आर्यिकाओं की समस्त चर्या मुनिवत होती है। मात्र बैठकर आहार और साड़ी का परिग्रह होने से ये उपचार से महाव्रती कही जाती हैं इनकी पूजा-अर्चना एवं नवधाभक्ति मुनि के समान ही प्राचीनकाल से चली आ रही है अतः उसी प्रकार से आर्यिकाओं की सदैव श्रद्धा, भक्ति करनी चाहिए। साधु की तृतीय श्रेणी क्षुल्लक अवस्था होती है। यह मुनि अवस्था की प्रथम सीढ़ी है। इसमें पिच्छी-कमण्डलु के साथ-साथ एक लंगोटी और एक चादर का परिग्रह होता है तथा दिन में एक बार श्रावक के घर में कटोरी या थाली में भोजन ग्रहण करते हैं। मात्र लंगोटी धारण करने वाले ऐलक कहे जाते हैं। इसी प्रकार से महिलाओं को भी आर्यिका अवस्था से पूर्व क्षुल्लिका का पद होता है जिसमें एक साड़ी के साथ एक चादर भी होती

है, ये भी कटोरी या थाली में भोजन करती हैं।

किसी बड़े आचार्य संघ में आज भी इसी प्रकार के चतुर्विध संघ के दर्शन होते हैं। इन साधुओं के पास जाकर नमस्कार करने का क्रम और विधि भी आचारसार में बताई गई है कि दिगम्बर मुनिराज को ''नमोस्तु'' बोलकर नमस्कार किया जाता है, आर्यिका माताजी को ''वंदामि'' कहकर दर्शन करने चाहिए तथा ऐलक-क्षुल्लक और क्षुल्लिका को ''इच्छामि'' शब्द से नमस्कार करना चाहिए। जिस प्रकार असली रुपये की पहचान भारत सरकार की मुद्रा से होती है उसी प्रकार साधुओं की पहचान पिच्छी कमण्डलु से होती है इनके बिना किसी नग्न मनुष्य को या सफेद साड़ी वाली महिलाओं को नमस्कार नहीं करना चाहिए। इन साधुता की श्रेणी को प्राप्त करने वाले अव्रती अथवा एक, दो या सात प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों को कभी साधु के समान नहीं पूजना चाहिए क्योंकि इससे साधु वेष का अपमान होता है। जनता को सभी के योग्य विनय अनुसार व्रतिकों के लिए ''वंदना'' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। ''नमोऽस्तु'' या ''वंदामि'' शब्द तो मात्र मुनि और आर्यिकाओं के नमस्कार हेतु है अतः इनके अतिरिक्त किसी के प्रति इन शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। चातुर्मास स्थापना का विधान भी चतुर्विध संघ के लिए ही है। ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियों के लिए कहीं भी आगम में चातुर्मास की बात नहीं है और चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की परम्परा में भी नहीं है।

यह तो मैंने संक्षेप में आपको साधुचर्या के विषय में बताया अब आपको मुख्यरूप से अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देना है। देवपूजा, गुरुओं की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह क्रियाएँ श्रावकों की हैं इन्हें प्रतिदिन करना चाहिए। अपनी योग्यतानुसार सदैव दान की भावना रखनी चाहिए। लोग कहते हैं कि मैंने अमुक मंदिर में या इतने हजार रुपये दान में दिये हैं। भला सोचो तो सही कि तुमने किसे दिए? किसी को नहीं, बल्कि जो दान में दे दिया तो तुम्हारे रिजर्व बैंक में जमा हो गया और बाकी तो खाय खोया बह गया वाली बात है।

एक छोटे से बालक की गरीब माँ ने एक दिन खीर का भोजन बनाया और बालक से बोली-बेटा मैं पानी लेने जा रही हूँ अभी आकर तुझे खीर खिलाऊँगी, जाते समय पुनः माँ ने कहा–सुन! अगर कोई साधु महाराज आ जायें तो रोक लेना। माँ के जाने के कुछ ही देर बाद एक दिगम्बर मुनि उस घर के पास से निकले। माता की आज्ञानुसार उसने साधु के पैर पकड़ लिए और कहने लगा–महात्मा जी! अभी ठहरो, मेरी माँ आ रही हैं, आज उसने खीर बनाई है तुम्हें भी खिलाएगी। बेचारे बालक को क्या पता साधु की चर्या। साधु आगे बढ़ रहे थे किन्तु बालक था कि उनके चरण ही नहीं छोड़ रहा था। इतने में उसकी माँ आ गई और शीघ्रता से उसने ''हे स्वामी.....। नमोऽस्तु, अत्र तिष्ठ

आहार जल शुद्ध है'' बोलकर गुरुवर का पड़गाहन किया और अपने चौके में ले जाकर उच्चासन पर विराजमान किया। उसके पश्चात् चरण प्रक्षालन, पूजन करके मन-वचन-काय शुद्धि, आहारजल शुद्ध है, इत्यादि नवधाभक्तिपूर्वक मुनि को खीर का आहार दिया।

बालक बाहर खड़ा-खड़ा खुश होकर जय-जय शब्द बोलते हुए नाच कूद रहा था। मानों उसे कोई निधि मिल गई हो। आखिर निधि तो थी ही, वे मुनिराज अनेक ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी थे अतः उनकी ''अक्षीणमहानस'' ऋद्धि के प्रभाव से वह खीर अक्षय हो गई। बालक का घर परिवार क्या सारा नगर खीर खा गया तो भी खीर खत्म न हुई। महानुभावों! उस बालक ने आहार देखकर और जयजयकार करके इतने महान पुण्य का संचय कर लिया कि उसके प्रभाव से कालांतर में ''धन्यकुमार'' हो गया जिसे धन्ना सेठ के नाम से पुराणों में जाना जाता है। उनकी नाल गाड़ने के लिए भी जहाँ खुदाई की गई वहाँ रत्नों का घड़ा निकल पड़ा था। यह दान की अनुमोदना का फल है इसी प्रकार से आप सभी श्रावकों को अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए मोक्षमार्ग की गाड़ी निराबाध संचालित करना चाहिए।

मनरूपी वृक्ष को मोहरूपी जल से मत सींचो

णिल्लूरह मणवच्छो खंडह साहाउ रायदोसा जे।
अहलो करेइ पच्छा मा सिंचह मोहसलिलेण।।68।।

(श्री देवसेन सूरि)

यहाँ मन को वृक्ष की उपमा दी है। जिस प्रकार वृक्ष में दो बड़ी शाखाएं होती हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में रागद्वेषरूपी दो बड़ी शाखाएं हैं। जिस प्रकार वृक्ष की बड़ी शाखाओं से उपशाखाएं निकलकर वृक्ष को विस्तृत करती हैं उसी प्रकार रागद्वेषरूपी दो बड़ी शाखाओं से विषयेच्छा रूप अनेक उपशाखाएं निकलकर मनरूपी वृक्ष को विस्तृत करती हैं। जिस प्रकार वृक्ष में फल निकलते हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में भी संकल्प-विकल्परूप अनेक फल लगते हैं और जिस प्रकार वृक्ष को जल से सींचकर हरा-भरा किया जाता है उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष को मोहरूपी जल से हरा-भरा रखा जाता है। आचार्य क्षपक को उपदेश देते हैं कि-हे क्षपक! तू इस मनरूपी वृक्ष को निर्मूल कर दे, इसकी उपशाखाएं काटकर इसे विस्तार से रहित कर दे, यही नहीं इनकी रागद्वेषरूपी शाखाओं को काट डाल, ऐसा प्रयत्न कर कि जिससे अब इसमें संकल्प-विकल्परूपी फल न लगें तथा इसे अब मोहरूपी जल से सींचना बंद कर दे। ऐसा करने से यह मनरूपी वृक्ष स्वयं उखड़ जायेगा।

प्रवचन–14

गृहस्थ के अष्ट मूलगुण

जिस प्रकार जड़ के बिना कोई भी वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार मूलगुणों के बिना कोई भी गृहस्थ अपने श्रावक धर्म का पालन नहीं कर सकता। बालक जब माँ के गर्भ से जन्म लेता है, जन्म के 40 दिन के पश्चात् उसे जिनमंदिर ले जाने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। मंदिर में भगवान के सामने उस बच्चे के कान में पंडित जी या कोई बुजुर्ग णमोकार मंत्र सुनाते हैं तथा यदि कोई गुरु उपलब्ध होते हैं तो वे भी बालक को संकल्पपूर्वक मूलगुण धारण कराते हैं। उसकी अज्ञान अवस्था होने के कारण उन मूलगुणों के पालन की जिम्मेदारी माता-पिता पर डाली जाती है और उस दिन से वह बालक जैन बन जाता है। आठ वर्ष के पश्चात् मूलगुणों के पालन की जिम्मेदारी स्वयं बालक के ऊपर निर्भर हो जाती है क्योंकि सैद्धान्तिक नियम के अनुसार 8 वर्ष के पश्चात् कोई भी बालक दीक्षा लेकर केवलज्ञान भी प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। आप श्रावक हैं अतः श्रावक को अपने मूलगुणों के विषय में जानना अति आवश्यक है।

सर्वप्रथम तो यह ज्ञात करना है कि वे मूलगुण कितने होते हैं एवं उनके नाम क्या हैं?–

1. मद्य 2. मांस 3. मधु 4. बड़ 5. पीपल 6. पाकर 7. कठूमर 8. गूलर। इन आठों का त्याग अष्टमूलगुण है।

इन आठों चीजों में अनंत त्रस जीव प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं, इनके खाने से आत्मा के गुणों का घात होता है अतः इनका प्रयोग जीवन में कभी नहीं करना चाहिए।

मद्य–शराब पीने वाले लोगों के हाल तो आप जानते ही हैं कि उनकी अपनी स्थिति और सारे परिवार की कैसी दुर्दशा होती है। सबसे अधिक तो पैसे की बर्बादी पुनः स्वास्थ्य की खराबी और नैतिक पतन आदि इस जीव को नरक का पात्र बना देता है।

मिलिट्री का एक नवयुवक मेरे पास दर्शन करने आया। आर्थिक परिस्थिति से वह परेशान था। अतः उसने उपाय पूछा। मैंने कोई उपाय बताने से पूर्व उससे एक प्रश्न किया–तुम्हारे अंदर कोई व्यसन तो नहीं है। युवक मौन रहा, मुझे कुछ संदेह हुआ किन्तु मैंने धीमे से पूछा–भैय्या! सिगरेट पीते हो? युवक ने हाँ में गर्दन हिलाई। मैंने पुनः पूछा–प्रतिदिन कितने पैसे की पीते हो? बोले-माताजी! दो रुपये की। मैं बोली–महीने में कितने हुए? युवक ने कहा–60/-रु. की। मैंने कहा–साल में कितना हुआ? वह बोले-720/-रु. हुए। बात होती रही, मैंने पुनः पूछा-महानुभाव! दस साल में कितने पैसों की सिगरेट पी गए? उसने थोड़ा हिसाब जोड़कर लज्जापूर्वक बताया-हाँ.....

7200/- रु. तो हो ही जाते हैं? पास में ही एक बैंक मैनेजर बैठा था। मैंने उससे कहा–क्यों बाबू! यदि 7200/-रु. बैंक में जमा हो जाते तो उसका ब्याज कितना होता? वे हँसने लगे। मैं सोचने लगी कि हमारे देश के नागरिकों की गरीबी कैसे दूर हो सकती है। जब मात्र एक धूम्रपान के व्यसन ने एक व्यक्ति के दस साल में 7200/-रु. नष्ट कर दिए, साथ में स्वास्थ्य की कितनी हानि हुई यह सर्वविदित ही है। फिर जो एक दिन में सैकड़ों रुपये की शराब, बीयर (अंग्रेजी शराब) पीते हैं उनके बारे में क्या कहा जाये? आज न जाने कितने परिवार इस व्यसन से परेशान एवं तबाह हो रहे हैं मांस के लोलुपी राजा बक की कैसी दुर्गति हुई कि उसे नरक जाना पड़ा।

उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के लिए यह अनार्य कृतियाँ शोभास्पद नहीं हैं और मधु–शहद के खाने से मालूम है कितना दोष लगता है? हमारे आचार्य ने बतलाया है कि एक बिन्दु मात्र भी शहद खाने से सात गाँव जलाने का पाप लगता है। इसी प्रकार बड़, पीपल, पाकर, कठूमर और गूलर इन पाँच उदुम्बर फलों के खाने से भी अगणित त्रस जीवों का घात होता है अतः इन सबका त्याग आवश्यक है। इन्हीं नियमों का पालन करने से अष्ट मूलगुण का पालन हो जाता है और गृहस्थ सद्गृहस्थ (श्रावक) कहलाता है।

गृहस्थ में रहते हुए यदि श्रावक अपने कर्तव्य का पालन करते हैं तो वे परम्परा से मोक्षमार्गी हैं।

एक बार पुरुरवा भील जंगल में शिकार खेल रहा था। सामने एक दिगम्बर मुनिराज को देखकर तीर मारने को उद्यत हुआ लेकिन उसकी स्त्री ने कहा-"इन्हें मत मारो ये वन देवता हैं।" तब उसने मुनि को नमस्कार किया। मुनि ने आशीर्वाद दिया–"धर्मलाभ हो"। भील बोला–धर्म क्या चीज है? तब मुनिराज ने कहा–मद्य, मांस, मधु का त्याग करना ही धर्म है पुनः उसे उपदेश देकर तीनों चीजें त्याग करा दीं। इसके प्रभाव से वह आयु के अंत में मरकर स्वर्ग में देव हो गया पुनः सम्राट भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरीचि कुमार हुआ, कालांतर में यही भगवान महावीर हुआ।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय ग्रंथ में आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है–

अष्टावनिष्टदुस्तर, दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया, भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।

अर्थात् ये आठों ही अभक्ष्य पदार्थ अनिष्टकारक हैं, पाप के उत्पन्न कराने वाले हैं अतः इनका त्याग करने वाला व्यक्ति ही जिनधर्म की देशना का पात्र हो सकता है।

सागारधर्मामृत में दूसरी प्रकार से आठ मूलगुण बताए हैं–

मद्यपलमधुनिशासन, पंचफलीविरतिपंचकाप्तनुतिः।
जीवदयाजलगालनमिति व क्वचिदष्टमूलगुणाः।।

अर्थात् 3 मकार और रात्रि भोजन का त्याग ये 4 तथा पंचउदुम्बर फल का त्याग, पंचपरमेष्ठी की स्तुति, जीवदया, जल छानकर पीना ये 8 मूलगुण बताये हैं। रात्रिभोजन करने वाले कभी भी अहिंसा के पालक नहीं हो सकते हैं।

वर्तमान समय में तो रात्रिभोजन की एक आम परम्परा चल गई है। लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए इस बात की दलील देते हैं कि पहले जमाने में बिजली का प्रकाश नहीं था इसलिए रात्रि में जीव दिखते नहीं थे किन्तु आज तो बल्ब की रोशनी में बारीक से बारीक जीव भी दिख जाते हैं अतः समय के अनुसार आगम में भी आज का मानव परिवर्तन करना चाहता है। किन्तु भैय्या! आचार्य कोई अज्ञानी नहीं थे वे तो बड़े दूरदर्शी होते थे तथा जीव के सर्वतोमुखी कल्याण की भावना से ही तत्व का प्रतिपादन करते थे। अभी कुछ ही दिन पूर्व अखबार में छपी एक घटना मैंने सुनी कि एक महिला ने शाम को भोजन बनाकर रख दिया। रात्रि में पतिदेव देर से आये, पत्नी को सोई देखकर उसने सोचा मैं अपने हाथ से ही भोजन निकाल कर खा लूँगा और भोजन करके सो गया। प्रातःकाल जब पतिदेव देर तक नहीं जगे तो पत्नी ने चादर खोलकर देखा। किन्तु वे साहब तो सदा के लिए सो चुके थे, सारा शरीर नीला पड़ा था। डाक्टर आया ज्ञात हुआ कि जहर फैल गया है। सारे बदन में कहीं भी कोई जीव काटने का निशान नहीं दिख रहा था। अन्त में बेचारी महिला रसोई घर में पहुँची, सब्जी का बर्तन खोला तो देखते ही मूर्च्छित हो गई। आधी छिपकली उसमें मरी पड़ी थी, बस यही कारण बन गया और वे सज्जन मृत्यु को प्राप्त हो गये।

देखो! यह तो रात्रि में भोजन करने मात्र से इतनी बड़ी हानि हुई और जो भोजन रात में ही बनाया जाता है उसमें तो न जाने कितने मच्छर आदि छोटे-छोटे जीवों के मरने की आशंका रहती है। दूसरी बात विज्ञान भी इस बात को मानता है कि जो सूक्ष्म जीव (बैक्टीरिया) सूर्य की रोशनी में उत्पन्न नहीं होते हैं वे जीव बिजली की रोशनी में पैदा हो जाते हैं। कुल मिलाकर स्वास्थ्य और धर्म दोनों दृष्टि से रात्रिभोजन श्रेयस्कर नहीं है। यहाँ तक कि पक्षी भी रात्रि में अपने-अपने घोंसले में चले जाते हैं और भोजन नहीं करते हैं।

एक सियार ने एक बार सागरसेन मुनिराज के पास रात्रिभोजन का त्याग कर दिया। एक दिन वह सियार बहुत प्यासा था अतः वह पानी पीने के लिए एक बावड़ी में उतरा। वहाँ अंधेरा दिखने से रात्रि समझकर ऊपर आ गया। ऊपर प्रकाश देखकर फिर नीचे गया। नीचे बार-बार अंधेरा देखने से और रात्रि में पानी का त्याग होने से पानी नहीं पिया अतः मर गया। इस व्रत के प्रभाव से वह सियार मनुष्य गति में प्रीतिंकर कुमार हो गया। उसी भव में मुनि दीक्षा लेकर वह कर्मों से छूट कर मुक्त हो गया।

जब एक पशु भी रात्रिभोजन त्याग करके अगले भव में परमात्मा अवस्था

प्राप्त कर सकता है तो आप तो मनुष्य हैं आपको तो जीवन में प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करना चाहिए।

पाँच उदुम्बर फलों के एवं 3 मकार के त्याग के विषय में तो मैंने पहले बता ही दिया है। इसके साथ ही पंचपरमेष्ठियों की नित्य ही स्तुति-वंदना करनी चाहिए एवं प्रत्येक प्राणी पर दया भाव रखना चाहिए। क्योंकि अपने समान ही हर जीव का दुखदर्द समझने से आपसी प्रेमभाव बढ़ता है।

मृगसेन नामक एक धीवर ने मुनिराज से नियम लिया कि आज मेरे जाल में जो मछली पहले आवेगी उसे नहीं मारूँगा। नियम के अनुसार उसने अपने जाल में आई हुई मछली के गले में काला धागा बांधकर पाँच बार उसे छोड़ा अतः उसके प्रभाव से अगले भव में धनकीर्ति सेठ की पर्याय में पाँच बार उसके प्राणों की रक्षा हुई। जीव दया से बढ़कर संसार में दूसरा कोई धर्म नहीं है और जीव हिंसा से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है।

आठवां मूलगुण बताया है जलगालन अर्थात् पानी को हमेशा छानकर पीना चाहिए क्योंकि जैन सिद्धांत के अनुसार पानी की एक बूंद में असंख्यात जीव होते हैं अतः बिना छना पानी पीने से उन जीवों का घात होता है और स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। वैज्ञानिक लोगों ने भी बिना छने पानी की एक बूंद में 36450 जीव बताये हैं, इसलिए पानी को फिल्टर करके तथा उबालकर पीने के लिए डॉक्टर लोग बताते हैं कि पानी छानने की भी अपने आप में एक विधि होती है। जिसका यथावत् पालन करने से अहिंसाधर्म का भलीभांति पालन होता है। मोटे कपड़े का दोहरा छन्ना होना चाहिए। ऐसी मर्यादापूर्वक छना हुआ जल अड़तालीस मिनट तक जीव रहित रहता है उसके बाद पुनः उसमें त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं अतः उसे फिर से छानना चाहिए। छने हुए पानी में लौंग, इलाइची आदि डाल देने से पानी प्रासुक हो जाता है तब उसकी मर्यादा छह घण्टे की हो जाती है। गरम किये हुए जल की मर्यादा चौबीस घंटे की होती है।

आपको यदि अपने मूलगुणों को यथावत पालन करना है तो सर्वप्रथम दुर्जनों की संगति का त्याग करना चाहिए ताकि शराब, मांस आदि बुरी चीजें खाने की आदत न पड़ने पाये। दूसरी बात अपनी जेब में हर समय एक रुमाल या छन्ना रखें और उससे छानकर पानी पियें।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समंतभद्र स्वामी ने विशेषरूप में अष्टमूलगुण बताये हैं–

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील इन चारों का एक देश त्याग और परिग्रह का

प्रमाण ये पाँच अणुव्रतों का पालन तथा मद्य, मांस, मधु इन तीन मकारों के त्याग करने को साधुओं ने अष्टमूलगुण कहा है। इसमें अलग से पाँच उदुम्बर फलों का त्याग नहीं बताया है क्योंकि अहिंसाणुव्रत में ही वह अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसी प्रकार से रात्रिभोजन त्याग को भी अहिंसा में ही शामिल कर दिया है।

पाँच अणुव्रतों का पालन करने से एक सिंह जैसा क्रूर प्राणी भी तिर गया और वह दसवें भव में तीर्थंकर भगवान महावीर बन गया। जिसने भी अणुव्रतों को धारण किया उसने सदैव उन्नति की ओर कदम बढ़ाया। यह अकाट्य नियम देखा गया है कि अणुव्रत लेने वाला व्यक्ति कभी गरीब नहीं होता बल्कि दिन दूनी रात चौगुनी उसकी सम्पत्ति बढ़ती ही जाती है।

अणुव्रत में सेठ पूनमचंद घासीलाल का उदाहरण वर्तमान में प्रसिद्ध है। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज से उन्होंने पाँच अणुव्रत ग्रहण किए, परिग्रह प्रमाण में उस समय की परिस्थिति के अनुसार वे दस हजार रुपये का प्रमाण करने लगे किन्तु आचार्यश्री ने एक लाख की सीमा कर दी। गुरु का आशीर्वाद और व्रत का माहात्म्य उसी वर्ष उन्होंने जवाहरात के व्यापार में लाखों रुपया कमा लिया, जिसकी उन्हें कभी उम्मीद भी नहीं थी।

एक दिन सेठ जी महाराज के पास आए और बोले-महाराज! मेरा परिग्रह सीमा उल्लंघन कर रहा है, गुरुदेव! अब मैं उस पैसे का क्या करूँ? तभी एक साधु ने कहा– सेठ जी! संघ को सम्मेदशिखर की यात्रा करा दो। तभी आचार्य श्री का संघ उत्तर प्रान्त में आया और संघपति पूनमचंद घासीलाल ने साधुसंघ को सिद्धक्षेत्र की यात्रा कराकर अपने द्रव्य का सदुपयोग कर लिया तथा उनका नाम भी सदा के लिए अमर हो गया।

इसके पश्चात् उनके घर में संपत्ति इतनी बढ़ती चली गई कि मानों लक्ष्मी ने बसेरा ही कर लिया हो। तब उन्होंने बम्बई में कालबा देवी रोड़ पर एक बड़ा विशाल जिनमंदिर बनाया जिसकी मिशाल भारत के किसी भी जैन मंदिर से कर पाना अशक्य है। यह घटना अधिक नहीं, लगभग 50 वर्ष पुरानी है।

आज भी कितने ही लोग देखे जाते हैं कि अणुव्रत लेने के बाद उनकी सम्पत्ति बढ़ती ही जाती है किन्तु बात तो भावों की है कि वे सेठ जी लक्ष्मी बढ़ने पर गुरु के पास गये थे और लक्ष्मी का सदुपयोग कर लिया था और आज के लाला लोग क्या कहते हैं कि धन बढ़ा तो अपने खाते में परिग्रह पूरा किया तथा उसके बाद पत्नी, बेटा, बेटी, बहू, नाती, पोते न जाने कितनों के नाम से उसे अपने सिर का बोझ बनाये रहते हैं औरव्यर्थ ही अपने व्रत में अतिचार (दोष) लगाया करते हैं। इसलिए अपने जीवन को पापभीरू बनाने हेतु अभक्ष्य भक्षण से बचें और अष्टमूलगुणों को धारण करें। क्योंकि पंचअणुव्रतों कोधारण करने वाला व्यक्ति देवगति को ही प्राप्त करता है यह अकाट्य नियम है।

प्रवचन–15

भगवान की दिव्यसभा का नाम है समवसरण

महानुभावों! आज मैं आपको समवसरण के बारे में बताऊँगी। भगवान की दिव्यसभा का नाम है 'समवसरण', इस समवसरण की ''दिव्य भूमि'' स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची रहती है और उससे एक हाथ ऊँची ''कल्पभूमि'' होती है। भगवान ऋषभदेव के समवसरण भूमि का विस्तार 12 योजन–48 कोश प्रमाण है। यह भूमि कमल के आकार की होती है। इसमें गंधकुटी तो कर्णिका के समान ऊपर ऊँची उठी होती है और बाह्य भाग कमल दल के समान विस्तृत होता है। यह नीलमणि से निर्मित रहती है। इसमें चारों दिशाओं में मानस्तंभ होते हैं जो कि दो-दो हजार पहलू के होते हैं। ये बारह योजन की दूरी से दिखाई देते हैं। जिनका मन अहंकार से सहित है ऐसे देवों और मनुष्यों को ये वहीं रोक देने वाले हैं।

''चार कोट, पाँच वेदियाँ इनके बीच में भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक अंतर भाग में तीन पीठ होते हैं।''

मानस्तंभ के चारों दिशाओं में चार-सरोवर हैं। इसके आगे एक वज्रमयकोट है। इस कोट को चारों ओर से घेरकर एक परिखा है। उसमें घुटनों तक जल भरा हुआ है। उसके चारों ओर लताओं का उपवन है। उसको घेरकर सुवर्ण का परकोटा है। उसमें चार गोपुर द्वार हैं उन द्वारों पर व्यंतर जाति के देव द्वारपाल हैं जो अपने प्रभाव से हाथ में मुद्गर लिए हुए अयोग्य व्यक्तियों को दूर हटाते हैं। इन गोपुरों में मणिमय तोरणों के दोनों ओर छत्र, चमर आदि आठ मंगल द्रव्य एक सौ आठ, एक सौ आठ संख्या में सुशोभित हैं। उन गोपुर के आगे वीथियों के दोनों ओर तीन-तीन खण्ड की दो-दो नाट्यशालाएं हैं। जिनमें बत्तीस-बत्तीस देव कन्याएं नृत्य करती हैं। अनन्तर पूर्व दिशा में अशोक वन, दक्षिण में सप्तवर्ण, पश्चिम में चंपक और उत्तर में आम्र वन हैं। इन वनों में एक-एक मुख्य वृक्ष सिद्ध प्रतिमाओं से सहित है। इन वनों में क्रम से छह-छह वापिकायें हैं। ये क्रम से उदय, विजय, प्रीति और ख्याति नामक फलों को देती हैं। आगे पुनः बत्तीस नाट्यशालाएं हैं। उन पर ज्योतिषी देवांगनाएं नृत्य करती हैं, आगे चारों ओर से घेरे हुए वज्रमय वेदिका है। चारों गोपुरों के आगे चार वीथियाँ हैं। उनके दोनों पखवाड़े में ध्वजाएं फहराती हैं। इन ध्वजाओं में मयूर, हंस, माला आदि दश प्रकार के चिन्ह क्रमशः होते हैं। इनमें छोटी-छोटी घंटिकाएं लगी हुई हैं। विशेष रीति से एक दिशा में एक करोड़ सोलह लाख चौंसठ हजार हैं और चारों दिशा संबंधी ध्वजाएं चार करोड़ अड़सठ लाख छत्तीस हजार से अधिक हैं। आगे की नाट्यशालाओं में व्यंतर देवियाँ

नृत्य करती हैं। उसके आगे स्वर्ण निर्मित दूसरा परकोटा है। इस कोट के द्वारों पर भवनवासी इन्द्र द्वारपाल हैं। ये बेंत की छड़ी धारण किए हुए पहरा देते हैं।

उसके आगे नाट्यशालाएं, धूपघट और कल्पवृक्ष वन हैं। आगे नौ-नौ स्तूप हैं। ये स्तूप पद्मराग मणियों से निर्मित हैं उनके समीप स्वर्ण रत्नों से निर्मित मुनियों के और देवों के योग्य सभागृह हैं। सभागृहों के आगे स्फटिक मणि से निर्मित तीसरा परकोटा है। इस परकोटे के चारों गोपुरों के दोनों बाजू में उत्तम रत्नमय आसनों के मध्य मंगलरूप दर्पण हैं जो देखने वालों के पूर्व भव दिखलाते हैं। इन गोपुर द्वारों पर कल्पवासी देव द्वारपाल हैं। आगे अन्तर्वन, नाट्यशालाएं, सिद्धार्थ वृक्ष आदि हैं।

आगे एक मंदिर है उसमें बारह स्तूप हैं। इनके आगे नंदा, भद्रा, जया और पूर्णा बावड़ियाँ हैं। जिनमें स्नान करके जीव अपना पूर्वभव जान लेते हैं। इनमें देखने वाले जीवों को अपने आगे-पीछे के सात भव दिखने लगते हैं। वापियों के आगे एक जयांगण है जो तीन लोक की विजय का आधार है। उसके मध्य में एक इन्द्रध्वज सुशोभित होता है। उसके आगे एक हजार खम्भों पर खड़ा हुआ एक महोदय मंडप है, जिसमें मूर्तिमयी श्रुतदेवता विराजमान रहती हैं। उस श्रुतदेवता को दाहिने भाग में करके अनेक मुनियों से युक्त श्रुतकेवली धर्म का व्याख्यान करते हैं। इन मंडपों के समीप में नाना प्रकार के फुटकर स्थान भी बने हैं। जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महाऋद्धियों के धारक मुनि इच्छुक जनों की इष्ट वस्तु का निरूपण करते हैं।

आगे विजयांगण के कोनों में चार लोक स्तूप हैं। जिन पर ध्वजाएं फहराती हैं। ये लोक स्तूप तीनलोक के आकार वाले स्वच्छ स्फटिक से निर्मित हैं। इनमें लोक की रचना स्पष्ट दिखाई देती है। इन स्तूपों के आगे मध्यलोक स्तूप हैं जिसके भीतर मध्यलोक की रचना स्पष्ट है। आगे मंदिर स्तूप हैं जो कि सुमेरुपर्वत की रचना स्पष्ट करते हैं। उनके आगे क्रम से कल्पवास स्तूप, ग्रैवेयक स्तूप, अनुदिश नाम के नौ स्तूप और सर्वार्थसिद्धि नामक स्तूप हैं। ये सब अपने नाम के अनुरूप ही रचनाओं को दिखाते हैं। इनके आगे सिद्ध स्तूप है। जिनमें सिद्धों के स्वरूप को प्रगट करने वाली दर्पणों की छाया दिखाई देती है।

उनके आगे भव्यकूट नाम के स्तूप हैं। जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते हैं। उनके नेत्र अंधे हो जाते हैं। आगे प्रमोहस्तूप है। पुनः प्रबोध नाम का स्तूप है। आगे अत्यन्त ऊँचे दस स्तूप हैं। इसके आगे पुनः एक कोट है जिसके मंडल की भूमि को बचाकर देव तथा मनुष्य प्रदक्षिणा देते रहते हैं आगे परिधि है। वहाँ गणधर देव की इच्छा करते ही एक पुर बन जाता है। उसके त्रिलोकसार, श्रीकांत आदि अनेकों नाम हैं। भगवान के प्रभाव से वह नगर तीनों लोकों के श्रेष्ठ पदार्थों से युक्त आश्चर्य उत्पन्न करने वाला होता है।

उसके बनाने वाला कुबेर भी यदि एकाग्रचित हो उसके बनाने का पुनः विचार करे

तो वह भी नियम से भूल कर जायेगा, फिर अन्य मनुष्य की तो बात ही क्या है। उस नगर का निर्माण यथास्थान छब्बीस प्रकार के सुवर्ण और मणियों से चित्र-विचित्र है। उसके तल भाग में तीन जगती हैं। उनमें द्वारपालों के द्वार पर कुबेर की धनराशि का ढेर है। इस जगती में हजारों कूट और ध्वजाएं हैं।

वहाँ चारों ओर देदीप्यमान पीठ होते हैं। उनमें पहले पीठ पर चार हजार धर्मचक्र सुशोभित हैं। दूसरी पीठ पर चार ध्वजाएं हैं। तीसरी पीठ पर गंधकुटी नाम का प्रासाद है। उस पर भगवान का सिंहासन है। उस कमलासन पर चार अंगुल अधर जिनेन्द्रदेव विराजमान रहते हैं।

पहली पीठ–कटनी के चारों तरफ आकाश स्फटिक की दीवालों वाले बारह विभाग सुशोभित हैं। इन बारह कोठों में क्रम से प्रथम कोठे में गणधर देव और अपने–अपने दीक्षा गुरुओं से अधिष्ठित मुनिगण सुशोभित हो रहे हैं। द्वितीय कोठे में कल्पवासी देवियाँ, तृतीय में आर्यिकाएं और श्राविकाएं, चतुर्थ में ज्योतिषी देवियाँ, पाँचवे में व्यंतर देवियाँ, छठे में भवनवासिनी देवियाँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तर देव, नवमें में ज्योतिषी देव, दशवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में मनुष्य, चक्रवर्ती आदि श्रावकगण और बारहवें कोठे में सिंह, हरिण आदि पशुगण बैठे रहते हैं।

इन बारह सभाओं में संख्यातों मनुष्यों, तिर्यंचों से तथा असंख्यातों देव-देवियों से वेष्टित भगवान चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य से विभूषित अनन्त चतुष्टय आदि अनन्त गुणों के स्वामी देवाधिदेव विराजमान रहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जितना वर्णन समवसरण के अंदर की चीजों का मैंने किया है। क्या इतना वैभव समवसरण में आ सकता है?

तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। एक सामान्य अणिमा ऋद्धि धारक देव भी कमल की नाल के तन्तु जैसे बारीक छिद्र में चक्रवर्ती के कटक को स्थापित कर सकता है अथवा अक्षीणमहानस ऋद्धि धारक मुनि जहाँ बैठते हैं उस चार हाथ प्रमाण में भी असंख्यात देवगण, विद्याधर मनुष्य, पशु आदि बैठकर उपदेश सुन सकते हैं। पुनः तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान के सानिध्य में इतना चमत्कार हो जावे तो कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है।

इस समवसरण में गंधकुटी पर विराजमान भगवान इस पृथ्वी तल से 5000 धनुष =20000 हजार ऊँचे जाकर विराजमान हैं। अतः इसमें 1-1 हाथ की 20000 (बीस हजार) सीढ़ियाँ हैं। इस पर अंधे, लंगड़े, बाल, वृद्ध और रोगी आदि सभी अड़तालीस मिनट के भीतर ही भीतर चढ़ जाते हैं। यह भगवान का ही माहात्म्य है। समवसरण में मिथ्यादृष्टि, पाखंडी, शूद्र, क्रूर प्राणी और अभव्यजीव नहीं जा सकते हैं।

ऐसे समवसरण में स्थित भगवान को नमस्कार करने से, समवसरण का ध्यान

करने से आज भी महान पुण्य का बंध हो जाता है। ऐसा समवसरण आज विदेहों में सीमंधर आदि तीर्थंकरों का विद्यमान है।

सौधर्म इन्द्र उस समवसरण भूमि को देखकर विस्मय–चकित होते हुए जिनेन्द्र भगवान के दर्शनों की इच्छा से बहुत अधिक विभूति से युक्त होकर असंख्य देवों के साथ भीतर प्रवेश करते हैं। आठ प्रातिहार्य में विभूषित जिनेन्द्रदेव के चरणों में साष्टांग नमस्कार करके श्रद्धायुक्त हो अपने ही हाथों से गंध, पुष्पमाला, धूप, दीप, अक्षतऔर उत्कृष्ट अमृत के पिंडों द्वारा भगवान के चरण कमलों की पूजा करते हैं। पुनः अनेक स्तोत्रों द्वारा भगवान के गुणों की स्तुति करते हैं। इस प्रकार मुख्य-मुख्य बत्तीस इन्द्र (भवनवासी के 10, व्यंतरों के 8, ज्योतिषी के 2 और कल्पवासी के 12) अनेक सुर, असुर,मनुष्य, नागेन्द्र, यक्ष, गंधर्व और चारण समूह के साथ-साथ जगत् के एकमात्र बंधु ऐसे वृषभदेव भगवान की स्तुति कर समवसरण भूमि में भगवान की ओर मुख कर उन्हीं के चारों ओर यथायोग्य रूप से अपने-अपने कोठे में बैठकर भगवान की दिव्यध्वनि का पान करते हैं।

ऐसी दिव्यध्वनि का पान करने का, उस समवसरण में विराजमान तीर्थंकर भगवान के दर्शन का सौभाग्य हमें शीघ्र प्राप्त हो यही भावना भाते हुए आप सभी अपने मनुष्य जन्म को सार्थक करें, यही मंगल आशीर्वाद है।

गृहस्थ धर्म भी मुक्ति का कारण है

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु।
पंच ण वंदिय परम-गुरु किमु होसइ सिव-लाहु।।168।।

(परमात्मप्रकाश)

आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान ये चार प्रकार के दान भक्तिपूर्वक पात्रों को नहीं दिये अर्थात् निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के आराधक जो यति आदिक चार प्रकार का संघ उनको चार प्रकार का दान भक्ति कर नहीं दिया और भूखे जीवों को करुणाभाव से दान नहीं दिया। इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र आदिकर पूज्य केवलज्ञानादि अनन्तगुणों कर पूर्ण जिननाथ की पूजा नहीं की। जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल से पूजा नहीं की और तीन लोक कर वंदन योग्य ऐसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परमेष्ठियों की आराधना नहीं की। सो हे जीव! इन कार्यों के बिना तुझे मुक्ति का लाभ कैसे होगा? क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के ये ही उपाय हैं। जिनपूजा, पंचपरमेष्ठी की वंदना और चार संघ को चार प्रकार दान इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती। ऐसा व्याख्यान जानकर सातवें उपासकाध्ययन अंग में कही गई जो दान-पूजा वंदनादिक की विधि वही करने योग्य है। शुभ विधि से न्यायकर उपार्जन किया अच्छा द्रव्य वह दातार के अच्छे गुणों को धारण कर विधि से पात्र को देना, जिनराज की पूजा करना और पंचपरमेष्ठी की वंदना करना ये ही व्यवहारनय कर कल्याण के उपाय हैं।

प्रवचन–16

भगवान श्री कुंदकुंद देव

भव्यात्माओं! दिगम्बर जैन आम्नाय में श्री कुंदकुंदाचार्य का नाम श्री गणधरदेव के पश्चात् लिया जाता है। अर्थात् गणधर देव के समान ही इनका आदर किया जाता है और इन्हें अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। यथा–

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुंदाद्यो, जैनधमोऽस्तु मंगलम्।।

यह मंगल श्लोक शास्त्र स्वाध्याय के प्रारंभ में तथा दीपावली के बही पूजन व विवाह आदि के मंगल प्रसंग पर भी लिखा जाता है। ऐसे आचार्य के विषय में जैनेन्द्र सिद्धांत कोश में लिखा है कि–

"आचार्य कुन्दकुन्द अत्यन्त वीतरागी तथा अध्यात्मवृत्ति के साधु थे और अध्यात्म विषय में इतने गहरे उतर चुके थे कि उनके एक-एक शब्द की गहनता को स्पर्श करना आज के तुच्छ बुद्धि व्यक्तियों की शक्ति के बाहर है। उनके अनेकों नाम प्रसिद्ध हैं तथा उनके जीवन में कुछ ऋद्धियों व चमत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्म प्रधानी होने पर भी वह सर्व विषयों के पारगामी थे और इसीलिए उन्होंने सर्व विषय पर ग्रंथ रचे हैं। आज के कुछ विद्वान इनके संबंध में कल्पना करते हैं कि इन्हें करणानुयोग व गणित आदि विषयों का ज्ञान नहीं था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है क्योंकि करणानुयोग के मूलभूत व सर्वप्रथम ग्रंथ षट्खण्डागम पर उन्होंने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नहीं है।

इनके आध्यात्मिक ग्रंथों को पढ़कर अज्ञानीजन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न करने के कारण अपने को एकदम शुद्ध, बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं परन्तु वे स्वयं महान् चारित्रवान थे। भले ही अज्ञानी जगत उन्हें न देख सके पर उन्होंने अपने शास्त्रों में सर्वत्र व्यवहार व निश्चयनयों का साथ-साथ कथन किया है। जहाँ वे व्यवहार को हेय बताते हैं वहाँ उसकी कथंचित् उपादेयता बताए बिना नहीं रहते। क्या ही अच्छा हो कि अज्ञानी जन उनके शास्त्रों को पढ़कर संकुचित एकांतदृष्टि अपनाने की बजाय व्यापक अनेकांत दृष्टि अपनावे।

यहाँ पर पर उनके नाम, उनका श्वेताम्बरों के साथ वाद, विदेहगमन, ऋद्धि प्राप्ति, उनकी रचनाएं, उनके गुरु, उनका जन्म स्थान और उनका समय इन आठ विषयों का किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

मूलनंदि संघ की पट्टावली में पाँच नामों का उल्लेख है–

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनंदीति तन्नुतिः।।

कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनंदि। मोक्ष पाहुड़ की टीका की समाप्ति में भी ये पाँच नाम दिये गये हैं तथा देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य आदि ने भी इन्हें पद्मनंदि नाम से कहा है। इनके नामों की सार्थकता के विषय में पं. जिनदास पड़कुले ने मूलाचार की प्रस्तावना में कहा है कि– इनका कुन्दकुन्द यह नाम कोण्डकुण्ड नगर के रहिवासी होने से प्रसिद्ध है। इनका दीक्षा नाम पद्मनंदि है। विदेह क्षेत्र में मनुष्यों की ऊँचाई 500 धनुष और इनकी वहाँ पर साढ़े तीन हाथ होने से इन्हें समवसरण में चक्रवर्ती ने अपनी हथेली में रखकर पूछा। प्रभो! नराकृति का यह प्राणी कौन है? भगवान ने कहा– भरतक्षेत्र के यह चारण ऋद्धिधारक महातपस्वी पद्मनंदी नामक मुनि हैं इत्यादि। इसलिए उन्होंने उनका एलाचार्य नाम रख दिया। विदेह क्षेत्र से लौटते समय इनकी पिच्छी गिर जाने से गृद्धपिच्छ लेना पड़ा अतः 'गृद्धपिच्छ' कहाये और अकाल में स्वाध्याय करने से इनकी ग्रीवा टेढ़ी हो गई तब ये वक्रग्रीव कहलाये। पुनः सुकाल में स्वाध्याय से ग्रीवा ठीक हो गई थी। इत्यादि।

श्वेताम्बरों के साथ वाद-गुर्वावली में स्पष्ट वर्णन है कि–

पद्मनंदि गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः,
पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती।
उर्ज्जयंतगिरौ तेन गच्छः सारस्वतो भवत्,
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्नंदिने।

बलात्कार गणाग्रणी श्री पद्मनंदी गुरु हुए, जिन्होंने ऊर्जयन्त गिरि पर पाषाण निर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ अतः उन पद्मनंदि मुनीन्द्र को नमस्कार हो। पाण्डवपुराण में भी कहा है-

'कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयंतगिरिमस्तके,
सो वदात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिका कलौ।

जिन्होंने कलिकाल में ऊर्जयंत गिरि के मस्तक पर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया। कवि वृंदावन ने भी कहा है–

संघ सहित श्री कुंदकुंद, गुरु वंदन हेतु गये गिरनार।
वाद पर्‌यो तहं संशयमति सों, साक्षी बनी अंबिकाकार।।
'सत्यपंथनिर्ग्रंथ दिगम्बर', कही सूरी तहं प्रगट पुकार।
सों गुरुदेव बसो उर मेरे, विघन हरण मंगल करतार।।

अर्थात् श्वेताम्बर संघ ने वहाँ पर पहले वंदना करने का हठ किया तब निर्णय यह हुआ कि जो प्राचीन सत्यपंथ के हों वे ही पहले वंदना करें। तब श्री कुंदकुद देव ने ब्राह्मी

की मूर्ति से कहलवा दिया कि **'सत्यपंथनिर्ग्रंथ दिगम्बर'** ऐसी प्रसिद्धि है।

देवसेनकृत दर्शनसार ग्रंथ सभी को प्रमाणिक है। उसमें इनके विदेह गमन के बारे में कहा है कि–

जइ पउमणदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।43।।

यदि श्री पद्मनंदिनाथ सीमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान से बोध न देते तो श्रमण सच्चे मार्ग को कैसे जानते? पंचास्तिकाय टीका के प्रारंभ में श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है.....प्रसिद्ध कथान्यायेन पूर्वविदेह गत्वा वीतराग सर्वज्ञ सीमंधरस्वामि तीर्थंकर परमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमल विनिर्गतदिव्यवर्ण.....पुरप्यागतैः श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः श्री श्रुतसागर सूरि ने भी षट्प्राभृत की प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में पूर्व विदेह पुण्डरीकिणीनगरवदित सीमंधरापर-नामक स्वयंप्रभजिनेन तच्छुतसम्बोधित भारतवर्ष भव्यजनेन।' इत्यादि रूप से विदेहगमन की बात स्पष्ट कही है।

ऋद्धिप्राप्ति के बारे में श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा नामक पुस्तक 4 भाग के अंत में बहुत सी प्रशस्तियाँ दी हैं। उनमें कहा है–

श्री पद्मनंदीत्यनवद्यनामा। ह्याचाय शब्दोत्तर कोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र। सजातसुचारणर्द्धिः।
''वंद्यो विभुर्भुविन कैरिह कौण्डकुन्दः, कुन्दप्रभा प्रणयिकीर्ति विभूषिताशः।
चश्चारूचारण कराम्बुजचचरीकश्चक्रे-श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्।
श्री कोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्सय-मादुद्गतचारणर्द्धिः।
.....चारित्र सजात सुचारणर्द्धिः।।4।।
तद्वशांकाशदिनमणिसीमंधरवचनामृतपानसंतुष्टचित्त श्री कुन्दकुन्दाचार्याणाम्5।।

इन पाँचों प्रशस्तियों में श्री कुंदकुंद के चारण ऋद्धि का कथन है तथा जैनेन्द्रसिद्धांत कोश में 2 शिलालेख नं. 62, 64, 66, 67, 254, 261, पृ. 263-266 कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन कर सकते थे उपरोक्त सभी लेखों से यही घोषित होता है।

जैन शिलालेख संग्रह-(पृ. 197-198) रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्यापि संव्यंजयितुंयतीशः रजःपदं भूमितलं विहाय, चचार मन्ये चतुरंगुल सः। अर्थात् यतीश्वर श्री कुन्दकुन्ददेव रजः स्थान को और भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊँचे आकाश में चलते थे। उसके द्वारा मैं यों समझता हूँ कि वह अंदर में और बाहर में रज से अत्यन्त अस्पष्टपने को व्यक्त करता हुआ।

'हल्ली नं. 21 ग्राम हेग्गरे में एक मंदिर के पाषाण पर लेख में लिखा है कि– स्वस्ति श्री वर्द्धमानस्य शासने। श्री कुन्दकुन्दनामाभूत चतुरंगुलचारणं।'' श्री वर्द्धमनस्वामी

के शासन में प्रसिद्ध श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूमि से चार अंगुल ऊपर चलते थे।

भद्रबाहु चरित में राजा चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों का फल कहते हुए आचार्य ने कहा है कि "पंचमकाल में चारण ऋद्धि आदि ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं।" अतः यहाँ शंका होना स्वाभाविक है किन्तु वह ऋद्धि निषेध कथन सामान्य समझना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि "पंचमकाल में ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है तथा पंचमकाल के प्रारंभ में नहीं है। आगे अभाव है ऐसा भी अर्थ समझा जा सकता है। यही बात पं. जिनराज पडकुले ने मूलाचार की प्र. में की है।

ये तो हुईं इनके मुनि जीवन की विशेषताएं अब मैं आपको इनके ग्रंथों के बारे में बताती हूँ–

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार आदि 84 पाहुड़ रचे, जिनमें 12 पाहुड़ ही उपलब्ध हैं। इस संबंध में सर्व विद्वान एकमत हैं। परन्तु उन्होंने षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम तीन खण्डों पर भी एक 12000 श्लोक प्रमाण परिकर्म नाम की टीका लिखी थी ऐसा श्रुतावतार में इन्द्रनंदि आचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है। इस ग्रंथ का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसके आधार पर ही आगे उनके काल संबंधी निर्णय करने में सहायता मिलती है–

एव द्विविधो द्रव्य भावपुस्तकगतः समागच्छत्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुण्डपुरे।।160।।
श्री पद्मनंदिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रंथपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य।।161।।

इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकार के श्रुत ज्ञान को प्राप्त करके गुरु परिपाटी से आये हुए सिद्धान्त को जानकर श्री पद्मनंदि मुनि ने कोण्डकुण्डपुर ग्राम में 12000 श्लोक प्रमाण परिकर्मनाम की षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों की व्यवस्था की। इनकी प्रधान रचनाओं में–

षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नाम की टीका-समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय, रयणसार इत्यादि 84 पाहुड़, मूलाचार, दशभक्ति, कुरलकाव्य आदि हैं।

मूलाचार श्री कुंदकुद देव की ही रचना है। कुंदकुंद व वट्टकेर एक ही हैं। ऐसा मूलाचार प्रस्तावना में पं. जिनदास ने स्पष्ट किया है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशकार भी कुन्दकुन्द का एक नाम वट्टकेर मानते हैं और मूलाचार इन्हीं की कृति मानते हैं तथा मूलाचार सटीक का हिन्दी अनुवाद करते समय मैंने भी पूर्णतया इस कृति को श्री कुन्दकुन्द देव की ही निर्णय किया है। कुरलकाव्य के विषय में भी बहुत से विद्वान इन्हीं की कृति है ऐसा मानते ही हैं। इन ग्रंथों में रयणसार, मूलाचार मुनि धर्म का वर्णन

करता है। अष्टपाहुड़ के चारित्रपाहुड़ में संक्षेप से श्रावक धर्म वर्णित है। कुरल काव्य नीति का अनूठा ग्रंथ है और परिकर्म टीका में सिद्धान्त कथन होगा। दश भक्तियाँ, सिद्ध, श्रुत, आचार्य आदि की उत्कृष्ट भक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। शेष सभी ग्रंथ मुनियों के सरागचारित्र और निर्विकल्प समाधिरूप वीतराग चारित्र के प्रतिपादक ही हैं।

इनके गुरु के विषय में कुछ मतभेद हैं फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली इनके परम्परा गुरु थे। कुमारनंदि आचार्य शिक्षागुरु हो सकते हैं। किन्तु अनेक प्रशस्तियों से यह स्पष्ट है कि इनके दीक्षा गुरु "श्रीजिनचन्द्र" आचार्य थे।

इनके जन्मस्थान के बारे में भी मतभेद हैं-जैनेन्द्र सिद्धांतकोश में कहा है–

"कुरलकाव्य 1 प्रस्तावना 21 पृष्ठ में पं. गोविन्दकाय शास्त्री" ने लिखा है– दक्षिणादेशे मलये हेमग्रामे मुनिमहात्मासीत्। एलाचार्यो नाम्नो द्रविड़ गणधीश्वरो श्रीमान्। यह श्लोक हस्तलिखित मंत्र ग्रंथ में से लेकर लिखा गया है जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देश के मलय प्रान्त में हेमग्राम के निवासी थे औ द्रविड़ संघ के अधिपति थे। मद्रास प्रेजीडेंसी के मलया प्रदेश में "पोन्नूर गांव" को ही प्राचीनकाल में हेमग्राम कहते थे और संभवतः वही कुन्दकुन्दपुर है। इसी के पास नीलगिरि पहाड़ पर श्री एलाचार्य की चरणपादुका बनी हुई है।[1] पं. नेमिचन्द्र जी ने भी लिखा हैं कि– कुन्दकुन्द के जीवन परिचय के संबंध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है.....कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम कर्मण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म "कौण्डकुन्दपुर" नामक ग्राम में हुआ था। इस गांव का दूसरा नाम कुरमरई भी कहा गया है। यह स्थान पेदथनाडु नामक किले में है।"

आचार्य कुन्दकुन्द के समय में भी मतभेद है फिर भी डॉ. ए.एन. उपाध्याय ने इनको ई. सन् प्रथम शताब्दी का माना है। कुछ भी हो ये आचार्य श्री भद्रबाहु आचार्य के अनंतर ही हुए हैं यह निश्चित है क्योंकि इन्होंने प्रवचनसार और अष्टपाहुड़ में सवस्त्रमुक्ति और स्त्री मुक्ति का अच्छा खण्डन किया है।

नन्दिसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि.सं. 49 में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए। 44 वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्यपद मिला। 51 वर्ष 10 महीने तक वे उस पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी कुल आयु 95 वर्ष 10 महीने और 15 दिन की थी।

इन्होंने अपने साधु जीवन में जितने ग्रंथ लिखे हैं उससे सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि इनके साधु जीवन का बहुभाग लेखन कार्य में ही बीता है और लेखन कार्य जंगल में विचरण करते हुए मुनि कर नहीं सकते। बरसात, आंधी, पानी, हवा आदि में लिखे गये पेजों की या ताड़पत्रों की सुरक्षा असंभव है। इससे यही निर्णय होता है कि ये आचार्य मंदिर, मठ, धर्मशाला, वसतिका आदि स्थानों पर ही रहते होंगे।

कुछ लोग कह देते हैं कि कुन्दकुन्द देव अकेले ही आचार्य थे। यह बात भी

निराधार है। पहले तो वे संघ के नायक महान आचार्य गिरनार पर्वत पर संघ सहित ही पहुँचे थे। दूसरी बात गुर्वावली में श्री गुप्तिगुप्त, भद्रबाहु आदि से लेकर 102 आचार्यों की पट्टावली दी है। उसमें इन्हें पाँचवें पट्ट पर लिया है। यथा-1. श्री गुप्तिगुप्त 2. भद्रबाहु 3. माघनंदी 4. जिनचन्द्र 5. कुन्दकुन्द 6. उमास्वामी आदि। इससे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र आचार्य ने इन्हें अपना पट्ट दिया पश्चात् इन्होंने उमास्वामी को अपने पट्ट का आचार्य बनाया। यही बात नंदिसंघ की पट्टावली के आचार्यों की नामावली में है। यथा – 4. जिनचन्द्र 5. कुन्दकुन्दाचार्य 6. उमास्वामी। इन उदाहरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि ये महान संघ के आचार्य थे। दूसरी बात यह भी है कि ये महान संघ के आचार्य थे। दूसरी बात यह भी है कि इन्होंने स्वयं अपने ''मूलाचार'' में **''माभूद सत्तु एगागी'' मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे** ऐसा कहकर पंचमकाल में एकाकी रहने का मुनियों के लिए निषेध किया है। इनके आदर्श जीवन, उपदेश व आदेश से आज के आत्महितैषियों को अपना श्रद्धान व जीवन उज्ज्वल बनाना चाहिए। ऐसे महान जिनधर्म प्रभावक परम्पराचार्य भगवान श्री कुंदकुंद की भक्ति करते हुए आप सब अपने जीवन को भी समुन्नत बनावें, यही मंगल आशीर्वाद है।

जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के लाभ का फल

जो जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्त करके मोह, रागद्वेष को नष्ट कर देता है वह अल्पकाल में ही सर्व दुःखों से रहित मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि जो कोई भव्य जीव एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय, फिर पंचेन्द्रिय, फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपने की परम्परा को समझकर अत्यंत कठिनता से प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्तकर व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयरूप तीक्ष्ण खड्ग के द्वारा मोह, रागद्वेष रूप शत्रुओं को मार देता है। वही वीर पुरुष संपूर्ण दुःखों का क्षय करके अनाकुलतारूप, पारमार्थिक सिद्ध सुख को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के उपदेश का सार यही है कि व्यवहार संयम के द्वारा निश्चय संयम को प्राप्त करके शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करना। यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान को प्राप्त करके भी जीव संयमी नहीं हुआ और रागद्वेष मोह का नाश नहीं किया तो पुनः अत्यंत दुर्लभ जिनेन्द्रदेव के उपदेश रूप चिंतामणि को प्राप्त करके भी वह इच्छित फल रूप मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सका। अतः जिनोपदेश का फल मुक्ति को प्राप्त कर लेना है और उसके लिए संयम ही प्रधान कारण है। ऐसा समझना।

–प्रवचनसार

प्रवचन–17

अनादिनिधन जैन धर्म

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ।।

अरिहंतो को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो। इसे पंच नमस्कार मंत्र, महामंत्र और अपराजित मंत्र भी कहते हैं।

एसो पंचणमोयारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

यह पंच नमस्कार मंत्र सर्व पापों का नाश करने वाला है और सर्व मंगलों में पहला मंगल है। अतः इस मंत्र को प्रतिदिन जपना चाहिए।

''कर्मारातीन् जयतीति जिनः'' जो कर्मरूपी शत्रुओं को जीत लेता है वही 'जिन' है और 'जिनो देवता अस्येति जैनः' जिन हैं देवता जिसके वह 'जैन' कहलाते हैं। **'संसार दुःखतः सत्वान् यो उत्तमे सुखे धरतीति धर्मः'** जो संसार के दुःख से जीवों को निकाल कर उत्तम सुख में पहुँचा देता है वह धर्म है। इस प्रकार से जिनदेव के अनुयायी का धर्म 'जैन धर्म' है अथवा जिनदेव द्वारा कथित धर्म 'जैन धर्म' है। यह धर्म प्राणिमात्र का कल्याण करने वाला है अतः इसे 'सर्वधर्म' या 'सर्वोदय तीर्थ' भी कहते हैं। यह धर्म अनादिनिधन है और प्राकृतिक है।

यह सम्पूर्ण चराचर विश्व अनादिनिधन है और इसमें परिभ्रमण करने वाले जीव भी अनादिनिधन हैं। जब कोई जीव संसार के दुःखों से घबरा जाता है तब वह धर्म की छत्रछाया में आकर सुखी होना चाहता है। उसके लिए यह जैनधर्म कल्पवृक्ष के समान है। जितने भी सांसारिक सुख हैं वे भी इस धर्म से ही मिलते हैं। आज कालपरिवर्तन से लेकर आत्मा को परमात्मा बनाने का उपाय तक अति संक्षेप में जैन धर्म की कुछ मूल-मूल बातों को मैं बता रही हूँ। चार अनुयोग हैं– प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। उसमें पहला है–

प्रथमानुयोग

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखंड में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल के दो विभाग होते हैं। दस कोड़ा कोड़ी सागर की अवसर्पिणी और इतनी ही बड़ी उत्सर्पिणी है। जिसमें मनुष्यों एवं तिर्यंचों की आयु, शरीर की ऊँचाई, वैभव, सुख आदि घटते है, वह अवसर्पिणी एवं जिसमें बढ़ते जाते हैं वह उत्सर्पिणी कहलाती है। इन दोनों को मिलाकर

बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। अवसर्पिणी के छः भेद हैं– सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा। उत्सर्पिणी के अंतिम से लेकर ये ही छः भेद हैं। इनमें प्रथम सुषमसुषमा काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का है, दूसरा तीन कोड़ाकोड़ी सागर का, तीसरा दो कोड़ाकोड़ी सागर का, चौथा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का, पांचवां इक्कीस हजार वर्ष का और छठा इक्कीस हजार वर्ष का है। ऐसे ही उत्सर्पिणी में अंत से लेना चाहिये।

सुषम-सुषमाकाल–इस काल में पृथ्वी रज, धूम, अग्नि, हिम, कंटक आदि से रहित एवं बिच्छू, शंख, मक्खी आदि विकलत्रय जीवों से रहित होती है। इस काल में दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जो कि पृथ्वीकायिक हैं। इनसे वहाँ के लोग भोग-उपभोग की सामग्री प्राप्त करते हैं। पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयाँग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। ये अपने नाम के अनुसार ही वस्तुओं को देते रहते हैं। जैसे–पानांग दूध, जल आदि पेय द्रव्य, तूर्यांग वीणा आदि वादित्र, भूषणांग कंकण, मुकुट आदि आभूषण, वस्त्रांग नाना प्रकार के वस्त्र, भोजनांग अनेक प्रकार के भोजन, आलयाँग अनेक प्रकार के मकान, दीपांग दीपक, भाजनांग बर्तन और मालांग जाति के कल्पवृक्ष मालायें देते हैं तथा तेजांग कल्पवृक्ष सूर्य-चंद्र से भी अधिक कांति विस्तारते हैं।

उस समय वहाँ पर जन्म लेने वाले मनुष्य युगल ही उत्पन्न होते हैं। उनके जन्म लेते ही पिता छींक आने से और माता जंभाई लेकर के मरण को प्राप्त हो जाते हैं। पुनः ये युगल शय्या पर सोते हुए अंगूठा चूसकर तीन दिन निकाल देते हैं। पुनः बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कला गुणों की प्राप्ति, तारूण्य और सम्यग्दर्शन की योग्यता ये छहों बातें क्रमशः तीन-तीन दिन में पूर्ण हो जाती हैं। तब ये युगल तरूण होकर इच्छानुसार कल्पवृक्षों से भोगादि सामग्री मांगकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रथम काल में मनुष्यों की आयु तीन पल्य और शरीर की ऊँचाई तीन कोश की कही है। सो इस काल के अंत में घटते-घटते दो पल्य की व ऊँचाई दो कोश की हो जाती है।

सुषमाकाल–इस काल के प्रारंभ में मनुष्यों की आयु दो पल्य की और ऊँचाई दो कोश की रह जाती है। इस काल के मनुष्य युगल अंगूठा चूसना, बैठना आदि में 5-5 दिन लेते हैं।,

सुषमादुःषमाकाल–इस तृतीय काल के प्रारंभ में मनुष्यों की आयु एक पल्य की एवं ऊँचाई एक कोश की रहती है। इसमें मनुष्य युगल अंगूठा चूसना, बैठना आदि क्रियाओं में 7-7- दिन ग्रहण करते हैं। इन तीनों कालों में क्रम से उत्तम भोग भूमि, मध्यम भोगभूमि और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था मानी गई है।

इस तृतीय काल में जब कुछ पल्य का आठवां भाग काल शेष रह गया था तब प्रथम कुलकर उत्पन्न हुये थे। उनका नाम 'प्रतिश्रुति' था। इनके शरीर की ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष, आयु पल्य के दशवें भाग प्रमाण थी और इनकी भार्या का नाम स्वयंप्रभा था। उस समय आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन आकाश में सूर्यचंद्रमण्डलों को देखकर सभी भोगभूमिज मनुष्य व्याकुल हो उठे। तब प्रतिश्रुति ने कहा–

'डरो मत! कालवश तेजांग जाति के कल्पवृक्ष मंद हो जाने से आकाश में ये ज्योतिषी देवों के विमान सूर्य मंडल, चंद्र मंडल दिखाई दे रहे हैं। ये पहले भी थे किन्तु तेजांग कल्पवृक्ष के तेज से दिखते नहीं थे अतः डरने की कोई बात नहीं है। इतना सुनकर सभी लोग निर्भय होकर उन्हें अपना कुलकर स्वीकार कर उनकी पूजा स्तुति करने लगे ।

अनंतर इन कुलकर की मृत्यु के बहुत दिन बाद दूसरे कुलकर उत्पन्न हुये जिनका नाम सन्मति था। ऐसे ही क्रम से क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचंद्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराय उत्पन्न हुए हैं। प्रतिश्रुति से लेकर नाभिराय पर्यन्त ये चौदह कुलकर माने गये हैं। क्रम-क्रम से इनकी आयु और शरीर की ऊँचाई घटती चली आई है। इन कुलकरों ने क्रम से चंद्र, सूर्योदय से भय मिटाना, अन्धकार व तारागण से भय हटाना, व्याघ्रादि हिंसक जन्तु की संगति त्याग कराना, सिंहादि से रक्षा के उपाय बताना, कल्पवृक्षों की सीमा करना, तरू गुच्छादि चिन्हों से सीमा करना, हाथी आदि की सवारी का उपदेश, बालक का मुख देखना, बालक का नामकरण करना, बालकों का रोना दूर करना, ठंडी आदि से रक्षा करना, नाव आदि द्वारा नदी आदि पार करना, बालकों के जरायुपटल दूर करना और नाभि की नाल काटना कार्य प्रजा को सिखाये हैं। इसीलिए इन्हें कुलकर, कुलधर और मनु आदि नामों से पुकारा गया है। अंतिम कुलकर नाभिराज की आयु एक पूर्व कोटि वर्ष (एक लाख वर्ष को चौरासी से गुणा करने पर पूर्वांग होता है और पूर्वांग को चौरासी लाख से गुणा करने पर एक पूर्व होता है। ऐसे एक करोड़ पूर्व वर्षों की आयु थी।) और शरीर की ऊँचाई पांच सौ पच्चिस धनुष थी।

जब कल्पवृक्षों का अभाव हो गया तब नाभिराय और मरूदेवी से अलंकृत स्थान में उनके पुण्य से इंद्र ने आकर वहाँ पर अयोध्या नगरी की रचना कर दी। पुनः कुछ दिन बाद इंद्र ने अवधिज्ञान से जान लिया कि 'छह महीने बाद प्रथम तीर्थंकर इनके यहाँ स्वर्ग से अवतीर्ण होंगे अतः आदर से नाभिराय के आगंन में रत्नों की वर्षा कराना शुरू कर दिया। किसी दिन महारानी मरूदेवी ने पिछली रात्रि में सोलह स्वप्न देखे, उसी दिन इंद्र ने असंख्य देव-देवियों के साथ आकर माता-पिता की पूजा करके गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया ।

इस अवसर्पिणी के तृतीय काल में जब चौरासी लाख पूर्व वर्ष तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष बाकी रह गया था तब आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर अहमिंद्र का जीव माता मरूदेवी के गर्भ में आ गया। इसके छह माह पूर्व से ही श्री आदि देवियाँ माता की सेवा में तत्पर थीं, नव महीने बाद चैत्र कृष्णा नवमी के दिन माता मरूदेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। इंद्रादि देवों ने आकर तीर्थंकर शिशु को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया पुनः 'ऋषभदेव' यह नाम रखकर वापस लाकर माता-पिता को सौंप दिया। इन्द्र के द्वारा भेजे गये देव बालकों के साथ क्रीड़ा करते हुए तीर्थंकर ऋषभदेव का बाल्यकाल व्यतीत हो गया। युवावस्था में महाराज नाभिराय ने तीर्थंकर ऋषभदेव का विवाह यशस्वती और सुनन्दा के साथ सम्पन्न कर दिया।

रानी यशस्वती ने क्रम से भरत, वृषभसेन, आदि सौ पुत्र और ब्राह्मी पुत्री को जन्म दिया तथा रानी सुनन्दा ने बाहुबली पुत्र और सुन्दरी पुत्री को जन्म दिया। क्रम-क्रम से सभी पुत्र-पुत्री किशोरावस्था को प्राप्त हो गये ।

एक समय प्रभु ऋषभदेव ने ब्राह्मी को ' अ आ इ ई ' आदि वर्णमाला और सुन्दरी को 1, 2 आदि अंक विद्या सिखाई तथा दोनों कन्याओं को व्याकरण, छंद आदि सर्व विद्या और कलाओं में निष्णात कर दिया। पुनः भरत, बाहुबली आदि पुत्रों को भी सम्पूर्ण विद्या, कलाओं में प्रवीण कर दिया।

इसी बीच एक दिन प्रजा के कुछ प्रमुख लोग भगवान की शरण में आये और बोले–'भगवन्! कल्पवृक्ष के नष्ट हो जाने से हम लोग भूख-प्यास से व्याकुल हो रहे हैं। अतः आप हमें अब जीवन का उपाय बतलाइये।'

प्रजा के दीन वचन सुनकर प्रभु ऋषभदेव का हृदय करुणा से आर्द्र हो गया और मन में सोचने लगे-

'पूर्व पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान में है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है, उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जिस प्रकार असि, मषि, आदि छह कर्म हैं, जैसे क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम, घर आदि की पृथक-पृथक रचना है उसी प्रकार यहाँ पर भी होना चाहिए।'

प्रभु के स्मरण मात्र से उसी क्षण सौधर्म इंद्र आ गया और उसने प्रभु की आज्ञानुसार देश, नगर, ग्राम, घर आदि की व्यवस्था बना दी। पुनः प्रभु ने स्वयं प्रजा के लिए असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों का उपदेश दिया। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन प्रकार के वर्ण की व्यवस्था बनाई और भोजन बनाना से लेकर विवाह विधि तक सम्पूर्ण गृहस्थाश्रम की क्रियाओं का उपदेश दिया। चूंकि उस समय प्रभु सरागी थे, गृहस्थाश्रम में महाराजा थे वीतरागी नहीं थे।

कितने ही समय बाद इंद्र सहित देवों ने आकर श्री ऋषभदेव का सम्राट पद पर

अभिषेक कर दिया। इसके बाद श्री ऋषभदेव सम्राट ने हरि, अकंपन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार क्षत्रियों को बुलाकर उनका राज्याभिषेक कराकर उन्हें महामण्डलीक राजा बना दिया। ये राजा हजार अन्य छोटे-छोटे राजाओं के अधिपति थे। सोमप्रभ सम्राट् प्रभु से "कुरूराज" नाम पाकर कुरूदेश के राजा हुए। हरि प्रभु से "हरिकांत" नाम को पाकर हरिवंश को अलंकृत करने लगे। "अकंपन" भी प्रभु से "श्रीधर" नाम पाकर नाथवंश के नायक हुए और "काश्यप" भी जगत्गुरू से "मधवा" नाम पाकर अग्रवंश के तिलक हुये हैं।"

किसी समय इंद्र ने सभा में नृत्य-संगीत आदि का आयोजन किया था, नीलांजना नाम की अप्सरा नृत्य कर रही थी, मध्य में ही उनकी आयु खत्म हो जाने से वह विलीन हो गई और उसी क्षण इंद्र ने दूसरी अप्सरा खड़ी कर दी, नृत्य ज्यों की त्यों चालू रहा, कोई भी सभासद इस रहस्य को जान नहीं सके, किन्तु अवधिज्ञानी प्रभु ऋषभदेव ने जान लिया। तत्क्षण ही उन्हें वैराग्य हो गया। तब लौकांतिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की, तत्पश्चात् इंद्रादि देवों ने आकर प्रभु को "सुदर्शना" नाम की पालकी पर विराजमान किया। प्रभु ने सिद्धार्थक नामक वन में जाकर संपूर्ण वस्त्राभरणों को त्याग कर पंचमुष्टि केंशलोच किया और "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" इस मंत्र का उच्चारण करते हुए सिद्धों की साक्षीपूर्वक जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। इंद्र ने प्रभु का तपकल्याणक महोत्सव मनाया पुनः स्व स्व स्थान चले गये।

प्रभु का दीक्षा स्थान 'प्रयाग' नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थंकर ऋषभदेव छह महीने का योग लेकर ध्यान में निश्चल खड़े हो गये। उस समय प्रभु की देखादेखी बिना कुछ समझे-बूझे ही मात्र उनकी भक्ति से प्रेरित हो कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजाओं ने भी नग्न वेष बना लिया और वहीं ध्यान में खड़े हो गये। किन्तु कुछ दिन बाद वे सब राजा (साधु) भूख-प्यास से व्याकुल हो वन में घूमने लगे। वन के फल आदि खाकर निर्झर का जल पीने लगे। तब वनदेवता ने कहा "इस अर्हन्त मुद्रा में तुम लोगों को अपने हाथ से इस प्रकार फल, जलादि ग्रहण करना उचित नहीं है।" तब वे लोग डर गये और नग्नवेष में वैसा न कर नाना वेष बना लिये। किसी ने वल्कल पहना, किसी ने लंगोटी पहन ली, किसी ने जटायें बढ़ा लीं, तो किसी ने भस्म लपेट ली, वे सब नाना प्रकार की चेष्टा करते हुये वहीं वन में रहने लगे। श्री ऋषभदेव के बड़े पुत्र सम्राट भरत थे। उनका एक पुत्र मरीचिकुमार था। वह भी दीक्षित हो गया था सो वह उन सब तापसियों में अगुआ बन गया।

छह माह का योग समाप्त कर जब महायोगी ऋषभदेव आहार के लिये निकले तब किसी को भी दिगम्बर मुनि को आहार देने की विधि न मालूम होने से पुनः उन्हें छह महीने का उपवास हो गया। अनंतर वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन हस्तिनापुर के

राजकुमार श्रेयाँस को जातिस्मरण द्वारा आहार विधि का ज्ञान हो जाने से उन्होंने महामुनि ऋषभदेव का पड़गाहन कर विधिवत् उन्हें इक्षुरस का आहार दिया। उसी दिन से वह तिथि "अक्षय तृतीया" के नाम से प्रसिद्ध हो गई है। तत्पश्चात् एक हजार वर्ष के तपश्चरण के फलस्वरूप प्रभु को केवलज्ञान प्रगट हो गया जिससे उन्होंने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा असंख्य भव्यों को धर्मोपदेश दिया। अंत में सर्व कर्मों का नाश कर कैलाश पर्वत से निर्वाण पद को प्राप्त किया है। ऐसे ऋषभदेव इस युग की आदि में गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म के विधाता होने से "आदिब्रह्मा" कहलाये हैं।

जब चतुर्थ काल के प्रारंभ होने में तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष शेष रहा था तभी भगवान ऋषभदेव ने निर्वाण प्राप्त किया था। यह हुण्डावसर्पिणी काल के दोष का ही प्रभाव है कि जो पहले तीर्थंकर तृतीय काल में ही होकर मोक्ष चले गये हैं।

भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा के पहले अपने बड़े पुत्र भरत को अयोध्या का राजा बनाया था और शेष सौ पुत्रों को यथायोग्य राज्य बांट दिया था। जब भगवान को केवलज्ञान हुआ उसी दिन भरत के आयुधगृह में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ था। उससे भरत ने सम्पूर्ण छहखंड पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती का पद प्राप्त किया। कालांतर में उन्होंने ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति की थी तथा प्रजा में अनुशासन व दण्ड के अनेक प्रकार स्थापित करते हुए राज्य संचालन किया था। आज उन्हीं सम्राट् भरत के नाम से यह देश "भारतवर्ष" कहलाता है।

दुःषमसुषमाकाल—इस चतुर्थकाल में कर्मभूमि की व्यवस्था रहती है। मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष और शरीर की ऊँचाई 525 धनुष प्रमाण रहती है पुनः घटते-घटते अंत में आयु 120 वर्ष एवं शरीर की ऊँचाई 7 हाथ मात्र ही रह जाती है।

श्री ऋषभदेव के मोक्ष जाने के बाद पचास लाख करोड़ सागरों के बीत जाने पर श्री अजितनाथ तीर्थंकर हुए हैं। इसी तरह इस बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर के चतुर्थ काल में क्रम-क्रम से अजितनाथ आदि महावीर पर्यन्त तेईस तीर्थंकर हुए हैं। भरत आदि बारह चक्रवर्ती, नव बलभद्र, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और चौबीस तीर्थंकर ये त्रेसठ शलाका पुरूष माने गये हैं जो कि प्रत्येक चतुर्थकाल में होते हैं।

जब पंचमकाल प्रवेश होने में तीस वर्ष, आठ माह और एक पक्ष काल शेष रह गया था तभी श्री महावीर स्वामी कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रभात में पावापुरी से मोक्ष पधारे थे।

श्री ऋषभदेव के शरीर की ऊँचाई 500 धनुष प्रमाण थी। अजितनाथ की 450, संभवनाथ की 400, अभिनंदननाथ की 350, सुमतिनाथ की 300, पद्मप्रभ की 250, सुपार्श्वनाथ की 200, चंद्रप्रभ की 150, पुष्पदंत की 100, शीतलनाथ की 90, श्रेयाँसनाथ

की 80, वासुपूज्य की 70, विमलनाथ की 60, अनंतनाथ की 50, धरमनाथ की 45, शांतिनाथ की 40, कुन्थुनाथ की 35, अरहनाथ की 30, मल्लिनाथ की 25, मुनिसुव्रत की 20, नमिनाथ की 15 और नेमिनाथ की 10 धनुष प्रमाण थी। पार्श्वनाथ के शरीर की ऊँचाई 9 हाथ एवं महावीर स्वामी के शरीर की ऊँचाई 7 हाथ प्रमाण थी। इसी प्रकार से इस अवसर्पिणी के चतुर्थकाल में आयु, शरीर की ऊँचाई आदि घटते रहे हैं।

दुषमाकाल—इस पंचमकाल के प्रथम प्रवेश में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष और ऊँचाई सात हाथ होती है। यह काल इक्कीस हजार वर्ष का है। इसमें आयु, ऊंचाई आदि घटते-घटते अंत में आयु मात्र बीस वर्ष की और शरीर की ऊँचाई तीन या साढ़े तीन हाथ मात्र रहती है।

चतुर्थकाल के जन्में हुए कुछ महापुरूष इस काल में निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं जैसे कि गौतम स्वामी, जम्बूस्वामी आदि किन्तु पंचमकाल के जन्में हुए कोई भी मनुष्य पंचमकाल में मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

आज यहाँ भरतक्षेत्र के आर्यखंड में यह दुःषमा नाम का पंचमकाल चल रहा है जिसके लगभग 2533 वर्ष ही हुए हैं।

भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद गौतम स्वामी से लेकर क्रम से अंग, पूर्व और मात्र आचारांग के धारी महामुनि 683 वर्ष तक हुए हैं। पुनः श्री गुणधराचार्य, श्री धरसेनाचार्य, श्रीकुंदकुंदाचार्य, श्री यतिवृषभाचार्य ,श्री उमास्वामी आचार्य, श्री समन्तभद्र, श्री अकलंकदेव, श्री पूज्यपाद आदि महान-महान आचार्य धर्म की परम्परा को और श्रुत की परम्परा को अक्षुण्ण रखने में समर्थ होते रहे हैं विक्रम की इस बीसवीं शताब्दी में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महामुनि, श्रीवीरसागराचार्य आदि महान संघ धुरन्धर आचार्य हुए हैं।

श्री यतिवृषभाचार्य ने कहा है कि—"गौतमस्वामी से लेकर आचारांगधारी का काल 683 वर्ष है। इसके आगे श्री श्रुततीर्थ धर्मतीर्थ प्रवर्तन का कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षों में काल दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् 683+20317=21000 वर्ष तक धर्मतीर्थ चलता रहेगा। यहाँ स्पष्ट अर्थ है कि भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद 21 हजार वर्ष प्रमाण इस पंचमकाल के बराबर धर्मतीर्थ चलता रहेगा। धर्मतीर्थ का मतलब है कि चातुर्वर्ण्य मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ जन्म लेता रहेगा।

इस पंचमकाल के अंत में वीरागंज नामक एक मुनि, सर्वश्री नाम की आर्यिका, अग्निदत्त श्रावक और पंगुश्री श्राविका होंगे। अंतिम कल्की राजा की आज्ञा से मंत्री द्वारा मुनिराज के हाथ का प्रथम ग्रास शुल्क रूप से मांगे जाने पर मुनिराज अंतराय मानकर आहार छोड़कर चले आयेगें और आर्यिका तथा श्रावक-श्राविका को बुलाकर आदेश देंगे

कि अब पंचम काल का अंत आ चुका है। हमारी और तुम्हारी आयु भी मात्र तीन दिन शेष है और यह अंतिम कल्की राजा हुआ है अतः अब सल्लेखना ग्रहण करना है। इतना कहकर वे चारों जन चतुराहार का जीवन पर्यन्त त्यागकर विधिवत् सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे और वे कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन प्रातः शरीर छोड़कर सौधर्म स्वर्ग के देव उत्पन्न हो जावेंगे। उसी दिन मध्यान्ह काल में क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार जाति का देव कल्की राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जावेगी।

दुःषमदुःषमा काल—उपर्युक्त पंचम काल के तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष काल के व्यतीत हो जाने पर यह छठा काल प्रवेश करेगा। उस समय मनुष्यों की आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊँचाई तीन या साढ़े तीन हाथ प्रमाण रहेगी। यह काल भी इक्कीस हजार वर्ष का होगा। इस काल में अग्नि के अभाव में लोग मत्स्य आदि का कच्चा ही मांस खा जायेंगे। उस समय मकान, वस्त्र आदि नहीं होंगे। सभी मनुष्य क्रूर, अन्धे या बहरे, गूंगे आदि दुखी होंगे। दिन पर दिन मनुष्यों की ऊँचाई, शक्ति आदि घटते रहेंगे। उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्षों के बीत जाने पर घोर प्रलय होगा।

उस समय महाभयंकर संवर्तक वायु चलेगी, जो सात दिन तक सम्पूर्ण वृक्ष, पत्थर, पर्वतों को चूर्ण कर डालेगी। तब मनुष्य और तिर्यंच बहुत दुखी होकर प्रायः मरण को प्राप्त हो जावेंगे। उस समय पृथक्-पृथक् संख्यात बहत्तर युगल गंगा, सिंधु नदियों की वेदियों और विजयार्ध वन के मध्य में प्रवेश करेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यंचों में से संख्यात जीव राशि को उन सुरक्षित प्रदेशों में ले जाकर रख देंगे। इसके बाद आकाश से मेघों द्वारा सात-सात दिन तक क्रम से शीत जल, क्षार जल, विष, धुंआ, धूलि, वज्र और अग्नि की वर्षा होती रहेगी जिससे यह भरत क्षेत्र की आर्यखंड की ऊपर स्थित, वृद्धिंगत एक योजन पर्यन्त भूमि जलकर खाक हो जावेगी। उस छठे काल के अंत में मनुष्यों की आयु 16 या 15 वर्ष तथा शरीर की ऊँचाई एक हाथ मात्र की रह जाती है। इस प्रकार महाप्रलय के बाद यह अवसर्पिणी समाप्त हो जावेगी।

उत्सर्पिणी के छहों काल क्रम-क्रम से आवेंगे। इसमें सर्वप्रथम दुःषमदुःषमा नाम वाला छठा काल आयेगा। उस काल के प्रारंभ से उसे पहला कहेंगे।

दुःषमदुषमाकाल—उत्सर्पिणी के प्रारंभ में पुष्कर मेघ सात दिन तक अच्छा जल बरसाते हैं जिससे वज्र और अग्नि से जली हुई संपूर्ण पृथ्वी शीतल हो जाती है। पुनः मेघों द्वारा क्षीर, अमृत और दिव्यरस की वर्षा होती है। तब पृथ्वी पर लता, गुल्म, घास आदि उगने लगती हैं। पृथ्वी की अच्छी सुगंधि पाकर विजयार्ध की गुफा आदि में सुरक्षित रहे मनुष्य और तिर्यंच बाहर आ जाते हैं पुनरपि उन्हीं से सृष्टि चलती है। इस काल

की सारी व्यवस्था अवसर्पिणी के छठेकाल के समान चलती है। इस काल की सारी व्यवस्था अवसर्पिणी के छठेकाल की समान रहती है। यह काल भी इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है।

दुःषमाकाल—दुःषमा नाम के द्वितीय काल के प्रारंभ में मनुष्यों की आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊँचाई तीन या साढ़े तीन हाथ प्रमाण रहती है। यह काल भी इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है।

इस काल के एक हजार वर्ष शेष रहने पर क्रम से चौदह कुलकर उत्पन्न होंगे। पहले कुलकर का नाम कनक और अंतिम का पुष्मपुंगव होगा। इस काल में भी आयु, ऊँचाई आदि बढ़ते-2 अंत में अंतिम कुलकर की ऊँचाई सात हाथ हो जावेगी।

ये कुलकर अग्नि उत्पन्न करके भोजन बनाना आदि सिखाते हैं तथा विवाह परम्परा आदि का उपदेश देते हैं।

दुःषमसुषमाकाल—इस तीसरे काल के प्रवेश में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष और ऊँचाई सात हाथ प्रमाण हो जाती है।

इस काल में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव बलभद्र, नव नारायण और नव प्रतिनारायण ये त्रेसठ शलाका पुरूष उत्पन्न होते हैं। इनमें से प्रथम तीर्थंकर 'महापद्म' नाम का होगा जो कि अंतिम कुलकर पद्मपुंगव का पुत्र होगा। इन प्रथम तीर्थंकर की आयु 116 वर्ष और शरीर की ऊँचाई 7 हाथ प्रमाण होगी। पुनः इस काल में बढ़ते- बढ़ते अंतिम तीर्थंकर अनंतवीर्य की आयु एक पूर्व कोटि वर्ष और ऊँचाई 500 धनुष प्रमाण होगी, यह काल बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

सुषमदुःषमा—इसके बाद चतुर्थ काल प्रवेश करता है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की आयु पूर्व कोटि वर्ष और ऊँचाई 500 धनुष की रहती है। पुनः बढ़ते-बढ़ते अंत में आयु एक पल्य की और ऊँचाई एक कोश प्रमाण हो जाती है। इस काल में दश प्रकार के कल्पवृक्ष उत्पन्न हो जाते हैं और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था हो जाती है। यह काल दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

सुषमाकाल—इस पांचवें काल के प्रवेश में चतुर्थकाल के अंत जैसी व्यवस्था है। पुनः आयु बढ़ते हुए दो पल्य और शरीर की ऊँचाई दो कोश हो जाती है। यहाँ पर मध्यम भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। यह काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर का है।

सुषमसुषमाकाल—इस छठे काल के प्रारंभ में पांचवें काल के अंत जैसी व्यवस्था रहती है। पुनः बढ़ते-बढ़ते मनुष्यों की ऊँचाई तीन कोश और आयु तीन पल्य प्रमाण हो जाती है। यहाँ पर उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था रहती है यह काल भी चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

इस प्रकार से उत्सर्पिणी के षट्कालों का परिवर्तन पूर्ण होकर पुनः अवसर्पिणी काल आ जाता है।

हुंडावसर्पिणी—असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल की शलाकाओं के बीत

जाने पर प्रसिद्ध एक हुंडावसर्पिणी आती है। इसमें कुछ अघटित बातें हो जाया करती हैं। वर्तमान में यह अवसर्पिणी काल हुंडावसर्पिणी ही चल रहा है।

इस हुंडावसर्पिणी काल में तृतीय काल में कुछ काल अवशिष्ट रहने पर ही वर्षा का होना, विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति का होना, कल्पवृक्षों का अभाव होकर कर्मभूमि का प्रारंभ हो जाना, इसी काल में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती का हो जाना आदि हो गये हैं तथा प्रथम चक्रवर्ती का विजय भंग, मध्य के सात तीर्थों में धर्म का व्युच्छेद आदि हुए हैं। ग्यारह रूद्र और कलहप्रिय नव नारद हुए हैं तथा सातवें, तेईसवें और अंतिम तीर्थंकर पर उपसर्ग भी हुआ है। विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिंगी भी इसकी ही देन हैं। चांडाल, शवर, किरात, श्वपच आदि जातियाँ व कल्की, उपकल्की भी इसी में होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, वज्राग्नि का गिरना आदि नाना दोष इसी काल की देन है।

इस प्रकार भरत और ऐरावत क्षेत्र में हट घटिका के समान अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल अनंतानंत होते हैं।

ये भरत ऐरावत क्षेत्र कहाँ कहाँ हैं, वह मैं आपको बताती हूँ–

अलोकाकाश के मध्य में पुरूषाकार लोकाकाश है। यह 14 राजू ऊंचा और 7 राजू मोटा है। इसकी चौड़ाई नीचे 7 राजू है पुनः घटते हुए मध्य में 1 राजू पुनः ऊपर बढ़ते हुए ब्रह्मस्वर्ग के पास 5 राजू एवं आगे पुनः घटते हुए लोक के अंत में 1राजू रह गई है। इसके बीचोंबीच एक राजू चौड़ी और इतनी ही मोटी त्रसनाली है। जिसमें ही त्रस जीव रहते हैं बाकी सर्वत्रलोक में स्थावर जीव हैं। एक राजू प्रमाण चौड़े मध्यलोक के नीचे 7 राजू एक अधोलोक है जिसमें 7 नरक भूमियाँ हैं और बिल्कुल नीचे निगोद स्थान है। मध्यलोक के ऊपर 16 स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर हैं। उसके ऊपर सिद्धशिला है। उसके भी ऊपर लोक के अग्रभाग में सिद्ध जीवों का निवास है।

मध्यलोक 1 राजू और 1 लाख 10 योजन ऊंचा है। इसके ठीक बीच में सबसे पहला जम्बूद्वीप है जो कि एक लाख योजन विस्तृत गोलाकार है। इसको चारों ओर से वेष्टित कर दो लाख योजन विस्तृत लवण समुद्र है। इसे वेष्टित कर धातकीखंड द्वीप है। इसे वेष्टित कर कालोदधि समुद्र है। इसे वेष्टित कर पुष्कर द्वीप है। इसी प्रकार एक द्वीप और एक समुद्र ऐसे असंख्यात द्वीप समुद्र हैं जो कि एक दूसरे को वेष्टित किये हुए हैं तथा प्रमाण में अगले द्वीप-समुद्र, पूर्व-पूर्व से दूने-दूने प्रमाण वाले होते गये हैं। अंत के द्वीप का नाम स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्र का भी नाम स्वयंभूरमण समुद्र है।

जम्बूद्वीप के बीचों-बीच में 10 हजार योजन विस्तृत और एक लाख 40 योजन ऊंचा सुर्दशन मेरु पर्वत है। इसकी नींव पृथ्वी में एक हजार योजन है तथा चूलिका 40

योजन की है। यह पर्वत घटते हुए अग्रभाग में 4 योजन मात्र रह गया है। इसमें पृथ्वी पर भद्रसाल वन है। इसमें ऊपर नन्दन, सौमनस और पांडुकवन हैं। प्रत्येक वन की चारों दिशाओं में एक-एक जिनमंदिर होने से 16 जिनमंदिर हैं। पांडुक वन की विदिशाओं में पांडुक आदि शिलायें हैं जिन पर तीर्थंकर बालक का जन्माभिषेक होता है।

इस जम्बूद्वीप में दक्षिण से लेकर पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे छह पर्वत हैं जिनके नाम हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील रूक्मी और शिखरी हैं। इन छह पर्वतों से विभाजित सात क्षेत्र हैं जिनके नाम भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत हैं। छह पर्वतों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुंडरीक और पुंडरीक ऐसे छह सरोवर हैं। उनसे गंगा, सिंधु, रोहित, रोहितास्या, हरित-हरिकांता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकांता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ निकली हैं जो कि दो-दो मिलकर सात क्षेत्रों में बहती हैं।

भरतक्षेत्र के बीचोंबीच में विजयार्ध पर्वत हैं तथा हिमवान पर्वत से गंगा-सिंधु नदी निकलकर नीचे गिरकर बहती हुई विजयार्ध पर्वत की गुफा से बाहर निकलकर आगे क्षेत्र में बहकर लवणसमुद्र में प्रवेश कर जाती हैं। इस निमित्त से इस भरत क्षेत्र के छह खंड हो गये हैं। इनमें से दक्षिण के मध्य का आर्यखंड है शेष पांच म्लेच्छ खंड हैं। इसी प्रकार से ऐरावत क्षेत्र में भी छह खंड हैं।

इन भरत-ऐरावत के आर्यखंडों में ही पूर्व में कथित षट्काल परिवर्तन होता रहता है।

हैमवत, हरि, विदेह के अंतर्गत मेरु के दक्षिण में देवकुरू और उत्तर में उत्तर कुरू, रम्यक तथा हैरण्यवत इन छहों क्षेत्रों में भोगभूमि की व्यवस्था है जो सदा काल एक सदृश रहती है।

विदेह क्षेत्र में मेरू के निमित्त से पूर्व-पश्चिम ऐसे दो भेद हो गये हैं। उनमें भी 16 वक्षार पर्वत और 12 विभंगा नदियों के निमित्त से 32 विदेह हो गये हैं। प्रत्येक विदेह में भी छह खंड हैं उनमें से आर्यखंड में कर्मभूमि की व्यवस्था है। जैसे यहाँ भरत क्षेत्र में चतुर्थकाल के प्रारंभ में व्यवस्था थी वैसे ही वहाँ सतत बनी रहती है। अथवा यों कहिये कि श्री ऋषभदेव ने अपने अवधिज्ञान से वहीं की वर्णव्यवस्था ग्राम, नगर व्यवस्था आदि को जानकर युग की आदि में यहाँ पर वैसी व्यवस्था बनाई थी।

इस प्रकार इस जम्बूद्वीप में भरत-ऐरावत क्षेत्र के सिवाय अन्यत्र कहीं भी षट्काल परिवर्तन नहीं हैं ऐसा समझना।

इस जम्बूद्वीप के चारों ओर दो लाख योजन विस्तृत लवण समुद्र है। इसका जल 11000 योजन ऊँचाई शिखाऊ ढ़ेर के समान है और वह शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा में 16000 योजन ऊंचा हो जाता है। इसके अंदर टापू के समान गौतम द्वीप, हंस द्वीप,

लंकाद्वीप आदि अनेकों द्वीप हैं। रावण की लंका इसी समुद्र के लंका द्वीप में थी।

लवण समुद्र को वेष्टित करके चार लाख योजन विस्तृत धातकीखंड द्वीप है। इसके दक्षिण-उत्तर में एक-एक लम्बे इष्वाकार पर्वत हैं। उनके निमित्त से इस द्वीप मे पूर्व धातकी खंड और पश्चिम धातकी खंड ऐसे दो भेद हो गये हैं। पूर्व धातकी खंड के ठीक बीच में 'विजय' नाम के मेरू हैं और पश्चिम धातकी खंड में 'अचल' नाम का मेरु पर्वत है। दोनों तरफ भरत, हैमवत आदि सात क्षेत्र, हिमवान् आदि छह पर्वत, पद्मादि सरोवर और गंगादि नदियाँ हैं। अतः धातकी खंड में दो भरत, दो ऐरावत हैं। अंतर इतना ही है कि वहाँ के क्षेत्र आरे के समान आकार वाले हैं। इस द्वीप को वेष्टित कर आठ लाख योजन विस्तृत कालोदधि समुद्र है।

पुष्करार्धद्वीप – कालोदधि समुद्र को वेष्टित कर 16 लाख योजन विस्तृत कालोदधि द्वीप है। इसके बीच में चूड़ी के समान आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत के इधर ही दक्षिण-उत्तर में इष्वाकार पर्वत है। इनके निमित्त से वहाँ भी पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध ऐसे दो भेद हो जाते है। यहाँ पूर्व में 'मंदर' नामक मेरु है और पश्चिम में 'विद्युन्माली' नाम का मेरु है। दोनों तरफ ही भरत आदि क्षेत्र, हिमवान् आदि पर्वत हैं। यहाँ पर भी दो भरत, दो ऐरावत हैं।

जंबूद्वीप का एक भरत, एक ऐरावत, धातकी खंड के 2 भरत 2 ऐरावत, पुष्करार्ध द्वीप के 2 भरत, 2 ऐरावत ऐसे 5 भरत और 5 ऐरावत के आर्यखंडों में ही सदा सुषमासुषमा आदि षट्काल का परिवर्तन होता रहता है।

एक जम्बूद्वीप, दूसरा धातकी खंड और पुष्कर का आधा हिस्सा पुष्करार्ध ये ढाई द्वीप हैं। इनमें हैमवत आदि क्षेत्रों की व्यवस्था ज्यों की त्यों रहती हैं। वहाँ काल परिवर्तन नहीं है। 'ताभ्यामपराभूमयोवस्थिताः' इस सूत्र के अनुसार भरत-ऐरावत से अतिरिक्त सभी भूमियाँ अवस्थित हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के इधर ही मनुष्य रहते हैं। इस पर्वत के उधर असंख्यातों द्वीपों में मात्र तिर्यंच युगल रहते हैं उन सबमें जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। आखिरी स्वयंभूरमण द्वीप में भी बीच में चूड़ी के समान आकार वाला एक स्वयंप्रभ पर्वत है। उससे परे उस आधे द्वीप में और स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमियाँ तिर्यंच हैं।

ढाईद्वीप से परे आठवां नंदीश्वर द्वीप है। वहाँ बावन जिनमंदिर हैं जिनकी आष्टान्हिक पर्व में पूजा की जाती है। ऐसे ही ग्यारहवें और तेरहवें द्वीप में भी चार-चार जिनमंदिर हैं। इस प्रकार तेरह द्वीपों तक अकृत्रिम जिनमंदिर हैं जोकि सब 458 हैं इनको मेरा नमस्कार होवे।

महानुभावों! भव से भवांतर को प्राप्त करना गति है। इसके चार भेद हैं– नरक गति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, और देवगति।

हिंसा आदि पाप करके जीव नरकगति में चले जाते हैं वहाँ पर असंख्य दुखों को भोगते रहते हैं । ये नरक धरा मध्यलोक से नीचे है।

मायाचारी आदि के निमित्त से जीव तिर्यंच योनि में जन्म लेता है। इसमें वृक्ष, जल, केंचुआ, चींटी, भ्रमर, हाथी, घोड़ा आदि हो जाता है। दो इन्द्रिय आदि सभी तिर्यंच मध्यलोक में रहते हैं।

सरल परिणामों से मनुष्य योनि मिलती है। ये सब मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत के इधर में ही हैं।

उत्तम पुण्य, दान, पूजन, तपश्चरण और अहिंसा पालन आदि से देवगति मिलती है। देवों के चार भेद हैं-भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक। भवनवासी देवों के विमान इस मध्यलोक की चित्रा पृथ्वी से नीचे और नरक भूमियों के ऊपर बने हुए हैं। व्यतंर देव नीचे तथा मध्यलोक में सर्वत्र रहते हैं। वैमानिक देव ऊपर स्वर्गों में रहते हैं और ज्योतिषी देव मध्यलोक में हैं।

इन देवों के 5 भेद हैं– सूर्य, चंद्र, गृह, नक्षत्र और तारे। इनके विमान चमकीले होने से इन्हें ज्योतिषी देव कहते हैं। इस चित्रा पृथ्वी से 790 योजन के ऊपर 900 योजन तक इनके विमान आकाश में अधर हैं। ये विमान सतत मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए घूमते रहते हैं। इन्हीं के भ्रमण से यहाँ पर दिन-रात का विभाग होता है।

इस प्रकार यह अति संक्षेप में तीन लोक का वर्णन मैंने बताया है। इस चतुर्गति रूप संसार में अनंतानंत प्राणी जन्म-मरण के दुःख उठाते रहे हैं। पुनः संसार के दुःखों से छूटने का क्या उपाय है! सो सुनिये–

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः''

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष मार्ग है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये संसार में भ्रमण कराने के कारण हैं-

सच्चे देव, शास्त्र, गुरू का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह तीन मूढ़ता, आठ मद रहित और आठ अंग सहित होना चाहिए।

जो क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं वे ही सच्चे आप्त देव हैं।

सच्चे देव द्वारा कहा हुआ, प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से बाधा रहित, जीवादि तत्वों को कहने वाला शास्त्र ही सच्चा शास्त्र है।

जो विषयों की आशा से रहित, आरम्भ और परिग्रह से रहित दिगम्बर वेषधारी हैं, ज्ञान, ध्यान और तप में सदा लीन रहते हैं वे ही सच्चे गुरु हैं।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित पदार्थों को जैसा का तैसा जानना

सम्यग्ज्ञान है। इसके ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप से दो भेद माने गये हैं। अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भेद भी होते हैं। इन चारों अनुयोगों में सम्पूर्ण द्वादशांग का सार आ जाता है।

महापुरूषों के चरित, पुराण आदि ग्रंथ प्रथमानुयोग हैं।

लोक-अलोक को, षट्काल परिवर्तन को और चारों गतियों को बतलाने वाले ग्रंथ करणानुयोग हैं।

गृहस्थ और मुनियों के चरित्र को कहने वाला चरणानुयोग है।

जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों को, पुण्य पाप को तथा बन्ध मोक्ष को बतलाने वाला द्रव्यानुयोग है।

जिसका अचरण किया जाता है वह चारित्र है। अथवा हिंसा आदि पापों से विरक्त होना सम्यक्चारित्र है। इसके दो भेद हैं– सकल चारित्र और विकल चारित्र।

जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों का सर्वथा त्याग कर देते हैं और सम्पूर्ण आरंभ परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि हो जाते हैं उन्हीं के यह सकल चारित्र होता है।

इन पांचों पापों का अणुरूप–एक देश त्याग करने वाला अणुव्रत रूप विकल चारित्र होता है, यह विकल चारित्र गृहस्थों के होता है।

जो मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से संकल्पपूर्वक त्रसजीवों का घात नहीं करता है वह अहिंसा अणुव्रत है।

इस व्रत के पालन करने वालों के लिये श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं–

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुम्बर फलानि यत्नेन।
हिंसा व्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।।60।।

'हिंसा त्याग के इच्छुक पुरूषों को सर्वप्रथम यत्नपूर्वक मद्य (शराब) मांस, मधु (शहद) और ऊमर, कठूमर, और पीपल बड़, पाकर ये पांचों उदुम्बर फल छोड़ देना चाहिए।

इसी बात को और पुष्ट करते हुए कहते हैं कि–ये आठ पदार्थ अनिष्ट, दुस्तर और पाप के स्थान हैं अतः इनका त्याग करके ही निर्मल बुद्धि वाले पुरूष जिन धर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

आगे और भी कहते हैं–

चूंकि रात्रि में भोजन करने वालों के हिंसा अनिवारित है ही है इसलिए हिंसा से विरत पुरूषों को रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

इन्हीं सबको समाविष्ट करते हुए अन्यत्र ग्रंथों में कहा है–

"मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन, पंच उदुम्बर फल इनका त्याग, पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, जीवदया पालन और जलगालन-पानी छानकर पीना ये आठ मूलगुण हैं जो कि श्रावक को पालन करने जरूरी हैं।

गृहस्थ के दैनिक जीवन में यह श्रावक है, दयालु है, ऐसी पहचान के लिए देवदर्शन करना, रात्रि भोजन नहीं करना और पानी छानकर पीना, ये स्थूल बातें परम्परा से भी प्रसिद्ध हैं।उन सबको इस अष्ट मूलगुण में ले लिया गया है।

अहिंसाणुव्रती गृहस्थ इन अष्ट मूलगुणों को सर्वप्रथम ही ग्रहण करके संकल्पी त्रस हिंसा का जीवन भर के लिए त्यागकर देता है।

जो स्थूल असत्य स्वयं नहीं बोलता है न दूसरों से बुलवाता है और ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है कि जो धर्म की हानि या पर की विपत्ति के लिये हो जावे, वह एक देश सत्य-सत्याणुव्रती है।

जो पर की कोई भी धन, सम्पत्ति या वस्तु रखी हुई हो, भूली हुई हो या गिर गई हो उसको उसके मालिक के बिना दिये नहीं ग्रहण करना वह अचौर्य अणुव्रत है।

जो पाप के भय से पर-स्त्री का त्याग कर देता है अर्थात् अपने से छोटी को पुत्री, बराबर को बहन और बड़ी को माता के समान समझता है अपनी विवाहित स्त्री में ही संतोष रखता है वह ब्रह्मचर्याणुव्रती है।

धन, धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में इच्छा नहीं रखना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है।

ये पांच अणुव्रत नियम से स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले हैं अर्थात् इस भव में नाना सुख, संपत्ति और यश को देकर परभव में स्वर्ग को देने वाले हैं क्योंकि अणुव्रत और महाव्रतों को धारण करने वाला जीव देवायु का ही बन्ध करता है। शेष तीन आयु के बन्ध हो जाने पर ये व्रत हो ही नहीं सकते हैं।

इन पांच अणुव्रतों की रक्षा के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी गृहस्थों के लिए पालन योग्य हैं।

गृहस्थों के छः आर्य कर्म होते हैं–इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप।

अर्हन्त भगवान की पूजा को इज्या कहते हैं। इनके पांच भेद हैं–नित्यमह, चतुर्मुख, कल्पवृक्ष, आष्टान्हिक और ऐन्द्रध्वज।

प्रतिदिन शक्ति के अनुसार अपने घर से गंध, पुष्प, अक्षत आदि अष्टद्रव्य सामग्री ले जाकर अर्हन्त देव की पूजा करना, जिनमंदिर, जिनप्रतिमा आदि का निर्माण कराना और मुनियों की पूजा करना आदि नित्यमह है।

मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो जिनेन्द्र देव की पूजा की जाती है वह चतुर्मुख है। इसे महाभद्र या सर्वतोभद्र भी कहते हैं।

समस्त याचकों को किमिच्छकदान–क्या चाहिए? ऐसा उनकी इच्छानुसार दान देते हुए जो चक्रवर्ती द्वारा जिनपूजा की जाती है वह कल्पवृक्ष पूजा है।

नंदीश्वर द्वीप में जाकर कार्तिक, फाल्गुन, आषाढ़ में इंद्रों द्वारा होने वाली पूजा आष्टान्हिक पूजा है।

इंद्र, प्रतीन्द्र आदि के द्वारा की गई पूजा ऐन्द्रध्वज है।

असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छः कार्यों में से किसी भी कार्य द्वारा आजीविका करके धन कमाना वार्ता है।

दान देना दत्ति है। इनके चार भेद हैं– दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और सकलदत्ति।

दुखी प्राणियों को दयापूर्वक अभय आदि दान देना दयादत्ति है।

रत्नत्रयधारक मुनि, आर्यिका आदि को नवधाभक्तिपूर्वक आहार देना, ज्ञान, संयम आदि के उपकरण शास्त्र, पिच्छी, कमण्डलु आदि देना, औषधि तथा वसतिका आदि देना पात्रदत्ति है।

अपने समान गृहस्थों के लिए कन्या, भूमि, सुवर्ण आदि देना समदत्ति है।

अपनी संतान परम्परा को कायम रखने के लिए अपने पुत्र को या दत्तक पुत्र को धन और धर्म समर्पण कर देना सकलदत्ति है। इसे अन्वय दत्ति भी कहते हैं।

तत्वज्ञान को पढ़ना, पढ़ाना, स्मरण करना स्वाध्याय है।

पांच अणुव्रतों में अपनी प्रवृत्ति करना संयम है।

उपवास आदि बारह प्रकार का तपश्चरण करना तप है।आर्यों के इन षट्कर्म में तत्पर रहने वाले गृहस्थ होते हैं।

उत्तम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, इन धर्मों का पूर्णतया तो पालन मुनि ही कर सकते हैं किन्तु गृहस्थ भी एक देशरूप से पालन करते हैं।यहाँ उत्तम शब्द सबके साथ लगाना चाहिये।

क्रोध के कारण दूसरों के द्वारा निन्दा आदि किये जाने पर भी क्रोध न कर क्षमा धारण करना उत्तम क्षमा है।

जाति आदि मदों के आवेशवश अभिमान न करना उत्तम मार्दव है।

मन, वचन, काय की कुटिलता न कर सरल परिणाम रखना उत्तम आर्जव है।

प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना और मन को पवित्र रखना उत्तम शौच है।

साधु सज्जन पुरूषों के साथ साधु–उत्तम वचन बोलना उत्तम सत्य है।

प्राणी की हिंसा और इंद्रियों के विषयों का परिहार करना उत्तम संयम है।

कर्म क्षय के लिए बारह प्रकार का तपश्चरण करना उत्तम तप है।

संयत आदि के योग्य ज्ञानादि का दान करना उत्तम त्याग है।

शरीर आदि के प्रति भी यह मेरा है इस ममकार का त्याग करना आकिंचन्य है।

स्त्री मात्र का त्याग कर देना और स्वतंत्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरूकुल में निवास करना उत्तम ब्रह्मचर्य है।

इसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराने वाली सोलहकारण भावनाएं हैं–

1.दर्शनविशुद्धि–पच्चीस मल दोष रहित विशुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करना।

2.विनयसंपन्नता–देव, शास्त्र, गुरू तथा रत्नत्रय का विनय करना।

3.शीलव्रतों में अनतिचार–व्रतों और शीलों में अतिचार नहीं लगाना।

4.अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग–सदा ज्ञान के अभ्यास में लगे रहना।

5.संवेग–धर्म और धर्म के फल में अनुराग होना।

6.शक्तितस्त्याग–अपनी शक्ति के अनुसार आहार, औषधि, अभय और शास्त्रदान देना।

7.शक्तितस्तप–अपनी शक्ति को न छिपाकर अंतरंग-बहिरंग तप करना।

8.साधु समाधि–साधुओं का उपसर्ग दूर करना या समाधि सहित वीर मरण करना।

9.वैयावृत्यकरण–व्रती, त्यागी, साधर्मी की सेवा करना, वैयावृत्ति करना।

10.अर्हतभक्ति–अरिहंत भगवान की भक्ति करना।

11.आचार्य भक्ति–आचार्य की भक्ति करना।

12.बहुश्रुत भक्ति–उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना।

13.प्रवचन भक्ति–जिनवाणी की भक्ति करना।

14.आवश्यक अपरिहाणि–छह आवश्यक क्रियाओं का सावधानी से पालन करना।

15.मार्ग प्रभावना–जैन धर्म का प्रभाव फैलाना।

16.प्रवचन वत्सलत्व–साधर्मी जनों में अगाध प्रेम करना।

इन सोलह कारण भावनाओं में दर्शनविशुद्धि का होना बहुत जरूरी है फिर उसके साथ दो तीन आदि कितनी भी भावनाएं हो या सभी हों तो भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है अर्थात् कोई भी मनुष्य इन भावनाओं को अपने जीवन में उतारकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके मोक्षमार्ग का नेता तीर्थंकर भगवान बन जाता है। पुनः इंद्रो द्वारा पंचकल्याणक पूजा को प्राप्त कर और असंख्य भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

अब मैं आपको छह द्रव्य और सात तत्त्वों के बारे में बताती हूँ–

''सद्द्रव्य लक्षणम् '' द्रव्य का लक्षण सत् है। और ''उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्'' इस लक्षण से जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण वाला है वह ''सत्'' है।

द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं जैसे जीव की देव पर्याय का होना। पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। जैसे जीव की मनुष्य पर्याय का नष्ट होना तथा पूर्व पर्याय का नाश और नवीन पर्याय का उत्पाद होने पर भी सदा बने रहने वाले मूल स्वभाव को ध्रौव्य कहते हैं जैसे जीव की मनुष्य तथा देव दोनों पर्यायों में जीवत्व का रहना। ये तीनों अवस्थायें एक समय में होती हैं।

द्रव्य का दूसरा लक्षण "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" गुण और पर्यायों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं, जो द्रव्य के साथ रहें वे गुण कहलाते हैं। जैसे जीव का अस्तित्व या ज्ञानादि और पुद्गल के रूपरसादि। जो क्रम से हों वे पर्याय हैं। जैसे जीव की नर, नारकादि पर्यायें हैं।

द्रव्य के 6 भेद हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल।

"उपयोगो लक्षणम्" जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ऐसे दो भेद हैं।

अथवा जो इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन बाह्य प्राणों से तथा चेतना (ज्ञानदर्शन) लक्षण अंतरंग प्राणों से जीता है, जीता था और जीवित रहेगा वह जीव है। इस जीव के संसारी और मुक्त की अपेक्षा दो भेद हैं – जो संसार में भ्रमण करते हैं वे संसारी हैं और जो कर्मों के बधंन से छूटकर मुक्त हो गये हैं वे मुक्त हैं।

संसारी जीव के भी त्रस-स्थावर ऐसे दो भेद हैं। दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव त्रस कहलाते हैं।

जो रूप, रस, गंध और स्पर्श से सहित हो वह पुद्गल है। अथवा जिसमें हमेशा पूरण गलन होता रहे वह पुद्गल है। इसके दो भेद हैं – अणु (परमाणु) और स्कंध।

पुद्गल के सबसे छोटे अविभागी हिस्से को अणु या परमाणु कहते हैं। दो, तीन आदि से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओं से बने हुए पुद्गल पिण्ड को स्कंध कहते हैं।

जो जीव और पुद्गलों को चलाने में सहकारी हो वह धर्मद्रव्य है। जैसे मछली को चलाने में जल सहकारी है।

जो जीव और पुद्गल के ठहरने में सहकारी हो वह अधर्मद्रव्य है। जैसे – चलते हुए पथिक को ठहरने में वृक्ष की छाया सहकारी है।

जो समस्त द्रव्यों को आकाश – स्थान देता है वह आकाश द्रव्य है। इसके दो भेद हैं-लोकाकाश और अलोकाकाश।

जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है। उसके बाहर चारों तरफ अनंतानंत अलोकाकाश है।

जो सभी द्रव्यों को परिणमन परिवर्तन में सहायक हो वह काल द्रव्य है। इसके दो भेद हैं – निश्चयकाल और व्यवहार काल। वर्तना लक्षण वाला निश्चय काल है और घड़ी, घण्टा, दिन, महीना, आदि व्यवहार काल हैं।

एक जीव, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल के एक से लेकर संख्यात-असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं और कालद्रव्य एक प्रदेशी हैं।

जो अस्ति – विद्यमान हो अर्थात् सत् लक्षण वाला हो उसे "अस्ति" कहते हैं और बहुप्रदेशी को काय कहते हैं। प्रारंभ के पांच अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य अस्ति तोहै किन्तु काय बहुप्रदेशी न होने से "अस्तिकाय" नहीं है अतः पांच द्रव्य ही अस्तिकाय कहलाते हैं।

वस्तु के यथार्थ स्वभाव को तत्व कहते हैं। इसके सात भेद हैं – जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

चेतना लक्षण वाला जीव है। इससे भिन्न अजीव है। आत्मा में कर्मों का आना आस्रव है। आत्मा के प्रदेशों में कर्मों का एकमेक हो जाना बंध है। आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर है। आत्मा के कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा है और आत्मा के संपूर्ण कर्मों का छूट जाना मोक्ष है।

इन्हीं सात तत्वों में पुण्य पाप को मिला देने से नव पदार्थ हो जाते हैं। जो आत्मा को पवित्र या सुखी करे वह पुण्य है और जिसके उदय से आत्मा को दुखदायक सामग्री मिले वह पाप है।

इन सात तत्वों में से आस्रव और बंध तत्व संसार के कारण हैं तथा संवर और निर्जरा तत्व मोक्ष के कारण हैं ऐसा समझकर संसार के कारणों से दूर हटकर मोक्ष के कारणों को प्राप्त करना चाहिए ।

आत्मा के तीन भेद हैं – बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। शरीर को ही आत्मा समझने वाला बहिरात्मा है। वह जीव मिथ्यात्व परिणाम से सहित होकर कर्मों को बांधता रहता है और संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

तत्वों पर श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अंतरात्मा है। यह जीव अपनी आत्मा को ज्ञान-दर्शनमय समझता है और शरीर को अचेतन तथा अपने से भिन्न समझता है। यह अंतरात्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के बल से अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने के प्रयत्न में लगा रहता है।

जब यही अन्तरात्मा घातिया कर्मों का नाश कर अर्हन्त, केवली हो जाता है, तब वह सकल परमात्मा कहलाता है। पुनः अष्ट कर्मों से रहित नित्य, निरंजन सिद्ध हो जाता है तब वह निकल परमात्मा हो जाता है। ये परमात्मा पुनः कभी भी संसार में नहीं आते हैं। वहाँ लोक के अग्रभाग में विराजमान हुए अनंत – अनंत काल तक अव्याबाध, अचिन्त्य सुख का अनुभव करते रहते हैं।

इस जैन धर्म में प्रत्येक प्राणी को परमात्मा बनने का अधिकार प्राप्त है। चाहे जो भी क्यों न हो, वह रत्नत्रय रूप पुरूषार्थ के बल से अपनी आत्मा को परमात्मा बनाकर संसार के दुःखों से सदा के लिए छूट कर अविनाशी सुख को प्राप्त कर सकता है।

उसी की भावना करते हुए आप सभी अपने मनुष्य पर्याय को सार्थक करें, यही मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–18

भरत की जिनेन्द्र भक्ति

आज मैं आपको ले चलती हूँ भगवान ऋषभदेव के काल में, जब भगवान बाहुबली ध्यानारूढ़ थे उस समय उनके मन में कभी-कभी विकल्प चलता था कि मुझसे मेरे भाई भरत को कष्ट हुआ है और जब भरत ने आकर उनकी पूजा-भक्ति की, जिनेन्द्र भक्ति का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया तब भगवान बाहुबली को दिव्य केवलज्ञान की उत्पत्ति होगई।

भव्यात्माओं! भगवान ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली दीक्षा लेकर तपश्चर्या में लीन होगए, सर्पों ने उनके ऊपर वामी बना ली पर वे निश्चल ध्यानारूढ़ रहे। समीचीन धर्मध्यानके बल से भगवान बाहुबली के तप की शक्ति परिपूर्ण हो चुकी और भगवान लेश्या की विशुद्धि को बढ़ाते हुए शुक्लध्यान के सम्मुख हो रहे हैं। अब वे स्वस्थान अप्रमत्त को उल्लंघन कर सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में पहुँच चुके हैं, आठवें गुणस्थान के सम्मुख हो रहे हैं।

एक वर्ष का उपवास समाप्त हो चुका। इसी समय भरतेश्वर महाराज आते हैं और उनके ध्यान के प्रभाव को देखकर अतिशय गदगद् होते हुए भक्तिभाव से साष्टांग नमस्कार करके स्तुति करते हैं "हे योगराज! जय हो, जय हो, आपकी जय हो। अहो। धन्य है आपकी तपश्चर्या, धन्य है आपका ध्यान, धन्य है आपकी निश्चलता और धन्य है आपकी अध्यात्मवृत्ति।.....प्रभो! धन्य है आपका धैर्य और धन्य है आपकी एकाग्रता। भगवन्! आपके निश्चल धर्मध्यान का माहात्म्य अद्भुत है, अपूर्व है। अहो! देखो, वन के क्रूर जन्तुओं के परस्पर की प्रीति, इस तपोवन में सदा ही बसंत ऋतु की बहार। धन्य हो प्रभो! आपने आहारादि संज्ञाओं को, क्रोधादि कषायों को जीत लिया है। संपूर्ण परीषहों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं।" इत्यादि स्तुति करते हुए कल्पवृक्षों की दिव्य सामग्री जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल तथा उत्तम-उत्तम रत्नों से योग चक्रेश्वर भगवान बाहुबली के चरणों की पूजा कर रहे हैं।

इसी बीच भगवान बाहुबली क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में चढ़कर दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में पहुँचते हैं और वहाँ पर मोहनीय कर्म को निर्मूल नष्ट कर तत्क्षण ही क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। वहाँ पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों कर्मों को निर्मूल चूर करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवलज्ञान रूप परमोत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त कर लेते हैं। इस कार्य में प्रभु को मात्र एक अंतर्मुहूर्त ही समय लगता है।

आदिपुराण में वर्णन आया है कि–

संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल।
हृद्यस्य हार्द तेनासीत् तत्पूजापेक्षि केवलम्।।168।।

'ये भरतेश्वर मेरे से संक्लेश को प्राप्त हुए हैं– मेरे निमित्त से इन्हें दुःख पहुँचा है। यह विचार बाहुबली के हृदय में आ जाया करता था जो कि भरत के प्रति सौहार्द रूप था। इसलिए केवलज्ञान होने में भरत के पूजा की अपेक्षा रही थी।

'यह संपूर्ण धरा भरत की भूमि है', ऐसा समझकर ही वे ध्यान में दो तलवे केबल खड़े हुए थे। भरत का ही सर्वत्र साम्राज्य होने से उन्होंने आहार नहीं लिया था। 'मैं भरत की भूमि में खड़ा हूँ' उनके मन में यह शल्य थी इसीलिए उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ था औरजब भरत ने समझाया-'अहो! यह वसुधा किसकी रही है?' तब उनके मन की शल्य दूर होनेसे उन्हें केवलज्ञान हुआ। ऐसी जो किंवदन्ती है वह भगवज्जिनसेनाचार्य के आदिपुराणग्रंथ से मेल नहीं खाती है। क्योंकि इस प्रकार की शल्य के होने पर उन्हें मनःपर्ययज्ञान और अनेकप्रकार की ऋद्धियाँ नहीं हो सकती थीं। उनके ध्यान को धर्मध्यान संज्ञा नहीं आ सकती थी और उनके ध्यान के प्रभाव का ऐसा चमत्कार भी नहीं हो सकता था जैसा कि आदिपुराण मेंवर्णित है। अतः **भगवान बाहुबली के शल्य मानना असंगत है।** वास्तव में उन्होंने एक वर्ष का उपवास और योग दीक्षा लेते ही ग्रहण कर लिया था, ऐसा वर्णन आया है।

इधर भरत सम्राट की पूजा चल रही है उधर एक समय में ही भगवान बाहुबली इस भूतल से 5000 धनुष (20000 हाथ) प्रमाण ऊपर आकाश में अधर पहुँच जाते हैं। इंद्रों के आसन कंपित होते ही उसी समय वे लोग स्वर्ग से आकर दिव्य गंधकुटी की रचना कर देते हैं। भगवान बाहुबली गंधकुटी के मध्य कमलासन पर चार अंगुल अधर विराजमान हो जाते हैं।

उस समय स्वर्ग के नंदनवन के वृक्षों को भी हिलाने में चतुर तथा गंगानदी के बूंदों से मिश्रित ऐसी सुगंधित हवा धीरे-धीरे चल रही है। देवगण आकाश में दुंदुभि बाजे बजा रहे हैं, कल्पवृक्षों के खिले हुए रंगबिरंगे फूलों की वर्षा कर रहे हैं, भगवान के मस्तक के ऊपर देवरूपी कारीगरों के द्वारा बनाये गये रत्नों के छत्र सुशोभित हो रहे हैं, प्रभु जिस पर आसीन हैं ऐसा वह सिंहासन बहुमूल्य दिव्य मणियों से निर्मित है, देवगण भगवान के दोनों बाजू में खड़े होकर चंवर ढोर रहे हैं और भगवान के पीछे सुंदर अशोक वृक्ष दर्शक के शोक को नष्ट कर रहा है। ऐसी इस गंधकुटी के मध्य भगवान बाहुबली विराजमान हैं। इस गंधकुटी में बारह कोठे बने हुए हैं। यथायोग्य अपने-अपने कोठे में आकाशगामी ऋद्धिधारी आदि महामुनि विराजे हैं, क्रम से चतुर्निकाय देव-देवियों का समूहआर्यिकाएं-श्राविकाएं और तिर्यंच भी अपने-अपने कोठे में आकर बैठ गये हैं।

उस समय भरतसम्राट आदि सभी लोग बीस हजार सीढ़ियों को अल्प समय में ही पार कर भगवान के सन्मुख पहुँच जाते हैं और अतिशय प्रसन्न हो स्तुति करते हैं–

हे भगवन्! आपने अपनी आत्मा से कर्म कलंक को दूर कर दिव्य, अक्षय, अनंत ऐसा केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। आप अनंत दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य इन अनंत चतुष्टय के धनी बन गये हैं। हे नाथ! आपने स्वयं अपने द्वारा अपने लिए अपने आप

से अपने में अपने को ही ध्याकर अपनी आत्मा को प्राप्त कर लिया है अतः अब आप पूर्ण स्वतंत्रता को और पूर्ण शांति को प्राप्त कर चुके हैं। अतः आपकी जय हो, जय हो, जय हो। हे नाथ! आप ध्यानचक्र के द्वारा संपूर्ण अंतरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर तीन लोक के अखण्ड साम्राज्य के स्वामी हो चुके हैं। हे ध्यानधुरंधर! आप जैसा निश्चल ध्यान हमें भी प्राप्त हो।''

इत्यादि रूप वाक्यों से स्तुति करके पुनः-पुनः नमस्कार करते हैं अनंतर अपने सभी मंत्रियों, अनेक राजाओं, अंतःपुर की समस्त स्त्रियों, पुत्र-पुत्रियों एवं 'पुरोहितजनों के साथ भगवान की अनुपम पूजा करते हैं। गंगाजल की जलधारा देते हैं, दिव्य कल्पवृक्ष से उत्पन्न केशर के सुवर्णसदृश चंदनद्रव को चढ़ाते हैं, मोतियों के अक्षत पुंज रचते हैं, पारिजात, मंदार आदि कल्पवृक्षों के दिव्य पंचरंगी पुष्पों से पुष्पांजलि करते हैं, अमृत के पिंडरूप नैवेद्य को चढ़ाते हैं, रत्नों के दीप से आरती उतारते हैं, कल्पवृक्ष के टुकड़ों से बनी हुई सुगंधित धूप खेते हैं और फलों के स्थान पर रत्नों सहित समस्त निधियों को चढ़ा देते हैं। रत्नों के पुंज से युक्त अष्टद्रव्य मिश्रित अर्घ्य समर्पित करते हैं।

इस विषय में अधिक कहाँ तक कहा जावे, संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय भरत सम्राट के द्वारा की गई भगवान बाहुबली की पूजा अपने आप में एक अनुपम होने से वही उपमान थी और वही उपमेय थी उसके लिए अन्य कोई उपमा नहीं दी जा सकती है।

अहो! प्रथम तो ये बाहुबली भरत के छोटे भाई हैं, दूसरी बात भरत को धर्म से अतिशय प्रेम है, तीसरी बात उन दोनों का पूर्व के अनेक जन्मों से संबंध चला आ रहा है और चौथी बात उन दोनों में आपस में बहुत भारी प्रेम रहा आया है। इन चारों में से एक-एक भी भक्ति की अधिकता को बढ़ाने वाले हैं पुनः यदि ये चारों सामग्री एक साथ मिल जावें, फिर भला उस समय की भक्ति के बारे में क्या कहा जा सकेगा?

भरत महाराज ने केवलज्ञान होने के पहले जो पूजा की है वह अपने अपराध को दूर करने के लिए की थी और जो केवलज्ञान के बाद में की है वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करने के लिए की है।

स्वर्ग से आये हुए इंद्रगण भी अपने असंख्य परिवार देवों के साथ भगवान बाहुबली की अनुपम स्तुति करते हैं–

'हे तीन लोक के नाथ! आपने जैसा ध्यान किया है वैसा ध्यान आपके सिवाय और कौन कर सकता है? इसलिए आप ध्यान के चक्रवर्ती हैं। हे भगवान्! अनंत संसार में भटकते हुए हम संसारी प्राणियों को हाथ का अवलंबन देकर मोक्षमार्ग में स्थापित कीजिए। हे स्वामिन्! संसार के अनंत दुःखों से हम लोगों की रक्षा कीजिए।'

इत्यादि स्तोत्रों से स्तुति करके पुनः-पुनः वंदना करते हैं। तदनंतर सभी इन्द्रगण भी अपने-अपने परिकर के साथ और इंद्राणियों के साथ मिलकर स्वर्गलोक की दिव्य

सामग्री से अनुपम पूजा करते हैं।

पुनः सभी लोग अपने-अपने कोठे में बैठकर भगवान की दिव्यध्वनि से दिव्य धर्म सुधारस का पान कर रहे हैं। भगवान बाहुबली उपदेश दे रहे हैं। उस समय न उनके ओठ हिलते हैं, न कंठ तालु आदि का व्यापार होता है, न मुख पर किंचित् परिवर्तन होता है और न उनके हाथ ही उठते हैं। केवल उनके मुखकमल से बिना प्रयत्न के निरक्षरी दिव्यध्वनि खिर रही है। भक्त लोग अपनी-अपनी भाषा में उसे समझ रहे हैं अतः वह सात सौ अठारह भाषा रूप अथवा सभी उपस्थित जनों की भाषा में परिणत होने से संख्यात भाषारूप हो रही है इसलिए वह साक्षरी भी है। भगवान कहते हैं–

'हे भव्यजीवों! अनादि अनंतरूप इस संसार समुद्र को पार करने के लिए समीचीन धर्म ही एक उत्तम जहाज है। अतः यदि तुम लोग जन्म-मरण के दुःखों से शांत हो चुके हो और अब उनसे छूटना चाहते हो तो इस रत्नत्रयरूपी धर्म जहाज का आश्रय लेवो। यह धर्म ही इस लोक में धन, संपत्ति, परिवार की अनुकूलता, शारीरिक स्वस्थता, संतति और समृद्धि को करने वाला है। यह धर्म ही परलोक में इन्द्र के ऐश्वर्य को, कामदेव, बलभद्र, चक्रवर्ती आदि के भोगों को देने वाला है और यह धर्म ही नरक, निगोदों के दुःखों से निकालकर उत्तम मोक्षसुख को भी प्रदान करने वाला है। इसलिए इसी को हृदय में धारण करो।'

इत्यादि रूप से भगवान के दिव्य उपदेशामृत का पान कर भरत सम्राट पुनः पुनः उन्हें नमस्कार कर अपनी अयोध्या नगरी में वापस आ जाते हैं। इंद्र की प्रार्थना के नियोगमात्र से वीतरागी भगवान बिना इच्छा के नैसर्गिक ही भव्यों के हितार्थ इस भारतभूमि में 'श्रीविहार' करते हैं। उनके चरणों के तले दिव्य कमलों की रचना होती चली जा रही है और उनका विहार आकाशमार्ग में ही हो रहा है। पुष्पों की वर्षा, दिव्य सुगंधित गंधोदक की वर्षा हो रही है, दिव्य सुरभित पवन बह रही है, देव दुंदुभि बज रही है और आकाश तथा भूमंडल को एक करते हुए देव, विद्याधर व मनुष्यगण प्रभु के पीछे-पीछे चल रहे हैं।

बहुत काल तक श्रीविहार करते हुए और अपनी दिव्यवाणी रूप अमृत से असंख्यात भव्यजीवरूपी खेती का सिंचन करते हुए भगवान बाहुबली कैलाशपर्वत पर पहुँचते हैं वहाँ पर भगवान ऋषभदेव के समवसरण में केवलियों के कोठे में विराजमान हो जाते हैं। कालांतर में योग-निरोध कर अघातिया कर्मों का भी नाश कर शाश्वत मुक्ति साम्राज्य को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ पर सदा-सदा के लिए अपने ही आत्मा से उत्पन्न हुए सहज परमानंदामृत का पान कर रहे हैं। अब उन्हें न जन्म लेना है, न मरना है, न संसार के सुख-दुःखों को ही भोगना है। वहाँ न उन्हें भूख है, न प्यास है, न चिंता है, न पराजय है, न व्याधि है और न क्लेश ही है। अक्षय, अध्याबाध अनंत सुख का अनुभव करते हुए वे भगवान अनंत काल तक वहीं पर रहेंगे। इस युग में चरमशरीरियों में सर्वप्रथम मोक्ष जाने वाले ऐसे बाहुबली भगवान हमें भी सुगति प्रदान करें और आप सब उनकी भक्ति कर सुगति को प्राप्त करें यही मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–19

मोक्षमार्ग के लिए रत्नत्रय की उपादेयता

महानुभावों! इस जगत् में चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए इस जीव ने एक प्रदेश भी ऐसा नहीं छोड़ा है कि जहाँ जन्म न लिया हो क्योंकि सर्वत्र भ्रमण कर चुका है। जिनेन्द्र भगवान के वचनों को नहीं प्राप्त करते हुए ही इस जीव ने संसार में भ्रमण किया है। हम संसारी जीवों के लिए जिनेन्द्र देव के वचन निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय को कहने वाले हैं। पहले हमें यह जानना है कि निश्चय रत्नत्रय क्या है?

जब वीतरागी साधु निर्विकल्प ध्यान में स्थित होते हैं उस समय शुद्धात्मा की ही रुचि, उसी का ही ज्ञान और उसी में ही तन्मयता रूप जो एक अवस्था होती है जो कि कहने में अवश्य ही तीन रूप है, किन्तु वास्तव में वहाँ अभेद परिणति मात्र ही है जो चिच्चैतन्य स्वरूप परमानंदमय है। इस अभेद रत्नत्रय का नाम ही निश्चय रत्नत्रय है।

व्यवहार रत्नत्रय क्या है? तो निश्चय रत्नत्रय के लिए जो साधक व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और व्यवहार प्रवृत्ति रूप तेरह प्रकार का चरित्र है उसे ही व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान के वचन निश्चय व्यवहार नयों के द्वारा ही प्रत्येक वस्तु का विवेचन करते हैं।

यह आत्मा पंगु के सदृश है, तीनों लोक में न तो कहीं स्वयं जाता है और न ही कहीं आता है। किन्तु विधि–कर्म ही इसे तीनों लोकों में कहीं भी ले जाता है और कहीं भी ले आता है। यह आत्मा शुद्ध निश्चयनय से अनंतवीर्य सम्पन्न है। इसी निश्चयनय से शुभ और अशुभ कर्म रूप दो बेड़ियों से रहित होते हुए भी व्यवहारनय से इन पुण्य- पापरूप उभय बेड़ियों से मजबूत जकड़ा हुआ है, इसीलिए पंगु के समान है न कहीं जा सकता है और न कहीं आ सकता है। अनादि संसार में स्वशुद्धात्मा की भावना से विपरीत मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से जो कर्म उपार्जित करता है उस कर्म के द्वारा निर्मित ही ये पुण्य-पाप रूप दो बेड़ी हैं जिनके द्वारा यह अनादिकाल से जकड़ा हुआ है। किन्तु जो यह विधाता, ब्रह्मा आदि शब्दों से कहा गया कर्म है उसके द्वारा ही जगत् में सर्वत्र घुमाया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वीतराग सदानंद ही है एक स्वरूप जिसका, ऐसी अपनी परमात्मा की ही भावना करनी चाहिए। उससे विपरीत शुभ-अशुभ रूप दोनों प्रकार के कर्मों को हेय समझना चाहिए।

इतना समझने के बाद कई लोग प्रश्न कर देते हैं कि देवपूजा, आहारदान, औषधि आदि दान रूप क्रियाएं हेय रूप ही हो गईं पुनः उनके करने का जिनागम में उपदेश क्यों दिया गया है? तथा मुनियों की षट्आवश्यक क्रियाएं आदि भी शुभरूप होने से हेय हैं पुनः उनका भी अनुष्ठान क्यों?

इस हेतु आचार्य श्री कुंदकुंद ने समयसार में कहा है–

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणो।।161।।

अर्थात् यद्यपि जो व्रत और नियमों को धारण करते हैं, शील पालते हैं तथा तप भी करते हैं किन्तु वे परमात्मा स्वरूप के ज्ञान से रहित हैं इसलिए वे सब अज्ञानी हैं। पुनः श्रीजयसेनाचार्य तात्पर्य वृत्ति टीका में कहते हैं–

त्रिगुप्ति समाधि लक्षणा भेद ज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रत नियमान धारयंतः शीलानि तपश्चरणं च कुर्वाणा अपि मोक्षं न लभंते.....।

जिसमें तीन गुप्तियों का पालन हुआ करता है ऐसी परमसमाधि रूप भेदज्ञान से जो बाह्य हैं वे व्रत और नियमों को धारण करते हुए और तपश्चरण करते हुए भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि पूर्वोक्त त्रिगुप्तिगुप्त परमसमाधि रूप भेदज्ञान के न होने से वे परमार्थ से दूर हैं। हाँ, जो इस परमसमाधि से युक्त हैं वे व्रत, नियम, शीलों को बिना धारण किए भी और बाह्य द्रव्य रूप तपश्चरण को बिना किये भी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। त्रिगुप्ति सहित निर्विकल्प समाधिरूप भेद ज्ञान से ही मोक्ष होता है।

इस प्रकार के त्रिगुप्ति रूप भेदज्ञान के समय में जो शुभ मन-वचन-काय के व्यापार हैं जो कि परम्परा से मुक्ति के कारण हैं। (पंचमहाव्रत, समिति, आवश्यक क्रिया आदि रूप हैं) वे भी नहीं रहते हैं तो फिर अशुभ विषय कषाय के व्यापार रूप जो मन, वचन, काय की चेष्टा है वह तो वहाँ रहेगी ही कैसे? क्योंकि चित्त में होने वाले रागभाव के नष्ट हो जाने पर वहां ध्यान में बहिरंग विषयों में होने वाला व्यापार नहीं देखा जाता है जैसे कि तुष के भीतर और तंदुल के ऊपर की ललाई जहाँ दूर हो गई वहाँ फिर तुष का सद्भाव कैसा? इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि के समय बाह्य विषय संबंधी व्यापार कभी नहीं रह सकता। क्योंकि जैसे शीत और उष्ण में परस्पर में विरोध है वैसे ही निर्विकल्प समाधि लक्षण भेदज्ञान और विषय कषायरूप समाधि लक्षण भेदज्ञान और विषय कषायरूप व्यापार इन दोनों का परस्पर में विरोध है। दोनों एक जगह एक काल में नहीं रह सकते।

निष्कर्ष यह निकला कि त्रिगुप्तिरूप निर्विकल्प ध्यान में पुण्य और पाप को छोड़ने का उपदेश है। जबकि वहाँ व्रत और अव्रत का सवाल ही नहीं है। **"निर्विकल्प समाधिकाले**

व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति।'' निर्विकल्प समाधि के समय व्रत और अव्रत का स्वयं ही प्रकरण नहीं है पुनः छोड़ने की कोई बात ही नहीं आती है बल्कि उस अवस्था में शुभ परिणामरूप क्रियाएं स्वयमेव नहीं रहती हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस अवस्था को प्राप्त होने से पूर्व पंचमहाव्रत आदि और सामायिक आदि आवश्यक क्रियाएं मुनियों के लिए अवश्यकरणीय हैं। तथैव देशव्रती श्रावकों के लिए उनके पद के अनुसार देवपूजा, दान, स्वाध्याय-संयम आदि अवश्यकरणीय हैं। क्योंकि ये सभी शुभ क्रियाएं सम्यक्त्वी जीव के परम्परा से मुक्ति के लिए कारणभूत हैं ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव का सर्वत्र सभी ग्रंथों में उपदेश है। इसलिए ये शुभ अनुष्ठान एकांत से हेयरूप नहीं है बल्कि ध्यानस्थ वीतरागी महामुनियों के लिए ही हेयरूप हैं। हमारे और आपके लिए तो चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में ये उपादेयरूप हैं।

अतः जिन वचन के रहस्य को नय विवक्षा से समझकर ही अवधारण करना चाहिए अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

पुण्य की महिमा

श्रेयः श्रेय-निबन्धनोऽसुखहरः श्रेयं श्रयन्त्युत्तमाः।
श्रेयेनात्र च लभ्यतेऽखिल सुखं श्रेयाय शुद्धा क्रियाः।।
श्रेयाच्छ्रेयकरोऽपरो न च महान् श्रेयस्य मूलं सुदृक्।
श्रेये यत्नमनारतं बुधजनाः कुर्वन्तु दृक् चिद्व्रतैः।।

श्रेय–पुण्य, श्रेय–कल्याण को प्राप्त कराने वाला और दुःखों को हरने वाला है इसलिए सज्जन पुरुष पुण्य का आश्रय लेते हैं। पुण्य से ही सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति की है अतः पुण्य अर्जन के लिए शुद्ध क्रियाएं करना चाहिए। पुण्य से अधिक कल्याणकारी और कोई महान् नहीं है। पुण्य की जड़ सम्यग्दर्शन है। इसलिए बुद्धिमानों को रत्नत्रय धर्म के द्वारा पुण्य के अर्जन में अनवरत प्रयत्न करना चाहिए।

यहाँ पर इस लोक में आचार्यदेव ने 'श्रेय' शब्द में षट्कारक घटित किये। इस श्रेय का अर्थ पुण्य भी होता है और कल्याण भी होता है। अतः श्रेय अर्थात् पुण्य श्रेय अर्थात् कल्याण की, सुख की प्राप्ति होती है, ऐसा समझना।

–श्री सकलकीर्ति आचार्य-सिद्धांतसार दीपक

प्रवचन–20

दशलक्षण धर्म एवं क्षमावाणी

महानुभावों! धर्म का स्वरूप बताते हुए आचार्यों ने कहा है–**''उत्तमे सुखे धरति इति धर्मः''** अर्थात् जो संसारी प्राणियों को दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा दे उसे धर्म कहते हैं तथा प्रत्येक वर्ष भाद्रपद शुक्ला पंचमी से पूर्णिमा तक पालन किए जाने वाले धर्मों को ''दशधर्म'' या ''दशलक्षण धर्म'' यह संज्ञा दी गई है।

जिस प्रकार मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार सभी महीनों में यह भाद्रपद का महीना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह अनेक व्रतों की खान है और धर्म का प्रधान कारण है। इन दश धर्मों के बारे में कहा है-

सिद्धिः प्रासादनिःश्रेणी पंक्तिवत् भव्यदेहिनाम्।
दशलक्षण धर्मोयं, नित्यं चित्तं पुनातु नः।।

अर्थात् भव्यजीवों के सिद्धिमहल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की पंक्ति के समान यह दशलक्षण धर्म नित्य ही हम लोगों के चित्त को पवित्र करे।

क्रम-क्रम से दश धर्मों के बारे में मैं आपको बताती हूँ। उत्तम क्षमा का अर्थ है– उत्तम क्षमा से युक्त मनुष्य, देव और विद्याधरों से नमस्कृत्य ऐसे अगणित उत्तम ऋषियों ने अविनश्वर केवलज्ञान को प्राप्त कर भव दुःख भंजन, निरंजन ऐसे सिद्धपद को प्राप्त किया है। कहा भी है–

द्रव्यं भावं द्विधा क्रोधं भित्वाहं स्वात्मचिंतनात्।
उत्तमक्षांतियुक्स्वात्मज्ञानं लप्स्ये सुखं ध्रुवम्।।

अर्थात् द्रव्य और भाव इन दो प्रकार के क्रोध को मैं अपने आत्मचिंतन के बल से भेदन करके उत्तम क्षमा से युक्त अपने ज्ञान और सौख्य को निश्चित रूप से प्राप्त करूँगा। प्रत्येक प्राणी को हमेशा ऐसी भावना भाते रहना चाहिए। इस व्रत की जाप्य है–**ॐ ह्रीं उत्तम क्षमा धर्मांगाय नमः।**

उत्तम मार्दव धर्म का अर्थ है–''मृदोर्भावः मार्दवः'' अर्थात् मृदुता का भाव मार्दव है, या मार्दव मान शत्रु का मर्दन करने वाला है, यह आठ प्रकार के मद से रहित है और चार प्रकार की विनय से सहित है। देखो! इन्द्र नाम का विद्याधर इन्द्र के समान वैभवशाली था फिर भी रावण के द्वारा पराजय को प्राप्त हुआ है और वह रावण भी एक दिन मान के वश में नष्ट हो गया अतः मान से क्या लाभ है? अर्थात् कोई लाभ नहीं है। इस व्रत की जाप्य है–**ॐ ह्रीं उत्तम मार्दव धर्मांगाय नमः।**

उत्तम आर्जव धर्म का अर्थ है–

आर्जवः स्यादृजोर्भावः त्रियोगं सरलं कुरू।
तिर्यग्योनिर्भवेल्लोके मायया नंतकष्टदा।।

ऋजु अर्थात् सरलता का भाव आर्जव है अर्थात् मन, वचन, काय को कुटिल नहीं करना। इस मायाचारी से अनंतों कष्टों को देने वाली तिर्यंचयोनि मिलती है। इस व्रत की जाप्य है– **ॐ ह्रीं उत्तम आर्जव धर्मांगाय नमः।**

उत्तम शौच धर्म का अर्थ है–

शुचेर्भावो भवेत् शौचमन्तर्लोभो निवार्यताम्।
या निर्लोभवती देवी त्वया नित्यमुपास्यताम्।।

शुचि-पवित्रता का भाव शौच है अर्थात् अंतरंग के लोभ को दूर करिए और जो निर्लोभवती देवी है उसकी नित्य ही उपासना कीजिए। इस व्रत की जाप्य है– **ॐ ह्रीं उत्तम शौच धर्मांगाय नमः।**

उत्तम सत्य धर्म का अर्थ है–

सत् सम्यक् च प्रशस्तं स्यात् सत्यं पीयूषभृद् वचः।
मिथ्यापलापकं वाक्यं धर्मशून्यं सदा त्यज।।

सत् अर्थात् समीचीन और प्रशस्तवचन सत्य कहलाते हैं। ये वचन अमृत से भरे हुए हैं। मिथ्या आलाप करने वाले और धर्मशून्य वचन सदा छोड़ो। सत्य वचन बोलने वालों को वचनसिद्धि हो जाया करती है और क्रम से वे दिव्यध्वनि के स्वामी होकर असंख्यप्राणियों को धर्म का उपदेश देकर मोक्षमार्ग का प्रणयन करते हैं अतः हमेशा सत्य का आदरकरना चाहिए। इस व्रत की जाप्य है– **ॐ ह्रीं उत्तम सत्य धर्मांगाय नमः।**

उत्तम संयम धर्म की परिभाषा है–

प्राणीन्द्रियैर्द्विधा प्रोक्तः संयमः संयतैः जनैः।
षट्काय जीव रक्षास्यात् पंचेन्द्रिय मनोजयः।।

अर्थात् समिति में प्रवृत्त हुए मुनि जो प्राणी हिंसा और इन्द्रिय विषयों का परिहार करते हैं वह संयम है। संयत मुनियों में प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम की अपेक्षा दो भेद हैं। पाँच स्थावर और त्रस ऐसे षट्कायजीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है और पाँच इन्द्रिय तथा मन का जय करना इन्द्रिय संयम है। इस व्रत की जाप्य है– **ॐ ह्रीं उत्तम संयम धर्मांगाय नमः।**

अब नं. आता है उत्तम तपधर्म का, उसकी परिभाषा है–

तपो द्वादशधा प्रोक्तं, बाह्याभ्यंतर संयुतम्।
बाह्यमनशनादिस्यात्, प्रायश्चित्तादि चांतरम्।।

"कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः" अर्थात् कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है। तप के बाह्य और अभ्यंतर से युक्त बारह भेद कहे गये हैं। अनशन, अवमौदर्य,

वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अंतरंग तपहैं। इस व्रत की जाप्य है– **ॐ ह्रीं उत्तम तपोधर्मांगाय नमः।**

उत्तम त्यागधर्म का अर्थ है–

रत्नत्रयस्य दानं स प्रासुक त्याग उच्यते।
चतुर्धा दानमप्यार्षात् त्रिधा पात्राय दीयते।।

"संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः" अर्थात् संयत के योग्य ज्ञान आदि को देना त्याग है। रत्नत्रय का दान देना वह प्रासुक त्याग कहलाता है और तीन प्रकार के पात्रों के लिए चार प्रकार का दान देना भी त्याग है, ऐसा आर्ष ग्रंथों में कहा है। इस व्रत की जाप्य है– **ॐ ह्रीं उत्तम त्याग धर्मांगाय नमः।**

उत्तम आकिंचन्य धर्म की परिभाषा भी बड़ी सुन्दर है–

अकिंचनो न मे किंचित् आत्मानंत गुणात्मकः।
पर द्रव्यात् सदा भिन्नस्त्रैलोक्याधिपतिर्महान्।।

"उपात्तेष्वापि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिञ्चन्यम्" अर्थात् जो शरीर आदि अपने द्वारा ग्रहण किए हुए हैं उनमें संस्कार को दूर करने के लिए यह मेरा है इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिंचन्य धर्म है।

"न मे किंचन अकिञ्चनः" मेरा कुछ भी नहीं है अतः मैं अकिञ्चन हूँ। फिर भी मेरी आत्मा अनंतगुणों से परिपूर्ण है। मैं सदा परद्रव्य से भिन्न हूँ और तीन लोक का अधिपति महान हूँ ऐसा समझकर निर्ग्रंथ मुद्रा को ही मोक्षमार्ग मानना चाहिए और इस आकिञ्चन्य धर्म की उपासना करके अपने आत्मगुणों को विकसित करना चाहिए। **ॐ ह्रीं उत्तम आकिंचन्य धर्मांगाय नमः** यह इस व्रत की जाप्य है।

उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म अन्तिम धर्म है इसका अर्थ है–

आत्मैव ब्रह्मा तस्मिन् स्यात् चर्येति ब्रह्मचर्यभाक्।
वासो वा गुरुसंघेऽपि ब्रह्मचारी स उत्तमः।।

अर्थात् आत्मा ही ब्रह्म है उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा में चर्या करना सो ब्रह्मचर्य है अथवा गुरु के संघ में रहना भी ब्रह्मचर्य है। इस विधचर्या को करने वाला ब्रह्मचारी कहलाता है। इस व्रत की जाप्य है– **ॐ ह्रीं उत्तम ब्रह्मचर्य धर्मांगाय नमः।**

यह दशधर्म एक कल्पवृक्ष है जिसके बारे में आचार्य कहते हैं कि–

क्षमामूलं मृदुत्वं स्यात्, स्कंध शाखाः सदार्जवम्।
शौचं कं सत्यपत्राणि, पुष्पाणि संयमस्तपः।।1।।
त्यागश्चाकिञ्चनो ब्रह्म मंजरी सुमनोहरा।
धर्मकल्पद्रुमश्चैष दत्ते स्वश्च शिवं फलम्।।2।।

धर्मकल्पतरो! त्वाहं समुपास्य पुनः पुनः।
ज्ञानवत्या श्रिया युक्तं, याचे मुक्त्यैकसत्फलम्।।3।।

अर्थात् क्षमा जिसकी जड़ है, मृदुता स्कंध है, आर्जव शाखाएं हैं, उसको सिंचित करने वाला शौचधर्म जल है, सत्यधर्म पत्ते हैं, संयम, तप और त्याग रूप पुष्प खिल रहे हैं, आकिंचन और ब्रह्मचर्य धर्मरूप सुंदर मंजरियाँ निकल आई हैं। ऐसा यह धर्मरूप कल्पवृक्ष स्वर्ग और मोक्षरूप फल को देता है। हे धर्मकल्पतरो! मैं तुम्हारी पुनः-पुनः उपासना करके तुमसे ज्ञानवती लक्ष्मी से युक्त मुक्तिरूप एक सर्वोत्कृष्ट फल की ही याचना करता हूँ। इस दश धर्मों के पश्चात् आती है क्षमावाणी, इस पर्व की यह विशेषता है कि इस पर्व का प्रारंभ भी क्षमाधर्म से होता है और समापन भी क्षमावाणी पर्व से किया जाता है। दश दिन धर्मों की पूजा करके, जाप्य करके जो परिणाम निर्मल किये जाते हैं और दश धर्मों का उपदेश श्रवण कर जो आत्म शोधन होता है उसी के फलस्वरूप सभी श्रावक-श्राविकाएं किसी भी निमित्त परस्पर में होने वाली मनोमलिनता को दूर कर आपस में क्षमा कराते हैं। क्योंकि यह क्रोध कषाय प्रत्यक्ष में ही अग्नि के समान भयंकर है। ओंठ काँपने लगते हैं, मुखमुद्रा विकृत और भयंकर हो जाती है। किन्तु प्रसन्नता में मुख मुद्रा सौम्य, सुंदर दिखती है। चेहरे पर शांति दिखती है। वास्तव में शांत भाव का आश्रय लेने वाले महामुनियों को देखकर जन्मजात बैरी ऐसे क्रूर पशुगण भी क्रूरता छोड़ देते हैं। यथा-

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नंदिनी व्याघ्र पोतं।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकांता भुजंगीम्।।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जंतवोऽन्ये त्यजंति।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्।।

अर्थात् हरिणी सिंह के बच्चे का पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है, गाय व्याघ्र के बच्चे को दूध पिलाती है, बिल्ली हंसों के बच्चों को प्रीति से लालन करती है एवं मयूरी सर्पों को प्यार करने लगती है। इस प्रकार से जन्मजात भी बैर को क्रूर जंतुगण छोड़ देते हैं। कब? जबकि वे पापों को शान्त करने वाले मोहरहित और समताभाव में परिणत ऐसे योगियों का आश्रय पा लेते हैं अर्थात् ऐसे महामुनियों के प्रभाव से हिंसक पशु अपनी द्वेष भावना छोड़कर आपस में प्रीति करने लगते हैं। ऐसी शांत भावना का अभ्यास इस क्षमा के अवलंबन से ही होता है। इसलिए इन दश धर्मों को अपने में अवतरित करने का प्रयास अवश्य करें और मनुष्य पर्याय को सार्थक करें यही मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–21

मन को वश में करने से ही कर्मों का क्षय होगा

भव्यात्माओं! आत्मिक सुख की प्राप्ति संसार के प्रपंचों में उलझे रहने से नहीं हो सकती प्रत्युत् प्रपंचों के त्याग से ही होगी और मन का वशीकरण भी तभी होगा जब उसे कोई अपूर्व सामग्री मिलेगी। वह अपूर्व सामग्री ज्ञानामृत ही है और कुछ नहीं है, मन उसमें तृप्त होकर आपको तृप्त कर देगा। आचार्यों ने कहा है कि "हे जीव! यदि तू परमाणु मात्र भी दुःख सहन करने को समर्थ नहीं है तो फिर चारों गतियों के दुःखों के लिए कारणभूत ऐसे कर्मों का संचय क्यों कर रहा है?" यदि तुझे दुःख इष्ट नहीं है फिर भी आश्चर्य है कि उन्हीं के साधनों में लगा हुआ है। क्या कहीं कोदों का धान्य बोने से चावल उत्पन्न हो सकता है? अहो! यह सारा जगत् मिथ्यात्व, विषय और कषायों से उत्पन्न हुए आर्तध्यान और रौद्रध्यानरूप धंधे में–प्रपंच में उलझा हुआ तमाम कर्मों को बांध रहा है किन्तु मोक्ष के लिए कारणभूत ऐसी अपनी आत्मा का एक क्षण के लिए भी चिंतवन नहीं करता है। जब तक इसे अपनी आत्मा का ज्ञान नहीं है तभी तक यह पुत्र, स्त्री, धन, मकान आदि पर वस्तुओं में मोहित हो रहा है। पुनः इस मोह के निमित्त से दुःख सहन करता हुआ चौरासी लाख योनियों में भटक रहा है। इसलिए आचार्य ने कहा है कि हे जीव! घर, परिजन, शरीर और इष्ट बंधु वर्गों को तू अपना मत समझ, क्योंकि ये कर्मों के आश्रित हैं और कृत्रिम हैं ऐसा योगियों ने आगम में देखा है अथवा कहा है। वास्तव में तू सब कुछ अनुकूल सामग्री चाहता है किन्तु कर्माधीन होने से ये सब अनुकूल ही प्राप्त हों, ऐसा नहीं है। क्या मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र राजतिलक के समय वन में जाना चाहते थे? अथवा वन में विचरण करते हुए क्या सीता का हरण अथवा रावण से युद्ध करना चाहते थे? क्या महासती सीता अपवाद के निमित्त वनवास का दुःख देखना चाहती थीं? क्या पतिदेव का वियोग उन्हें इष्ट था?

कहना पड़ेगा कि नहीं। फिर भी पूर्वसंचित कर्म ने यह सब दृश्य दिखाये। अहो! क्या भगवान ऋषभदेव छह महीने निराहार भ्रमण करना चाहते थे? क्या भगवान पार्श्वनाथ कमठचर दैत्य के द्वारा उपसर्ग चाहते थे? नहीं। फिर भी उन्हें झेलना पड़ा। हाँ, अंतर इतना ही है कि वे महापुरुष संकट या अलाभ या उपसर्ग से किंचित् भी घबराए नहीं तो कर्मों का नाश कर आज मोक्षधाम में पहुँच गये हैं और वहाँ परमानंदमयी सुखामृत का पान कर रहे हैं। श्री रामचन्द्र जी पिता के वचन की रक्षा हेतु जब वन में गये थे तब तो धीर-वीरमना थे किंचित् भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हुए थे। किन्तु सीता के वियोग में और भाई लक्ष्मण के वियोग में अत्यधिक दुःखी हुए थे फिर भी उन दुःखों को छोड़कर निर्मम होकर जब आत्मसाधना में लीन हो गये तभी वे संसार समुद्र को पार

कर अपने निजपद में विश्रांति को प्राप्त हो गये।

कहने का मतलब यही है कि चाहे महापुरुष हों चाहे हम जैसे सामान्यजन। सभी लोग प्रतिकूल सामग्री नहीं चाहते हैं किन्तु सांसारिक सुख कर्माधीन हैं इसलिए वे चाहने मात्र से नहीं मिल सकते हैं।

टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव जो अपनी शुद्धात्मा है वह अकृत्रिम अनादिनिधन है किन्तु ये घर परिजन आदि कृत्रिम हैं विनाशीक हैं ऐसा समझ कर हे भव्य! तू इनसे अपने को दूर कर। इन घर और परिजनों की चिंता से तू मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है इसलिए तू तपश्चरण का अवलंबन ले, उस तपश्चरण के बारम्बार अभ्यास से ही मोक्ष की सिद्धि होगी। तपश्चरण से ही कर्मों की निर्जरा होती है। देखो, ज्ञान की प्राप्ति का साधन जो स्वाध्याय है वह तप ही है और ध्यान भी तपश्चरण का ही अंतिम भेद है। इसके बजाय अनशन आदि तपश्चरण भी ध्यान की सिद्धि में साधनभूत हैं। तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने भी पूर्वजन्म में सिंहनिष्क्रीडित आदि घोर-घोर तपश्चरण किये हैं और इस जन्म में तपश्चरण किया है। दूसरी बात यह है कि जिसकी आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान हो चुका है। वह सम्यग्दृष्टी तपश्चरण में प्रमाद कभी भी नहीं करेगा चूँकि वह शरीर को आत्मा से भिन्न समझता है पुनः वह उसे सुखिया बनाने में ही कैसे प्रवृत्त होगा वह तो रत्नत्रय की सिद्धि हेतु शरीर से श्रम ही करायेगा और जब तक हम घर और स्त्री, पुत्र, मित्र आदि को नहीं छोड़ सकते तब तक हम क्या करें? तो आचार्यों ने इसके लिए भी बताया है कि तब तक तुम्हें श्रावक की क्रिया का पालन करते हुए दानपूजन में और गृहत्यागी साधुओं में अत्यर्थ अनुराग रखना चाहिए। परमात्म प्रकाश में बतायाहै कि "श्रावक साधुओं के लिए भक्तिपूर्वक आहारदान, अभयदान, औषधिदान और शास्त्रदान देवे। जिसने मुनि को आहारदान दिया तो समझिये कि शुद्धात्मानुभूति के लिए साधनभूत ऐसे बाह्य-आभ्यंतर भेद सहित बारह प्रकार का तपश्चरण ही दिया है और शुद्धात्म भावना लक्षणरूप जो संयम है उसका साधक जो यह शरीर है उस शरीर की ही स्थिति की हेतुथा उसने शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप भवांतरगति–मोक्ष को ही प्रदान किया है अर्थात् जिसने यति को आहारदान दिया, उसने तपश्चरण का ही दान किया है ऐसा समझो चूँकितपश्चरण और संयम का साधन शरीर है और इसकी स्थिति आहार पर ही अवलंबित है तथाउसने मोक्ष का ही दान कर दिया है ऐसा समझना चाहिए चूँकि इस शरीर के द्वारा ही रत्नत्रय की सिद्धि करके मोक्ष की प्राप्ति की जाती है।

मोह नष्ट करने के लिए नासिका से निकला हुआ जो श्वासोच्छ्वास है वह जब मिथ्यात्व विषय और कषाय रहित निर्विकल्पसमाधि में मिल जाता है तभी यह मोह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और मन भी अस्तंगत हो जाता है।

जब यह जीव रागादि पर भावों से शून्य निर्विकल्प समाधि में स्थिर होता है तब

यह उच्छ्वास रूप वायु नासिका के दोनों छिद्रों को छोड़कर स्वयं ही क्षणमात्र तो अनीहितवृत्ति से–स्वभाव से तालुरन्ध्र में–जो कि बाल की अनी के आठवें भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्र है उसमें होकर बारीक निकलती है अर्थात् नाक के छेद को छोड़कर तालुरंध्र में होकर निकलती है और पुनः कुछ क्षणमात्र तक नासिका से निकलती है, पुनः क्षणमात्र तक उसी दशमद्वार (तालुरन्ध्र) से निकलती है। उस समय मोह नष्ट हो जाता है, मन मर जाता है और श्वासोच्छ्वास रूक जाता है और तभी केवलज्ञान भी प्रगट हो जाता है अर्थात् शुद्धोपयोगी महामुनि तो अपने स्वरूप में तल्लीन हो जाते हैं उन्हीं की यह अवस्था विशेष होती है और तभी यह जीव कर्मों से छुटकारा पा लेता है।

मन को वश में करने का और मोह को क्षीण करने का एक उपाय स्वाध्याय ही है। स्वाध्याय के समय मन अर्थ के चिंतन में लग जाता है, अन्य इन्द्रियां भी अपना व्यापार बाहर से संकोच लेती है। श्रुत से संस्कारित हुआ मन स्वसंवेदन ज्ञान के बल से अपने शुद्ध तत्व को प्राप्त कर लेता है जैसे कि क्षारमृत्तिका–सज्जी आदि के संयोग को प्राप्त हुआ जल मलिन वस्त्र को स्वच्छ कर देता है। अर्थात् जैसे साबुन आदि क्षारपदार्थ के संयोग से जल मलिन से मलिन वस्त्र को उज्ज्वल कर देता है उसी प्रकार से श्रुताभ्यास से संस्कारित मन आत्मा को शुद्ध निर्मल बना देता है।

"केवलज्ञान ही साक्षात् मुक्ति का साधन है और वह स्वानुभूति के बल से प्रगट होता है और वह स्वानुभूति श्रुत के एक ही उत्कृष्ट संस्कार से संस्कारित मन द्वारा होती है इसलिए स्वाध्याय का ही अवलंबन लेना चाहिए।"

"चित्ते बद्धे बद्धो मुक्के मुक्को त्ति णत्थि संदेहो।
अप्पा विमल सहावो मइलिज्जइ मइलिए चित्ते।।

मन के बंधन से ही यह जीव कर्मों से बंधा हुआ है और मन के मुक्त होने से ही यह जीव मुक्त हो जाता है इसमें कोई संदेह नहीं है। चूँकि यह आत्मा विमल स्वभाव वाला है और फिर भी इस मलिन चित्त के होने से ही मलिन-कर्ममल सहित अपवित्र हो रहा है अर्थात् जब तक यह मन धन-धान्य आदि परिग्रहों में आसक्त हो रहा है तभी तक ही संसार है और जब यह मन इन परिग्रहों से, विषय और कषायों से छूट जाता है तभी यह जीव संसार के बंधन से मुक्त हो जाता है। जब तक यह मन मैला है तभी तक आत्मा भी मैली है, मन के उज्ज्वल होते ही शुक्लध्यानमय परिणमन करते ही यह आत्मा भी शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार चैतन्य धातुमय प्रगट हो जाती है।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा को शुद्ध बनाने के लिए परिग्रह आदि के त्याग की पूर्ण आवश्यकता है आप जब तक उसका त्याग नहीं कर सकते तब तक श्रावकोचित दान, पूजन, स्वाध्याय आदि आवश्यक क्रियाओं द्वारा अपने आपको अशुभ कर्मों के बंध से बचाते रहेंगे तो भी इस युग में आपके लिए बहुत कुछ लाभ ही है ऐसा समझो। इस काल में शुभ कर्म के संचय से छूट कर शुद्ध होना तो असंभव ही है।

प्रवचन–22

श्रुतपंचमी पर्व

भव्यात्माओं! वैशाख सुदी दशमी के दिन भगवान महावीर को केवलज्ञान प्रगट हुआ था, किन्तु गणधर के अभाव में 66 दिन तक उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी। उस समय इन्द्र ने बुद्धिबल से इन्द्रभूति नामक ब्राह्मण को वहाँ उपस्थित किया। गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ने अपने भाई अग्निभूति और वायुभूति के साथ तथा अपने पाँच सौ शिष्यों सहित प्रभु के समवसरण में जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्क्षण ही वे मनःपर्ययज्ञान से और सात महाऋद्धियों से सम्पन्न होकर भगवान के प्रथम गणधर हो गये। पुनः उन्होंने भगवान से "जीव है या नहीं" इत्यादि रूप से अनेंको प्रश्न किए। उस समय भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी।

"राजगृही नगर में विपुलाचल पर्वत के ऊपर भगवान महावीर की सबसे प्रथम दिव्यदेशना हुई है। वह दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा का था। जो कि आज भी "वीरशासन जयंती" के नाम से प्रसिद्ध है। गौतम स्वामी ने उसी दिन बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रंथों की एक ही मुहूर्त में रचना की। इस तरह भावश्रुत और अर्थ पदों के कर्तातीर्थंकर भगवान महावीर हैं और तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुए इसलिए दिव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। इस तरह गौतम गणधर से ग्रंथ रचना हुई।

गौतम स्वामी ने दोनों प्रकार का ज्ञान लोहाचार्य को दिया। लोहाचार्य ने भी जंबूस्वामी को दिया। परिपाटी क्रम से ये तीनों ही सकल श्रुत के धारक कहलाये और यदि परिपाटी क्रम की अपेक्षा न की जाये तो उस समय संख्यात हजार सकलश्रुत के धारी हुए।

गौतम स्थविर, लोहाचार्य और जंबूस्वामी ये तीनों ही सप्तर्द्धिसम्पन्न सकल श्रुतधर होकर अंत में केवलज्ञानी होकर निर्वाण को प्राप्त हुए। इसके बाद विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँचों ही आचार्य परिपाटी क्रम से चौदह पूर्व के धारी हुए। अनंतर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थ, स्थविर, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह महामुनि ग्यारह अंग और दश पूर्वों के ज्ञाता हुए तथा शेष चार पूर्वों के एकदेश ज्ञाता हुए। इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडुस्वामी, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पाँचों ही आचार्य ग्यारह अंगों के ज्ञाता हुए और चौदह पूर्वों के एकदेश ज्ञाता हुए। तदनंतर सुभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य ये चारों ही आचार्य संपूर्ण आचारांग के धारक और शेष अंग-पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। इसके बाद सभी अंग और पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ।

नन्दि आम्नाय की प्राकृत पद्यावली में लोहाचार्य के अनंतर "अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबली" ऐसा क्रम लिया है एवं इन्द्रनंदिकृत-श्रुतावतार में लोहाचार्य के अनंतर अंगपूर्व के एकदेश ज्ञाता में "विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त ये चार नाम कहे हैं। पुनः अर्हद्बलि नाम के महानज्ञानी आचार्य हुए, जिन्होंने पृथक्-पृथक् संघ व्यवस्था बनाई। इनके बाद "माघनन्दि" आचार्य हुए, वे भी अंगपूर्व के एकदेश ज्ञाता थे। पुनः धरसेनाचार्य हुए।

सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में रहने वाले अष्टांग महानिमित्तज्ञानी श्रीधरसेनाचार्य ने "अंगपूर्व श्रुतज्ञान का विच्छेद न हो जाये" इसलिए "महामहिमा अर्थात् पंचवर्षीय साधु सम्मेलन में आये हुए दक्षिणपथ के आचार्यों के पास एक लेख भेजा। लेख को पढ़कर उन आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ, नानागुण युक्त-देश, कुल और जाति से शुद्ध ऐसे दो साधुओं को आंध्रदेश की वेभानदी के तट से भेजा।

इधर धरसेनाचार्य ने स्वप्न में देखा कि अत्यन्त शुभ और उन्नत दो बैल हमारी तीन प्रदक्षिणा देकर चरणों में पड़ गये हैं। स्वप्न से संतुष्ट हुए श्री धरसेन भट्टारक ने 'जयतु श्रुतदेवता' ऐसा वाक्य उच्चारण किया और उठ बैठे। उसी दिन प्रातः वे दोनों मुनि श्रीगुरु के पास पहुँचे और विनयपूर्वक कृतिकर्म विधि से उनकी पादवंदना की। अनंतर दो दिन बिताकर तीसरे दिन उन दोनों ने निवेदन किया कि "हम श्रुत अध्ययन हेतु आपके पादमूल में आये हुये हैं।" उनके वचनों को सुनकर गुरु ने "अच्छा है, कल्याण हो" ऐसा कहकर उन्हें आश्वासन दिया।

पुनः भगवान ने विचार किया कि "जो साधु भग्नघट आदि के समान श्रोताओं को मोह से श्रुत का व्याख्यान करते हैं वे रत्नत्रय की प्राप्ति से भ्रष्ट होकर भव वन में चिरकाल तक भ्रमण करते हैं।" इस वचन के अनुसार स्वच्छंदतापूर्वक आचरण करने वाले श्रोताओं को विद्या देना संसार और भय का ही बढ़ाने वाला है, ऐसा सोचकर शुभ स्वप्न देखने मात्र से ही यद्यपि आचार्य श्री ने उन मुनियों की विशेषता को जान लिया था, तो भी उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया, क्योंकि उत्तम प्रकार की परीक्षा ही हृदय में संतोष को उत्पन्न करती है।

इसके बाद आचार्य ने उन दोनों को दो विद्याएं दीं। उनमें से एक अधिक अक्षर वाली थी और दूसरी हीन अक्षर वाली थी। विद्याएं देकर उनसे कहा कि बेला करके इनको सिद्ध करो। जब उनकी विद्याएं सिद्ध हो गईं, तो उन्होंने विद्या की अधिष्ठात्री देवताओं को देखा कि एक देवी के दाँत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है। "विकलांग होना देवताओं का स्वभाव नहीं होता है" इस प्रकार विचार कर मंत्र संबंधी व्याकरण शास्त्र में कुशल उन दोनों ने हीन अक्षर वाली विद्या में अधिक अक्षर मिलाकर

और अधिक अक्षर वाली विद्या में से अक्षर निकालकर मंत्र फिर से सिद्ध करना प्रारंभ किया। जिससे वे दोनों विद्या देवताएं अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूप में स्थित दिखलाई पड़ीं।

तदनंतर भगवान धरसेन के समक्ष आकर उन दोनों ने विनय सहित सारा वृतांत निवेदित किया। ''बहुत अच्छा'' इस प्रकार संतुष्ट हुए धरसेन भट्टारक ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभवार में ग्रंथ पढ़ाना प्रारंभ किया। इस तरह क्रम से व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान से उन दोनों ने आषाढ़ शुक्ला एकादशी के पूर्वाण्ह काल में ग्रंथ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रंथ समाप्त किया, इसलिए संतुष्ट हुए भूत जाति के व्यंतर देवों ने उन दोनों में से एक की पुष्प, बलि तथा शंख और तूर्य जाति के वाद्य विशेष के नाद से व्याप्त बड़ी भारी पूजा की। उसे देखकर भट्टारक धरसेन ने उनका ''भूतबलि'' यह नाम रखा तथा जिनकी भूतों ने पूजा की है और अस्त-व्यस्त दंत पंक्ति को दूर करके जिनके दांत समान कर दिये हैं ऐसे दूसरे का भी धरसेन भट्टारक ने 'पुष्पदंत' नाम रखा।

अनंतर उसी दिन वहाँ से भेजे गये उन दोनों ने ''गुरु की आज्ञा अलंघनीय होती है'' ऐसा विचार कर आते हुए अंकलेश्वर गुजरात में वर्षाकाल बिताया। वर्षायोग समाप्त कर जिनपालित को देखकर (उसको साथ लेकर) पुष्पदंत आचार्य तो वनवासि देश को चले गये और भूतबलि भट्टारक तमिल देश को चले गये। तदनंतर पुष्पदंत आचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर पुनः बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र बनाकर और जिनपालित को पढ़ाकर अनंतर उन्हें भूतबलि आचार्य के पास भेजा। जिनपालित मुनि को और उनके पास बीस प्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणा के सूत्रों को देखकर तथा जिनपालित के मुख से पुष्पदंत आचार्य की अल्पायु जानकर भूतबलि आचार्य ने विचार किया कि ''महाकर्म प्रकृति प्राभृत का विच्छेद हो जायेगा, अतः हमें इस कार्य को पूरा करना चाहिए'' ऐसा सोचकर भगवान भूतबलि ने ''द्रव्यप्रमाणानुगम'' आदि को लेकर ग्रंथ रचना की। इसलिए खंड सिद्धांत की अपेक्षा भूतबलि और पुष्पदंत आचार्य श्री श्रुत के कर्ता कहे जाते हैं। अर्थात् पुष्पदंत और भूतबलि आचार्य ने जीव-स्थान, क्षुद्रकबंध, बंधस्वामित्व, वेदनाखंड, वर्गणाखंड और महाबंध'' नामक षट्खण्डागम की रचना की है।''

धवला में षट्खण्डागम की रचना का इतना ही इतिहास पाया जाता है। इससे आगे का वृत्तांत इन्द्रनंदिकृत श्रुतावतार में मिलता है।

''श्री भूतबलि आचार्य ने षट्खण्डागम की रचना पुस्तकबद्ध करके ज्येष्ठ शुक्ला-पंचमी को चतुर्विध संघ के साथ उन पुस्तकों की उपकरण श्रुतज्ञान की पूजा की।'' इसीलिए श्रुत पंचमी तिथि तभी से प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई है और आज तक भी जैन लोग श्रुतपंचमी के दिन श्रुत पूजा करते हैं।'' फिर भूतबलि ने उन षट्खण्डागम पुस्तकों

को जिनपालित के हाथ पुष्पदंत गुरु के पास भेजा। उन्हें देखकर और चिंतित कार्य को सफल जानकर पुष्पदंत आचार्य अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने भी चातुर्वर्ण संघ सहित सिद्धांत की पूजा की। यह तो षट्खण्डागम सिद्धांत की उत्पत्ति मैंने बताई।

ऐसे ही कषाय प्राभृत महाग्रंथराज को श्री गुणधर आचार्य ने बनाया है। इन दोनों प्रकार के सिद्धांत ग्रंथों का द्रव्यभाव पुस्तक गतज्ञान गुरुपरंपरा से आता हुआ कुंदकुंदपुर के मुनि श्री पद्मनंदि आचार्य को प्राप्त हुआ।

इस पद्मनंदि अपरनाम श्री कुंदकुंदाचार्य ने पहले षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नाम का एक टीका ग्रंथ रचा। पुनः कुछ काल के बाद ''शामकुंड'' नाम के आचार्य ने छठे खंड को छोड़कर पाँच खंडों पर तथा दूसरे सिद्धांत ग्रंथ कषाय प्राभृत पर ''पद्धति'' नाम से टीका रची। यह टीका भी बारह हजार श्लोक प्रमाण थी और संस्कृत, प्राकृत तथा कन्नड़ इन तीनों भाषाओं से मिश्रित थी।

पुनः कुछ काल बाद तुंबुलूर ग्राम में तुंबुलूर नाम के आचार्य हुए हैं। इन्होंने छठे खंड के अतिरिक्त पूर्व के पाँच खण्डों पर चौरासी हजार श्लोक प्रमाण से ''चूड़ामणि'' नाम की टीका रची तथा छठे खंड पर सात हजार प्रमाण में ''पंचिका'' लिखी है। वह कर्नाटक भाषा में थी।

इसके भी कुछ काल बाद ''तार्किकार्क'' नाम से प्रसिद्ध भी समंतभद्र स्वामी हुए हैं। उन्होंने भी दोनों ही सिद्धांतों का अध्ययन करके षट्खण्डागम के पांच खंडों पर अड़तालिस हजार श्लोक प्रमाण में संस्कृत भाषा में अति सुन्दर और मृदुल टीका लिखी है। इसके ये स्वामी द्वितीय सिद्धांत की भी टीका रचने वाले थे किन्तु उनके एक सहधर्मी ने द्रव्यादि शुद्धि के करने के प्रयत्न का अभाव होने से उन्हें रोक दिया।

इसी परम्परा में ''शुभनंदि'' और ''रविनंदि'' नाम के दो मुनि सिद्धान्तों के ज्ञाता हुए। उनसे समस्त सिद्धांत को सीखकर ''बप्पदेव'' गुरु ने महाबंध को छोड़ शेष पाँच खंडों पर ''व्याख्याप्रज्ञप्ति'' नाम की टीका रची। पुनः महाबंध पर संक्षिप्त व्याख्या लिखकर कषाय प्राभृत की टीका रची। ये सब रचना प्राकृत में थी तथा पाँच खण्ड और कषाय प्राभृत इनकी टीका का प्रमाण साठ हजार एवं छठे खण्ड की टीका का पाँच अधिक आठ हजार प्रमाण था।

पुनः कुछ काल व्यतीत हो जाने पर चित्रकूटपुरवासी श्री एलाचार्य महामुनि सिद्धान्तवेत्ता हुए। उनके पास सकल सिद्धांत का अध्ययन करके श्री वीरसेनाचार्य ने निबंधन आदि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरु की आज्ञा से वे वाट ग्राम में आये और वहाँ के आनतेंद्र द्वारा बनवाये हुए जिनालय में ठहरे। वहीं पर उन्हें बप्पदेव गुरु की व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका प्राप्त हो गई, फिर उन बंधन आदि को अठारह अधिकारों में पूरा करके ''सत्कर्म'' नाम का छठवाँ खंड संक्षेप से तैयार किया और इस प्रकार ''षट्खण्डागम''

की बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित ''धवला'' नाम की टीका लिखी। पुनः कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर बीस हजार श्लोक प्रमाण ''जयधवला'' टीका लिखने के पश्चात् वे स्वर्गवासी हो गये।

तब उनके शिष्य जिनसेन ने उस जयधवला टीका को आगे चालीस हजार श्लोक प्रमाण में बनाकर पूर्ण किया। इस प्रकार ''जयधवला'' टीका साठ हजार श्लोक प्रमाण हुई। आज ''धवला टीका'' समन्वित षट्खण्डागम प्रकाशित हो चुका है और ''जयधवला टीकासमन्वित'' कषायपाहुड़ ग्रंथ भी छपा है।

भव्यात्माओं! इस प्रकार से इस ''श्रुतावतार'' का श्री इन्द्रनन्दि आचार्य ने निरूपण किया है। श्रुतपंचमी के दिन साधुवर्ग भव्यजीवों के समक्ष इस श्रुतातवार का वाचन करें ऐसा आदेश दिया है। इस श्रुतपंचमी के दिन श्रावक और श्राविकाओं का भी कर्तव्य है कि श्रुत की बड़े समारोह से पूजन करें या श्रुतस्कंध विधान करें तथा प्राचीन ग्रंथों को सुरक्षित करके उन्हें नूतन वेष्टन में बांधें और आचार्यों द्वारा प्रणीत तथा वर्तमान में मुद्रित आगमोक्त ग्रंथों को मंगाकर मंदिर में विराजमान करें और सिद्ध श्रुत भक्ति आदि करके केवलज्ञान को प्राप्त करने में सहायक ऐसा पुण्य संचित कर लेवें।

पुण्य और धर्म के स्वामी कौन-कौन हैं

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।।81।।

पूजा आदि क्रियाओं में पुण्य होता है। श्रावक सम्यग्दर्शन और अणुव्रतों से सहित जिनपूजा, दान आदि क्रियाओं को करके सातिशय पुण्य संचित कर लेता है ऐसा उपासकाध्ययन नाम के अंग में जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित है। टीकाकार कहते हैं– सर्वज्ञ वीतराग देव की पूजा आदि निदानबंध से रहित है तो वह तीर्थंकर नाम कर्म के बंध का भी कारण हो सकती है। अतः गृहस्थ का पूजादि से संचित पुण्य स्वर्ग के सुखों का कारण है पुनः परम्परा से मोक्ष का भी कारण है तथा मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध, बुद्धैक आत्मा का चिच्चमत्कार लक्षण, चिदानंद रूप परिणाम धर्म कहलाता है वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। यहाँ पर पुत्र, स्त्री, धन आदि में 'यह मेरा है' ऐसे भाव को मोह कहा है और परीषह उपसर्ग के आ जाने पर चित्त का चंचल हो जाना क्षोभ कहलाता है। निर्विकल्प समाधि में स्थित महामुनि का शुद्धोपयोग रूप स्थिर परिणाम ही धर्म है। टीकाकार कहते हैं यह धर्मरूप परिणाम ''गृहस्थानां न भवति पंचसूनासहितत्वात्'' गृहस्थों के संभव नहीं है क्योंकि वे पंचसूना-आरंभ आदि से सहित हैं। अतः आज के गृहस्थ को जिनपूजा आदि कार्यों में ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए।

(श्री कुन्दकुन्द देव)

प्रवचन–23

पंचकल्याणक क्या है?

भव्यात्माओं! इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में चतुर्थकाल में हमेशा 24 तीर्थंकरों का अवतार होता रहता है। कोई भी महापुरुष तीर्थंकर के पादमूल में रहकर दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं को भाते हैं और उसके प्रसाद से तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके स्वर्गों में देव पद को प्राप्त कर लेते हैं।

उन तीर्थंकर होने वाले के मध्यलोक में गर्भावतार के छह माह पूर्व ही माता के आंगन में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर रत्नों की वर्षा करने लगता है। श्री, ह्री, धृति, कीर्ति आदि अष्ट दिक्कुमारी देवियाँ बड़े हर्ष से वहाँ आ जाती हैं और जिनेन्द्रदेव के होनहार माता-पिता को नमस्कार करके अपने आने का कारण निवेदन करती हैं पुनः नाना प्रकार से माता की सेवा में तत्पर हो जाती हैं। कोई माता के गुणों का गान करती हैं कोई पैर दबाती हैं, कोई दिव्य भोजन की व्यवस्था करती हैं, कोई छत्र लगाती हैं, कोईचमर ढोरती हैं कोई तलवार-चक्र और स्वर्णमयी बेंत हाथ में लेकर द्वारपाल का काम करती हैं

गर्भकल्याणक– छह महीने के अनंतर एक दिन रात्रि के पिछले भाग में माता को सोलह स्वप्न दिखाई देते हैं। जो कि क्रम से इस प्रकार हैं–

1. ऐरावत हाथी 2. बैल 3. सिंह 4. हाथियों द्वारा अभिषिक्त होती हुई लक्ष्मी 5. दो मालाएं 6. चन्द्रमा 7. उगता हुआ सूर्य 8. मीन युगल 9. जल से भरे दो कलश 10. कमल सहित सरोवर 11. महासमुद्र 12. सुवर्णमय सिंहासन 13. देवविमान 14. नागेन्द्र भवन 15. महारत्नराशि 16. निर्धूम अग्नि।

इन स्वप्नों को देखकर माता निद्रा को दूरकर प्रातः क्रिया से निवृत्त होकर राजदरबार में राजा के पास पहुँचती हैं और यथायोग्य आसन पर बैठकर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक अपने स्वप्नों को निवेदित करती हैं। उन्हें सुनकर महाराजा प्रत्युत्तर में कहते हैं कि-

हे प्रिये! निश्चय ही आज तुम्हारे गर्भ में तीनलोक के नाथ तीर्थंकर ने अवतार ले लिया है। लगातार छह मास से होने वाली रत्नों की वर्षा और देवियों के द्वारा की हुई शुश्रूषा से हम दोनों को जिनेन्द्रदेव के जिस जन्म की सूचना मिली थी वह आज सफल हुई है। यह सुनकर कांति को धारण करती हुई माता अतीव प्रसन्नता को प्राप्त हो जती है।

क्रम-क्रम से गर्भ की वृद्धि होने पर भी माता की त्रिवलि की शोभा भंग नहीं होती है। तीर्थंकर शिशु का गर्भ में निवास वैसा ही होता है जैसा कि जल में प्रतिबिंबित सूर्य का होता है। मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानरूपी नेत्रों के द्वारा जगत को देखते हुए जिनबालक, दिक्कुमारियों के द्वारा शुद्ध किये हुए गर्भ में नौ मास तक सुख से स्थित

रहते हैं। गर्भ में आने के नौ माह पूर्ण होने तक लगातार रत्नों की वर्षा होती रहती है।

जन्मकल्याणक – अनंतर सर्वोच्च शुभ ग्रहों में, शुभ नक्षत्र में पूर्व दिशा के सदृश जिनमाता जिनबालकरूपी सूर्य को जन्म देती हैं। उसी समय भवनवासी देवों के यहाँ अपने आप शंखों का शब्द, व्यंतरों के भवनों में भेरी का शब्द, ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद और कल्पवासी देवों के यहाँ घंटों का जोरदार शब्द होने लगता है। तीनों लोकों में स्थित सभी इन्द्रों के मुकुट झुक जाते हैं, उनके आसन कंपित हो उठते हैं और उनके कल्पवृक्षों से पुष्पवृष्टि होने लगती है। अवधिज्ञान से जानकर इन्द्र महाराज भगवान की दिशा में सात पग चलकर उन्हें परोक्ष में नमस्कार करके उनके जन्मकल्याणक को मनाने हेतु सभी देवों को चलने की सूचना कर देते हैं।

उधर माता की सेवा में तत्पर हुई देवियां शीघ्र ही करने योग्य जातकर्म में लग जाती हैं। सेनापति के द्वारा सौधर्म इन्द्र का आदेश सुनाया जाने पर स्वर्ग के समस्त देव अपनी-अपनी सेना और परिवार सहित सौधर्म इन्द्र के निकट आ जाते हैं। समस्त भवनवासी, व्यंतरवासी और ज्योतिषी देव अपने-अपने स्थानों से बाहर आ जाते हैं। सोलह स्वर्ग तक के इन्द्र अपने-अपने परिकर सहित चल पड़ते हैं। उस समय हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति, बैल, गंधर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की सेनाओं से आकाश मंडप व्याप्त हो जाता है।

सौधर्म इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर चढ़कर चल पड़ता है। असंख्य देवों का समूह निमिष मात्र में तीर्थंकर देव की जन्मनगरी में आ जाता है। उस नगर की तीन प्रदक्षिणा देकर इन्द्र भीतर प्रवेश करता है और जिनेन्द्र शिशु को लाने के लिए इन्द्राणी को आज्ञा देता है। इन्द्राणी माता के प्रसूति गृह में प्रवेश कर माया से माता को सुख निद्रा में निमग्न कर उनके पास मायामयी दूसरा बालक सुलाकर जिनबालक को प्रणाम कर पुनः उन्हें दोनों हाथों से उठा लेती है उस समय अतीव हर्ष से रोमांचित हुई उस देवी को इतना आनंद होता है कि तत्क्षण ही संचित हुआ पुण्य उसे मात्र एक भवावतारी बना देता है। इन्द्राणी बालक को गोद में लेकर बाहर आकर इन्द्र को सौंप देती है। इन्द्र उस क्षण हजार नेत्र बनाकर जिनदेव के रूप को देखते हुए भी तृप्त नहीं होता है पुनः प्रभु को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर बैठ जाता है और महावैभव के साथ अर्धनिमिष मात्र में सुदर्शन मेरु पर पहुँच जाता है। पहले मेरुपर्वत की तीन प्रदक्षिणा देता है पुनः उसके पांडुकवन में पांडुकशिला पर स्थित सिंहासन पर जिनबालक को विराजमान करके अभिषेक के वेष में सौधर्म इन्द्र भगवान का अभिषेक करता है।

क्षीरोदधि से भरकर लाये गये एक हजार आठ कलशों का दृश्य अतीव मनोरम दिखता है। सबसे प्रथम सौधर्म इन्द्र प्रभु का अभिषेक करते हैं पुनः हजारों देव मिलकर अभिषेक करते हैं और ''इन्द्राणी आदि देवियाँ भी सुगंधित जल से भरे कलशों द्वारा

भगवान का अभिषेक करती हैं'' पुनः भगवान के शरीर को पोंछकर नाना प्रकार के सुन्दर वस्त्रों को और आभूषणों को पहनाकर अलंकृत करती हैं। अनंतर इन्द्र जिनबालक का नाम रखकर वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर वहाँ पर आंनद नृत्य आदि करते हुए महान उत्सव मनाते हैं। पश्चात् जिनबालक की सेवा करने के लिए देवों को उनके पास छोड़कर और भगवान के हाथ के अंगूठे में अमृत आरोपित कर इंद्रादि देव अपने-अपने स्थानों पर चले जाते हैं। भगवान् उस अंगूठे को चूसकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं, वे माता के स्तन का पान नहीं करते हैं। भगवान के बड़े होने पर उनके लिए भोजन और वस्त्र आदि सामग्री देव लोग स्वर्ग से ही लाते हैं। युवावस्था में कोई-कोई तो ब्याह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं और कोई बाल-ब्रह्मचारी ही रहते हैं। उनके राज्यपट्ट के समय भी इंद्रादि देवगण आकर उनका राज्याभिषेक करते हैं। प्रभु के राज्यशासन में प्रजा परम सुख और सौभाग्य का अनुभव करती है।

दीक्षाकल्याणक – जातिस्मरण, मेघविलय आदि किन्हीं कारणों से जब तीर्थंकर देव को संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है तब उसी क्षण लौकांतिक देव आ जाते हैं और भगवान को नमस्कार कर उनके वैराग्य की प्रशंसा करते हुए सातिशय पुण्य संचय करके वापस चले जाते हैं पुनः सौधर्म इन्द्र आदि देवगण आकर प्रभु का महाभिषेक करके उन्हें पालकी में विराजमान करते हैं। पहले राजागण पुनः विद्याधर उस पालकी को ले चलते हैं उसके बाद इंद्रादि देव अपने कंधों पर रखकर आकाश मार्ग से दीक्षावन में पहुँच जाते हैं। वहाँ पर पहले से ही इंद्राणी चौक पूरकर रखती हैं। उस पर विराजमान होकर भगवान् सर्व वस्त्राभरणों का त्याग करके पंचमुष्टि केशलोंच कर डालते हैं। इंद्र उन केशों को रत्नपिटारे में रखकर ले जाकर उन्हें क्षीरसागर में विसर्जित कर देता है। भगवान् उस समय बेला, तेला आदि उपवास का नियम लेकर धर्मध्यान में लीन हो जाते हैं। अंतर्मुहूर्त में ही उन्हें मनः पर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है। जब ध्यान समाप्त होता है तब वे पारणा के लिए ग्राम, नगर में प्रवेश करते हैं। कोई महाभाग्यशाली राजा उन्हें पड़गाहन कर निर्दोष और प्रासुक आहार प्रदान करके देवों द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि को प्राप्त करता है। वह दातार नियम से मोक्षगामी होता है। अनंतर भगवान् मौनपूर्वक तपश्चरण करते हुए अपना छद्मस्थ काल व्यतीत करते हैं।

ज्ञानकल्याणक – प्रायः दीक्षा वन में निश्चल ध्यान से आरूढ़ हुए भगवान् क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके घातिया कर्मों का नाश कर देते हैं और केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। उसी क्षण सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर यहाँ आकर समवसरण की रचना कर देता है। उस समवसरण में भगवान् चार अंगुल अधर विराजमान रहते हैं। उस समय कोई राजा, महाराजा दीक्षा लेकर भगवान् के गणधर हो जाते हैं। तब भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है जो कि सात सौ अठारह भाषाओं में होती है अथवा

समवसरण की बारह सभा में बैठे हुए असंख्य प्राणी उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। इस समवसरण में चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ होते हैं जिनके दर्शन से मिथ्यादृष्टि लोगों का मान गलित हो जाता है। बारह सभा में दाहिनी ओर से लेकर क्रम से 1. मुनि 2. कल्पवासिनी देवियाँ 3. आर्यिकाएं 4. ज्योतिषी देवों की देवियाँ 5. व्यंतर देवों की देवियाँ 6. भवनवासी देवों की देवियाँ 7. भवनवासी देव 8. व्यंतर देव 9. ज्योतिषी देव 10.कल्पवासी देव 11. मनुष्य और 12. तिर्यंच ये पृथक्-पृथक् अपने-अपने कक्ष में बैठकर भगवान का दिव्य उपदेश श्रवण करते हैं। भगवान का जहाँ-जहाँ श्री विहार होता है वहाँ-वहाँ दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, रोग, शोक आदि संकटों का अभाव हो जाता है। बल्कि 50 वर्ष तक उस भूमि में कोई उपद्रव आदि नहीं होते हैं[1]। पापी, विरुद्ध कार्य करने वाले, पाखंडी, नपुंसक, विकलांग और विकलेन्द्रिय जीव उस समवसरण में प्रवेश नहीं कर पाते हैं वे बाहर ही बाहर प्रदक्षिणा देते हैं। समवसरण भूमि तल से बीस हजार हाथ प्रमाण ऊँचा रहता है अतः इसमें 20 हजार सीढ़ियाँ रहती हैं। वृद्ध, बालक आदि कोई भी नर-नारी भक्ति से अंतर्मुहूर्त मात्र में सम्पूर्ण सीढ़ियों को पारकर जाते हैं। यह सब भगवान् के केवलज्ञान का ही माहात्म्य है।

मोक्षकल्याणक—अधिक से अधिक एक माह और कम से कम दो दिन की जब आयु शेष रह जाती है तब भगवान निश्चल ध्यान में आरूढ़ होकर योगों का निरोध कर लेते हैं। उस समय समवसरण विघटित हो जाता है। भगवान अन्त में शेष अघातिया कर्मों का भी विनाश कर एक समय मात्र में ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर पहुँच जाते हैं वहाँ पर अक्षय, अनंत, अविनाशी, शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं। उसी समय मुनियोंका श्रेष्ठ संघ, देवों का समूह और चक्रवर्ती आदि प्रमुख राजाओं का समूह ये सब तीव्र भक्तिवश गंध, पुष्प, धूप, अक्षत और देदीप्यमान दीपक आदि के द्वारा जगद्गुरु देवाधिदेवके शरीर की पूजा कर नमस्कार करते हैं और अग्निकुमार देव के मुकुटानल से उसका संस्कार करके उस पवित्र भस्म को अपने ललाट आदि उत्तम स्थानों में लगाकर अपने को पवित्र करके कृतकृत्य होते हुए अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

जहाँ पर तीर्थंकर महापुरुष जन्म लेते हैं, दीक्षा ग्रहण करते हैं, केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं और निर्वाण को प्राप्त करते हैं ये कल्याणक स्थान कहलाते हैं। ये पवित्र स्थान मनुष्यों ही क्या देव और इन्द्रों के द्वारा तथा महामुनियों के द्वारा भी पूज्यता को प्राप्त हुए "महातीर्थ" हैं। उनके कल्याणकों को देखने का अवसर नहीं मिलता है फिर भी जब जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा विधि की जाती है उस समय उन तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों का दृश्य दिखाया जाता है। जो इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा को करते हैं, कराते हैं, अनुमोदना करते हैं और देखते हैं तथा सुनते हैं वे सभी महान् पुण्य के भागी होते हैं इसमें कोई संदेह नहीं है।

प्रवचन—24

गति एवं उनसे आने-जाने के द्वार

भव्यात्माओं! **'भवांतरावाप्तिः गतिः'** एक भव को छोड़कर दूसरे भव के ग्रहण करने का नाम गति है। गति के चार भेद हैं-नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। एक-एक गति से आने के और उसमें जाने के कितने द्वार हैं—

(1) नरकगति से आने के दो द्वार हैं और नरक गति में जाने के भी दो ही द्वार हैं। एक मनुष्य और द्वितीय तिर्यंच। अर्थात् मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही मरकर नरकगति में जा सकते हैं तथा नरकगति से निकलकर जीव मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही हो सकते हैं। अन्य गति में नहीं जा सकते हैं।

असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पहले नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नरकों में नहीं चूँकि वे मन के बिना इतना अधिक पाप नहीं कर सकते हैं। सरीसृप तिर्यंच दूसरे नरक तक ही जा सकते हैं, इससे नीचे नहीं। पक्षीगण कदाचित नरक जावें तो तीसरे नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नहीं जा सकते हैं। सर्प चौथे नरक तक जा सकते हैं इससे नीचे नरकों में नहीं। सिंह कितना भी अधिक पाप क्यों न करें किन्तु वह पांचवे नरक तक ही जन्म ले सकता है छठे या सातवें में नहीं। स्त्रियां अधिक से अधिक पाप करके भी छठे नरक तक ही जा सकती हैं सातवें में नहीं चूँकि उनके उत्तम संहननों का अभाव है। पुरुष और मत्स्य सातवें नरक तक गमन करने की शक्ति रखते हैं। स्वयंभूरमण समुद्र में रहने वाले महामत्स्य और उसके कान में रहने वाले तंदुल मत्स्य यदि हिंसा करते हैं या तंदुल मत्स्य जो कि सभी जीवों के खाने का भाव ही किया करता है। ये मत्स्य हिंसा के अभिप्राय से सातवें नरक में भी चले जाते हैं। यह तो हुई नरकगति में जाने वालों की बात अथवा नरकगति में जाने के ये दो ही गति रूप द्वार बताये हैं। अब वहाँ से आने वालों की गतियों को देखिए—

सातवें नरक से निकला हुआ जीव क्रूर पंचेन्द्रिय पशु ही होता है। वह मनुष्य नहीं हो सकता है। छठे नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य भी हो सकता है अर्थात् तिर्यंच या मनुष्य इन दो ही गतियों में जन्म ले सकता है और यह मनुष्य या तिर्यंच मोह कर्म के मंद हो जाने से कदाचित् गुरुओं का उपदेश या देवों का सम्बोधन प्राप्त करके अथवा जिनेन्द्रदेव के जन्म आदि कल्याणकों को या रथयात्रा आदि महामहोत्सवों को देखकर अथवा जातिस्मरण हो जाने के निमित्त आदि कारणों से सम्यक्त्व को भी ग्रहण कर सकता है किन्तु इस छठे नरक से आये हुए जीव के भाव अणुव्रत या महाव्रत ग्रहण के नहीं हो सकते हैं चूँकि उसमें अभी इतने पाप कर्म मंद नहीं हो पाते हैं। पाँचवे नरक से

निकला हुआ जीव यदि मनुष्य हुआ है तो महाव्रत ग्रहण कर मुनि होने की भी क्षमता रखता है तथा यदि तिर्यंच है तो वह देशव्रत ग्रहण कर सकता है। चतुर्थ नरक से निकले हुए जीव में से यदि कोई मनुष्य हुआ है तो वह कदाचित् मुनिपद ग्रहण कर केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है और यदि तिर्यंच है तो वह देशव्रती तक हो सकता है। तीसरे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर भी हो सकता है अर्थात् यदि किसी जीव ने यहाँ पर पहले नरकायु का बंध कर लिया अनन्तर उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ पुनः केवली भगवान के या श्रुतकेवली के पादमूल में सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया तो वह जीव मरने के कुछ क्षण ही पूर्व सम्यक्त्व से च्युत होकर तीसरे नरक में चला जाता है और वहाँ पर पर्याप्त अवस्था को प्राप्त होते हुए पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तो फिर वहाँ अपनी आयुपर्यंत सम्यग्दृष्टि रहता है और उसके वहाँ से निकलने के छह महीने पहले ही देवगण वहाँपर जाकर उस नारकी जीव (भावी तीर्थंकर) की सुरक्षा की व्यवस्था बना देते हैं-उसके चारों ओर परकोटा सुरक्षित कर देते हैं तथा वे देवगण यहाँ मध्यलोक में जन्म नगरी में अतिशय शोभा करके माता के आंगन में रत्नों की वर्षा प्रारंभ कर देते हैं। श्री, ह्री आदि देवियाँ इन्द्र महाराज की आज्ञा से आकर माता की सेवा करती हैं। गर्भशोधन आदि क्रियाएं करती हैं।

अनन्तर तीर्थंकर होने वाला यह जीव नरक से निकलकर माता के गर्भ में प्रवेश करता है तब इन्द्र शची सहित असंख्य देव परिवारों के साथ आकर तीर्थंकर के माता-पिता की पूजा करके महान उत्सव के साथ गर्भकल्याणक मनाते हैं। तात्पर्य यह रहा कि तीसरे नरक से निकलकर जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे और पहले नरक से निकले हुए जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं, केवली भी हो सकते हैं और मोक्षपद को भी प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु नरकों से निकले हुए जीव चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण या प्रतिनारायण नहीं हो सकते हैं यह बात विशेष है। इस तरह नरकगति से आने के द्वार अर्थात् गतियाँ बताई गई हैं। इसमें यह बात खासतौर से समझने की है कि जो नरक से निकलकर तीर्थंकर या केवली आदि होते हैं वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है। सातवें नरक से जीव सम्यक्त्व लेकर नहीं निकल सकते हैं किन्तु अन्य नरकों से सम्यक्त्व लेकर भी निकल सकते हैं। सातों ही नरकों में जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं। नरकों में सम्यक्त्व के बहिरंग कारणों में वेदना अनुभव, जातिस्मरण और देवों द्वारा सम्बोधन माने गये हैं। देवों द्वारा संबोधन तृतीय नरक तक ही है इससे नीचे कोई भी देव नहीं जाते हैं। अतः चतुर्थ आदि नरकों में दो ही कारण हैं। यदि यहाँ पर किसी ने नरकायु बांध ली है और बाद में सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो वे पहले नरक में ही जा सकते हैं इससे नीचे नहीं।

तात्पर्य यही समझना चाहिए कि बिना सम्यक्त्व के यह जीव अनन्तों बार नरकगति में जा चुका है और वहाँ से आकर मनुष्य भव को भी प्राप्त कर संसार में ही घूमता रहा है। यदि संसार भ्रमण को समाप्त करना है तो सम्यक्त्व को ग्रहण करना चाहिए।

अब मैं आपको तिर्यग्गति से आने-जाने के द्वार के बारे में बताऊँ–

पंचेन्द्रिय पशु यदि मरण करते हैं तो वे चौबीसों दंडक में (चारों गतियों में) जा सकते हैं। तो पहले आप चौबीस दण्डक को समझ लीजिए–

नरक गति का दण्डक 1, भवनवासी देवों के दण्डक 10, ज्योतिषी देव का 1, व्यंतरों का 1, वैमानिक देवों का 1, स्थावर के 5, विकलत्रय के 3, पंचेन्द्रिय तिर्यंच का 1 और मनुष्य का 1, ऐसे 1+10+1+1+1+5+3+1+1=24 ये चौबीस दण्डक माने गये हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच इन चौबीसों दण्डकों में जा सकते हैं और चौबीस दण्डक से आये हुए जीव पशु हो सकते हैं।

विकलत्रय अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवों के जाने की तथा आने की दश ही गति हैं। ये विकलत्रय मरकर पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य इन दश स्थानों में जन्म ले सकते हैं तथा इन दश स्थानों से निकलकर ही विकलत्रय होते हैं अर्थात् विकलत्रय जीव तिर्यंचगति और मनुष्यगति में ही तो जन्म ले सकते हैं और तिर्यंच या मनुष्य ही मरकर विकलत्रय हो सकते हैं। ये विकलत्रय जीव मरकर देवगति या नरकगति में नहीं जा सकते हैं और न देवगति या नरकगति से निकलकर जीव विकलत्रय ही हो सकते हैं। इनका अस्तित्व भी कर्मभूमि में ही है। ये जीव न नरकभूमि में हैं न स्वर्गभूमि में हैं, न भोगभूमि में हैं और न असंख्यात द्वीप समुद्रों में ही जन्मते हैं। ये मात्र कर्मभूमियों में लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र में स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तर भाग की कर्मभूमि में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में ही जन्मते हैं अन्यत्र ये नहीं पाये जाते हैं।

नारकियों के बिना बाकी शेष तेईस दण्डक के जीव मरकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, और वनस्पतिकायिक में जन्म ले सकते हैं अर्थात् भवनत्रिक देव और वैमानिक में ईशान स्वर्ग तक के देव मरकर इन तीनों स्थावर में जन्म ले सकते हैं तथा ये तीनों स्थावर मरकर देवगति और नरकगति के सिवाय सर्वत्र दश दण्डकों में अर्थात् पाँचों स्थावर तीन विकलेन्द्रिय पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य में जन्म ले सकते हैं।

तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरकर पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पशु इन नव स्थानों ही जन्म ले सकते हैं वे मरकर मनुष्य, नारकी या देव नहीं हो सकते हैं। तथैव देव या नारकी भी इन दो स्थावरों में जन्म नहीं ले सकते हैं। किन्तु मनुष्य मरकर अग्निकायिक व वायुकायिक हो सकते हैं अर्थात् एक मनुष्यगति ही ऐसी गति है कि उससे जाने के लिए सभी मार्ग खुले हुए हैं।

शुद्ध पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु 12 हजार वर्ष, खर पृथ्वीकायिक जीव की 22 हजार वर्ष, जलकायिक जीव की 7 हजार वर्ष, अग्निकायिक जीव की 3 दिन, वायुकायिक जीव की 3 हजार वर्ष और वनस्पतिकायिक जीव की 10 हजार वर्षप्रमाण है।

विकलेन्द्रियों में दो इन्द्रिय की आयु 12 वर्ष, तीन इन्द्रियों की 49 दिन और चार इन्द्रियों की 6 मास प्रमाण है।

पंचेन्द्रियों में सरीसृप की उत्कृष्ट आयु 9 पूर्वांग, पक्षियों की 72 हजार वर्ष और सर्पों की 42 हजार वर्ष है। शेष तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण है।

यह उपर्युक्त उत्कृष्ट आयु पूर्व पश्चिम विदेहों में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के तथा स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य कर्मभूमि भाग में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के तो सर्वकाल पायी जाती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के भीतर चतुर्थकाल के प्रथम भाग में किन्हीं तिर्यंचों के पाई जाती है।

एकेन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु उच्छवास के अठारहवें भाग प्रमाण है तथा विकलेन्द्रिय एवं सकलेन्द्रियों की क्रमशः इससे उत्तरोत्तर संख्यात गुणी है।

उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि के तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु क्रम से तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्य है। शाश्वत भोगभूमियों में जघन्य व उत्कृष्ट ये तीन प्रकार ही है।

अशाश्वत भोगभूमि में से जघन्य भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट एक पल्य प्रमाण है और मध्यम आयु के भेद अनेक प्रकार हैं। मध्यम भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट आयु दो पल्य है तथा मध्यम में अनेक भेद हैं। उत्तम भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है, मध्यम के अनेक भेद हैं।

हैमवत, हरि, विदेह के देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत ये छह ऐसे ही पाँच मेरु संबंधी 30 भोगभूमि, शाश्वत अनादिनिधन हैं उनमें परिवर्तन का कोई सवाल ही नहीं है तथा पाँच भरत और पाँच ऐरावतों के आर्यखंडों में जो षट्काल परिवर्तन से तीन कालों में उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि होती हैं वे अशाश्वत हैं उनमें अवसर्पिणी युग में क्रम से हानि और अवसर्पिणी में क्रम से वृद्धि चलती रहती है। वहीं पर जघन्य मध्यम आयु होती हैं।

कर्मभूमियाँ मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही भोगभूमि में जाते हैं तथा भोगभूमि से मरकर तिर्यंच जीव नियम से देवगति में ही जाते हैं। भवनत्रिक से ईशान स्वर्ग तक इनका जाने का मार्ग खुला है। कर्मभूमि के असंयत सम्यग्दृष्टि या देशव्रती तिर्यंच अधिक से अधिक सोलहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं, ऐसा भी विधान है।

पंचेन्द्रियसंज्ञी जीवों के अतिरिक्त पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय

इनके एक मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है अर्थात् ये बेचारे मिथ्यादृष्टि ही बने रहते हैं।

भरत, ऐरावत के आर्यखंड के तिर्यंचों में पांच गुणस्थान तक हो सकते हैं। पाँच विदेहों में, विद्याधर श्रेणियों में व स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में तिर्यंचों के पाँच गुणस्थान तक देखे जाते हैं।

म्लेच्छों के तिर्यंचों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।

भोगभूमिज तिर्यंचों के पहला, दूसरा, तीसरा और चौथा ये चार गुणस्थान तक हो सकते हैं। वहाँ पर पाँचवां देशविरत गुणस्थान नहीं होता है।

इनमें कितने ही तिर्यंच गुरुओं के उपदेश से या देवों के प्रतिबोध से तथा कितने ही जीव स्वभाव से प्रथमोपशम अथवा वेदक सम्यक्त्व ग्रहण कर लेते हैं तथा कितने ही सुख-दुःख को देखकर, कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्र महिमा के दर्शन से और कितने ही जिनबिंब के दर्शन से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार से कर्मभूमिज जीव गुरुओं के उपदेश या देवों के प्रतिबोध आदि कारणों से पाँच अणुव्रतों को ग्रहणकर देशसंयत भी हो जाते हैं।

सम्यग्दृष्टी तिर्यंच मरकर नियम से देवगति में वैमानिक देव होते हैं अर्थात् भवनत्रिक में नहीं जाते हैं और न अन्यत्र तीन गतियों में ही जाते हैं। यदि इन्होंने पहले तिर्यंचायु या मनुष्यायु बांध ली पीछे सम्यक्त्व ग्रहण किया है तो सम्यक्त्व सहित ये जीव भोगभूमि के तिर्यंच या मनुष्य हो जाते हैं पुनः वहाँ से नियम से सौधर्म या ईशान स्वर्ग में देव हो जाते हैं।

इन तिर्यंचों में से भोगभूमिज तिर्यंचों में संकल्पवश केवल एक सुख ही होता है और कर्मभूमिज तिर्यंचों में सुख-दुःख दोनों ही पाये जाते हैं।

अब आपको मनुष्यगति से आने के द्वार के बारे में बताती हूँ–

मनुष्य चौबीसों दण्डक में जा सकता है इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है। यह मनुष्य मुक्ति को भी प्राप्त करके तीन लोक का स्वामी हो सकता है। चूंकि मुनिमुद्रा के बिना कोई भी जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है और मनुष्य के बिना कोई भी मुनि हो नहीं सकता है। जो सम्यग्दृष्टी मुनि होते हैं वे ही इस संसार समुद्र को पार कर शिवधाम में पहुँच जाते हैं जहाँ पर जाकर अविनश्वर हो जाते हैं फिर पुनः उन्हें यहाँ आने का कोई मार्ग ही नहीं रहता है। वहाँ पर वे शाश्वत चित्चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा में ही निवास करते हैं और परमानंदमय सुख का अनुभव करते रहते हैं।

इस प्रकार से मनुष्यगति से जाने के गति द्वार पच्चीस हो जाते हैं तथा मनुष्यगति में आने के द्वार बाईस ही हैं। चूँकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीव मरकर मनुष्य नहीं हो सकते हैं तथा पच्चीसवाँ दंडक जो सिद्धगतिरूप है वहाँ से आने का तो सवाल ही नहीं उठता है। यह तो सामान्य मनुष्यों की बात हुई है अब विशेष अर्थात् पदवीधारी

मनुष्यों की गति-आगति को देखिए–

तीर्थंकर के आने के दो द्वार हैं। या वे स्वर्ग से आते हैं या नरक से और पुनः वे गति अर्थात् जन्म को धारण नहीं करते हैं बल्कि उसी भव से लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हो जाते हैं। अतः तीर्थंकर के आने के द्वार दो हैं और जाने का द्वार एक पच्चीसवें दण्डकरूप मोक्ष ही है।

चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र ये स्वर्ग लोक से ही आते हैं अतः इनके आने का द्वार एक ही है तथा इनमें से चक्रवर्ती स्वर्ग, नरक या मोक्ष इन तीन स्थानों में जा सकते हैं। यदि चक्रवर्ती तपश्चरण करते हैं अर्थात् दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं तो स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और यदि राज्य में मरण करते हैं तो नरक में चले जाते हैं। किन्तु अंत में ये मोक्ष को नियम से प्राप्त करते हैं चूँकि पदवीधारी हैं। बलभद्रों के लिए जाने के दो ही द्वार हैं स्वर्ग या मोक्ष। क्योंकि ये नियम से तपश्चरण धारण करते हैं। अर्धचक्री अर्थात् नारायण और प्रतिनारायण ये नियम से नरक ही जाते हैं। ये राज्य में ही मरते हैं अतः ये उस ही भव से मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु अंत में ये नियम से निर्वाण प्राप्त करते ही करते हैं अर्थात् ये चक्रवर्तीया अर्धचक्री उस भव से यदि नरक भी चले जाते हैं तो भी कतिपय भवों को धरकर पुनः ये मोक्ष अवश्य प्राप्त करते हैं चूँकि पदवीधारक पुरुषों के आखिर में मोक्ष का नियम ही है। यह शलाका पुरुषों की बात हुई। इनके अतिरिक्त भी जो पदवीधर हैं उनके विषय में ऐसा वर्णन है कि–

जो कुलकर हो जाते हैं या नारद हो जाते हैं या रुद्र हो जाते हैं और कामदेव हो जाते हैं या तीर्थंकर के माता-पिता हो जाते हैं, वे भी इन पद को धारण करने के बाद कुछ भव के बाद मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त करते हैं चूँकि इन पदों को धारण करने वाले जीव बहुत काल तक संसार में भ्रमण नहीं कर सकते हैं। कुलकर चौदह होते हैं। नारद नव होते हैं, रुद्र ग्यारह होते हैं और कामदेव चौबीस होते हैं।

कुलकर स्वर्ग में ही जाते हैं अतः इनके जाने का एक ही द्वार है तथा आने में ये इस अवसर्पिणी में तो विदेह क्षेत्र में पहले मनुष्यायु बांधकर पीछे क्षायिक सम्यदृष्टि हुये हैं अतः वे यहाँ भरत क्षेत्र के तृतीयकाल के अंत में भोगभूमि में कुलकुर हुये हैं। जन्मांतर में ये भी निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

कामदेव पदवी धारक पुरुष नियम से कामदेव का नाशकर मोक्षधाम को प्राप्त करते हैं। नारद और रुद्र अधोगति में ही अर्थात् नरक में ही जाते हैं क्योंकि नारद तो कलहप्रिय होते हैं और रुद्र अपने जीवन को पाप से कलंकित कर लेते हैं। फिर भी ये नारद और रुद्र भी जन्मांतर में नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

तीर्थंकर के पिता या तो स्वर्ग जाते हैं या सिद्धपद प्राप्त करते हैं अतः इनके भी

जाने के दो ही द्वार हैं। माता स्वर्ग ही जाती हैं आखिर अल्पकाल में ही निर्वाण को प्राप्त कर लेती हैं।

शाश्वत भोगभूमि और अशाश्वत भोगभूमि दोनों भोगभूमि मनुष्यों के जाने का एक ही द्वार है। देवगति अर्थात् भवनत्रिक या सौधर्म-ईशान स्वर्ग तक के ये जीव मरकर भोगभूमि में जा सकते हैं। भोगभूमि में आने के दो द्वार हैं-कर्मभूमि के पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य। अर्थात् ये ही जीव मरकर भोगभूमि में जा सकते हैं।

मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की है और जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त है। यह आयु कर्मभूमियाँ जीवों की है। पूर्व-पश्चिम में तथा चतुर्थकाल के पूर्वकाल में यह उत्कृष्ट आयु होती है। मध्यम आयु के अनेक भेद हैं। भोगभूमि में उत्तम में तीन पल्य, मध्यम में दो पल्य और जघन्य में एक पल्य आयु है। परिवर्तनशील भोगभूमियों में उत्कृष्ट तो यही आयु है। जघन्य आयु उत्तम भोगभूमि में एक समय अधिक दो पल्य, मध्यम भोगभूमि में एक समय अधिक एक पल्य और जघन्य भोगभूमि में एक समय अधिक एक पूर्व कोटि प्रमाण है तथा मध्यम आयु के अनेक भेद हैं।

लवण समुद्र आदि में कुभोगभूमियों में कुमानुष रहते हैं। ये भी मरकर देवगति को ही प्राप्त करते हैं।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण-उत्तर श्रेणियों में जो मनुष्य रहते हैं वे विद्याधर कहलाते हैं। इनमें कुछ विद्याएं जाति और कुल की परम्परा से प्राप्त रहती हैं। कुछ विद्याएं सिद्ध करके ये लोग नाना प्रकार से विद्याओं के निमित्त से सुखों का अनुभव करते हैं।

विदेह क्षेत्रों में हमेशा चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं अर्थात् वहाँ से हमेशा मोक्ष का द्वार खुला रहता है।

अब तक आपने मनुष्यगति से आने-जाने के मार्गों को समझा है उसमें मनुष्यों में कितने गुणस्थान होते हैं सो भी आप को बताऊँ–

भोगभूमि में चार गुणस्थान तक ही हो सकते हैं। सभी म्लेच्छों के मनुष्यों को वहाँ पर एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।

विद्याधरों के चौदह गुणस्थान तक हो जाते हैं जबकि वे विद्याओं को छोड़कर दीक्षा ले लेते हैं तब, अन्यथा विद्यासहित में पाँचगुणस्थान तक हो सकते हैं अर्थात् विद्या सहित जीव कदाचित् क्षुल्लक बन सकते हैं किन्तु मुनि नहीं बन सकते हैं।

भरत-ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों के चतुर्थकाल में चौदह गुणस्थान होते हैं। चतुर्थकाल के जन्में हुए मनुष्य कदाचित् पंचमकाल में मोक्ष जा सकते हैं किन्तु पंचमकाल के जन्में हुए नहीं जा सकते हैं। पंचमकाल में उत्तम तीन संहनन के न होने से अधिक से अधिक सोलह स्वर्ग तक का मार्ग खुला है। कदाचित् कोई महामुनि लौकांतिक देव भी हो

सकते हैं अर्थात् पंचमकाल में छठा, सातवां गुणस्थान होता है। अतः मुनियों का अस्तित्व अंत तक है।

श्रावकों के लिए सम्यक्त्व ग्रहण के अनेक कारण हैं–

कितने ही मनुष्य गुरुओं के उपदेश से या देवों के प्रतिबोधन से अथवा स्वभाव से सम्यग्दर्शन के प्रतिबोधन से अथवा स्वभाव से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं। कितने ही मनुष्य जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्रदेव के कल्याणकों को देखकर, कितने ही जीव जिनबिम्ब के दर्शन से औपशमिक आदि सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेते हैं क्षायिक सम्यक्त्व तो केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही प्रगट होता है अतः आज पंचमकाल में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता है।

सम्यक्त्वग्रहण के पहले यदि इसने तिर्यंचायु या मनुष्यायु बांध ली है पुनः क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया तो यह जीव भोगभूमि का तिर्यंच या मनुष्य होगा, अन्यथा स्वर्ग ही जायेगा। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असैनी आदि नहीं होता है। स्त्री या नपुंसक नहीं होता है और न वह दरिद्री, विकलांग, अल्पायु ही होता है किन्तु महापुरुष होकर कालान्तर में या उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

अब मैं आपको देवगति से आने व जाने के द्वार के बारे में बताती हूँ–

आपको शायद देवगति सबसे अधिक प्रिय लगती हो, किन्तु देखिए देवगति के सुख भोगकर यह जीव वहाँ की आयु पूर्णकर नियम से मरेगा और मरकर तिर्यंच होगा या मनुष्य। यदि मिथ्यादृष्टि है और वहाँ के भोगों को छोड़ते हुए अधिक संक्लेश हो रहा है तो प्रायः वही जीव एकेन्द्रिय स्थावर योनि में पृथ्वी, जल या वनस्पति हो जाता है। फिर वहाँ से निकलने का क्या उपाय है। इन्हीं तुच्छ कुयोनियों में यह जीव भटकता रहता है क्योंकि एकेन्द्रिय में कान के बिना गुरु का उपदेश आदि है ही नहीं अतः देवगति की इच्छा नहीं करना चाहिए।

देवों के तेरह दंडक माने हैं– भवनवासी देवों के 10, व्यंतरवासी देवों का 1, ज्योतिषी देवों का 1 और वैमानिक देवों का 1 ऐसे 10+1+1+1=13 दंडक देव संबंधी हैं।

मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच इनके बिना कोई भी देवपद को प्राप्त नहीं कर सकते हैं अर्थात् स्थावर व विकलत्रय तिर्यंच देवगति प्राप्त नहीं कर सकते हैं तथा देव और नारकी भी देवगति प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

देवों के लिए जाने के पाँच द्वार हैं – पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य अर्थात् देव मरकर इन पाँच पर्यायों में जन्म धारण कर सकते हैं। भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिषी देव तथा वैमानिक देवों में से सौधर्म, ईशान इन दो स्वर्गों तक के देव ही मरकर कदाचित् स्थावर योनि में जन्म ले सकते हैं, इनसे आगे

के देव नहीं तथा बारहवें स्वर्ग तक के देव मरकर कदाचित् पंचेन्द्रिय तिर्यंच हो सकते हैं आगे के नहीं अर्थात् दूसरे स्वर्ग तक देवों के लिए तीन स्थावरकाय, पशु और मनुष्य इन पाँचों में आने का द्वार खुला हुआ है, तीसरे स्वर्ग से लेकर बारहवें स्वर्ग तक के देवों के लिए स्थावर का द्वार बंद हो गया है मात्र पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य इनका द्वार खुला हुआ है तथा इससे ऊपर के देवों के लिए एक मनुष्य का ही द्वार शेष है बाकी सभी द्वार बंद हैं। ये तो देवों के आने के द्वार आपने सुने। अब जाने के द्वार भी देखिए–

पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य ही देवगति को प्राप्त कर सकते हैं अन्य नहीं। इसमें भी भोगभूमि के मनुष्य या पशु मरकर भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में अथवा सौधर्म, ईशान स्वर्ग में जन्म ले सकते हैं अर्थात् इनके लिए दूसरे स्वर्ग तक ही मार्ग खुला हुआ है आगे नहीं। किन्तु देव मरकर भोगभूमि में जन्म नहीं ले सकते हैं यह नियम है। कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंच ही भोगभूमि में जाते हैं अन्य कोई नहीं जा सकते हैं।

कर्मभूमि के तिर्यंच यदि सम्यक्त्व और अणुव्रत धारण कर लेते हैं तो वे बारहवें स्वर्ग तक चले जाते हैं। अव्रत सम्यग्दृष्टि मनुष्य बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

अन्यमती साधु पंचाग्नि तप करके भवनत्रिक देवों तक जा सकते हैं। पारिव्राजक और दंडी साधु अधिक से अधिक पाँचवे स्वर्ग तक जा सकते हैं। परमहंस नामक साधु (कांजी आदि का भोजन करने वाले, नग्न आजीवक) बारहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं इसके ऊपर नहीं जा सकते हैं। पर मत से मोक्ष की सिद्धि नहीं है। चूँकि कर्मों का नाश जैनमत के बिना सर्वथा असंभव ही है।

श्रावक और श्राविका भले ही वे क्षुल्लक, ऐलक या क्षुल्लिका ही क्यों न हों किन्तु ये सोलहवें स्वर्ग तक ही जा सकते हैं, इसके आगे नहीं क्योंकि बिना मुनिपद धारण किए आगे जाना असंभव है। द्रव्यलिंगी मुनि नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं आगे नहीं। भावलिंगी महामुनि ही नवअनुदिश और पाँच अनुत्तरों में जन्म लेते हैं।

यह जीव कितनी बार ही देव पद को प्राप्त कर चुका है। किन्तु उनमें भी कुछ ऐसे पद हैं जिन्हें नहीं पाया, नहीं तो अब तक मोक्ष को प्राप्त कर लेता।

इंद्रपद को इसने नहीं पाया अर्थात् सौधर्म आदि छह दक्षिणेन्द्र नियम से एक भवावतारी होते हैं। उन्हीं के लोकपाल पद को भी इसने नहीं पाया चूँकि वे भी मोक्षगामी हैं। शचीदेवी भी नियम से वहाँ से नरलोक में आकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेती है चूंकि तीर्थंकरों के जन्म महोत्सव में जब इंद्राणी बालक को प्रसूतिगृह में लेने जाती हैं उस समय उन्हें तीर्थंकर शिशु का स्पर्श कर इतना आनंद होता है और इतना पुण्य विशेष संचित हो जाता है कि वे उसी समय अपनी स्त्री पर्याय को छेदकर देती हैं। दूसरी बात यह है कि शची देवी नियम से उस पर्याय में सम्यक्त्व

को ग्रहण कर लेती हैं अतः सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद पुनः स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है।

लौकांतिक देव तथा अनुत्तरवासी देवों के लिए भी निर्वाण का नियम है। लौकांतिक देव तो एक भवावतारी ही होते हैं और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित इन विमानों के देव द्विचरम माने गये हैं अर्थात् अधिक से अधिक दो भव लेकर मोक्षप्राप्त करते हैं तथा सर्वार्थसिद्धि के देव नियम से वहाँ से आकर एक भव से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

इस सर्वार्थसिद्धि के ऊपर सिद्धलोक में जाने वाले जीव अर्थात् मुक्त होने वाले जीवों के आने का द्वार तो बंद ही है और मुक्तिगति में जाने के लिए एक ही मनुष्य गति का ही द्वार है।

भवनवासी, व्यंतरवासी और ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म नहीं लेते हैं किन्तु वहाँ पर सम्यक्त्व ग्रहण कर सकते हैं। वहाँ सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण हैं–

कोई देव जिन महिमा के दर्शन से, कोई जाति स्मरण से, कोई देवों की ऋद्धि देखने से, कोई पाँच कल्याणकों का उत्सव देखने से और कोई देव उपदेश के श्रवण से सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते हैं। अतः भवनत्रिकों में भी चार गुणस्थान होते हैं।

कल्पवासी देवों में भी नवग्रैवेयक तक भाव मिथ्यादृष्टी जीव जा सकते हैं। द्रव्य से मिथ्यावेषधारी पाखंडी अर्थात् जिनमत के बाह्य साधु तो बारहवें स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं। आगे के विमानों में अर्थात् नवअनुदिश और अनुत्तरों में सम्यग्दृष्टी ही उत्पन्न होते हैं। अतः नवग्रैवेयक तक जीव यदि मिथ्यादृष्टी हैं तो वे सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए वहाँ तक चारों गुणस्थान होते हैं।

इन चारों गतियों के बारे में जानकर सर्वोत्तम मनुष्य गति को प्राप्तकर उससे ऐसे कार्य करने चाहिए कि शीघ्र ही संसार परम्परा का छेदन कर लें, उस लक्ष्य में आप सब सफल होकर अपनी आत्मा का कल्याण करने का सदैव प्रयास करें और उसमें सफल हों, यही सबके लिए आशीर्वाद है।

महान औषधि क्या है?

जिणवयणमोसहमिणं विसहसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।

अर्थ–जिनेन्द्रदेव के वचन महान औषधि हैं, ये विषयसुखों का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतरूप हैं, जरा और मरणरूप महाव्याधि को दूर करने वाले हैं तथा संपूर्ण दुःखों का क्षय करने वाले हैं।

(भगवान कुंदकुंद, दर्शनप्राभृत)

प्रवचन–25

सप्तपरम स्थान

भव्यात्माओं! आज मैं आपको जिनागम में सारभूत ऐसे सप्त परम स्थान के बारे में बताऊँगी।

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाण चेति सप्तधा।।

1. सज्जाति 2. सद्गृहस्थता (श्रावक के व्रत) 3. पारिव्राज्य (मुनियों के व्रत) 4. सुरेन्द्रपद 5. साम्राज्य (चक्रवर्ती पद) 6. अरहंत पद और 7. निर्वाण पद ये सात परम स्थान कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रम से इन परम स्थानों को प्राप्त कर लेता है।

इन्हें कर्त्रन्वय क्रिया भी कहते हैं। इन सप्तपरमस्थानों का कर्त्रन्वय क्रियाओं के नाम से आदिपुराण[1] में सुन्दर विवेचन देखा जाता है।

इन क्रियाओं में कल्याण करने वाली सबसे पहली क्रिया सज्जाति है जो कि निकट भव्य को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होने पर होती है। ''दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंश में विशुद्ध जन्म धारण करने वाले मनुष्य के सज्जाति नाम का परमस्थान होता है। विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिरूपी सम्पदा सज्जाति है। इस सज्जाति से ही पुण्यवान मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम-उत्तम वंशों को प्राप्त होता है। पिता के वंश की जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और माता के वंश की शुद्धि जाति कहलाती है। कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धि को 'सज्जाति' कहते हैं, इस सज्जाति के प्राप्त होने पर बिना प्रयत्न के सहज ही प्राप्त हुए गुणों से रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ हो जाती है।'

आर्यखंड की विशेषता से सज्जातित्व की प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्री मिलने पर प्राणियों के अनेक प्रकार के कल्याण उत्पन्न करती है। यह सज्जाति उत्तम शरीर के जन्म से ही मैंने वर्णित की है क्योंकि पुरुषों के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि का मूलकारण यही एक सज्जाति है।

संस्काररूप जन्म से जो सज्जाति का वर्णन है वह दूसरी ही सज्जाति है उसे पाकर भव्यजीव द्विजन्मा कहलाता है अर्थात् प्रथम उत्तम वंश में जन्म यह एक सज्जाति हुई पुनः व्रतों के संस्कार से संस्कारित होना यह द्वितीय जन्म माना जाने से उस भव्य की 'द्विज' यह संज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। जिस प्रकार विशुद्ध खान में उत्पन्न हुआ रत्न संस्कार के योग से उत्कर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार क्रियाओं और मंत्रों से सुसंस्कार को प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यंत उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ विशेष बात समझने की यह है कि जाति व्यवस्था को माने बिना 'सज्जातित्व'

नहीं बन सकती। इसी बात को उत्तरपुराण में श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं–

जातिगोत्राणिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तितः।।493।।
अच्छेद्यो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसंततेः।
तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवाविच्छिन्नसंभवात्।।494।।
शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसंततिः।
एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषु जिनागमे।।495।।

जिनमें शुक्लध्यान के लिए कारण ऐसे जाति, गोत्र आदि कर्म पाये जाते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ऐसे तीन वर्ण हैं।' उनसे अतिरिक्त शेष शूद्र कहे जाते हैं। विदेह क्षेत्र में मोक्ष जाने के योग्य जाति का कभी विच्छेद नहीं होता क्योंकि वहीं उस जाति में कारणभूत नाम और गोत्र से सहित जीवों की निरंतर उत्पत्ति होती रहती है परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकाल में ही जाति की परम्परा चलती है अन्य कालों में नहीं। जिनागम में मनुष्यों का वर्ण विभाग इस प्रकार बतलाया गया है कि–

कृतयुग की आदि में जब प्रजा भगवान के सामने अपनी आजीविका की समस्या लेकर आई तब भगवान ने उसे आश्वासन देकर विचार किया–

'पूर्व और पश्चिमविदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान में है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जैसे असि, मषि आदि षट्कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम, घर, नगर आदि की रचना है वह सब यहाँ पर भी होनी चाहिए। अनंतर भगवान के स्मरण मात्र से देवों के साथ सौधर्म इन्द्र वहाँ आया और उसने शुभ मुहूर्त में जगद्गुरु भगवान की आज्ञानुसार मांगलिक कार्यपूर्वक अयोध्या के बीच में 'जिनमंदिर' की रचना की। पुनः सर्व ग्राम, नगर आदि की रचना कर प्रजा को बसाकर चला गया।

पुनः भगवान ने असि, मषि आदि षट्कर्मों का उपदेश देकर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की।

उस समय प्रजा अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर अन्य आजीविका नहीं करती थी इसलिए उनके कार्यों में कभी संकर (मिलावट) नहीं होता था। उनके विवाह, जाति संबंध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान की आज्ञानुसार ही होते थे।

अर्थात् इस कर्मभूमि की आदि में भगवान वृषभदेव ने अपने अवधिज्ञान के बल से विदेह क्षेत्र की अनादिनिधन कर्मभूमि की व्यवस्था को देखकर उसी के सदृश ही यहाँ सब व्यवस्था बनाई थी। अतः जैसे इस भरतक्षेत्र में मोक्षमार्ग की व्यवस्था सादि है, भोगभूमि में या प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा पंचम और छठे काल में मोक्ष नहीं होता है वैसे ही यह वर्ण व्यवस्था भी सादि है फिर भी इसके बिना भी मोक्ष नहीं है।

स्वयं कुंदकुंद देव भी कहते हैं–

'देश, कुल, जाति से शुद्ध, विशुद्ध मन, वचन, काय से संयुक्त ऐसे हे गुरुदेव! तुम्हारे चरणकमल हमारे लिए हमेशा मंगलमयी होवें।'

जाति व्यवस्था को स्वीकार करने पर ही जाति से शुद्ध यह विशेषण सार्थक होता है।

सिद्धांतचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य भी कहते हैं–

दुर्भाव, अशुचि, सूतक-पातक दोष से युक्त रजस्वला स्त्री और जाति संकर आदि दोष से दूषित लोग यदि दान देते हैं तो वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं तथा जो कुपात्र में दान देते हैं तो वे भी कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं।

जाति व्यवस्था मानने पर ही 'जाति संकर' दोष बनेगा अन्यथा नहीं। उपासकाध्ययन में भी कहा है–

'जैसे माता-पिता के शुद्ध होने पर संतान की शुद्धि देखी जाती है, वैसे ही आप्त के निर्दोष होने पर उनका कहा हुआ आगम निर्दोष माना जाता है।'

'द्रव्य, दाता और पात्र की विशुद्धि होने पर ही विधि शुद्ध हो सकती है क्योंकि सैकड़ों संस्कार से भी शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता है।'

उत्तरपुराण में एक कथा आती है कि जब सत्यभामा ब्राह्मणी को यह मालूम हुआ कि यह मेरा पति कपिल, ब्राह्मण न होकर दासी पुत्र है तो वह ब्रह्मचर्यव्रत लेकर राजा की शरण में गई। राजा ने भी सोचा कि पापी और विजातीय के लिए न करने योग्य कुछ भी नहीं है। इसीलिए राजा लोग कुलीन मनुष्यों का ही संग्रह करते हैं। ऐसा समझकर राजा ने उस मायावी कपिल को दंडित किया।

ऐसे ही गुणभद्रसूरि ने बताया कि 'एक समय एक मुनि वेश्या के दरवाजे की तरफ से निकले तब वेश्या ने विनय से निवेदन किया–हे मुने! मेरा कुल दान देने योग्य नहीं है। इस तरह अपने कुल की निंदा करती हुई वह पूछती है–भगवन्! उत्तम कुल और रूपादि इस जीव को किन कार्यों से मिलते हैं? तब मुनि ने कहा–हे भद्रे! मद्य, मांस आदि के त्याग करने से उत्तम कुल आदि की प्राप्ति होती है।

इसीलिए सोमदेव सूरि कहते हैं–

'मनुष्यों की क्रियाएं शुद्ध होने पर भी यदि उनके आप्त और आगम निर्दोष नहीं हैं तो उन्हें उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे कि क्रियाएं शुद्ध होने पर भी विजाति लोगों से कुलीन संतानरूप उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है।'

अतः आचार्य आदेश देते हैं कि–

'धर्मभूमि में स्वभाव से ही मनुष्य कम कामी होते हैं। अतः अपनी जाति की विवाहित स्त्री से ही संबंध करना चाहिए। अन्य कुजातियों की स्त्रियों से, बंधु-बांधवों की तथा व्रती स्त्रियों से भी संबंध नहीं करना चाहिए।'

'यही कारण है कि जीवंधर कुमार ने गायों के जीतने के बाद ग्वाल सरदार की कन्या गोविंदा को स्वयं न वरण करके अपने मित्र पद्मास्य को ही उसके योग्य समझा और उसके साथ विवाह कराया।'

श्री रविषेणाचार्य कहते हैं–

'1. कुल 2. शील 3. धन 4. रूप 5. समानता 6. बल 7. अवस्था 8. देश 9. विद्यागम, ये नौ गुण वर के कहे गये हैं तथापि उत्तम पुरुष इन सभी गुणों में एक कुल को ही श्रेष्ठ गुण मानते हैं। परन्तु वहीं कुल गुण जिस वर में न हो भला उसे कन्या कैसे दी जा सकती है?

यही कारण है कि जब सुग्रीव की भार्या सुतारा के महल में साहसगति विद्याधर कृत्रिम सुग्रीव का रूप बनाकर घुस आया और सत्य सुग्रीव के आ जाने के बाद जब मंत्री लोग सत्य और मायावी का निर्णय नहीं कर सके, तब उन लोगों ने विचार किया कि–

लोक में गोत्र शुद्धि अत्यंत दुर्लभ है इसलिए उसके बिना बहुत भारी राज्य से भी प्रयोजन नहीं है। निर्मल गोत्र पाकर ही शीलादि आभूषणों से भूषित हुआ जाता है इसलिए इस निर्मल अंतःपुर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।

इसलिए तो भारतीय संस्कृति में विधवा विवाह का सर्वथा निषेध है। जब चन्द्रनखा को खरदूषण ने हरण कर लिया तब रावण के कुपित होने पर मंदोदरी कहती है–

यदि किसी तरह वह खरदूषण मारा भी गया तो हरण के दोष से दूषित कन्या अन्य दूसरे को नहीं दी जा सकेगी उसे तो मात्र विधवा ही रहना पड़ेगा।

जब सुलोचना ने स्वयंवर में जयकुमार के गले में वरमाला डाल दी, तब भरतसम्राट के पुत्र अर्ककीर्ति कुछ लोगों के भड़काने से युद्ध के लिए तैयार हो गये। उसी बीच अर्ककीर्ति कहते हैं–

'मैं सुलोचना को भी नही चाहता हूँ क्योंकि सबसे ईर्ष्या करने वाला यह जयकुमार अभी मेरे बाणों से ही मर जावेगा तब उस विधवा से मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा?' इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में कुल की शुद्धि देखकर सजाति में ही विवाह किये जाते थे। विधवा विवाह, पुनर्विवाह आदि प्रथाएं निषिद्ध थीं। सजातीय भार्या को ही 'धर्मपत्नी' यह संज्ञा दी जाती है। राजाओं के जो अन्य विजातीय स्त्रियाँ भी रहती थीं वे केवल भोगपत्नी मानी जाती थीं। क्योंकि 'सज्जाति' से उत्पन्न संतान ही दान, पूजन करने के लिए अधिकारी है और सज्जाति को ही दैगंबरी दीक्षा का विधान है। आचार ग्रंथों में तो है ही, श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित 'जैनेन्द्र व्याकरण' का भी सूत्र है– **'वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानां।'**

जो वर्ण से अर्हंत रूप के योग्य नहीं है इससे स्पष्ट है कि तीन वर्ण ही दीक्षा के योग्य हैं और अंतिम वर्ण दीक्षा के अयोग्य हैं।

जिस प्रकार गुलाब के वृक्ष की टहनी (कलम) काटकर लगाते हैं तो श्वेत, लाल या गुलाबी जैसे भी गुलाब तरु की टहनी है वैसा ही फूल आता है और यदि आजकल विज्ञान से शिक्षित लोग सफेद गुलाब की कलम और लाल गुलाब की कलम दोनों को मिलाकर लगा देते हैं तो उसमें श्वेत या लाल गुलाब फूल न आकर एक तीसरे ही रंग का फूल आ जाता है तथा श्वेत या लाल गुलाब जैसी असली सुगंधि भी उसमें नहीं रहती है। कालांतर में उस संकर (मिश्रित) गुलाब की कलम भी नहीं लगायी जा सकती है चूँकि उसकी उपजाऊ शक्ति खत्म हो जाती है।

वैसे ही 'जाति संकर' से दूषित कुल में मोक्षमार्ग परम्परा नहीं चलती है क्योंकि 'सज्जाति' परम स्थान के बिना 'पारिव्राज्य' परमस्थान और मोक्ष मिलना असंभव है।

कुछ लोगों का कहना है कि छठे काल में 'सज्जातित्त्व' समाप्त हो जावेगा, क्योंकि तब विवाह प्रथा रहेगी ही नहीं। पुनः आगे छठे और पंचमकाल के बाद चतुर्थकाल के अंत में कुलकर जन्म लेंगे एवं उन्हीं में तीर्थंकरों का भी जन्म होगा तो बिना 'सज्जाति' के भी मोक्षमार्ग चलेगा ही।

इस पर चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने बहुत ही सुंदर समाधान दिया था। उन्होंने कहा था कि–

छठे काल के अंत में प्रलय के समय जो बहत्तर जोड़े देवों द्वारा यहाँ से ले जाये जाकर विजयार्ध की गुफाओं में सुरक्षित किए जावेंगे, तिलोयपण्णत्ति में ऐसा कथन है कि उस समय कुछ और भी मनुष्य सुरक्षित रखे जावेंगे। उन्हीं में से जिनमें 'सज्जाति' (बिना विवाह के भी एक स्त्री से संबंध होने की परम्परा) सुरक्षित रह जावेगी उन्हीं से कुलकर तीर्थंकर आदि जन्म लेवेंगे। उदाहरण के लिए देखिए–

यदि कोई एक बोरी गेहूं घुने हुए लाकर किसी चतुर महिला को दे देवे और कहे कि इन सर्वथा घुने हुए गेहूँ में से भी तुम 2-4-10 गेहूँ बिना घुने हुए निकाल दो तो आप बतलाइये 10-20 गेहूँ बिना घुने हुए उस बोरी भर गेहूँ में से ढूंढने पर मिलेंगे या नहीं? यदि मिल सकते हैं तो फिर वैसे ही कई करोड़ों मनुष्यों की संख्या में से 10-20 स्त्री-पुरुष (दंपती) शुद्ध 'सज्जाति' वाले तब भी सुरक्षित रह सकते हैं और उन्हीं में ही किन्हीं को कुलकर तथा तीर्थंकर जैसे महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य मिल सकता है। ऐसा विश्वास करना चाहिए।

सद्गार्हस्थ परमस्थान– सज्जाति नाम के परमस्थान को प्राप्त करने वाला भव्य 'सद्गृहित्व' परमस्थान को प्राप्त करता है। वह सद्गृहस्थ आर्य पुरुषों के करने योग्य छह कर्मों का पालन करता है। गृहस्थ अवस्था में करने योग्य जो-जो विशुद्ध आचरण कहे गये हैं, अरहंत भगवान् द्वारा कहे गये उन-उन समस्त आचरणों का जो आलस्य रहित होकर पालन करता है, जिसने श्री जिनेन्द्रदेव से उत्तम जन्म प्राप्त किया है और

गणधरदेव ने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज-आत्मतेज को धारण करता है अर्थात् प्रथम तो शरीर का जन्म, पुनः गुरु के द्वारा व्रतों को ग्रहण करने से संस्कार का जन्म ऐसे दो जन्म जिसके होते हैं उसे द्विज, द्विजन्मा कहते हैं। वर्तमान में ब्राह्मणों को द्विज संज्ञा है। भरत सम्राट ने भी जैनव्रती श्रावकों को ही ब्राह्मण संज्ञा दी थी किन्तु यहाँ पर तो उच्चवर्णीय सद्गृहस्थ ही विवक्षित हैं।

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि जो असि, मषि आदि छह कर्मों से आजीविका करने वाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ हैं उनके भी हिंसा का दोष लग सकता है परन्तु इस विषय में जैनाचार्य कहते हैं कि यद्यपि आजीविका के लिए छह कर्मों के करने वाले जैन गृहस्थों को थोड़ी सी हिंसा की संगति अवश्य होती है परन्तु शास्त्रों में उन दोषों की शुद्धि भी तो दिखलाई गई है। उनकी विशुद्धि के अंग तीन हैं– पक्ष, चर्या और साधन।

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भाव से वृद्धि को प्राप्त हुआ समस्त हिंसा का त्याग करना जैनियों का पक्ष कहलाता है। किसी देवता के लिए, किसी मंत्र की सिद्धि के लिए अथवा किसी औषध या भोजन बनवाने के लिए मैं किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है। इस प्रतिज्ञा में यदि कभी इच्छा न रहते हुए प्रमाद से दोष लग जावे तो प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि की जाती है तथा अंत में अपना सब कुटुम्ब पुत्र के लिए सौंपकर घर का परित्याग किया जाता है। यह गृहस्थ लोगों की चर्या है।

आयु के अंत समय में शरीर, आहार और समस्त प्रकार की चेष्टाओं का परित्याग कर ध्यान की शुद्धि से जो आत्मा को शुद्ध करना है वह साधन है। अरहंत देव को मानने वाले जैनों का पक्ष, चर्या और साधन इन तीनों में हिंसा के साथ स्पर्श भी नहीं होता।

चारों आश्रमों की शुद्धता भी श्री अर्हंतदेव के मत में ही है। अन्य लोगों ने जो चार आश्रम माने हैं वे विचार किये बिना ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियों के चार आश्रम माने हैं जो कि उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि होने से प्राप्त होते हैं। ये चारों ही आश्रम अपने-अपने अन्तर्भेदों से सहित होकर अनेक प्रकार के हो जाते हैं।

मैत्री आदि चारों भावनाओं का लक्षण राजवार्तिक में बहुत ही सुन्दर है–

1. अनादिकाल से आठ प्रकार के कर्मबंधन से बंधे हुए जीव तीव्र दुःखों के लिए कारणभूत ऐसी चारों गतियों में हमेशा ही दुःख उठाते रहते हैं। इन संसारी प्राणियों को ही यहाँ सत्व संज्ञा है। ऐसे सभी सत्वों में प्राणी मात्र में मैत्री भाव रखना अर्थात् मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना से दूसरों को दुःख न होने देने की अभिलाषा का नाम मैत्री भावना है। मैं सब जीवों के प्रति क्षमाभाव रखता हूँ सब जीव मुझे क्षमा

करें, मेरी सब जीवों से प्रीति है मेरा किसी से बैर नहीं है, इत्यादि प्रकार की भावना ही मैत्री है।

2. सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट पुरुष गुणाधिक है। ऐसे गुणी जनों में प्रमोदभाव होता है। गुणीजनों को देखकर मुख की प्रसन्नता, नेत्र का आल्हाद, रोमांच, स्तुति, सद्गुण, कीर्तन आदि के द्वारा अंतरंग की भक्ति को, भावों के अनुराग को प्रगट करना प्रमोद भावना है।

3. असाता वेदनीय के उदय से जो शारीरिक या मानसिक दुःखों से संतप्त हैं क्लिश्यमान कहलाते हैं। ऐसे दीन प्राणियों के ऊपर अनुग्रह रूप भाव का होना कारुण्य भावना है। मोह से अभिभूत कुमति, कुश्रुत और विभंगज्ञान से युक्त विषय तृष्णा से जलने वाले, हित-अहित में विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दुःखों से पीड़ित दीन, अनाथ, बाल, वृद्ध आदि जीव क्लिश्यमान हैं। उन जीवों के प्रति दया भाव से ओतप्रोत हो जाना कारुण्य भावना है।

4. तत्त्वों के उपदेश को जो श्रवण करते हैं और उनको ग्रहण करने के पात्र हैं उन्हें विनेय कहते हैं। इससे विपरीत अविनेय हैं। इन विरुद्ध चित्तवालों में माध्यस्थ भाव रखना। जो व्यक्ति ग्रहण धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित हैं, महामोह से अभिभूत हैं और विपरीत दृष्टि-महामिथ्यादृष्टि हैं ऐसे विरुद्ध वृत्ति वाले जीवों के प्रति राग-द्वेष न करके माध्यस्थ भाव रखना चौथी भावना है। वास्तव में ऐसे अविनेय लोगों के प्रति किया गया धर्म का उपदेश सफल नहीं हो सकता है प्रत्युत् कभी-कभी अनर्थ का कारण भी बन जाया करता है अतएव आचार्यों ने ऐसे विपरीत वृत्ति वालों के प्रति मध्यस्थ रहने का आदेश दिया है। जैसे कि रक्षाबंधन कथा में श्रुतसागर मुनि के द्वारा दिया गया तत्त्वों का उपदेश बलि आदि दुर्बुद्धि मंत्रियों के लिए उल्टा हुआ और वे संघ के अहित में तत्पर हो गये।

इस प्रकार से इन मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं का भाने वाला व्यक्ति जब समस्त हिंसा को अर्थात् संकल्पपूर्वक त्रय हिंसा को छोड़ देता है और धर्म के पक्ष में तत्पर हो जाता है तब वह पाक्षिक कहलाता है।

सागार धर्मामृत में इस पाक्षिक श्रावक के लिए मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर फल इन आठों का त्याग करना अत्यावश्यक बतलाया है। रात्रिभोजन त्याग और अनछना पानी पीने का त्याग भी कहा है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों का भी स्थूल त्याग करना चाहिए तथा जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री इन सात व्यसनों का त्याग भी होना चाहिए। तभी वह 'पाक्षिक' संज्ञा को प्राप्त होता है।

दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं ऐसा आर्ष में कहा गया

है। दान के चार भेद हैं–आहार दान, औषधिदान, शास्त्रदान और वसतिकादान। अंतिम दो दान के ज्ञानदान और अभयदान भी नाम प्रसिद्ध हैं। श्रावक मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि चतुर्विध संघ को ये चारों दान देते हैं। पात्र के भी उत्तम, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा तीन भेद माने गये हैं।

आदिपुराण में पूजा के पाँच भेद बताये हैं–

नित्यमह, चतुर्मुखमह, कल्पद्रुममह, आष्टान्हिकमह और ऐंद्रध्वजमह। मह का अर्थ पूजा है। नित्यप्रति जिनेन्द्रदेव की जल गंधादि से अर्चना करना, जिनबिंब, जिनमंदिर बनवाना, मुनीश्वरों की पूजा करके उन्हें आहार देना यह सब नित्यमह है। महामुकुटबद्ध राजा लोग जो बड़े वैभव से पूजा करते हैं, वह चतुर्मुख या सर्वतोभद्र है।

आष्टान्हिक पर्व में की गई आष्टान्हिकमह है, चक्रवर्ती सबकी इच्छा पूर्ण करने वाला ऐसा किमिच्छक दान देते हुए जो पूजा करते हैं वह कल्पवृक्ष पूजा है। इन्द्रों के द्वारा जो पूजन होती है उसका नाम ऐंद्रध्वज है।

ब्रह्मचर्य का पालन करना शील है और अष्टमी आदि पर्वों में चतुर्विध आहार का त्याग करना उपवास है। इस उपवास के अनुष्ठान में अनेकों भेद होते हैं।

इस श्रावक धर्म का उपदेश जिनेन्दद्रेव ने दिया है यह बात सिद्धांतग्रंथों में कही गई है।

कसायपाहुड़-टीका जयधवला में शंका–समाधानपूर्वक इसी बात को कहा है।

'शंका होती है कि चौबीसों तीर्थंकर सदोष हैं क्योंकि उन्होंने छहकाय के जीवों की विराधना के कारणभूत ऐसे श्रावक धर्म का उपदेश दिया है। दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं। यह चारों ही प्रकार का श्रावक धर्म छहकाय के जीवों की विराधना का कारण है क्योंकि भोजन का पकाना, दूसरे से पकवाना, अग्नि का सुलगाना, अग्नि का जलाना, अग्नि का खूतना और खुतवाना आदि व्यापारों से होने वाली जीव विराधना के बिना दान नहीं बन सकता है। उसी प्रकार वृक्ष का काटना और कटवाना, ईंट का गिराना और गिरवाना तथा उनको पकाना और पकवाना आदि छहकाय के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार के बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, संमार्जन करना, चंदन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता है।

शील की रक्षा भी सावद्य है क्योंकि अपनी स्त्री को पीड़ा दिये बिना शील का परिपालन नहीं हो सकता है।

उपवास भी सावद्य है क्योंकि अपने पेट में स्थित प्राणियों को पीड़ा दिये बिना उपवास बन नहीं सकता है।

अथवा जिनेन्द्रदेव श्रावकों को स्थूल अहिंसा का उपदेश देते हैं अर्थात् 'स्थावर जीवों को छोड़कर केवल त्रसजीवों को ही मत मारो।' ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इन्हीं सब सावद्य कारणों का उपदेश देने से जिनेन्द्रदेव निर्दोष नहीं हैं।

अथवा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, वृक्ष के मूल में सूर्य के आतप में और खुले हुए स्थान में निवास करना, उत्कुटासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, खड्गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यानादि क्लेशों में जीवों को डालकर उन्हें ठगने के कारण जिनेन्द्रदेव निरवंद्य नहीं हैं और इसीलिए वे वंदनीय नहीं है।

यहाँ तक शंकाकार ने अपनी शंका रखी अब आचार्य इसका समाधान देते हैं–

'उपर्युक्त शंकाओं का परिहार करते हैं कि यद्यपि तीर्थंकर पूर्वोक्त प्रकार का उपदेश देते हैं तो भी उनके कर्मबंध नहीं होता है।'

'तीर्थंकर का विहार संसार के लिए सुखकर है किन्तु उससे पुण्यफलस्वरूप कर्मबंध होता हो ऐसा नहीं है तथा दान और पूजा आदि आरंभ के करने वाले वचन उन्हें कर्मबंध से लिप्त नहीं करते हैं अर्थात् वे दान, पूजा आदि आरंभों का उपदेश देते हैं उससे भी उन्हें कर्मबंध नहीं होता है।'

'जीवों में पापास्रव के द्वार अनादिकाल से खुले हुए हैं। उनके खुले रहते हुए जो जीव शुभास्रव के द्वार को खोलता है अर्थात् शुभास्रव के कारणभूत कार्यों को करता है, वह सदोष कैसे हो सकता है? और जब महाव्रती मुनियों के प्रतिसमय घटिकायंत्र जल के समान असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव है?'

इन शंका और समाधान के प्रकरण को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनेन्द्रदेव ने श्रावकों के लिए दान, पूजन करना, जिनमंदिर बनवाना आदि आरंभ का उपदेश दिया है एवं मुनियों के लिए अनशन आदि तपश्चरण का उपदेश दिया है फिर भी न वे सदोष हैं और न उनके बताये मार्ग पर चलने वाले श्रावक और मुनि ही सदोष हैं अतः इस 'सद्गृहित्व' नामक परमस्थान के इच्छुक गृहस्थ को दान, पूजा, शील, उपवास धर्मों को यथाशक्ति करते रहना चाहिए।

पारिव्राज्य परमस्थान–घर से विरक्त होकर जो पुरुष का दीक्षा ग्रहण करना है वह पारिव्राज्य है। परिव्राट् का जो निर्वाण दीक्षारूप भाव है उसे पारिव्राज्य कहते हैं। इस पारिव्राज्य परमस्थान में ममत्व भाव छोड़कर दिगम्बर रूप धारण करना पड़ता है। मोक्ष के इच्छुक पुरुष को शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहों के अंश में निर्ग्रंथ आचार्य के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चारित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही

जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करने के योग्य माना गया है। जिस दिन ग्रहों का उपरोग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य-चन्द्रमा पर परिवेष मंडल हो, इन्द्रधनुष हो, दुष्ट ग्रहों का उदय हो, आकाश मेघ पटल से ढ़का हुआ हो, नष्ट मास अथवा अधिक मास का दिन हो, संक्रांति हो अथवा क्षय तिथि हो उस दिन बुद्धिमान आचार्य को मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्यों का दीक्षा संस्कार नहीं करना चाहिए।

आचार्य सुयोग्य शिष्य को दीक्षाविधि में सर्वप्रथम केशलोंच कराते हैं पुनः सर्व वस्त्र आभूषण त्याग कराकर अट्ठाईस मूलगुणों की विधि समझाकर उन्हें देते हैं। संयम की रक्षा के लिए मयूर पंखों की पिच्छी, शौच के लिए काठ का कमण्डलु और ज्ञान के लिए शास्त्र देते हैं।

अट्ठाईस मूलगुण—पाँच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रियों को वश में करना, छः आवश्यक क्रिया, लोच, आचेलक्य, स्थान का त्याग, क्षितिशयन, दंत धावन न करना, खड़े होकर आहार करना, एक बार आहार करना ये 28 मूलगुण हैं।

पाँच महाव्रत—मुख्य व्रतों को महाव्रत कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए कारणभूत हिंसादि के त्याग को व्रत कहते हैं। जिनको तीर्थंकर आदि महापुरुष ग्रहण करतेहैं अथवा जो पालन करने वाले को महान बना देते हैं वे महाव्रत कहलाते हैं। इसके पाँच भेद हैं—

अहिंसा महाव्रत—कषाययुक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को प्रमत्तयोग कहते हैं, प्रमत्त योग से दस प्राणों का वियोग करना हिंसा है, ऐसी हिंसा से विरत होना सर्व प्राणियों पर पूर्ण दया का पालन करना अहिंसा महाव्रत है।

सत्य महाव्रत—प्राणियों को जिससे पीड़ा होगी, ऐसा भाषण, चाहे विद्यमान पदार्थ विषयक हो अथवा न हो, उसको त्याग करना।

अचौर्य महाव्रत—अदत्त वस्तु को ग्रहण नहीं करना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—पूर्णतया मैथुन का—स्त्री मात्र का त्याग कर देना।

परिग्रह त्याग महाव्रत—बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करना, मुनियों के अयोग्य समस्त वस्तुओं का त्याग करना।

ये पाँच महाव्रत सर्व सावद्य पापों के त्याग के कारण हैं।

पाँच समिति—सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है। उसके पाँच भेद हैं—

ईर्या समिति—अच्छी तरह देखकर मन को स्थिर कर गमन-आगमन करना।

भाषा समिति—आगम से अविरुद्ध, पूर्वापर संबंध से रहित, निष्ठुरता, कर्कश, मर्मच्छेदक आदि दोषों से रहित भाषण करना।

एषणा समिति—लोक निंद्य आदि कुलों को छोड़कर और सूतक, पातक, जाति संकर आदि दोषों से रहित घरों में छ्यालीस दोष और बत्तीस अंतराय टालकर आहार ग्रहण करना।

आदान निक्षेपण समिति—आंखों से देखकर और पिच्छिका से शोधनकर यत्नपूर्वक वस्तु को रखना और उठाना।

प्रतिष्ठापन समिति—जन्तु रहित प्रदेश में ठीक से देखकर मलमूत्रादि का त्याग करना। ये पाँच समितियाँ हैं।

पंच इन्द्रिय निरोध—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को हटाना, नियंत्रण करना इन्द्रिय निरोध है।

छह आवश्यक क्रियाएँ—अवश्य करने योग्य क्रियाएं आवश्यक कहलाती हैं।

समता—रागद्वेष, मोह से रहित होना अथवा त्रिकाल पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करना।

स्तव—ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना।

वंदना—एक तीर्थंकर का दर्शन या वंदन करना अथवा पंचगुरुभक्ति पर्यंत दर्शन, वंदना करना।

प्रतिक्रमण—अशुभ मन, वचन और काय के द्वारा जो प्रवृत्ति हुई थी उससे प्रावृत्त होना अथवा किये हुए दोषों का शोधन करना। इस प्रतिक्रमण के दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ ऐसे सात भेद हैं।

प्रत्याख्यान—अयोग्य द्रव्य का त्याग करना अथवा योग्य वस्तु का भी त्याग करना।

व्युत्सर्ग—देह से ममत्व रहित होकर जिनगुण चिंतन युक्त कायोत्सर्ग करना। ऐसे छह आवश्यक हैं। इन्द्रिय, कषाय, रागद्वेषादि के वश में जो नहीं है वे अवश हैं, उनकी क्रियाएं आवश्यक क्रियाएं हैं। ये छह आवश्यक मुनियों को नित्य ही करना चाहिए।

लोच—अपने हाथों से मस्तक और दाढ़ी मूंछ के केशों को उखाड़कर फेंक देना। यह केशलोंच उत्कृष्ट दो महीने में, मध्यम तीन और जघन्य चार महीने में होता है।

आचेलक्य—चेल—वस्त्र, मुनिपने के अयोग्य सर्व परिग्रहों का त्याग कर देना।

अस्नान—स्नान का त्याग।

क्षितिशयन—घास, लकड़ी का फलक, शिला इत्यादि पर सोना।

अदन्तधावन—दातौन के लिए दंत मंजन, काष्ठादि का उपयोग नहीं करना।

स्थितिभोजन—खड़े होकर पैरों को चार अंगुल अंतर से रखकर भोजन करना।

एक भक्त—दिन में एक बार आहार लेना। इस प्रकार ये अट्ठाईस मूलगुण कहलाते हैं।

प्रत्येक दिगम्बर मुनि में इन मूलगुणों का होना आवश्यक है। मुनियों के 22 परीषहजय, 12 तप और ये 34 उत्तरगुण कहलाते हैं। ये किन्हीं में होते हैं, किन्हीं में नहीं भी होते हैं।

पारिव्राज्य परमस्थान में सत्ताईस सूत्रपद निरूपित किये गये हैं कि जिनका निर्णय होने पर पारिव्राज्य का साक्षात लक्षण प्रगट होता है उनके नाम हैं—जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण, शरीर की सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता,

सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वंदनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं। ये परमेष्ठियों के गुणस्वरूप हैं। ये गुण जिस प्रकार परमेष्ठियों में होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेने वाले शिष्य में भी यथासंभव रूप से होते हैं परन्तु शिष्य को अपने जाति आदि गुणों का सन्मान नहीं करके परमेष्ठी के ही जाति आदि गुणों का सन्मान करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणों से बचकर अपने आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है।

1. जाति—स्वयं उत्तम जातिवाला होने पर भी अहंकार रहित होकर अरहंतदेव के चरणों की सेवा करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर वह भव्य मुनि दूसरे जन्म में क्रम से दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार जातियों को प्राप्त हो जाता है। इन्द्र के दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियों के विजयाश्रिता, अरहंत देव के परमा और मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों के अपने आत्मा से उत्पन्न होने वाली स्वा जाति होती है।

2. मूर्ति—जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियों को प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिए। जिस प्रकार जाति के चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति के भी चार भेद होते हैं। दिव्या मूर्ति, विजयाश्रिता मूर्ति, परमामूर्ति और स्वामूर्ति। कोई आचार्य मूर्ति के तीन भेद ही मानते हैं वे सिद्धों में स्वामूर्ति नहीं मानते हैं क्योंकि मूर्ति का अर्थ शरीर से है।

3. लक्षण—शरीर में उत्तम-उत्तम तिल, व्यंजन आदि लक्षणों को धारण करता हुआ भी मुनि उन अपने लक्षणों को निर्देश करने के अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्रदेव के लक्षणों का चिंतवन करते हुए तपश्चरण करे। इसमें भी दिव्य लक्षण, विजयाश्रित लक्षण, परमलक्षण और स्वलक्षण ऐसे चार भेद हो जाते हैं।

4. सुन्दरता—जिनकी परम्परा अक्षुण्ण है। ऐसे दिव्य आदि सौंदर्यों की इच्छा करता हुआ मुनि अपने शरीर के सौंदर्य को मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे। इसके प्रभाव से ही उसे अगले भवों में दिव्य सौंदर्य, विजयाश्रित सौंदर्य, परमसौंदर्य और स्वसौंदर्य प्राप्त होगा।

5. प्रभा—मुनि अपने शरीर से उत्पन्न होने वाली प्रभा का त्याग कर शरीर को रज पसीने आदि से मलिन रखते हुए अरहंत देव की प्रभा का ध्यान करे इसी के प्रभाव से वह अगले भवों में दिव्य प्रभा, विजयाश्रित प्रभा, परम प्रभा और स्वप्रभा को प्राप्त करलेता है।

6. मण्डल—जो मुनि अपने मणि और दीपक आदि के तेज को छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्रदेव की आराधना करता है वह प्रभामण्डल से उज्ज्वल हो उठता है अर्थात् वह दिव्य प्रभा मण्डल, विजयाश्रित प्रभा मण्डल, परम प्रभा मण्डल और स्वप्रभा मण्डल को प्राप्त कर लेता है।

7. चक्र—जो पहले के अस्त्र, शस्त्र और वस्त्र आदि को छोड़कर अत्यंत शांत होता हुआ जिनेन्द्र भगवान की आराधना करता है वह मुनि धर्मचक्र का अधिपति होता है अर्थात् वह इन्द्र का दिव्य चक्र, चक्रवर्ती का विजयाश्रित सुदर्शन चक्र, अरहंत देव का परमचक्र धर्मचक्र और सिद्धों का स्वचक्र-स्वगुण समूह को प्राप्त कर लेता है।

8. अभिषेक—जो मुनि स्थान आदि संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्र का आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिंतवन करता है वह मेरु पर्वत पर उत्कृष्ट जन्माभिषेक को प्राप्त होता है। यहाँ पर भी इन्द्र का दिव्य अभिषेक, चक्रवर्ती का साम्राज्यपद पर विजयाश्रित अभिषेक और तीर्थंकर अरहंत का जन्म काल में जन्माभिषेक समझना चाहिए।

9. नाथता—जो मुनि अपने इस लोक संबंधी स्वामीपने को छोड़कर परम स्वामी श्री जिनेन्द्रदेव की सेवा करता है वह जगत् के जीवों द्वारा सेवनीय होने से सबके नाथपने को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जगत् के सब जीव उसकी सेवा करते हैं। यहाँ पर भी दिव्यनाथता, विजयाश्रितनाथता, परमनाथता और स्वनाथता घटित कर लेना चाहिए।

10. सिंहासन—जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदों का त्याग कर दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासन पर आरूढ़ होकर तीर्थ को प्रसिद्ध करने वाला तीर्थंकर होता है। यहाँ पर भी क्रम से दिव्य सिंहासन, विजयाश्रित सिंहासन, परमसिंहासन और स्वसिंहासन लगा लेना चाहिए।

11. उपधान—जो मुनि अपने तकिया आदि का अनादर करके परिग्रह रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजा पर शिर को रखकर पृथ्वी के ऊँचे-नीचे प्रदेशपर शयन करता है वह महाअभ्युदय को प्राप्त कर जिन हो जाता है। उस समय सब लोग उसका आदर करते हैं और वह देवों के द्वारा बने हुए देदीप्यमान तकिया को प्राप्त होता है यहाँ भी दिव्य उपधान, विजयाश्रित उपधान, परम उपधान और स्वउपधान समझना चाहिए।

12. छत्र—जो मुनि शीतल छत्र—छाते आदि अपने समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नों के युक्त तीन छत्रों से सुशोभित होता है अर्थात् गृहस्थावस्था के धूप के निवारक छाता आदि परिग्रह त्यागी मुनि को क्रम से दिव्य छत्र, विजयाश्रित छत्र, परम छत्र और स्वछत्र प्राप्त होते हैं।

13. चामर—जिसने अनेक प्रकार के पंखाओं के त्याग से तपश्चरण विधि का पालन किया है ऐसे मुनि को जिनेन्द्र पर्याय प्राप्त होने पर चौंसठ चामर ढुलाये जाते हैं। अर्थात् दिव्य चामर, विजयाश्रित चामर और परम चामर संज्ञक चंवर उन पर ढुरते हैं।

14. घोषणा—जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदि की घोषणा का त्याग कर तपश्चरण करता है उसके विजय की सूचना स्वर्ग के दुंदुभियों के गंभीर शब्दों से घोषित की जाती है। यहाँ पर भी क्रम से दिव्य घोषणा, विजयाश्रित घोषणा और परमघोषणा समझना चाहिए।

15. अशोकवृक्ष—चूँकि पहले उसने अपने उद्यान आदि की छाया का परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिए अब उसे अरहंत अवस्था में महाअशोक वृक्ष की प्राप्ति होती है। यहाँ पर भी इन्द्र के नंदन वन का अशोक दिव्य अशोक, चक्रवर्ती के उद्यान का विजयाश्रित अशोक और अरहंतदेव का परम अशोक वृक्ष समझना।

16. निधि—जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता है समवसरण भूमि में निधियाँ दरवाजे पर खड़ी होकर उसकी सेवा करती हैं। यहाँ पर भी दिव्य निधि, विजयाश्रित निधि और परमनिधि की कल्पना की जा सकती है।

17. गृहशोभा—जिसकी सब ओर से रक्षा की गई थी ऐसे अपने घर की शोभा को छोड़कर इसने तपश्चरण किया था इसीलिए श्रीमण्डप की शोभा अपने आप इसके सामने आ जाती है। यहाँ पर भी इन्द्र के विमान की शोभा दिव्य गृह शोभा है, चक्रवर्ती के भवन की शोभा विजयाश्रित गृहशोभा है और अरहंतदेव के समवसरण में श्रीमण्डप की शोभा परम गृहशोभा है, अंत में निर्वाणधाम की शोभा स्व-गृह शोभा कही जायेगी।

18. अवगाहन—जो मुनि तप करने के लिए सघन वन में निवास करता है उसे तीनों जगत् के जीवों के लिए स्थान दे सकने वाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकों के समस्त जीव स्थान पा सकते हैं। यहाँ पर भी इन्द्रों का दिव्य अवगाहन, चक्रवर्ती का विजयाश्रित अवगाहन, अरहंत का परम अवगाहन और सिद्धों का स्व-अवगाहन घटित कर लेना चाहिए।

19. क्षेत्रज्ञ—जो क्षेत्र, मकान आदि का त्याग कर शुद्ध आत्मा का आश्रय लेता है उसे तीनों जगत को अपने अधीन रखने वाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र को दिव्य क्षेत्रज्ञ, चक्रवर्ती को विजयाश्रित क्षेत्रज्ञ, अरहंत को परमक्षेत्रज्ञ और सिद्धों को स्वक्षेत्रज्ञ प्राप्त होता है।

20. आज्ञा—जो मुनि आज्ञा देने का अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसकी उत्कृष्ट आज्ञा सुर-असुरगण अपने मस्तक से धारण करते हैं अर्थात् उसकी आज्ञा समस्त जीव मानते हैं। यहाँ भी दिव्य आज्ञा, विजयाश्रित आज्ञा, परम आज्ञा और अंत में स्व आज्ञा प्राप्त होती है।

21. सभा—जो मुनि अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदि की सभा का परित्याग कर देता है उसके अरहंत अवस्था में तीनों लोकों की सभा समवसरण सभा प्राप्त होती है। अर्थात् इंद्र की दिव्य सभा, चक्रवर्ती की विजयाश्रित सभा, अरहंत की परमसभा और सिद्धों की स्व सभा ये क्रम से उसे प्राप्त हो जाती हैं।

22. कीर्ति—जो सब प्रकार की इच्छाओं का परित्याग कर अपने गुणों की प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति—निंदा में समान भाव रखता है वह तीनों लोकों के इंद्रों द्वारा प्रशंसित होता है। यहाँ भी क्रम से दिव्य कीर्ति,

विजयाश्रित कीर्ति, परमकीर्ति और स्वकीर्ति मिलती है।

23. वंदनीयता—जिस मुनि ने वंदना करने योग्य अरहंतदेव की वंदना कर तपश्चरण किया था इसीलिए वह वंदना करने योग्य भी पूज्य पुरुषों द्वारा वंदना को प्राप्त हो जाता है। यहाँ भी दिव्य वंदनीयता, विजयाश्रित वंदनीयता, परम वंदनीयता और स्ववंदनीयता इन चारों की प्राप्ति उन वंदना करने वाले मुनि को प्राप्त हो जाती है।

24. वाहन—जो पादत्राण—जूता और सवारी आदि का त्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है। वह कमलों के मध्य में चरण रखने योग्य हो जाता है अर्थात् अरहंत अवस्था में देवगण उनके चरणों के नीचे कमलों की रचना करते हैं। यहाँ भी दिव्यवाहन, विजयाश्रित वाहन, परमवाहन और स्ववाहन घटित करना चाहिए।

25. भाषा—चूँकि यह मुनि वचनगुप्ति को धारण कर अथवा हित-मित वचनरूप भाषा समिति का पालन कर तपश्चरण में स्थित हुआ था इसलिए ही इसे समस्त सभा को संतुष्ट करने वाली दिव्यध्वनि प्राप्त हुई है। यहाँ भी इंद्रों की दिव्यभाषा, चक्रवर्ती की विजयाश्रित भाषा, अरहंत की परमभाषा समझना तथा सिद्धों की भाषा नहीं है।

26. आहार—इस मुनि ने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणाएं कर तप को तपा था इसलिए ही इसे दिव्यतृप्ति, विजयतृप्ति, परमतृप्ति, अमृततृप्ति ये चारों ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

27. सुख—यह मुनि कामजनित सुख को छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरण में स्थिर रहा है। इसलिए ही यह सुख स्वरूप होकर परमानंद को प्राप्त हुआ है। यहाँ पर भी क्रम से इसे दिव्यसुख, विजयसुख, परमसुख और स्वसुख प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार से ये सत्ताईस सूत्रपद कहे गये हैं। इनके होने पर मुनिचर्या आदर्शचर्या हो जाती है।

इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है? संक्षेप में इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्परहित होकर जिस प्रकार की जिस-जिस वस्तु का परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिए वही-वही वस्तु उत्पन्न कर देता है। जो आगम में कही हुई जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसी के वास्तविक पारिव्राज्य होता है। अनेक प्रकार के वचनों के जाल में निबद्ध तथा युक्ति से बाधित अन्य लोगों के पारिव्राज्य को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्राज्य को ग्रहण करना चाहिए। यह तीसरा पारिव्राज्य परमस्थान होता है।

सुरेन्द्रता परमस्थान—इन्द्रपद प्राप्त करना 'सुरेन्द्रता' नाम का चौथा 'परमस्थान' होता है। जिन्होंने पारिव्राज्य नामक परम स्थान को प्राप्तकर अंत में सल्लेखना विधि से शरीर को छोड़ा है। उन्हीं को यह 'सुरेन्द्रता' परम स्थान प्राप्त होता है। कोई भी पुण्यशाली मुनि सन्यास विधि से मरणकर देवगति नामकर्म के उदय से स्वर्ग में इंद्र

पर्याय को प्राप्त होता है। वहाँ उपपादगृह में उपपादशय्या से जन्म होता है। अंतर्मुहूर्त में ही छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाने से नवयौवन सम्पन्न दिव्य वैक्रियिक शरीर बन जाता है। उस शरीर में नख, केश, रोम, चर्म, रुधिर, मांस, हड्डी एवं मल मूत्रादि धातुएं नहीं होती हैं।

देव विमान में उत्पन्न होते ही बिना खोले किवाड़ खुल जाते हैं। उसी समय आनन्दभेरी का शब्द होने लगता है। उस भेदी के शब्द को सुनकर परिवार के देव-देवियाँ 'जय, जय, नंद आदि शब्दों को बोलते हुए वहाँ आ जाते हैं। किल्विष देव घंटा पटह आदि बजाने लगते हैं। गंधर्व देव नृत्य प्रारंभ कर देते हैं।

सब देव-देवियों को देखकर नवीन जन्म को प्राप्त हुए इन्द्र कौतुक से सबको देखते हैं। तत्क्षण ही उन्हें अवधिज्ञान प्रकट हो जाता है। तब वे अपने इन्द्र जन्म को जानकर प्रसन्नता से अपने परिकर की ओर देखते हैं। नियोग के अनुसार द्रह में स्नान करके वस्त्राभूषण धारणकर सर्वप्रथम जिनमंदिर में जाकर जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा का 1008 कलशों से अभिषेक करते हैं, जल, चंदन आदि से पूजा करते हैं। पुनः अपने स्थान पर आकर सिंहासन पर आरूढ़ होकर सभी देव-देवियों को संतुष्ट करते हुए अपने-अपने कार्यों में नियुक्त कर देते हैं।

सौधर्म इन्द्र का वैभव – सौधर्म इन्द्र के दश प्रकार के परिवार होते हैं – प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल, आत्मरक्ष, पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक।

एक इन्द्र के एक ही प्रतीन्द्र होते हैं। वे आज्ञा ऐश्वर्य के सिवाय बाकी के सभी वैभव में इंद्र के सदृश होते हैं।

सौधर्म इन्द्र के 84 हजार सामानिक देव होते हैं। तेंतीस त्रायस्त्रिंश होते हैं। सोम, यम, वरुण और कुबेर नाम के 4 लोकपाल होते हैं। तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्ष देव होते हैं। पारिषद देवों में अभ्यंतर पारिषद की संख्या बारह हजार, मध्यम पारिषद की चौदह हजार और बाह्य पारिषद की सोलह हजार है। अनीक जाति के देवों में सेनाओं के भेद से 7 भेद होते हैं। वृषभ, अश्व, रथ, गज, पदाति, गंधर्व और नर्तक ये 7 सेनाएं हैं। इन सातों में से प्रत्येक सेना सात-सात कक्षाओं से युक्त रहती है। उनमें से प्रथम सेना का प्रमाण अपने सामानिक देवों के बराबर है। इससे आगे सप्तम सेना पर्यंत उससे दूना-दूना है। सौधर्म इन्द्र की बैल की प्रथम सेना की प्रथम कक्षा में चौरासी हजार बैल हैं। इससे आगे सात कक्षाओं तक इस जल सेना का प्रमाण एक करोड़ छह लाख अड़सठ हजार है। अश्व, रथ आदि सेनाएं भी इतने-इतने मात्र हैं, सौधर्म इन्द्र के समस्त अनीकों की संख्या सात करोड़ छ्यालीस लाख, छियत्तर हजार प्रमाण है। इन सातों अनीकों में जो अधिपति देव हैं उनके नाम क्रम से दामयष्टि, हरिदाम, मातलि,

ऐरावत, वायु, यशस्क और नीलांजना है। सौधर्म इन्द्र के आभियोग्य, प्रकीर्णक और किल्विषक देवों का प्रमाण असंख्यात है।

सौधर्म इन्द्र के 1 लाख 60 हजार देवियाँ हैं और उनमें आठ महादेवियाँ हैं। आठ महादेवियों में प्रथम देवी का नाम 'शची' है। अनुपम लावण्य वाली इन महादेवियें के 16-16 हजार परिवार देवियाँ हैं तथा इस इन्द्र के 32 हजार वल्लभिका देवियाँ हैं। ऐसे कुल मिलाकर 8×16000+32000=1,60,000 हो जाती हैं। 8 महादेवियाँ और 32000 बल्लभाएं ये प्रत्येक ही 16-16 हजार विक्रिया करने में समर्थ होती हैं।

यह सौधर्म इन्द्र बत्तीस लाख विमानों का अधिपति है। ऐसे ही ईशानेन्द्र के 28 लाख आदि विमान माने गये हैं। सौधर्म-ईशान इन दो स्वर्गों के इन्द्रक विमान 31 हैं। उनके नाम ऋतु, विमल, चन्द्र, वल्गु, वीर, अरुण, नंदन, नलिन, कंचन, रोहित, चंच, मरुत, ऋद्धीश, वैडूर्य, रुचक, रुचिर, अंक, स्फटिक, तपनीय, मेघ, अभ्र, हारिद्र, पद्म, लोहित, वज्र, नंद्यावर्त, प्रभाकर, पृष्ठक, गज, मित्र और प्रभा।

ये सभी इन्द्रक एक के ऊपर एक होने से भवनों के खन के समान हैं। एक-एक इन्द्रक का आपस में अंतराल असंख्यात योजन प्रमाण है। सब इंद्रक विमान की चारों दिशाओं में श्रेणीबद्ध और विदिशाओं में प्रकीर्णक विमान हैं। सभी इंद्रक और श्रेणीबद्ध विमान गोल हैं। दिव्य रत्नों से निर्मित हैं और ध्वजा तोरणों से सुशोभित हैं। इनके अंतराल में विदिशाओं में पुष्पों के सदृश रत्नमय उत्तम प्रकीर्णक विमान हैं।

इस सौधर्म स्वर्ग में 31 इन्द्रक, चार हजार तीन सौ इकहत्तर श्रेणीबद्ध और इकतीस लाख, पंचानवे हजार, पाँच सौ अट्ठानवे प्रकीर्णक विमान हैं, ये सब मिलाकर 31+4371+3195598=3200000 हो जाते हैं।

सभी इंद्रक विमान संख्यात योजन प्रमाण वाले हैं। जिनमें से पहला ऋतु नाम का इंद्रक विमान 45 लाख योजन प्रमाण वाला है। सभी श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं। प्रकीर्णक विमानों में कुछ संख्यात योजन वाले हैं कुछ असंख्यात योजन वाले हैं। ये सभी विमान सुन्दर-सुन्दर तटवेदी, गोपुरद्वार, तोरण और पताकाओं से सुशोभित हैं।

31 इंद्रकों में जो अंतिम 'प्रभा' नाम का इंद्रक है, उसके दक्षिण श्रेणी में जो अट्ठारहवाँ श्रेणीबद्ध विमान है, उसमें सौधर्म इन्द्र रहता है। वहाँ पर 84 हजार योजन विस्तृत एक नगर बना हुआ है, जिसका नाम है सौधर्म इन्द्र नगर। यह नगर सुवर्णमय परकोटे से वेष्ठित है। परकोटे के अग्रभाग पर कहीं पर पंक्तिबद्ध ध्वजाएं हैं और कहीं पर मयूराकार यंत्र शोभायमान हो रहे हैं। इस नगर में सौधर्म इन्द्र का प्रासाद (भवन) है जो कि 120 योजन विस्तार वाला है और 600 योजन ऊँचा है। इस भवन में सौधर्म इन्द्र अपनी 1 लाख 60 हजार इन्द्राणियों सहित निरन्तर सुख समुद्र में मग्न रहता है।

इन्द्र के नगर के बाहर पाँच परकोटे माने गये हैं। उन्हें वेदी भी कहते हैं। इन पाँचों परकोटों के बीच में चार अंतराल हो जाते हैं। प्रथम अंतराल 13 लाख योजन का है, दूसरा 63 लाख योजन का है, तीसरा 64 लाख योजन का है और चौथा 84 लाख योजन वाला है। प्रथम अंतराल में सौधर्म इन्द्र के आत्म रक्षक देव अपने-अपने परिवार सहित रहते हैं। दूसरे में पारिषद जाति के देव, तीसरे में सामानिक देव और चौथे में आरोहक, अनीक, आभियोग्य, किल्विषक, प्रकीर्णक तथा त्रायस्त्रिंश देव सपरिवार रहते हैं। इंद्र भवन के चारों ओर इन्द्राणी और वल्लभाओं के भवन बने हुए हैं।

इस पाँचवें परकोटे के आगे 'इन्द्रपुर' की चारों ही दिशाओं में दिव्य वनखण्ड हैं, इनको ही 'नंदनवन' कहते हैं। इनमें से पूर्व दिशा में अशोक वन है, दक्षिण में सप्तच्छदवन हैं, पश्चिम में चंपक वन हैं और उत्तर में आम्रवन हैं। इन चारों दिशाओं के वनों में प्रत्येक के मध्य में एक-एक चैत्यवृक्ष हैं। ये जंबूवृक्ष के समान प्रमाण वाले पृथ्वीकायिक हैं। इन एक-एक चैत्यवृक्षों के चारों तरफ 'पल्यंकासन' से जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं। इस प्रकार ये वनखण्ड चैत्यवृक्षों से सुशोभित, पुष्करिणी, वापी, मणिमय देव भवनों से संयुक्त, फल पुष्पादि से परिपूर्ण होकर सबको आनंद देने वाले हैं अतः 'नंदनवन' नाम से प्रसिद्ध हैं।

सौधर्म इन्द्र नगर के मध्य में सौधर्म इन्द्र का प्रासाद है। इन्द्र के गृहों के आगे 36 योजन ऊँचे 1 योजन मोटे ऐसे स्तंभ हैं जिन्हें मानस्तंभ भी कहते हैं। इनमें 12 धाराएं हैं अर्थात् ये स्तंभ बारह कोण संयुक्त गोल हैं। 1 योजन मोटे-गोल की परिधि बारह कोश होने से 1-1 कोश की धाराएं कोण बने हुए हैं। इन मानस्तंभों में उत्तम रत्नमय करण्डक (पिटारे) हैं। प्रत्येक करण्डक 500 धनुष विस्तृत और एक कोश लंबे हैं। रत्नमय सींकों के समूहों के लटकते हुए ये सब संख्यातों करण्डक शक्रादि से पूजय अनादि निधन महारमणीय हैं। इन सौधर्म इन्द्र के मान स्तंभों के करण्डकों से भरतक्षेत्र के तीर्थंकर के लिए दिव्य आभरण, भूषण आदि लाये जाते हैं।

ऐसे ही ईशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गों में भी मानस्तंभ हैं जिनसे इन्द्र क्रमशः ऐरावत, पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह के तीर्थंकरों के लिए दिव्य वस्त्रादि लाते हैं।

इन इन्द्र के भवनों के आगे न्यग्रोध वृक्ष होते हैं जो कि जम्बूवृक्ष के समान पृथ्वीकायिक हैं। इनके मूल में प्रत्येक दिशा में जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं जिनके चरणों में सतत इन्द्रादिगण नमस्कार करते रहते हैं।

उस मानस्तंभ के पास ईशान दिशा में 8 योजन ऊँचा, लंबा और चौड़ा उपपाद गृह है उसमें दो रत्नमयी उपपाद शय्या है। यहीं पर इन्द्र का जन्मस्थान है।

ईशान दिशा में ही उपपादगृह के समीप जिनमंदिर स्थित हैं जो कि अनेक शिखरों से युक्त हैं। इस मंदिर में रत्नमयी 108 जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं।

इन्द्र भवन से ईशान दिशा में 300 कोश ऊँची, 400 कोश लम्बी, 200 कोश विस्तृत 'सुधर्मा' नामक सभा है। इस सभाभवन में इन्द्र के सिंहासन के आगे 8 पट्टदेवियों के 8 आसन हैं, इन महादेवियों के आसन के बाहर पूर्व आदि दिशा में क्रम से सोम, यम, वरुण और कुबेर इन चार लोकपालों के 4 आसन हैं। इन्द्रासन के आग्नेय, दक्षिण और नैऋत्य दिशा में अभ्यंतर, मध्यम और बाह्य पारिषद देवों के क्रम से 12 हजार, 14 हजार और 16 हजार आसन हैं। नैऋत्य दिशा में ही त्रायस्त्रिंश देवों के 33 आसन हैं। सेनानायकों के 7 आसन पश्चिम दिशा में हैं। वायव्य और ईशान दिशा में क्रम से 42-42 हजार आसन हैं। चारों ही दिशाओं में अंगरक्षक के भद्रासन हैं। सौधर्मेन्द्र के पूर्वादि दिशाओं में 84 हजार आसन हैं। इस प्रकार सुधर्मा सभा में आसनों की व्यवस्था है।

सौधर्म इन्द्र का 'बालुक' नामक यान – विमान होता है। यह 1 लाख योजन लम्बा चौड़ा है। इसमें आसन, शय्या, घूपघट, चामर आदि विद्यमान हैं। ध्वजाएं फहराती रहती हैं। सुन्दर द्वार हैं और वज्रमय कपाट लगे हुए हैं।

सौधर्म इन्द्र के आभियोग्य देवों का अधिपति 'बालक' नामक देव है। यह देव विक्रिया से 1 लाख योजन प्रमाण हाथी का रूप बना लेता है। इस हाथी के बत्तीस मुख होते हैं। एक-एक मुख में चार-चार दांत होते हैं। एक-एक दांत पर निर्मल जल से युक्त 1-1 सरोवर होता है। एक-एक सरोवर में एक-एक कमल बने रहते हैं। इन कमल वनों में 32-32 महाकमल होते हैं। विक्रिया से बनाये गये ये कमल सुवर्णमय हैं। एक-एक कमल पर 1-1 नाट्यशाला होती हैं। उस 1-1 नाट्यशाला में 32-32 अप्सराएं नृत्य करती रहती हैं। सौधर्म इन्द्र भगवान के जन्मोत्सव आदि अवसर में इसी ऐरावत हाथी पर बैठकर आता है।

लोकपालों में से प्रत्येक के विमानों की संख्या 6 लाख, छ्यासठ हजार छः सौ छ्यासठ है। प्रत्येक लोकपाल के तीन करोड़ पचास लाख देवांगनाएं होती हैं।

इन्द्र-इन्द्राणी अथवा देवगण मूल शरीर से कहीं भी नहीं जाते-आते हैं। तीर्थंकरों के कल्याणकों में अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करने हेतु या अन्यत्र कहीं भी क्रीड़ा हेतु जाने में ये इन्द्रादि देव विक्रिया से निर्मित शरीर से ही गमनागमन करते हैं, मूल शरीर से नहीं। ये देवगण अंतर्मुहूर्त में शरीर की नई-नई विक्रिया करते रहते हैं। इसमें इन्हें कष्ट का अनुभव नहीं होता है प्रत्युत् आनंद का अनुभव होता है।

सौधर्म स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु 2 सागर प्रमाण है। जघन्य आयु 1 पल्य है। इनमें देवियों की जघन्य आयु 1 पल्य से कुछ अधिक और उत्कृष्ट आयु 5 पल्य है।

सौधर्म स्वर्ग में शरीर की ऊँचाई 7 हाथ प्रमाण है।

जिनदेवों की आयु 2 सागर है। वे 2000 वर्षों के बीत जाने पर दिव्य अमृतमय

मानसिक आहार ग्रहण करते हैं और ये देव दो पक्ष बाद उच्छ्वास ग्रहण करते हैं। जिनकी आयु पल्य प्रमाण है वे पाँच दिन में आहार ग्रहण करते हैं।

सौधर्म स्वर्ग के देव-देवियाँ परस्पर में शरीर से कामसेवन करते हैं। ये देव पहले नरक तक विक्रिया करते हैं। इनका अवधिज्ञान भी पहले नरक तक ही जानने में समर्थ है।

जब एक इन्द्र मरण को प्राप्त होता है तो उसी स्थान पर दूसरे इन्द्र का जन्म हो जाता है। कदाचित् इन्द्र के मरने के बाद दूसरे इन्द्र के जन्म लेने में अधिक से अधिक अंतर पड़ जावे तो छह मास का पड़ सकता है। इसके बाद नियम से दूसरा इन्द्र जन्म ले लेता है। देवों में अकालमृत्यु नहीं होती है। अतः वे अपनी आयु पूरी करके ही मरण को प्राप्त होते हैं।

'सुरेन्द्रता' नाम के परमस्थान में सौधर्म इन्द्र का पद प्रमुख है क्योंकि तीर्थंकरों के कल्याणकों में प्रमुखता सौधर्म इन्द्र की ही रहती है। वैसे ईशान इन्द्र आदि इन्द्रों के पद प्राप्त करना भी इस परमस्थान में गर्भित है। सौधर्म इन्द्र नियम से एक भवावतारी ही होता है। ईशान इंद्र आदि उत्तर इंद्रों के लिए कोई नियम नहीं है।

यहाँ इन्द्र पद सम्यग्दर्शन सहित घोर तपश्चरण करने वाले महामुनियों को ही प्राप्त होता है। अतः सप्त परमस्थानों में पारिव्राज्य परमस्थान के बाद में इस परमस्थान का नाम आता है। जो भव्यजीव इस चतुर्थ परमस्थान को प्राप्त कर लेता है वह क्रम से साम्राज्य, आर्हन्त्य और निर्वाण परमस्थान का अधिकारी हो जाता है।

साम्राज्य परमस्थान—जिसमें चक्ररत्न के साथ-साथ निधियों और रत्नों से उत्पन्न हुए भोगोपभोग रूपी सम्पदायों की परम्परा प्राप्त होती है ऐसे चक्रवर्ती के बड़े भारी राज्य को प्राप्त करना 'साम्राज्य' नाम का पांचवां परमस्थान कहलाता है। इस पद के भोक्ता छह खण्ड पृथ्वी पर एक छत्र शासन करने वाले चक्रवर्ती कहलाते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि इस चक्रवर्ती पद में परिवार और विभूति कितनी होती है?

चक्रवर्ती के शरीर में वज्र की हड्डियों के बंधन और वज्र के ही वेष्टन रहते हैं और वह वज्रमयकीलियों से कीलित रहता है। इसलिए अभेद्य रहता है अर्थात् चक्रवर्ती को वज्रवृषभनाराच संहनन रहता है। उनके शरीर का आहार और अंगोपांग बहुत ही सुन्दर मनोहर रहते हैं अर्थात् उनके समचतुरस्र संस्थान रहता है। छह खण्ड के सभी राजाओं से अधिक उनके शरीर में बल रहता है। उनके सुदर्शन नामक चक्ररत्न के प्रभाव से छह खण्ड के सभी राजा उनकी आज्ञा को शिर से धारण करते हैं। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके चरणों की सेवा करते हैं। अच्छी-अच्छी रचना वाले बत्तीस हजार देश होते हैं जिससे चक्रवर्ती का लम्बा चौड़ा क्षेत्र बहुत ही अच्छा मालूम पड़ता है। ऐरावत हाथी के समान चौरासी लाख हाथी होते हैं। सूर्य की चाल के साथ स्पर्धा करने वाले, दिव्य रत्नों से निर्मित चौरासी लाख ही रथ होते हैं। पृथ्वी, जल तथा आकाश में समान रूप

से चलने में समर्थ ऐसे अट्ठारह करोड़ घोड़े रहते हैं। योद्धाओं के मर्दन में प्रसिद्ध ऐसे चौरासी करोड़ पदाति—पैदल चलने वाले सिपाही रहते हैं।

एक चक्रवर्ती के छ्यानवे हजार रानियाँ होती हैं जिनमें बत्तीस हजार कन्याएं आर्यखण्ड की रहती हैं, विद्याधरों की बत्तीस हजार कन्याएं होती हैं एवं म्लेच्छ खण्ड के राजाओं की कन्याएं बत्तीस हजार होती हैं ऐसे कुल छ्यानवे हजार रानियाँ होती हैं। इन रानियों के साथ रति क्रीड़ा में चक्रवर्ती विक्रिया के प्रभाव से एक साथ ही एक कम 96 हजार रूप बना लेते हैं। बत्तीस हजार नाट्यशालाएं होती हैं। इन्द्र के नगर के समान बहत्तर हजार नगर होते हैं। नंदनवन सदृश बगीचों से रम्य छ्यानवे करोड़ गांव होते हैं। निन्यानवे हजार द्रोणमुख अर्थात् बंदरगाह होते हैं। अड़तालीस हजार पत्तन होते हैं। कोट, परकोटे, अटारियां और परिखाओं से शोभायमान सोलह हजार खेट होते हैं। कुभोगभूमिया मनुष्यों से व्याप्त छप्पन अंतरद्वीप होते हैं जिनके चारों ओर परिखा बनी रहती है ऐसे चौदह हजार संवाह—पहाड़ों पर बसने वाले नगर होते हैं। चावलों को पकाने वाले ऐसे पाकशालाओं में एक करोड़ हण्डे होते हैं। जिनके साथ बीज बोने की नाली लगी हुई है ऐसे एक लाख करोड़ हल होते हैं। दही मथने के शब्दों से पथिकों को आकर्षित करने वाली ऐसे तीन करोड़ तज अर्थात् गोशालाएं रहती हैं। जहाँ रत्नों के व्यापार होते हैं ऐसे सात सौ कुक्षिवास होते हैं। निर्जन प्रदेश और ऊँचे—ऊँचे पहाड़ी विभागों से विभक्त ऐसे अट्ठाईस हजार सघन वन होते हैं। जिनके चारों ओर रत्नों की खानें विद्यमान हैं ऐसे अट्ठारह हजार म्लेच्छ राजा होते हैं।

प्रत्येक चक्रवर्ती के काल, महाकाल, नैस्सर्प्य, पांडुक, पद्म, माणव, पिंग, शंख और सर्वरत्न इन नामों से प्रसिद्ध ऐसी नव निधियाँ होती हैं। जिनसे चक्रवर्ती घर की आजीविका से बिल्कुल निश्चित रहते हैं। 'काल' नाम की निधि से प्रतिदिन लौकिक शास्त्र, व्याकरण आदि की उत्पत्ति होती रहती है तथा यही निधि वीणा, बांसुरी आदि इन्द्रियों के मनोज्ञ विषय भी प्रदान करती है। महाकाल नाम की निधि असि, मषि आदि छह कर्मों के साधनभूत द्रव्य तथा सम्प्रदायों को उत्पन्न करती है। नैसर्प निधि से शय्या, आसन, मकान आदि मिलते रहते हैं। पाण्डुक निधि से धान्यों की उत्पत्ति होती है तथा छहों प्रकार के रस भी मिलते रहते है। पद्मनिधि रेशमी, सूती आदि सब तरह के वस्त्रों को देती रहती है। पिंगल निधि से दिव्य आभरण मिलते रहते हैं। माणव निधि से नीतिशास्त्र तथा अनेक प्रकार के शस्त्रों की उत्पत्ति होती है। शंख निधि से सुवर्ण उत्पन्न होता है और सर्वरत्न नाम की निधि से नील, मरकत, पद्मराग आदि नाना मणिरत्नों की उत्पत्ति होती रहती है।

चक्रवर्ती के चौदह रत्न होते हैं जिनमें सात अजीव और सात सजीव होते हैं। चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न हैं एवं सेनापति, गृहपति,

हाथी, घोड़ा, स्त्री, स्थपति (सिलावट) और पुरोहित ये सात सजीव रत्न हैं। चक्र, दण्ड, असि और छत्र ये चार रत्न आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं। मणि, चर्म तथा काकिणीये तीन रत्न श्रीगृह में प्रगट होते हैं। स्त्री, हाथी और घोड़ा इन तीन की उत्पत्ति विजयार्धशैल पर होती है और अन्य रत्न निधियों के साथ-साथ अयोध्या में ही उत्पन्न होते हैं।

चक्रवर्ती सम्राट स्त्रीरत्न के साथ-साथ छहों ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रियों के योग्य भोगों को भोगता है। चक्रवर्ती के सुभद्रा नाम का स्त्री रत्न होता है।

चक्रवर्ती के दशांग भोग माने गये हैं–रत्न सहित नौ निधियाँ, रानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, भाजन, भोजन और वाहन ये दश भोग के साधन होते हैं। चक्रवर्ती के रत्न निधि और स्वयं की रक्षा करने में तत्पर ऐसे सोलह हजार गणबद्ध देव होते हैं जो हाथ में तलवार धारण कर रक्षा करते हैं। चक्रवर्ती के घर को घेरे हुए 'क्षितिसार' नाम का कोट होता है। देदीप्यमान रत्नों के तोरणों से युक्त 'सर्वतोभद्र' नाम का गोपुर रहता है। उनकी बड़ी भारी छावनी के ठहरने का स्थान 'नंद्यावर्त' नाम का है। सब ऋतुओं में सुख देने वाला ऐसा 'वैजयन्त' नाम का महल होता है। बहुमूल्य रत्नों से जड़ी हुई, दिक्स्वास्तिका नाम की सभाभूमि होती है। टहलते समय हाथ में लेने के लिए मणियों की बनी हुई 'सुविधि' नाम की छड़ी रहती है। सब दिशाएं देखने के लिए 'गिरिकूटक' नाम का राजमहल होता है। चक्रवर्ती के नृत्य देखने के लिए 'वर्धमानक' नाम की नृत्यशाला होती है। ग्रीष्म के संताप दूर करने के लिए बड़ा भारी 'धारागृह' रहता है। वर्षा ऋतु में निवास करने के लिए 'गृहकूटक' नाम का महल रहता है। सफेद चूना से पुता हुआ 'पुष्करावर्त' नाम का खास महल होता है। 'कुबेरकांत' नाम का भण्डार गृह रहता है जो कभी भी खाली नहीं होता है। 'वसुधारक' नाम का बड़ा भारी अटूट कोठार रहता है और 'जीमूत' नाम का बहुत बड़ा स्नानगृह होता है।

'अवतंसिका' नाम की सुन्दर माला होती है। 'देवरम्या' नाम की सुन्दर चांदनी होती है, 'सिंहवाहिनी' नाम की शय्या रहती है तथा 'अनुत्तर' नाम का सिंहासन होता है। विजयार्ध कुमार के द्वारा प्रदत्त 'अनुपमान' नाम के चंवर होते हैं। बहुमूल्य रत्नों से निर्मित 'सूर्यप्रभ' नाम का देदीप्यमान छत्र होता है। विद्युत् की दीप्ति को तिरस्कृत करने वाले 'विद्युत्प्रभ' नाम के दो सुन्दर कुण्डल होते हैं। 'विषमोचिका' नाम की खड़ाऊँ होती हैं जो कि चक्रवर्ती के अतिरिक्त दूसरे के पैर का स्पर्श होते ही विष छोड़ने लगती है। 'अभेद्य' नाम का कवच रहता है। दिव्य शस्त्रों से सुसज्जित 'अजितंजय' नाम का रथ होता है। जिसकी प्रत्यञ्चा के आघात से समस्त संसार कांप उठे ऐसा 'वज्रकांड' नाम का धनुष होता है जो कभी व्यर्थ नहीं जाते ऐसे 'अमोघ' नाम के बाण होते हैं। वज्र से निर्मित ऐसी 'वज्रतुण्डा' नामक शक्ति (शस्त्र) होती है। 'सिंहाटक' नाम का भाला होता है। रत्नों से जिसकी मूठ बनी हुई है ऐसी 'लोहवाहिनी' नाम की छुरी रहती है। वज्र के

समान 'मनोवेग' नाम का कणप (अस्त्रविशेष) रहता है। 'सौनन्दक' नाम की उत्तम तलवार होती है। भूतों के मुखों से चिन्हित 'भूतमुख' नम का खेट (अस्त्रविशेष) रहता है।

'सुदर्शन' नाम का चक्ररत्न होता है, 'चण्डवेग' नाम का दण्ड रत्न होता है। 'वज्रमय' 'चर्मरत्न' रहता है जिसके बल से चक्रवर्ती की सेना जल के उपद्रव से बच जाती है। 'चूड़ामणि' नाम का चिंतामणि रत्न रहता है। 'चिंताजननी' नाम का काकिणी रत्न होता है जो विजयार्ध पर्वत की गुफाओं के अंधकार को दूर करता है। 'अयोध्य' नाम का सेनापति रत्न होता है। समस्त धार्मिक क्रियाओं में कुशल 'बुद्धिसागर' नाम का पुरोहित रत्न रहता है। 'कामवृष्टि' नाम का गृहपति रत्न होता है। राजभवन आदि के निर्माण में कुशल 'भद्रमुख' नाम का शिलावट रत्न-इंजीनियर रहता है। 'विजय-पर्वत' नाम का सफेद हाथी होता है। विजयार्ध पर्वत की गुफा के मध्य भाग को लीला मात्र में उल्लंघन करने वाला 'पवनञ्जय' नाम का घोड़ा होता है तथा 'सुभद्रा' नाम का स्त्रीरत्न होता है। चक्रवर्ती के इन दिव्य रत्नों की देवगण सदा रक्षा किया करते हैं।

चकव्रर्ती के बारह योजन तक गंभीर आवाज पहुँचाने वाली ऐसी 'आनन्ददायिनी' नाम की बारह भेरियां होती हैं। इसी प्रकार के 'विजय घोष नाम के बारह पटह नगाड़े होते हैं। 'गंभीरावर्त' नाम के चौबीस शंख होते हैं। वायु के झकोरे से उड़ती हुई और चक्रवर्ती के यश को फैलाती हुई अड़तालीस करोड़ 'पताकाएं' होती हैं। चक्रवर्ती को हाथ में पहनने के लिए 'वीरांगद' नाम के रत्ननिर्मित उत्तम कड़े होते हैं। 'महाकल्याण' नाम का दिव्य भोजन होता है जो कि उनको अतिशय तृप्ति और पुष्टि करता है। जिसे अन्य कोई नहीं पचा सकते ऐसे गरिष्ठ, स्वादिष्ट और सुगंधित 'अमृतगर्भ' नाम के मोदक आदि भक्ष्य पदार्थ होते हैं। 'अमृतकल्प' नाम के खाद्य पदार्थ एवं 'अमृत' नाम के दिव्य पानक-पीने योग्य पदार्थ होते हैं।

चक्रवर्ती के ये सब भोगोपभोग के साधन उसके पुण्यरूप कल्पवृक्ष के ही फलरूप से फलते हैं। उन्हें अन्य कोई नहीं भोग सकता है और वे संसार में अपनी बराबरी नहीं रखते हैं। चक्रवर्ती के बंधु, कुल-परिवार का प्रमाण साढ़े तीन करोड़ होता है और संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियाँ होती हैं। ये सब चक्रवर्ती का वैभव उन्हें ही प्राप्त होता है जो 'सज्जाति, सद्गर्हस्थ, पारिव्राज्य और सुरेन्द्रता नाम के चार परम स्थानों को प्राप्त कर चुके हैं। जो मुनिव्रत धारण कर सम्यक्त्व सहित घोर तपश्चरण करते हैं वे ही चक्रवर्ती के साम्राज्य रूप इस पाँचवें परम स्थान के स्वामी होते हैं।

आर्हन्त्य परमस्थान–अर्हंत परमेष्ठी का भाव अथवा कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं। इस क्रिया में स्वर्गावतार आदि महाकल्याणरूप संपदाओं की प्राप्ति होती है। स्वर्ग में अवतीर्ण हुए तीर्थंकर महापुरुष को जो पंचकल्याणक रूप संपदाओं का मिलना है उसे ही आर्हन्त्य नाम का छठा परमस्थान जानना चाहिए।

जिन्होंने सोलहकारण भावनाओं को भाते हुए तीर्थंकर के पादमूल में अथवा सामान्य केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में तीर्थंकर नामक नामकर्म की प्रकृति का बंध कर लिया है, ऐसे महामुनि स्वर्ग में जाकर इन्द्र-अहमिन्द्र आदि उत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ के सुखों का अनुभव करते हुए जब उनकी आयु छह महीने की शेष रह जाती है तब यहाँ मर्त्यलोक में जिस क्षत्रिय महाराज के यहाँ उनका जन्म होने को होता है, इन्द्र की आज्ञा से कुबेर उस नगरी को स्वर्गपुरी के समान सुन्दर सजाकर माता के आंगन में प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ प्रमाण रत्नों की वर्षा करना शुरू कर देता है। तीर्थंकर शिशु के गर्भ में आने के पूर्व ही माता वृषभ आदि उत्तम-उत्तम सोलह स्वप्नों को देखती हैं। श्री, ह्री आदि देवियाँ इन्द्र की आज्ञा से माता की सेवा में तत्पर हो जाती हैं। जब वह स्वर्ग का इन्द्र अपनी आयु पूर्णकर माता के गर्भ में अवतीर्ण होता है तब इन्द्रादि देवगण आसन के कंपायमान होने से भगवान का गर्भावतार जानकर मर्त्यलोक में आकर माता-पिता की पूजा कर गर्भकल्याणक उत्सव मनाते हैं।

नव महीने बाद तीर्थंकर का जन्म होते ही इन्द्र महावैभव सहित यहाँ आकर बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर 1008 कलशों से महाभिषेक आदि क्रिया सम्पन्न करके जन्मकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। तीर्थंकर महापुरुष को राज्य अनुशासन करने के बाद अथवा किसी को कुमारावस्था में ही वैराग्य हो जाने से जब वे दीक्षा के लिए तैयार होते हैं, तब इन्द्रों द्वारा प्रभु का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया जाता है। दीक्षा लेकर तपश्चरण करते हुए जब केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब इंद्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की जाती है। उस समय इन्द्रगण बड़ी भक्ति से आकर ज्ञानकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। इसी समय तीर्थंकर प्रकृति उदय में आती है और यह समवसरण आदि वैभव आर्हन्त्य वैभव कहलाता है। मुख्यरूप से यही आर्हन्त्य अवस्था छठा परमस्थान है। पुनः बहुत काल तक श्रीविहार करते हुए भगवान असंख्य प्राणियों को धर्मामृत पान कराते हैं। पुनः आयु के अंत में निर्वाणधाम को प्राप्त कर लेते हैं। उस समय भी इन्द्रों द्वारा निर्वाणकल्याणक उत्सव किया जाता है। इस प्रकार से गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पाँच कल्याणक कहलाते हैं।

केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही तीर्थंकर का परमौदारिक शरीर पृथ्वी से पाँच हजार धनुष प्रमाण ऊपर चला जाता है। उस समय तीनों लोकों में अतिशय क्षोभ उत्पन्न होता है और सौधर्म आदि इन्द्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं। भवनवासी देवों के यहाँ अपने आप शंख का नाद होने लगता है, व्यंतरवासी देवों के यहाँ भेरी बजने लगती है, ज्योतिषी देवों के यहाँ घण्टा बजने लगता है। इन्द्रों के मुकुट के अग्रभाग स्वयमेव झुक जाते हैं और कल्पवृक्षों से पुष्पों की वर्षा होने लगती है। इन सभी कारणों से इन्द्र और देवगण तीर्थंकर के केवलज्ञान की उत्पत्ति को जानकर भक्तियुक्त होते हुए सात पैर आगे

बढ़कर भगवान को प्रणाम करते हैं। जो अहमिन्द्र देव हैं, वे भी आसनों के कंपित होने से केवलज्ञान की उत्पत्ति को जानकर सात पैर आगे बढ़कर वहीं से परोक्ष में जिनेन्द्रदेव की वंदना कर अपना जीवन सफल कर लेते हैं। सोलह स्वर्ग तक के देव-देवियाँ तो भगवान की वंदना के लिए चले जाते हैं।

उसी क्षण सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर विक्रिया के द्वारा तीर्थंकर के समवसरण (धर्मसभा) को विचित्ररूप से रचता है। उस समवसरण का अनुपम संपूर्ण स्वरूप वर्णन करने के लिए साक्षात् सरस्वती भी समर्थ नहीं है। यहाँ पर मैंने लेशमात्र वर्णन किया है। इस समवसरण के वर्णन में यहाँ 31 विषय बता रही हूँ–

सामान्य भूमि, सोपान, विन्यास, वीथी, धूलिशाल, चैत्यप्रासाद भूमि, नृत्यशाला, मानस्तंभ, वेदी, खातिका, वेदी, लताभूमि, साल, उपवन भूमि, नृत्यशाला, वेदी, ध्वजभूमि, साल, कल्पभूमि, नृत्यशाला, वेदी, भवनभूमि, स्तूप, साल, श्रीमण्डप, ऋषि आदि गणों का विन्यास, वेदी, प्रथम पीठ, द्वितीय पीठ, तृतीय पीठ और गंधकुटी।

1. सामान्यभूमि– समवसरण की संपूर्ण सामान्य भूमि सूर्यमंडल के सदृश गोल, इन्द्र नीलमणि की होती है। यह सामान्यतया बारह योजन प्रमाण होती है। विदेह क्षेत्र के सम्पूर्ण तीर्थंकरों की समवसरण भूमि का यही प्रमाण है। यहाँ भरतक्षेत्र के औरऐरावत के तीर्थंकरों की समवसरण भूमि का उत्कृष्ट प्रमाण यही है, जघन्य प्रमाण एक योजन मात्र है, मध्यम के अनेक भेद हैं। जैसे कि भगवान वृषभदेव का समवसरण बारह योजन का था, शेष तीर्थंकरों का घटते-घटते अंतिम भगवान महावीर का एक योजनमात्र था।

2. सोपान– समवसरण में चढ़ने के लिए भूमि से एक हाथ ऊपर से आकाश में चारों ही दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में ऊपर-ऊपर 20000 सीढ़ियां होती हैं। ये सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची और इतनी ही विस्तार वाली रहती हैं। ये सब स्वर्ण से निर्मित होती हैं। देव, मनुष्य और तिर्यंचगण अंतर्मुहूर्त मात्र में ही इन सभी सीढ़ियों को पारकर समवसरण में पहुँच जाते हैं।

3. विन्यास– समवसरण में चार कोट, पांच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं। इस क्रम से समवसरण में सारी रचनाएं रहती हैं।

4. वीथी– प्रत्येक समवसरण में प्रारंभ से लेकर प्रथम पीठ (कटनी) पर्यंत, सीढ़ियों की लम्बाई के बराबर विस्तार वाली चार वीथियाँ होती हैं। यहाँ 'वीथी' से जाने का मार्ग (सड़क) समझना चाहिए। इन वीथियों के पार्श्वभाग में स्फटिकपाषाण से बनी हुई वेदियाँ होती हैं। ये बाउण्ड्रीवाल के समान हैं। जो आठ भूमियाँ हैं उन आठों भूमियों के मूल में वज्रमय कपाटों से सुशोभित बहुत से तोरणद्वार होते हैं जिनमें देव, मनुष्य और तिर्यंचों का संचार बना रहता है।

5. धूलिशाल—सबके बाहर विशाल एवं समान गोल, मानुषोत्तर पर्वत के आकार वाला धूलिशाल नाम का कोट होता है। यह पंचवर्णी रत्नों से निर्मित होता है इसलिए इसका धूलिशाल नाम सार्थक है। इस कोट में मार्ग अट्टालिकाएं और ध्वजा पताकाएं रहती हैं। चार गोपुर द्वार (मुख्य फाटक) होते हैं। यह तीनों लोकों को विस्मित करने वाला बहुत ही सुन्दर दिखता है। इस कोट के चारों गोपुर द्वारों में से पूर्वद्वार का नाम विजय है, दक्षिण द्वार का 'वैजयन्त' है, पश्चिम द्वार को 'जयन्त' और उत्तरद्वार को 'अपराजित' कहते हैं। ये चारों द्वार सुवर्ण से बने रहते हैं, तीन भूमियों (खनों) से सहित देव और मनुष्य के जोड़ों से संयुक्त और तोरणों पर लटकती हुई मणिमालाओं से शोभायमान होते हैं। प्रत्येक द्वार के बाहर और मध्य भाग में, द्वार के पार्श्वभागों में मंगल द्रव्य विधि और धूपघट से युक्त विस्तीर्ण पुतलियाँ होती हैं। झारी, कलश, दर्पण, चमर, ध्वजा, पंखा, छत्र और सुप्रतिष्ठ (ठोना) ये 8 मंगलद्रव्य हैं। ये प्रत्येक 108-108 होते हैं। काल, महाकाल, पांडु, माणवक, शंख, पदम, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न, ये नव निधियाँ प्रत्येक 108 होती हैं। ये निधियाँ क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्य—माला आदि, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, महल, आभरण और संपूर्ण रत्नों को देती हैं। वहाँ एक-एक पुतली के ऊपर गोशीर्ष, मलय, चंदन और कालागुरु आदि धूपों के गंध से व्याप्त एक-एक धूपघट होते हैं।

इन विजय आदि द्वार के प्रत्येक बाह्य भाग में सैकड़ों मरकततोरण और अभ्यन्तर भाग में सैकड़ों रत्नमय तोरण होते हैं। इन द्वारों के बीच दोनों पार्श्व भागों में एक-एक नाट्यशाला होती है। जिसमें देवांगनाएं नृत्य करती रहती हैं। इस धूलिसाल के चारों गोपुर द्वारों पर ज्योतिष्कदेव द्वार रक्षक होते हैं जो कि हाथ में रत्नदण्ड को लिये रहते हैं। इन चारों दरवाजों के बाहर और अंदर भाग में सीढ़ियाँ बनी रहती हैं जिनसे सुखपूर्वक संचार किया जाता है। प्रत्येक समवसरण के धूलिसाल कोट की ऊँचाई अपने तीर्थंकर के शरीर से चौगुनी होती है। इस कोट की ऊँचाई से तोरणों की ऊँचाई अधिक रहती है और इससे भी अधिक विजय आदि द्वारों की ऊँचाई रहती है।

6. चैत्यप्रासाद भूमि—धूलिसाल के अभ्यंतर भाग में 'चैत्यप्रासाद' नामक भूमि सकल क्षेत्र को घेरे हुए बनी रहती है। इसमें एक-एक जिनभवन के अन्तराल से 5-5 प्रासाद बने रहते हैं जो विविध प्रकार के वनखण्ड और बावड़ी आदि से रमणीय होते हैं। इन जिनभवन और प्रासादों की ऊँचाई अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारह गुणी रहती है।

7. नृत्यशाला—प्रथम पृथ्वी में पृथक्-पृथक् वीथियों के दोनों पार्श्व भागों में उत्तम सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित दो-दो नाट्यशालाएं होती हैं। प्रत्येक नाट्यशाला में 32 रंग भूमियाँ और प्रत्येक रंग भूमि में 32 भवनवासी देवियाँ नृत्य करती हुई नाना अर्थ से

युक्त दिव्य गीतों द्वारा तीर्थंकरों के विजय के गीत गाती हैं और पुष्पांजलि क्षेपण करती हैं। प्रत्येक नाट्यशाला में नाना प्रकार की सुगंधित धूप से दिग्मंडल को सुवासित करने वाले दो-दो घूपघट रहते हैं।

8. मानस्तंभ—प्रथम पृथ्वी के बहुमध्य भाग में चारों वीथियों के बीचोंबीच समान गोल मानस्तंभ भूमियाँ होती हैं। उनके अभ्यंतर भाग में चार गोपुर द्वारों से सुन्दर कोट होते हैं। इनके भी मध्यभाग में विविध प्रकार के दिव्य वृक्षों से युक्त वनखण्ड होते हैं। इनके मध्य में पूर्वादि दिशाओं में क्रम से सोम, यम, वरुण और कुबेर इन लोकपालों के रमणीय क्रीड़ा नगर होते हैं। उनके अभ्यंतर भाग में चार गोपुर द्वार से युक्त कोट और इसके आगे वनवापिकाएं होती हैं। जिनमें नीलकमल खिले रहते हैं। उनके बीच में लोकपालों के अपनी-अपनी दिशा तथा चार विदिशाओं में भी दिव्य क्रीड़ानगर होते हैं। उनके अभ्यंतर भाग में उत्तम विशाल द्वारों से युक्त कोट होते हैं और फिर इनके बीच में पीठ होते हैं। इनमें से पहला पीठ वैडूर्यमणिमय, उसके ऊपर दूसरा पीठ सुवर्णमय और उसके ऊपर तीसरा पीठ बहुत वर्ण के रत्नों से निर्मित होता है। ये तीन पीठ तीन कटनीरूप होते हैं। इन पीठों के ऊपर मानस्तंभ होते हैं। इन मानस्तंभों की ऊँचाई अपने-अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारह गुणी होती है। प्रत्येक मानस्तंभ का मूल भाग वज्र से युक्त और मध्यम भाग स्फटिकमणि से निर्मित होता है। इन मानस्तंभों के उपरिमभाग वैडूर्यमणिमय रहते हैं। ये मानस्तंभ गोलाकार होते हैं। इनमें चमर, घंटा, किंकणी, रत्नहार और ध्वजाएं सुशोभित रहती हैं। इनके शिखर पर प्रत्येक दिशा में आठ प्रातिहार्यों से युक्त रमणीय एक-एक जिनेन्द्र प्रतिमाएं होती हैं। दूर से ही मानस्तंभों के देखने से मान से युक्त मिथ्यादृष्टि लोग अभिमान से रहित हो जाते हैं, इसीलिए इनका 'मानस्तंभ' यह नाम सार्थक है।

सभी समवसरण में तीनों कोटों के बाहर चार दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में क्रम से पूर्वादि वीथी (गली) के आश्रित वापिकाएं होती हैं। पूर्व दिशा में मानस्तंभ के पूर्वादि भागों में क्रम से नन्दोत्तरा, नन्दा, नंदिमती और नंदिघोषा नामक चार वापिकाएं होती हैं। दक्षिण मानस्तंभ के आश्रित पूर्वादि भागों में विजया, वैजयंत, जयन्ता और अपराजिता नामक चार वापिकाएं होती हैं। पश्चिम मानस्तंभ के आश्रित पूर्वादि भागों में क्रम से अशोका, सुप्रबुद्धा, कुमुदा और पुंडरीका ये चार वापिकाएं होती हैं। उत्तर मानस्तंभ के आश्रित पूर्वादिभागों में क्रम से हृदयानंदा, महानंदा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभंकरा ये चार वापिकाएं होती हैं। ये वापिकाएं समचतुष्कोण, कमलादि से संयुक्त टंकोत्कीर्ण, वेदिका, चार तोरण एवं रत्नमालाओं से रमणीय होती हैं। सब वापिकाओं के चारों तटों में से प्रत्येक तट पर जल क्रीड़ा के योग्य दिव्य द्रव्यों से परिपूर्ण मणिमयी सीढ़ियाँ होती हैं। इन वापिकाओं में भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव तथा मनुष्य क्रीड़ा

किया करते हैं। प्रत्येक वापिकाओं के आश्रित निर्मल जल से परिपूर्ण दो-दो कुण्ड होते हैं, जिनमें देव, मनुष्य और तिर्यंच अपने पैरों की धूलि धोया करते हैं।

9. प्रथमवेदी—इस समवसरण में उत्तम रत्नमय ध्वजा, तोरण और घंटाओं से युक्त प्रथम वेदिका होती है। इसमें गोपुर द्वार, पुत्तलिका, 108 मंगलद्रव्य एवं नव निधियाँ पूर्व के समान ही होती हैं। इन वेदियों के मूल और उपरिम भाग का विस्तार धूलिशाल कोट के मूल विस्तार के समान होता है।

10. खातिका—इसके आगे स्वच्छ जल से परिपूर्ण और अपने जिनेन्द्रदेव की ऊँचाई के चतुर्थ भाग प्रमाण खातिका होती है। इस खातिका में खिले हुए कुवलय और कमल अपनी सुगंधि फैलाते रहते हैं। इनमें मणिमय सीढ़ियां बनी रहती हैं एवं हंस, सारस आदि पक्षी सदा क्रीड़ा किया करते हैं।

11. द्वितीय वेदी—यह वेदिका भी अपनी पूर्व वेदी के सदृश है। इसका विस्तार प्रथम वेदिका से दूना माना गया है।

12. लता भूमि—इसके आगे पुन्नाग, नाग, कुब्जक, शतपत्र और अतिमुक्त आदि से संयुक्त क्रीड़ा पर्वतों से सुशोभित, फूले हुए कमलों से सहित जल भरी बावड़ियों से मनोहर ऐसी लताभूमि शोभायमान होती है।

13. साल—इसके आगे दूसरा कोट है इसे ही साल कहते हैं। इसका सारा वर्णन धूलिसाल कोट के समान है। अन्तर इतना है कि यह विस्तार में उसका दूना रहता है, रजतमयी है एवं यक्ष जाति के देव इसके चारों द्वारों पर खड़े रहते हैं।

14. उपवनभूमि—द्वितीय कोट के आगे चौथी उपवन भूमि होती है। इसमें पूर्वादि दिशाओं के क्रम से अशोकवन, सप्तपर्णवन, चम्पकवन और आम्रवन, ये चार वन शोभायमान होते हैं। यह भूमि विविध प्रकार के वन समूहों से मण्डित, विविध नदियों के पुलिन और क्रीड़ा पर्वतों से तथा अनेक प्रकार की उत्तम वापिकाओं से रमणीय होती है। इस भूमि में अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र ये चार सुन्दर वृक्ष होते हैं इन्हें चैत्यवृक्ष कहते हैं इनकी ऊँचाई अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणी रहती है। एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित आठ प्रातिहार्यों से संयुक्त चार-चार मणिमय जिनप्रतिमाएं होती हैं। इस उपवन भूमि की बावड़ियों के जल में निरीक्षण करने पर प्रत्येक जल अपने अतीत-अनागत सात भवों को देख लेते हैं।

एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित तीन कोटों से वेष्टित व तीन कटनियों के ऊपर चार-चार मानस्तंभ होते हैं। इन मानस्तंभों के चारों तरफ भी कमल आदि फूलों से युक्त स्वच्छ जल से भरित वापियाँ होती हैं। वहाँ कहीं पर रमणीय भवन, कहीं क्रीड़नशाला और कहीं नृत्य करती हुई देवांगनाओं से युक्त नाट्यशालाएं होती हैं। ये रमणीय भवन पंक्तिक्रम से इस भूमि में शोभायमान होते हैं। ये भवन भी कई खनों से

निर्मित अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणे ऊँचे होते हैं। अपनी प्रथम भूमि की अपेक्षा इस उपवन भूमि का विस्तार दूना होता है।

15. नृत्यशाला—सब वनों के आश्रित सब वीथियों (गलियों) के दोनों पार्श्व भागों में दो-दो नाट्यशालाएं होती हैं। इनमें से आदि की आठ नाट्यशालाओं में भवनवासिनी देवांगनाएं और इससे आगे की आठ नाट्यशालाओं में कल्पवासिनी देवांगनाएं नृत्य किया करती हैं। इन नाट्यशालाओं का सुन्दर वर्णन पूर्व के समान है।

16. तृतीय वेदी—यह तीसरी वेदिका अपनी दूसरी वेदिका के समान है, अन्तर इतना ही है कि यहाँ के चारों द्वारों के रक्षक यक्षेन्द्र रहते हैं।

17. ध्वजभूमि—वेदिका के आगे इस पंचम भूमि में दिव्य ध्वजाएं होती हैं। जिनमें सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चंद्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र ये दश प्रकार के चिन्ह बने रहते हैं। चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में इन दश प्रकार की ध्वजाओं में से प्रत्येक 108 रहती हैं और इनमें से भी प्रत्येक ध्वजा अपनी 108 क्षुद्र-ध्वजाओं से संयुक्त रहती हैं। इस प्रकार इस ध्वजभूमि में महाध्वजा 10×108×4=4320, क्षुद्रध्वजाएं 10×108×108×4=466560, समस्त ध्वजाएं 4320+466560=470880 होती हैं। ये समस्त ध्वजाएं रत्नों से खचित सुवर्णमय स्तंभों में लगी रहती हैं। इन ध्वज स्तंभों की ऊँचाई अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणी रहती है।

18. साल—इस ध्वजभूमि के आगे चांदी के समान वर्ण वाला तीसरा कोट अपने धूलिसाल कोट के ही सदृश है। इस कोट का विस्तार द्वितीय कोट की अपेक्षा दूना है और इसके द्वार रक्षक भवनवासी देव रहते हैं।

19. कल्पभूमि—इस छठी भूमि का नाम कल्पभूमि है, यह दश प्रकार के कल्पवृक्षों से परिपूर्ण है। पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। इस भूमि में कहीं पर कमल, उत्पल से सुगंधित बावड़ियाँ हैं, कहीं पर रमणीय प्रासाद, कहीं पर क्रीड़नशालाएं और कहीं पर जिनेन्द्र देव के विजय चरित्र के गीतों से युक्त प्रेक्षणशालाएं होती हैं। ये सब भवन बहुत भूमियों (खनों) से सुशोभित, रत्नों से निर्मित पंक्तिक्रम से शोभायमान होते हैं। इस कल्पभूमि के भी पूर्वादि दिशाओं में नमेरु, मंदार, संतानक और पारिजात ये चार-चार महान सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं। ये वृक्ष तीन कोटों से युक्त और तीन मेखलाओं के ऊपर स्थित होते हैं। इनमें से प्रत्येक वृक्ष के मूलभाग में विचित्र पीठों से युक्त, रत्नमय चार-चार सिद्धों की प्रतिमाएं होती हैं। ये वंदना करने मात्र से तुरंत संसार के भय को नष्ट कर देती हैं। एक-एक सिद्धार्थ वृक्ष के आश्रित तीन कोटों से वेष्टित, पीठ त्रय के ऊपर चार-चार मानस्तंभ होते हैं। कल्पभूमि में स्थित सिद्धार्थ वृक्ष, क्रीड़नशालाएं और प्रासाद जिनेन्द्र की ऊँचाई से बारह गुणे ऊँचे होते हैं।

20. नाट्यशाला—इस कल्पभूमि के पार्श्व भागों में प्रत्येक वीथी (गली) के आश्रित दिव्य रत्नों से निर्मित और अपने चैत्यवृक्षों के सदृश ऊँचाई वाली चार-चार नाट्यशालाएं होती हैं, सब नाट्यशालाएं पाँच भूमियों (खनों) से विभूषित, बत्तीस रंगभूमियों से सहित और नृत्य करती हुई ज्योतिषी देवांगनाओं से रमणीय होती हैं।

21. वेदी—इस नाट्यशाला के आगे प्रथम वेदी के सदृश ही चौथी वेदी होती है। यहाँ भवनवासी देव द्वारों की रक्षा करते हैं।

22. भवनभूमि—इस वेदी के आगे भवनभूमि नाम से सातवीं भूमि होती है। इसमें रत्नों से रचित फहराती हुई ध्वजा पताकाओं से सहित और उत्तम तोरण युक्त उन्नत द्वारों वाले भवन होते हैं। वे एक-एक भवन सुर युगलों के गीत, नृत्य एवं बाजे के शब्दों से तथा जिनाभिषेकों से शोभायमान होते हैं। यहाँ पर भी उपवन, वापिका आदि सुन्दर शोभा पूर्व के समान रहती है।

23. स्तूप—इस भवनभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य जिन और सिद्धों की अनुपम प्रतिमाओं से व्याप्त नौ-नौ स्तूप होते हैं। इन स्तूपों पर छत्रों पर छत्र फिरते रहते हैं, ध्वजाएं फहराती रहती हैं, ये दिव्य रत्नों से निर्मित रहते हैं और आठ मंगल द्रव्यों से सहित होते हैं। एक-एक स्तूप के बीच में मकर के आकार के सौ तोरण होते हैं। इन स्तूपों की ऊँचाई अपने चैत्यवृक्षों की ऊँचाई के समान होती है। भव्य जीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन और प्रदक्षिणा किया करते हैं।

24. साल—स्तूपों के आगे आकाश स्फटिक के सदृश और मरकत मणिमय चार गोपुर द्वारों से रमणीय चौथा कोट होता है। यहाँ के द्वारों पर कल्पवासी देव उत्तम रत्नमय दण्डों को हाथ में लेकर खड़े रहते हैं। ये जिनेन्द्र भगवान के चरणों की परम भक्ति से द्वारपाल का कार्य करते हैं।

25. श्रीमण्डप भूमि—इस आठवीं भूमि का नाम "श्रीमण्डप" है। इस अनुपम उत्तम रत्नों के खम्भों पर स्थित और मुक्ताजालादि से शोभायमान रहती है। इसमें निर्मल स्फटिकमणि से निर्मित सोलह दीवालों के बीच में बारह कोठे होते हैं। इन कोठों की ऊँचाई अपने जिनेन्द्र की ऊँचाई से बारहगुणी होती है।

26. गणविन्यास—इन बारह कोठों के भीतर पूर्वादि प्रदक्षिणा क्रम से पृथक-पृथक ऋषि आदि बारह गण बैठते हैं। उनका क्रम यह है—प्रथम कोठे में संपूर्ण ऋद्धियों के धारक गणधरदेव और सर्व दिगम्बर मुनिगण बैठते हैं। स्फटिक मणि की दीवाल से व्यवहित दूसरे कोठे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे कोठे में अतिशय नम्र आर्यिकाएं तथा श्राविकाएं बैठती हैं। चतुर्थ कोठे में ज्योतिर्वासी देवियां, पाँचवे में व्यंतर देवियाँ छठे में भवनवासी देवियाँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यंतर देव, नवमें में सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिषी देव, दशवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में चक्रवर्ती, मण्डलीक राजा एवं अन्य मनुष्य तथा बारहवें

में परस्पर वैर भाव को छोड़कर सिंह, व्याघ्र, नकुल, हरिण आदि तिर्यंचगण बैठते हैं।

27. वेदी—इसके अनंतर निर्मल स्फटिक पाषाण से बनी हुई पांचवी वेदिका होती है, जिसका सर्व वर्णन प्रथम वेदी के सदृश ही है।

28. प्रथम पीठ—इस पांचवी वेदी के आगे वैडूर्यमणि से निर्मित प्रथम पीठ होता है। इन पीठों की ऊँचाई भी अपने मानस्तंभ के पीठ के सदृश है। इस प्रथम पीठ के ऊपर बारह कोठों में से प्रत्येक कोठे के प्रवेश द्वारों में और समस्त (चार) वीथियों के सन्मुख सोलह-सोलह सीढ़ियाँ होती हैं। चूड़ी के सदृश गोल नाना प्रकार के पूजा द्रव्य और मंगल द्रव्यों से सहित इस पीठ पर चारों दिशाओं में अपने सिर पर धर्मचक्र को रखे हुए यक्षेन्द्र स्थित रहते हैं। वे गणधर देव आदि बारह गण इस पीठ (कटनी) पर चढ़कर और प्रदक्षिणा देकर जिनेन्द्रदेव के सम्मुख होते हुए पूजा करते हैं। सैकड़ों स्तुतियों द्वारा गुण कीर्तन करके असंख्यात गुणश्रेणी रूप से अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए प्रसन्न चित्त होकर अपने-अपने कोठों में प्रवेश करते हैं।

29. द्वितीय पीठ—प्रथम पीठ (कटनी) के ऊपर दूसरा पीठ होता है। यह पीठ भी नाना रत्नों से संचित भूमि युक्त होता है। इस सुवर्णमय पीठ पर चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में पंचवर्ण के रत्नों से निर्मित सीढ़ियाँ होती हैं। इस पीठ के ऊपर मणिमय खंभों पर लटकती हुई ध्वजाएं होती हैं, जिसमें सिंह, बैल, कमल, चक्र, माला, गरुड़, वस्त्र और हाथी ऐसे आठ प्रकार के चिन्ह बने रहते हैं। इसी पीठ पर धूपघट, मंगल द्रव्य, पूजाद्रव्य और नव निधियाँ रहती हैं जिनका वर्णन करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है।

30. तृतीय पीठ—द्वितीय पीठ के ऊपर विविध प्रकार के रत्नों से रचित तीसरा पीठ (कटनी) होता है। सूर्यमंडल के समान गोल इस पीठ के चारों ओर रत्नमय और सुखकर स्पर्श वाली आठ-आठ सीढ़ियाँ होती हैं।

31. गंधकुटी—इस तृतीय पीठ के ऊपर एक गंधकुटी होती है। यह चामर किंकणी, वंदनमाला और हार आदि से रमणीय, गोशीर, मलय, चंदन, कालागरु आदि धूपों व गंध से व्याप्त, प्रज्ज्वलित रत्नों के दीपकों से सहित तथा फहराती हुई विचित्र ध्वजपंक्तियों से संयुक्त होती है। वृषभदेव के समय गंधकुटी की ऊँचाई 900 धनुष थी। आगे घटते-घटते वीरनाथ के समय 75 धनुष प्रमाण रह गई थी। गंधकुटी के मध्य में पादपीठ सहित उत्तम स्फटिक मणि से निर्मित घटाओं के समूहादि से रमणीय सिंहासन होता है। रत्नों से खचित उस सिंहासन की ऊँचाई तीर्थंकर की ऊँचाई के ही योग्य हुआ करती है।

लोक और अलोक को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान भगवान अर्हंत देव उस सिंहासन के ऊपर आकाश मार्ग में चार अंगुल के अन्तराल से स्थित रहते हैं।

चौंतीस अतिशय—तीर्थंकर के जन्म से लेकर अन्त तक 34 अतिशय होते हैं, जिनमें जन्म के 10 अतिशय, घातिकर्म क्षय से 11 अतिशय और देवों के द्वारा किये

गये 13 अतिशय, ऐसे कुल मिलाकर 34 अतिशय होते हैं।

पसीना का न होना, शरीर में मल-मूत्र का न होना, दूध के समान सफेद रुधिर का होना, वज्रवृषभनाराचसंहनन, समचतुरस्र संस्थान, अत्यन्त सुन्दर शरीर, नवचम्पक की उत्तम गंध के समान सुगंधित शरीर, 1008 उत्तम लक्षणों का होना, अनंतबल वीर्य, हित-मित एवं मधुर भाषण, प्रत्येक तीर्थंकर के जन्मकाल से ही ये स्वाभाविक दश अतिशय होते हैं।

अपने पास से चारों दिशाओं में 100 योजन तक सुभिक्षता, आकाश में गमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, सबकी ओर मुख करके स्थित होना, छाया का न होना, पलकों का न झपकना, सर्वविद्याओं की ईश्वरता, नख और केशों का न बढ़ना, अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा और जो भी संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएं हैं उनमें तालु, दाँत, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होकर एक ही समय भव्यजनों को दिव्य उपदेश देना। भगवान जिनेन्द्रदेव की स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों संध्याकालों में नव मुहूर्तों तक निकलती है और एक योजन पर्यंत जाती है। इसके अतिरिक्त गणधर देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्न रूप अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है।

यह दिव्यध्वनि 'भव्यजीवों को छह द्रव्य, नवपदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। इस प्रकार घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए ये महान आश्चर्यजनक ग्यारह अतिशय तीर्थंकर को केवलज्ञान के होने पर प्रगट होते हैं।

तीर्थंकर के माहात्म्य से संख्यात योजनों तक वन असमय में ही पत्ते, फूल और फलों की समृद्धि से युक्त हो जाता है। कंटक और रेती को दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है। जीव पूर्व वैर को छोड़कर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं। उतनी भूमि दर्पणतल के सदृश स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगंधित जल की वर्षा करता है। देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि खेत को रचते हैं। सब जीवों को नित्य आनन्द उत्पन्न होता है। वायुकुमार देव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है। कुएं और तालाब आदि निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं। आकाश धुआं और उल्कापात आदि से रहित होकर निर्मल हो जाता है। संपूर्ण जीवों को रोगादि की बाधाएं नहीं होती हैं। यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्ज्वल ऐसे दिव्य धर्मचक्रों को देखकर जनों को आश्चर्य होता है। तीर्थंकर के चारों दिशाओं में (विदिशाओं सहित) छप्पन सुवर्णकमल, एक पादपीठ और दिव्य एवं विविध प्रकार के पूजनद्रव्य होते हैं। इस प्रकार ये चौंतीस अतिशय हैं।

आठ महाप्रातिहार्य—ऋषभ आदि तीर्थंकरों को जिन वृक्षों के नीचे केवलज्ञान

उत्पन्न हुआ है वे ही अशोक वृक्ष कहलाते हैं। ये जिनेन्द्रदेव के शरीर की ऊँचाई से बारह गुणे अधिक ऊँचे होते हैं। ये इतने सुंदर होते हैं कि इनको देखकर इन्द्र का चित्त भी अपने नंदन वनों में नहीं रमता है। तीर्थंकर के मस्तक के ऊपर बिना स्पर्श किये ही चन्द्रमण्डल के सदृश, मुक्ता के समूह से युक्त तीन छत्र शोभित होते हैं। निर्मल स्फटिक पाषाण से निर्मित और उत्कृष्ट रत्नों से खचित सिंहासन होता है। गाढ़ भक्ति में आसक्त, हाथों को जोड़े हुए, विकसित मुख कमल से संयुक्त, बारह गण के मुनिगण आदि भव्य जीव भगवान को घेरकर स्थित रहते हैं। मोह से रहित होकर जिनप्रभु के शरण में आवो, आवो ऐसा कहते हुए ही मानों देवों का दुंदुभी बाजा बजता रहता है। भगवान के चरणों के मूल में देवों के द्वारा की गई पुष्पवृष्टि होती रहती है। करोड़ों सूर्य के समान देदीप्यमान प्रभामंडल अपने दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण लोकों को सात भवों को दिखला देता है। कुंदपुष्प के समान श्वेत चौंसठ चंवर देवों के द्वारा ढुराये जाते हैं। ये आठ महाप्रातिहार्य कहलाते हैं।

प्रत्येक समवसरण में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण अर्थात् असंख्यात जीव जिनेन्द्रदेव की वंदना में प्रवृत्त हुए स्थित रहते हैं। कोठों के क्षेत्र से यद्यपि जीवों का क्षेत्रफल असंख्यातगुणा है, फिर भी वे सब भव्यजीव जिनदेव के माहात्म्य से एक दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं। वहाँ पर बालक से लेकर वृद्ध तक सभी लोग प्रवेश करने में अथवा निकलने में अंतर्मुहूर्तकाल के भीतर (48 मिनट के भीतर) संख्यात योजन चले जाते हैं। इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अनध्यवसाय, संदेह और विपरीतता से युक्त जीव भी नहीं होते हैं। इससे अतिरिक्त वहाँ पर जिन भगवान के माहात्म्य से आतंक रोग,मरण, उत्पत्ति, वैर, कामबाधा तथा भूख और प्यास की बाधाएं भी नहीं होती हैं।

गोमुख, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश्वर, तुम्बुरू, कुसुम, वरनंदि, विजय, अजित, ब्रह्मेश्वर, कुमार, षण्मुख, पाताल, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गंधर्व, महेन्द्र, कुबेर, वरुण, विद्युत्प्रभ, सर्वाण्ह, धरणेन्द्र और मातंग, ये चौबीस तीर्थंकरों के चौबीस यक्ष हैं। अपने-अपने तीर्थंकर के यक्ष अपने-अपने जिनेन्द्रदेव के पास में स्थित रहते हैं।

चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृँखला, पुरुषदत्ता, मनोवेगा, काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, मानवी, गौरी, गांधारी, वैरोटी, अनंतमती, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरूपिणी, चामुण्डी, कूष्माण्डी, पद्मावती और सिद्धायिनी ये चौबीस तीर्थंकरों की क्रम से चौबीस यक्षिणी हैं। अपने-अपने तीर्थंकर के समीप में एक-एक यक्षिणी रहा करती है।

जैसे चन्द्रमा से अमृत झरता है उसी प्रकार खिरती हुई जिन भगवान की वाणी को अपने कर्त्तव्य के बारे में सुनकर वे बारह गणों के भिन्न-भिन्न जीव नित्य ही अनंत

गुणश्रेणीरूप से विशुद्ध परिणामों को धारण करते हुए अपने असंख्यात गुणश्रेणीरूप कर्मों को नष्ट कर देते हैं। वहाँ पर रहते हुए वे भव्यजीव जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों में परम आस्थावान होते हुए परम भक्ति में आसक्त होकर अतीत, वर्तमान और भावी काल को भी नहीं मानते हैं अर्थात् बहुत सा काल व्यतीत कर देते हैं। इस प्रकार से तीर्थंकर को जब आर्हन्त्य पद नामक परम स्थान प्राप्त होता है तब समवसरण की विभूति आदि महाअतिशय प्रगट होता है।

आर्हंत्य परम स्थान में यह समवसरण आदि विभूति तो बहिरंग वैभव है। इसके साथ चार घातिया कर्मों के नाश होने से चार अनंत गुण प्रगट हो जाते हैं। ज्ञानावरण कर्मों के अभाव से अनंतज्ञान, दर्शनावरण के नाश से अनंतदर्शन, मोहनीय के नाश से अनंतसुख और अन्तराय के क्षय से अनंतवीर्य प्रगट हो जाता है। ये चार गुण ही अनंत चतुष्टय कहे जाते हैं।

भगवान की सभा में द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता मनःपर्ययज्ञान पर्यंत चार ज्ञान के धारी और चौंसठ ऋद्धियों से समन्वित गणधर देव रहते हैं जो भगवान की दिव्यध्वनि को श्रवण कर जन-जन में उसका विस्तार करते हैं। गणधर के अभाव में तीर्थंकर की दिव्यदेशना नहीं होती है ऐसा नियम है। भगवान की बारह सभा में मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका, यह चतुर्विध संघ रहता है। असंख्यातों देव-देवियां रहती हैं और संख्यातों तिर्यंच रहते हैं। ये सभी भगवान के दिव्य उपदेश को सुनकर सम्यक्त्व को और अपने योग्य व्रतों को ग्रहण कर अपनी आस्था को मोक्षमार्गी बना लेते हैं।

निर्वाण परमस्थान – संसार के बंधन से मुक्त हुए परमात्मा की जो अवस्था होती है उसे परिनिवृत्ति कहते हैं। इसका दूसरा नाम परनिर्वाण भी है। समस्त कर्मरूपी मल के नष्ट हो जाने से अन्तरात्मा की शुद्धि होती है उसे सिद्धि कहते हैं यह सिद्धि 'सिद्धिःस्वात्मोपलब्धिः' के अनुसार अपने आत्मत्व की प्राप्तिरूप है अभावरूप नहीं है और न ज्ञान आदि गुणों के नाशरूप ही है। इस निर्वाणस्थान को प्राप्त कर लेना ही परिनिर्वाण नाम का सातवां परम स्थान माना गया है।

श्री कुंदकुंददेव ने निर्वाण का लक्षण बहुत ही सरल भाषा में कह दिया है –

'पुनः केवली भगवान के आयुकर्म का क्षय हो जाने से शेष बची संपूर्ण प्रकृतियों का विनाश हो जाता है, पश्चात् वे एक समय मात्र में लोक के अग्रभाग पर पहुँच जाते हैं। वहाँ पर वे जन्म, जरा, मरण से रहित, आठ कर्म से रहित, परम, शुद्ध, अनंतज्ञान, दर्शन, सौख्य, वीर्य इन चार स्वभावरूप अक्षय, अविनाशी, अच्छेद्य, अव्याबाध, अनिंद्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप से निर्मुक्त, नित्य, अचल, अनालम्ब और पुनरागमन से रहित हो जाते हैं। जहाँ पर न दुःख है, न सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है ह्रीं पर निर्वाण होता है अर्थात् उसी अवस्था का नाम निर्वाण है। जहाँ पर न इन्द्रियां ैह न

उपसर्ग है, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न तृष्णा है और न क्षुधा है वहीं पर निर्वाण होता है। जहाँ पर न कर्म है, न नोकर्म है, न चिंता है न आर्त-रौद्र ध्यान और न धर्मशुक्ल ध्यान ही है वहीं पर निर्वाण है अर्थात् उसी अवस्था को निर्वाण कहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि फिर वहाँ पर क्या है? सो ही कहते हैं –

वहाँ पर निर्वाण में केवलज्ञान है, केवलदर्शन है, केवल सौख्य है, केवल वीर्य है, अमूर्तत्व है, अस्तित्व है और सप्रदेशत्व है अर्थात् उन सिद्धों में केवलपरिपूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ये चार गुण प्रगट हो चुके हैं वे अमूर्तिक होते हुए भी अपनी सत्ता से विद्यमान हैं और अपने असंख्यात प्रदेशों से सहित पुरुषाकार होने से सप्रदेशी हैं। अब आगे कहते हैं कि –

निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है ऐसा कहा गया है तथा कर्म से विमुक्त हुआ आत्मा लोक के अग्रभाग पर्यंत चला जाता है। फिर प्रश्न उठता है कि लोक से बाहर अलोकाकाश में क्यों नहीं चले जाते हैं? उस पर श्रीकुंदकुंददेव कहते हैं –

'जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेइ जाव धम्मत्थी' धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छन्ति।।184।।

जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहीं तक जीवों और पुद्गलों का गमन होता है। क्योंकि धर्मास्तिकाय के अभाव में उस लोकाकाश से आगे नहीं जा सकते हैं ऐसा तुम जानो।'

इस प्रकार निर्वाण परम स्थान का स्वरूप मैंने बताया है। वास्तव में अनादिकाल से इस संसार में प्रत्येक जीव के साथ कर्मों का संबंध लगा हुआ है जैसे कि खान से निकला हुआ सोना प्रारंभ से किट्टकालिमा से युक्त ही रहता है पुनः योग्य सामग्री का मिश्रण करके जब उसे अग्नि में शुद्ध किया जाता है तब वह किट्ट कालिमा से रहित हो जाता है। उसी प्रकार से इस जीव के साथ पौद्गलिक कर्मों का संबंध चला आ रहा है इसे द्रव्य कर्म कहते हैं। उसी के निमित्त से आत्मा में राग, द्वेष, मोह आदि विभाव परिणाम उत्पन्न होते हैं इन्हें भावकर्म कहते हैं। इन कर्मों के निमित्त से ही यह जीव संसार में चतुर्गति में परिभ्रमण करता हुआ जन्म मरण के दुःख उठा रहा है। जब यह जीव काललब्धि आदि के निमित्त से निकट संसारी हो जाता है, तब यह सज्जाति नामक प्रथम परम स्थान को प्राप्त कर मोक्ष के लिए उद्यमशील हो जाता है। तब वह सद्गृहस्थ नामक द्वितीय परम स्थान को प्राप्त कर लेता है। इसके अनन्तर पारिव्राज्य नामक तृतीय परमस्थान प्राप्त करने को उत्सुक होता है। यहाँ इतनी बात अवश्य ध्यान रखने की है कि सज्जाति परम स्थान के बिना सद्गृहस्थ और पारिव्राज्य स्थान असंभव है अतः यह सज्जाति निर्वाण नामक सप्तम परम स्थान के लिए महत्वपूर्ण है। इस पारिव्राज्य तृतीय स्थान के बाद सुरेन्द्रता नामक चतुर्थ परमस्थान प्राप्त होता है। अनंतर साम्राज्य नामक पाँचवाँ स्थान उपलब्ध होता है। इसके बाद आर्हंत्य नामक छठे

परमस्थान को प्राप्त कर अंत में निर्वाण नामक सप्तम परम स्थान का स्वामी हो जाता है। जितने भी सिद्ध हुए हैं, होते हैं और होंगे, उन सबने प्रथम स्थान सज्जाति तृतीय स्थान पारिव्राज्य और छठे स्थान आर्हंत्य को अवश्य ही प्राप्त किया है, करते हैं और करेंगे क्योंकि इन तीन स्थान के बिना निर्वाण स्थान की प्राप्ति सर्वथा असंभव ही है। हाँ, किन्हीं ने सातों को प्राप्त किया होगा व किन्हीं ने पाँच या छह को प्राप्त किया होगा या करेंगे। सप्त परम स्थान को प्राप्त करने वाले भगवान ऋषभदेव, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी आदि विरले ही महापुरुष होते हैं।

इन सप्त परम स्थानों के बारे में सुनकर प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सज्जाति के महत्व को समझे और सप्त परम स्थान प्राप्त करने की सदा भावना भाता रहे।

जीव का अकालमरण किन कारणों से होता है

विसवेयणरत्तक्खय भयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ।।25।।
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडया भंगेहिं।
रसविज्जजोय धारण अणणपसंगेहिं विविहेहिं।।26।।
इय तिरिय मणुय जम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त।।27।।

विष भक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रक्त अर्थात् रुधिर के क्षय से, भय से, शस्त्र के घात से, संक्लेश परिणाम से आहार तथा श्वास के निरोध से इन कारणों से आयु का क्षय होता है।

हिम अर्थात् शीत पाले से, अग्नि से, जल से, बड़े पर्वत पर चढ़कर गिरने से, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने से, शरीर का भंग होने से, रस अर्थात् पारा आदि की विद्या उसके संयोग से धारण करके भक्षण करे इससे और अन्याय कार्य, चोरी, व्यभिचार आदि के निमित्त से इस प्रकार अनेक प्रकार के कारणों से आयु का व्युच्छेद होकर कुमरण होता है।

इसलिए कहते हैं कि हे मित्र! इस प्रकार तिर्यंच, मनुष्य जन्म में बहुत काल बहुत बार उत्पन्न होकर अपमृत्यु अर्थात् कुमरण संबंधी तीव्र महादुःख को प्राप्त हुआ।

–भगवान कुंदकुंद भावपाहुड़

प्रवचन–26

दान की महिमा

भव्यात्माओं! आचार्यों ने श्रावकों के 1. देवपूजा 2. गुरुपास्ति 3. स्वाध्याय 4. संयम 5. तप और दान ये षट् आवश्यक कर्तव्य बताए हैं। उनमें भी आचार्य कुन्दकुन्द ने 'दाणं पूजा मुक्खो' दान और पूजा को मुख्य बताया है। आज मैं आपको दान के विषय में विस्तार से बताऊँगी–

जो अपने और दूसरों के उपकार के लिए दिया जाता है उसे दान कहते हैं। जिससे अपना भी कल्याण हो और अन्य मुनियों के रत्नत्रय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उन्नति हो वही दान है। गृहस्थों को विधि, देश, द्रव्य, आगम, पात्र और काल के अनुसार दान देना चाहिए। जैसे मेघों से बरसा हुआ पानी भूमि को पाकर विशिष्ट फल देने वाला हो जाता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्य की विशेषता से दान में भी विशेषता आ जाती है।

जो प्रेमपूर्वक देता है वह दाता है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विभूषित हैं वे ही पात्र हैं। आदरपूर्वक देने का नाम विधि है और जो तप तथा स्वाध्याय में सहायक हो वही द्रव्य है।

सज्जन पुरुष तीन प्रकार से अपने धन को खर्च करते हैं। 'परलोक में हमें सुख प्राप्त होगा' कोई इस बुद्धि से अपना धन खर्च करते हैं। कोई इस लोक में सुख-यश आदि की प्राप्ति के लिए ही धन का दान करते हैं और कोई उचित समझकर ही धन खर्चते हैं किन्तु इससे विपरीत जिन्हें न परलोक का ध्यान है, न इहलोक का ध्यान है और न औचित्य का ही ध्यान है वे न धर्म कर सकते हैं, न अपने लौकिक कार्य कर सकते हैं और न यश ही कमा सकते हैं।

अन्यत्र भी सूक्तिकारों ने धन की तीन ही गति मानी है–

'दानं भोगो नाशः, तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति।।'

दान, भोग और नाश, धन की ये तीन ही गति हैं। जो न दान देता है और न उपभोग ही करता है उसके धन का 'नाश' हो जाना यही तीसरी गति होती है। तात्पर्य यही है जो अपने धन को पात्र दान आदि सत्कार्यों में लगा देते हैं वे तो अपने धन को इस लोक में भी बहुत काल तक स्थायी रहने वाला बना लेते हैं और परलोक में नवनिधि आदि के रूप में अनेक गुणा प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त जो बड़े श्रम से धन कमाकर अपने गार्हस्थ जीवन के भोगों में ही लगा देते हैं वे तत्काल में तो कुछ उसका उपयोग कर ही लेते हैं भविष्य में उसका फल भले ही कटुक ही क्यों न हो किन्तु

जो न देते हैं न खाते हैं उनके धन को चोर या डाकू लूट लेते हैं या दामाद के लोग छीन लेते हैं या सरकार के टैक्स चुकाने में लगाना पड़ता है या कोर्ट कचहरी के झगड़े में ही समाप्त हो जाता है। मतलब, किसी न किसी तरह से 'नाश' हो जाना, यही उसकी गति होती है। इसीलिए महर्षियों ने बुद्धिमान गृहस्थों को अपने धन का सही सदुपयोग करने के लिए दान का विधान किया है।

दान के चार भेद हैं–अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। ये चारों दान अपनी शक्ति और श्रद्धा के अनुसार देना चाहिए। अभयदान से सुन्दर रूप मिलता है, आहारदान से भोग मिलते हैं, औषधदान से आरोग्य प्राप्त होता है और शास्त्रदान से श्रुतकेवली होता है।

सबसे प्रथम सब प्राणियों को अभयदान देना चाहिए, क्योंकि जो अभयदान नहीं दे सकता उस मनुष्य की समस्त पारलौकिक क्रियाएं व्यर्थ हैं और कोई दान दो या न दो, किन्तु अभयदान जरूर देना चाहिए क्योंकि सर्व दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। जो अभयदान को देता है, वह सब शास्त्रों का ज्ञाता है, परमतपस्वी है और सब दानों का कर्ता है। प्राणी मात्र का भय दूर करके उनके जीवन की रक्षा करना अभयदान है। जीवन की रक्षा सब चाहते हैं अर्थात् सभी को अपना-अपना जीवन प्रिय है। यदि जीवन पर ही संकट हो तो आहारदान या औषधदान या शास्त्र-दान किस काम का जो मनुष्य अपने से दूसरों की रक्षा नहीं कर सकता वह यदि परलोक के लिए धर्म कर्म करे भी तो वह सब व्यर्थ है। क्योंकि धर्म का मूल जीव रक्षा है। यदि मूल ही नहीं तो धर्म कहाँ से रह सकता है। अतः प्राणीमात्र को यथाशक्ति जीवन दान देना ही सर्वोत्तम दान है।

श्री सोमदेवसूरि ने दान के चार भेद में पहले अभयदान को लिया है। श्री समंतभद्र स्वामी ने शिक्षाव्रत के अंतिम भेद को 'वैयावृत्य' शब्द से लिया है। उस वैयावृत्य में चार प्रकार के दान का उपदेश दिया है। उनका क्रम ऐसा है–आहारदान, औषधदान, उपकरणदान और आवासदान। उपकरणदान में ही ज्ञान का उपकरण शास्त्रदान आ जाता है और आवासदान से अभयदान आ जाता है। मुनियों के लिए वसतिका दान देना आवासदान है। पूर्वकाल में श्रावक मुनियों के लिए गुफा या वसतिका बनवाते थे। उनके उदाहरण एलोरा आदि स्थानों की गुफाएं हैं। भगवती आराधना में भी मुनियों को वसतिका में रहने का वर्णन आया है। सल्लेखना के समय वसतिका गांव के निकट हो या खुले स्थान पर हो, अंदर भी उसमें प्रकाश हो और मलमूत्रादि विसर्जन के लिए मर्यादित स्थान हो, ऐसा बताया गया है। मूलाचार में भी बताया है कि मुनि आगंतुक मुनि के लिए वसतिका दान देवें।

सात गुणों से युक्त दाता नवधाभक्तिपूर्वक जो साधुओं को अन्न पान आदि शुद्ध आहार देता है वह आहारदान कहलाता है। नवधाभक्ति क्या है? प्रतिग्रह, उच्चस्थान,

चरणप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, मन-वचन-काय शुद्धि और भोजन शुद्धि ये नवधाभक्ति हैं।

सबसे पहले अपने द्वार पर मुनि को आते हुए देखकर उन्हें आदरपूर्वक ग्रहण करना-पड़गाहन करना प्रतिग्रह है। यथा–हे स्वामिन्! अत्र तिष्ठ तिष्ठ। यदि वे ठहर जायें तो घर में ले जाकर ऊँचे आसन पर उन्हें बैठाना चाहिए, फिर उनके चरणों का प्रक्षालन कर गंधोदक लेना चाहिए, अष्टद्रव्य से उनकी पूजा करनी चाहिए पुनः पंचांग प्रणाम करना चाहिए। फिर थाली में भोजन परोस कर उनसे निवेदन करना चाहिए कि मेरा मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, काय शुद्ध है और अन्न-जल शुद्ध है। श्रावकों की ये सब क्रियाएँ नवधाभक्ति कहलाती हैं।

दाता के सात गुण हैं–श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलोभीपना, क्षमा और शक्ति। जिस दाता में ये सात गुण पाये जाते हैं वही दाता प्रशंसा के योग्य होता है। इन सातों गुणों में जो विज्ञान गुण है, उसी का नाम विवेक है। इस गुण से युक्त श्रावक साधुओं को प्रासुक, पथ्य और योग्य आहार देता है। जो भोजन विरूप हो, चलितरस हो–अपने स्वाद से बिगड़ गया हो, फेंका हुआ हो, जल गया हो, खाने से रोग उत्पन्न करने वाला हो या साधु की प्रकृति विरुद्ध हो ऐसा भोजन मुनि को नहीं देना चाहिए। जो भोजन उच्छिष्ठ हो–खाने के बच गया हो, नीच लोगों के खाने योग्य हो, दूसरों के लिए बनाया गया हो, निन्दनीय हो, दुर्जन से छू गया हो, किसी देवता अथवा यक्ष के उद्देश्य से रखा हो वह भोजन भी मुनि को नहीं देना चाहिए। ऐसे ही जो भोजन दूसरे गांव से लाया गया हो या मंत्र के द्वारा लाया गया हो या भेंट में आया हो या बाजार से खरीदकर लाया गया हो या ऋतु के प्रतिकूल हो वह भोजन भी मुनि को नहीं देना चाहिए। दही, घी, दूध आदि बासी भी खाने के योग्य हैं किन्तु यदि इनका रूप, गंध और स्वाद बदल गया हो वह मुनि के देने योग्य नहीं है।

जो मुनि अवस्था में छोटे हैं, रोग से दुर्बल हैं, वृद्ध हैं अथवा नाना व्याधियों से पीड़ित हैं ऐसे मुनियों को उनके स्वास्थ्य के अनुकूल ही आहार देना चाहिए।

मुनियों को आहार देते समय कपट, घमंड, निरादर, चंचलता, असंयम और कठोर वचनों को विशेषरूप से छोड़ देना चाहिए अर्थात् ये कपट आदि प्रवृत्तियाँ तो सदा ही त्याज्य हैं किन्तु भोजन के समय तो खासतौर से छोड़ देने योग्य हैं क्योंकि इन सबका मन पर अच्छा असर नहीं पड़ता है और मन खराब होने से भोजन का भी परिपाक ठीक नहीं होता है।

जो भक्तिपूर्वक दान नहीं देते या अत्यन्त कृपण हैं अथव अव्रती हैं, या अपनी दीनता प्रगट करते हैं या करुणाबुद्धि से दान देते हैं उनके घर पर साधु को आहार नहीं लेना चाहिए।

जैन साधु बड़े सत्त्वशाली होते हैं, चित्त से भी बड़े दयालु होते हैं, उनकी वृत्ति

दीनता और करुणाजन संकल्पों से रहित होती हैं अतः वे दीनों और दयापात्रों के घर पर आहार नहीं करते हैं।

मुनियों को दान स्वयं अपने हाथ से देना चाहिए। यदि कोई पर से दान दिलाता है तो वह दान कैसा है? सो ही आचार्य बताते हैं कि–

'धर्म के कार्य, स्वामी की सेवा और सन्तानोत्पत्ति को कौन समझदार मनुष्य दूसरे के हाथ सौंपता है? अर्थात् धर्म के कार्य–दान, पूजा आदि क्रियाएं, स्वामी की सेवा और संतान उत्पत्ति के कार्य, स्त्री भोग ये कार्य बुद्धिमान लोग स्वयं ही करते हैं।

जो अपना धन देकर दूसरों के द्वारा धर्म कराता है वह उसका फल दूसरों के भोग के लिए ही उपार्जित करता है इसमें संदेह नहीं है।

खाद्यपदार्थ, भोजन करने की शक्ति, रमण करने की शक्ति, सुन्दर स्त्रियाँ, संपत्ति और दान करने की शक्ति ये सब चीजें स्वयं धर्म करने से ही प्राप्त होती हैं।

मुनियों को नाई, धोबी, कुम्हार, लुहार, सुनार, गायक, भाट, दुराचारिणी स्त्री तथा नीच लोगों के घर आहार नहीं लेना चाहिए। उत्तम वर्ण और उत्तम कार्य करने वालों के यहाँ ही आहार लेना चाहिए ऐसा विधान है।

प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है कि वह अपना मन शुभ कार्यों में लगावे जैसे पारस के योग से लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है वैसे ही परिणामों की निर्मलता से दिया गया दान अतिशय लाभ को देने वाला हो जाता है। प्राणियों के मन होते हुए भी यदि वह तप, दान और पूजा में नहीं लगाया जाता है तो जैसे गोदाम में धरा हुआ बीज धान्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है। वैसे ही वह मन भी उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त नहीं करा सकता है। अतः यदि मन है तो उसे शुभ कार्यों में लगाओ और यदि धन है तो घर पर आये हुए अतिथि को, अपने आश्रित को, सजातीय को और दीन मनुष्यों को समय के अनुसार दान देते रहो, यही श्रावक का परम कर्तव्य है।

आजकल सच्चे मुनि हैं या नहीं? इस पर आचार्य कहते हैं–

'काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादि कीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः।।
यथा पूज्यं मुनीन्द्राणां रूपं लेपादि निर्मितम्।
तथा पूर्व मुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संयताः।।

इस कलिकाल में मनुष्यों का मन चंचल रहता है और शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। फिर भी बड़े आश्चर्य की बात है कि आज भी जिनमुद्रा के धारक मुनि पाये जाते हैं। जैसे पाषाण आदि में अंकित जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा पूजने योग्य है लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकल के मुनियों को भी पूर्वकाल के मुनियों की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए।

पात्र के तीन भेद हैं–उत्तम, मध्यम और जघन्य। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विभूषित मुनि उत्तम पात्र हैं। अणुव्रती श्रावक–क्षुल्लक, ऐलक पर्यंत मध्यम पात्र हैं और असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। जिस मनुष्य में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं है वह अपात्र है जैसे ऊसर भूमि में बोया गया बीज व्यर्थ हो जाता है वैसे ही अपात्र में दिया गया दान व्यर्थ हो जाता है तथा जिसका चित्त मिथ्यात्व में फंसा हुआ है और जो मिथ्या चारित्र को पालते हैं उनको दान देने से बुरा फल ही मिलता है जैसे कि सांप को दूध पिलाने से वह जहर ही उगलता है उसी प्रकार से कुपात्र को दिया गया दान कुत्सित फल को फलता है। ऐसे लोगों को यदि दयाभाव से कुछ दिया जाये तो उन्हें भोजन आदि कुछ दे देना चाहिए।

ऊपर में कहे गये उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रों को दिया गया दान उत्तम, मध्यम आदि रूप से फल देने वाला हो जाता है। सत्पात्र में दिया गया दान महा पुण्यफल को देता है। जैसे कि वट का बीज बहुत बड़े सघनदार, छाया सहित वृक्ष के रूप में फलता है वैसे ही पात्रदान बहुत ही उत्तम फल को देने वाला है।

उत्तम पात्र कौन हैं?

दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, कृषि आदि त्याग प्रतिमा, दिवामैथुन त्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, सचित्त त्याग प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा, आरंभ त्याग प्रतिमा और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा ये ग्यारह प्रतिमाएं हैं। अन्यत्र ग्रंथों में श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों के कथित नाम से यहाँ कुछ अंतर है। यथा दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभ त्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्ट त्याग ये नाम हैं।

दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाधारी उपासकों में से पहले की छह प्रतिमा के धारक गृहस्थ कहे जाते हैं, सातवीं, आठवीं और नवमीं प्रतिमा के धारक ब्रह्मचारी कहलाते हैं तथा दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी भिक्षु कहलाते हैं। इन सबसे ऊपर 28 मूलगुणधारी महाव्रती मुनि या साधु नाम से जाने जाते हैं। उन-उन गुणों की प्रधानता के कारण मुनि अनेक प्रकार के बतलाये हैं। उनके उन-उन नामों की युक्तिपूर्वक निरुक्ति इस प्रकार है–

1. जितेन्द्रिय–जो सब इन्द्रियों को जीतकर अपने से अपने को जानते हैं उन्हें जितेन्द्रिय कहते हैं।

2. क्षपण–मन, माया, मद और क्रोध का नाश कर देने से क्षपण कहलाते हैं।

3. श्रमण–जगह-जगह विहार करते हुए भी जो थकते नहीं हैं, इसलिए श्रमण हैं।

4. आशाम्बर–जिन्होंने अपनी लालसाओं को नष्ट कर दिया है, उन्हें आशाम्बर कहते हैं।

5. नग्न—अंतरंग तथा बहिरंग परिग्रहों से रहित होने के कारण नग्न कहलाते हैं।

6. ऋषि—क्लेश समूह को रोकने से ऋषि संज्ञा होती है।

7. मुनि—आत्म विद्या में मान्य होने के कारण मुनि नाम पाते हैं।

8. यति—जो पापरूपी बंधन के नाश करने का यत्न करते हैं उन्हें यति कहते हैं।

9. अनगार—शरीररूपी घर में भी जिनकी रुचि नहीं है वे अनगार माने जाते हैं।

10. शुचि—जो आत्मा को मलिन करने वाले कर्मरूपी दुर्जनों से संबंध नहीं रखते, वे ही मनुष्य शुचि या शुद्ध हैं, न कि सिर पर पानी डालकर स्नान करने वाले। अर्थात् जो पानी से शरीर को मल-मल कर धोते हैं वे पवित्र नहीं हैं किन्तु जिनकी आत्मा निर्मल है वे ही पवित्र हैं। यद्यपि मुनि स्नान नहीं करते हैं किन्तु उनकी आत्मा निर्मल है इसलिए उन्हें पवित्र या शुचि कहते हैं।

11. निर्मम—जो धर्माचरण के फल में इच्छा नहीं रखते, अधर्माचरण के त्यागी हैं और केवल आत्मा ही जिनका परिवार या संपत्ति है उन्हें निर्मम कहते हैं। अर्थात् ये अपनी आत्मा के सिवाय शरीर से भी निर्मम रहते हैं।

12. मुमुक्षु—जो पुण्य और पाप दोनों से रहित हैं उन्हें मुमुक्षु कहते हैं। क्योंकि बंधन लोहे के हों या सोने के, जो उनसे बंधा है वह बद्ध ही है अर्थात् पुण्य कर्म सोने के बंधन के समान हैं, पाप कर्म लोहे के बंधन के समान हैं दोनों ही जीवों को संसार में बांधकर रखते हैं। अतः जो पाप को छोड़कर पुण्य से भी आगे उठकर शुद्धोपयोग में संलीन हैं वे ही मुमुक्षु हैं।

13. समधी—जो ममता रहित हैं, अहंकार रहित हैं, मान, माया और डाह से रहित हैं, निंदा और स्तुति में समान बुद्धि रखते हैं वे प्रशंसनीय व्रत के धारक 'समधी' कहलाते हैं।

14. मौनी—जो आम्नाय के अनुसार तत्व को जानकर उसी का एकमात्र ध्यान करते हैं उन्हें मौनी जानना चाहिए। जो पशु की तरह केवल बोलते नहीं हैं वे मौनी नहीं हैं।

15. अनूचान—जिनका मन श्रुत में, व्रत में, ध्यान में, संयम में तथा यम और नियम में संलग्न रहता है उन्हें अनूचान कहते हैं अर्थात् वैदिक धर्म में सांग वेद के पूर्ण विद्वान को अनूचान कहा है किन्तु यहाँ पर श्रुत, व्रत, नियम, आदि में रत जैसे मुनि को ही अनूचान कहा है।

16. अनाश्वान—जो इन्द्रियरूपी चोरों का विश्वास नहीं करते, स्थायी मार्ग पर दृढ़ रहते हैं और हर एक प्राणी जिनका विश्वास करते हैं अर्थात् जो किसी को भी कष्ट नहीं पहुँचाते वे ही अनाश्वान हैं किन्तु वैदिक परम्परा के अनुसार भोजन नहीं करने मात्र से ही अनाश्वान नहीं होते।

17. योगी—जिनकी आत्मा तत्व में लीन है, मन आत्मा में लीन है और इन्द्रियाँ

मन में लीन हैं उन्हें योगी कहते हैं। अर्थात् जिनकी इन्द्रियाँ मन में, आत्मा में और आत्म तत्व में लीन हैं वे ही योगी हैं। किन्तु जो अन्य वस्तुओं के इच्छारूपी दुष्ट संकल्प से ग्रसित हैं वे योगी नहीं हैं।

18. पंचाग्नि साधक—काम, क्रोध, मद, माया और लोभ ये पाँच अग्नि हैं। जो इन पांचों अग्नियों को अपने वश में कर लेते हैं वे ही पंचाग्नि साधक हैं। किन्तु वैदिक साहित्य के अनुसार बाह्य पांच अग्नियों में अपने शरीर को तपाने वाले मात्र पंचाग्नि साधक नहीं है।

19. ब्रह्मचारी—ज्ञान ब्रह्म है, दया ब्रह्म है और काम को वश में करना ब्रह्म है। जो मुनि अच्छी तरह ज्ञान की आराधना करते हैं, दया का पालन करते हैं और काम को जीत लेते हैं वे ही ब्रह्मचारी हैं।

20. गृहस्थ—जो क्षमारूपी स्त्री में आसक्त हैं, ज्ञानी और मनोजयी हैं वे सच्चे गृहस्थ हैं अर्थात् व्यवहार में गृह में रहने वाले को गृहस्थ संज्ञा है किन्तु यहाँ पर आचार्य ने क्षमाशील ज्ञानी मनोजयी मुनि को निरुक्ति अनुसार गृहस्थ कहा है।

21. वानप्रस्थ—जो अंदर से और बाहर में अश्लील व्यवहार को छोड़कर संयम धारण करते हैं वे ही वानप्रस्थ हैं, किन्तु जो कुटुम्ब को लेकर जाकर जंगल में रहते हैं वे वानप्रस्थ नहीं हैं।

22. शिखाछेदी—जिन्होंने ज्ञानरूपी तलवार के द्वारा संसाररूपी अग्नि की शिखा को यानी लपटों को काट डाला है उन्हें शिखाछेदी कहते हैं। सिर घुटाने मात्र से शिखाछेदी नहीं होते।

23. परमहंस—संसार अवस्था में कर्म और आत्मा दूध और पानी की तरह मिले हुए हैं जो दूध और पानी की तरह आत्मा से कर्म को पृथक्-पृथक् कर देते हैं वे ही परमहंस साधु हैं। किन्तु जो अग्नि की तरह सर्वभक्षी हैं जो मिल जाये वही खा लेते हैं वे परमहंस नहीं हैं।

24. तपस्वी—जिनका मन ज्ञान से, शरीर से, चारित्र से और इन्द्रियाँ नियमों से सदा प्रदीप्त रहती हैं वे ही तपस्वी हैं। मात्र जिसने कोरा वेष बना रखा है वह तपस्वी नहीं हैं।

25. अतिथि—पांचों इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में लगना ही तिथियाँ हैं और इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति करना संसार का ही कारण है। जो मुनि इन इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हो चुके हैं वे ही अतिथि कहलाते हैं अथवा जिनके आने की कोई तिथि निश्चित नहीं है वे अतिथि कहलाते हैं, जिनके द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी इन तिथियों का कोई बंधन ही नहीं है वे अतिथि हैं। यहाँ पर आचार्य ने पांचों इन्द्रियों के विजेता को अतिथि कहा है।

26. दीक्षित—जो प्रतिदिन समस्त प्राणियों में मैत्रीरूप यज्ञ का आचरण करते हैं वे ही दीक्षित हैं, न कि बकरे आदि का बलिदान करने वाले।

27. श्रोत्रिय—जो बुरे कार्यों को नहीं करते और न बुरे मनुष्यों की संगति ही करते हैं तथा सर्व प्राणियों का हित चाहते हैं वे ही श्रोत्रिय हैं किन्तु जो केवल बाह्य शुद्धि पालते हैं, वे श्रोत्रिय नहीं हैं।

28. होता—जो आत्मा रूपी अग्नि में दयारूपी मंत्रों के द्वारा कर्मरूपी काष्ठ समूह से हवन करते हैं वे ही होता हैं अर्थात् होमकर्ता हैं किन्तु जो बाह्य अग्नि में हवन करते हैं वे होता नहीं हैं।

29. यष्टा—जो भावरूपी पुष्पों से देवता की पूजा करते हैं। व्रतरूपी पुष्पों से शरीररूपी घर की पूजा करते हैं और क्षमारूपी पुष्पों से मनरूपी अग्नि की पूजा करते हैं उन्हें ही सज्जन पुरुष यष्टा—यज्ञ करने वाला कहते हैं।

30. अध्वर्यु—जो महात्मा सोलहकारण भावनारूपी यज्ञ करने वाले ऋत्विजों के स्वामी हैं, मोक्ष सुखरूपी यज्ञ के उद्धारक उस पुरुष (मुनि) को अध्वर्यु जानना चाहिए।

31. वेद—जो आत्मा और शरीर के भेद को स्पष्ट शब्दों में बतलाते हैं वे ही सच्चे वेद हैं, विद्वान लोग उनसे ही प्रेम करते हैं, किन्तु जो सब पशुओं के विनाश के कारण हैं वे सच्चे वेद नहीं हैं।

32. त्रयी—जन्म, जरा और मृत्यु ये तीनों ही संसार के दुखों के कारण हैं। इस त्रयी—तीनों का जिस त्रयी से नाश होता है उसके धारक ही सच्चे त्रयी हैं। आशय यह है कि ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद को त्रयी कहा जाता है। किन्तु यहाँ जैनाचार्य का कहना है कि जो जन्म, जरा और मृत्यु को नष्ट कर दे ऐसा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय ही त्रयी है तथा उसके धारक मुनि ही सच्चे त्रयी हैं।

33. ब्राह्मण—जो अहिंसक हैं, समीचीन व्रतों का पालन करते हैं, ज्ञानी हैं, सांसारिक इच्छाओं से दूर हैं और काम, क्रोध, मोह आदि तथा जमीन, जायदाद, धन आदि अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, वे ही सच्चे ब्राह्मण हैं, इससे विपरीत जो जातिमद से अंधे होकर अपने को सबसे ऊंचा और दूसरों को नीचा समझते हैं वे सच्चे ब्राह्मण नहीं हैं। वास्तव में वही जाति परलोक के लिए उपयोगी है जिससे सच्चे धर्म का जन्म होता है, जमीन शुद्ध भी हो किन्तु यदि उसमें बीज न डाला गया हो तो अनाज पैदा नहीं हो सकता अर्थात् ब्राह्मण जाति शुद्ध भी हो किन्तु उसमें यदि समीचीन धर्म के पालन की परिपाटी न हो तो वह शुद्ध जाति व्यर्थ है।

34. शैव—जो शिव अर्थात् अपने कल्याणरूप मुक्ति को जानते हैं वे ही सच्चे शैव-शिव के अनुयायी हैं।

35. बौद्ध—जो अपनी अंतरात्मा के पोषक हैं वे ही सच्चे बौद्ध हैं।

36. सांख्य—जो आत्म ध्यानी हैं वे ही सांख्य हैं।

37. द्विज—जिन्हें फिर संसार में जन्म नहीं लेना है वे ही द्विज हैं।

इन उपर्युक्त नामों के अनुरूप गुणों से सहित दिगम्बर मुनि ही उत्तमपात्र कहलाते हैं। उनको दिया गया आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान या वसतिका आदि का दान उत्तम-उत्तम फलों को देने वाला माना गया है। इनसे विपरीत जो अज्ञानी हैं, दुराचारी हैं, निर्दय हैं, विषयों के लोलुपी हैं तथा इन्द्रियों के दास हैं, ऐसे पाखण्डी दान के पात्र कैसे हो सकते हैं?

शास्त्रों में समयी, साधक, साधु, आचार्य और धर्म के प्रभावक ऐसे पात्र के पाँच भेद माने गये हैं। गृहस्थ हो या साधु जो जैनधर्म का अनुयायी है उसे समयी या साधर्मी कहते हैं। सम्यग्दृष्टि श्रावक को उन्हें आदर सत्कार देते हुए दान देना चाहिए।

जिनकी बुद्धि परोक्ष अर्थ को भली प्रकार से जानने में समर्थ है उन ज्योतिष शास्त्र, मंत्रशास्त्र और निमित्तशास्त्र के ज्ञाताओं का तथा प्रतिष्ठा आदि के ज्ञाता का सम्मान करना चाहिए। यदि ये न हों तो जिन दीक्षा, तीर्थयात्रा और जिनबिंब प्रतिष्ठा आदि क्रियाएं कैसे हो सकती हैं? क्योंकि इन कार्यों के अनुष्ठान में मुहूर्त देखने के लिए ज्योतिष विद्या और विधिविधान, क्रियाकाण्ड, प्रतिष्ठा आदि कराने के लिए प्रतिष्ठा शास्त्र के ज्ञाता को आवश्यकता होती है। यदि कोई कहे कि दूसरे लोगों में जो ज्योतिषी या मंत्रशास्त्री हैं उनसे काम चला लिया जावेगा किन्तु इस तरह दूसरों से पूछने से अपने धर्म की उन्नति कैसे हो सकती है तथा अपने मुहूर्त विचार में भी दूसरों से अंतर है और प्रतिष्ठा आदि विधि तो बिल्कुल ही अलग है। अतः जैन ज्योतिषी, जैन मंत्रशास्त्र के ज्ञाता और जैन प्रतिष्ठा शास्त्र के वेत्ताओं का भी सम्मान करना चाहिए। जिससे उनकी परम्परा बढ़ती रहे और हमारे धर्म की क्रियाएं शुद्ध विधिपूर्वक चालू रहें।

मूलगुण और उत्तरगुणों से युक्त तपस्वी मुनि को साधु कहते हैं। जो पुण्य को संचय करना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि वे साधुओं की भक्तिभाव से पूजा करें।

"जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में चतुर्विध संघ के मुखिया होते हैं तथा संसाररूपी समुद्र से पार उतारने में समर्थ हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। उनकी देव के समान आराधना करनी चाहिए।

जो लोकज्ञता तथा कवित्व आदि के द्वारा और शास्त्रार्थ तथा वक्तृत्वशक्ति के कौशल द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करने में सदा संलग्न रहते हैं उन सज्जन पुरुषों का विशेष से समादर करना चाहिए। क्योंकि—

मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोर्हितम्।
द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः।।
ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरः सरः।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः।।

तप से हीन ज्ञान भी समादर के योग्य है और ज्ञान से हीन तप भी पूजनीय है। किन्तु जिसमें ज्ञान और तप दोनों हैं वह देवता है और जिसमें दोनों नहीं हैं वह केवल संघ का स्थान भरने वाला है।

जिनमुद्रा के धारी मुनियों को नमोऽस्तु कहकर नमस्कार करना चाहिए। आर्यिकाओं को वंदामि कहकर नमस्कार किया जाता है। क्षुल्लक, ऐलक और क्षुल्लिकाओं को इच्छामि कहकर अभिवादन होता है तथा क्षुल्लक, ऐलक भी परस्पर में इच्छामि कहकर एक-दूसरे को अभिवादन करते हैं। पूज्य पुरुषों के सामने सदा शास्त्रानुकूल वचन बोलना चाहिए। गुरुजनों के सामने स्वच्छंदतापूर्वक हंसी-मजाक आदि नहीं करनी चाहिए।

केवल आहारदान के लिए साधुओं की परीक्षा नहीं करनी चाहिए, वो सज्जन हों या न हों, गृहस्थ तो दान देने से ही शुद्ध हो जाता है। गृहस्थ लोग अनेक आरंभ में फँसे रहते हैं और उनका धन भी अनेक प्रकार से खर्च होता रहता है। इसलिए तपस्वियों को आहारदान देने में ज्यादा सोच-विचार नहीं करना चाहिए। मुनिजन जैसे-जैसे तप, ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट हों, वैसे-वैसे गृहस्थों को उनका अधिक समादर करना चाहिए। धन बड़े भाग्य से मिलता है, अतः भाग्यशाली पुरुषों को आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले किन्तु उन्हें अपना धन जैन धर्मानुयायियों में अवश्य खर्च करना चाहिए। जिनेन्द्रदेव का यह धर्म प्रायः ऊँच और हीन सभी प्रकार के मनुष्यों से भरा हुआ है। जैसे मकान एक खम्भे पर नहीं ठहर सकता है वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुष के आश्रय से नहीं ठहर सकता है।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप की अपेक्षा से मुनि चार प्रकार के होते हैं और वे सभी दान सम्मान के योग्य हैं। गृहस्थों को पुण्य उपार्जन की दृष्टि से जिनबिंबों की तरह उन चार प्रकार के मुनियों में विशेष भक्ति करनी चाहिए।

प्रकारान्तर से दान के तीन भेद भी माने गये हैं – राजस, तामस और सात्विक। जो मनुष्य अपनी ख्याति की भावना से कभी-कभी किसी को दान तब देते हैं जबकि वे दूसरे दाता को वैसे दान से मिलने वाले फल को स्वयं देख लेते हैं इस दान को राजस दान कहते हैं। अर्थात् उसे स्वयं तो दान पर विश्वास नहीं है किन्तु इसने यह दान दिया था तो इसको इस दान से अमुक-अमुक फल मिला है। ऐसा देखकर जो दान देता है उसका यह दान रजोगुण प्रधान होने से राजस कहलाता है।

जो पात्र और अपात्र को समान रूप से मानकर या पात्र को अपात्र के समान मानकर बिना किसी आदर, सम्मान और स्तुति के नौकर चाकरों के उद्योगपूर्वक दान देते हैं उसे तामस दान कहते हैं।

जिस दान में स्वयं पात्र को देखकर उसका अतिथि सत्कार किया जाता है तथा जो दान श्रद्धा आदि के साथ दिया जाता है वह सात्विक दान है। राजस दान मध्यम है

और तापस दान सब दानों में निकृष्ट है।

कुछ लोगों का कहना है कि जो दिया जाता है परलोक में वही मिलता है किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि घास खाने वाली गायें दूध देती हैं यह बात सर्वजन प्रसिद्ध है। इसी प्रकार से मुनियों को समय पर भक्तिपूर्वक दिया गया शाक – पात का भी आहारदान अपरिमित पुण्य को देने वाला होता है क्योंकि भक्ति ही चिंतामणि है। भोजन के समय मौन क्यों रहना। आचार्यों के अनुसार –

'जिनेन्द्रदेव ने अभिमान की रक्षा के लिए और श्रुत की विनय के लिए भोजन करते समय मौन रखना बतलाया है। भोजन की लोलुपता त्यागने से अभिमान की रक्षा भी होती है और मन भी वश में हो जाता है। श्रुत की विनय करने से कल्याण होता है, संपत्ति मिलती है और मनुष्य पर सरस्वती प्रसन्न हो जाती है। तात्पर्य यह है कि भोजन के समय मौन रखने से, जूठे मुख वाणी का उच्चारण नहीं करने से वाणी का विनय होता है। वाणी के विनय से वाणी पर असाधारण अधिकार प्राप्त होता है। जो लोग दिन भर बक-बक करते रहते हैं उनके वचन की कीमत जाती रहती है। भोजन के समय मौन रखने से दूसरा लाभ यह भी है कि मांगना नहीं पड़ता है। मांगने से दीनता दिखती थी सो नहीं होने से स्वाभिमान सुरक्षित तो रहता ही है प्रत्युत् गौरव भी बढ़ता है। तीसरी बात यह है कि कदाचित् किसी वस्तु की इच्छा भी थी तो भी मौन रहने से, इच्छा को रोकने से "इच्छा निरोधस्तपः" के अनुसार तपश्चरण भी हो जाता है। अतः मौनपूर्वक भोजन करने का विधान है।

धर्म के साधन हेतु जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे धनवान मनुष्य के दान के द्वारा सत्य होते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रकांत मणि चन्द्रकिरणों से स्पर्शित होकर अमृत को बहाते हुए ही यहाँ प्रतिष्ठा को प्राप्त होती है। इसका विशेषार्थ यह है कि पात्र को दान देने वाला श्रावक इस भव में उस दान के द्वारा लोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। जैसे चन्द्रकांत मणि से निर्मित भवन को देखते हुए भी साधारण मनुष्य उस चन्द्रकांत मणि का परिचय नहीं पाता है, किन्तु चन्द्रमा का उदय होने पर जब उस भवन से पानी का प्रवाह बहने लगता है तब साधारण से साधारण मनुष्य भी यह समझ लेता है कि यह भवन चन्द्रकांत मणियों से बना हुआ है। तब वह उसकी प्रशंसा करने लगता है। ठीक इसी प्रकार से विवेकी दाता जिनमंदिर आदि बनवाकर मुनियों को आहार आदि देकर अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करता है। वह यद्यपि अपनी प्रतिष्ठा की कामना नहीं करता है फिर भी उस दिन मंदिर या दान आदि के देखने वाले मनुष्य उसकी प्रशंसा करते ही हैं। यह तो हुई इस जन्म की बात, इसके साथ पात्रदान आदि शुभ कार्यों से उसको जो महान पुण्य लाभ होता है उसके फल से वह अगले भव में भी इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव प्राप्त कर लेता है।

जो मनुष्य धन के रहने पर भी दान देने में उत्सुक नहीं होता है, परन्तु अपने आप धर्मात्मा कहलाना चाहता है। उसके हृदय में जो कुटिलता रहती है वह परलोक में उसके सुख को समाप्त कर देती है। जैसे कि बिजली के गिरने से पर्वत चूर हो जाते हैं। यहाँ पर जैनाचार्यों का आदेश है कि–हे भव्यों! तुम अणुव्रती होकर निरन्तर अपनी सम्पत्ति के अनुसार एक ग्रास, आधा ग्रास अथवा चौथाई ग्रास ही क्यों न हो दान में देते ही रहो, क्योंकि यहाँ लोक में अपनी इच्छानुसार द्रव्य कब किसको होगा जो कि उत्तम पात्र को दान दे सके, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है। अभिप्राय यही है कि यदि किसी के पास धन कम है तो उसमें से ही कुछ अंश दान में निकालते रहना चाहिए क्योंकि इच्छानुसार सम्पत्ति कभी किसी को नहीं मिलती है। लखपति करोड़ चाहता है, करोड़पति अरबों की आशा करता है और अरब हो जाने पर खरबों की इच्छा हो जाती है उसमें भी किसी को संतोष नहीं होता है अतः जितना भी धन अपने पास है उसमें ही मुनि को आहारदान आदि देते रहना चाहिए। इस दान से ही सम्पत्ति बढ़ती है। प्रायः देखा जाता है कि लोग सोचा करते हैं जब मेरे पास इतना धन हो जायेगा तब दान कर देंगे चूँकि अभी तो परिवार पोषण से ही नहीं बचता है किन्तु बात यह है कि जितना भी धन बढ़ेगा उतनी ही आवश्यकताएं, उतने ही ऐश आराम और इच्छाएं बढ़ती जायेंगी। अतः प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन कुछ न कुछ दान देते ही रहना चाहिए।

दान की रुचि का भी फल मिलता है–

मिथ्यादृष्टि पशु की भी मुनिराज के दान में जो केवल रुचि होती है उस रुचि अथवा दान की अनुमोदना से ही वह उत्तम भोगभूमि को प्राप्त कर लेता है। जहाँ पर दश प्रकार के कल्पवृक्ष सदा उसे सभी प्रकार के अभीष्ट पदार्थ देते रहते हैं। फिर भला यदि सम्यग्दृष्टि उस पात्रदान में रुचि रखें तो उसे क्या ऐसी चीज है जो नहीं मिलेगी? अर्थात् उसे निश्चित ही सर्ववांछित फल प्राप्त हो जाते हैं। दान के योग्य सम्पत्ति के होने पर तथा पात्र के भी मिल जाने पर जिस मनुष्य की बुद्धि दान के लिए उत्साहित नहीं होती है वह दुर्बुद्धि खान में प्राप्त हुए भी अतिशय मूल्यवान रत्नों को छोड़ कर पृथ्वी के तलभाग को व्यर्थ ही खोदता है। अर्थात् जैसे कोई मनुष्य हीरे के लिए उसकी खान को खोदे, उत्तम हीरा मिल जाये फिर भी उसे छोड़कर आगे और नीचे-नीचे खोदता ही चला जाये तो वह मूर्ख ही है। हीरे को प्राप्त कर भी छोड़ दिया और व्यर्थ ही भूमि खोदने का श्रम करता रहता है।

यदि किसी के हाथ से मणि समुद्र में गिर जाये और बहुत काल के बाद उसे वह ढूँढे तो जैसे उसका मिलना कठिन है, ऐसे ही मनुष्य पर्याय, धन और जिनवाणी को पाकर भी जो दान नहीं करता है वह मूर्ख मनुष्य रत्नों को ग्रहण कर छिद्रवाली नाव में बैठकर समुद्र पार करना चाहता है। अर्थात् छिद्रवाली नाव में बैठने वाला नियम से

समुद्र में डूब जायेगा वैसे ही अति दुर्लभ मनुष्य पर्याय, धन सम्पत्ति और जैनधर्म को पाकर भी जो दान नहीं देता है तो दुर्लभ मनुष्य भव आदि को व्यर्थ ही गंवा कर दुर्गति में चला जाता है।

जो पात्रदान इस भव में यश का कारण तथा परभव में सुख का कारण है उसे जो मनुष्य धन पाकर भी नहीं करता है, उसे ऐसा समझना चाहिए कि मानों किसी पुण्यशाली मनुष्य ने अपने धन की रक्षा के लिए उसे अपना सेवक बनाकर ही नियुक्त किया है। तात्पर्य यही है कि भाग्यवश यदि संपत्ति मिली है तो उसको दानादि उत्तम कार्यों में लगाना चाहिए और आवश्यकतानुसार उसका उपभोग भी करना चाहिए, किन्तु जो स्वयं अपनी संपत्ति को दान और भोग में नहीं लगाता है तो पता नहीं उस सम्पत्ति को आगे कौन भोगेगा? इसलिए आचार्यदेव का ऐसा कहना है कि मानो वह धन का स्वामी न होकर रक्षक–सेवक ही है क्योंकि धन को भोगने वाला और दान में लगाने वाला ही उसका स्वामी माना जाता है।

लोक में जो धन जिनालय के निर्माण के कराने में, जिनदेव की पूजा में, आचार्य और उपाध्याय की पूजा में, संयमी जनों को दान देने में, अतिशय दुःखी प्राणियों को भी दयापूर्वक दान करने में तथा अपने उपभोग में भी काम आता है वही धन अपना धन है, यह बात निश्चित है। किन्तु इससे विपरीत जो धन इन कार्यों में नहीं लगाया जाता है, वह धन किसी दूसरे का ही है ऐसा समझो। संपत्ति पुण्य के क्षय से नष्ट होती है या घटती है न कि दान करने से। अतएव हे श्रावकों! आप निरन्तर पात्रदान करते रहें। क्या आप यह नहीं जानते हैं कि कुंए से जितना-जितना जल निकाला जाता है उतना उतना जल बढ़ता ही चला जाता है।

पूज्यजनों की पूजा में बाधा पहुँचाने वाला लोभ इस लोक और परलोक में भी सब के सर्व गुणों को नष्ट कर देता है और वह लोभ यदि केवल गृहस्थी के विवाह आदि कार्यों में किया जाता है तो केवल एक जन्म में ही लोग उसे लोभी कहते हैं अर्थात् जिनपूजन, पात्रदान आदि में किया गया लोभ इस भव और परभव में सर्वथा दुःखदायी है, सर्वगुणों को नष्ट कर देने वाला है क्योंकि दान पूजन से होने वाला पुण्य और कीर्ति आदि कुछ भी नहीं मिलते हैं। जो घर कार्यों में लोभ करते हैं उसे मात्र यहीं लोग कंजूस आदि कह देते हैं किन्तु उसका परलोक नहीं बिगड़ता है ऐसा समझना चाहिए।

आज लोग इससे विपरीत करते हैं अपने घर कार्य पुत्रादि के विवाह या अन्य लौकिक कार्यों में खूब धन खर्च कर दिया करते हैं किन्तु दान पूजन आदि के समय कृपण बन जाते हैं। सोचते हैं–

अपनी गाढ़ी कमाई का धन इन कार्यों में कैसे लगा दें? सो यह मात्र मूर्खता ही है क्योंकि दान पूजन में खर्चा गया धन अपना बन गया है और वह आगे असंख्य गुणा

होकर फलेगा किन्तु "खाय खोया बह गया" इस सूक्ति के अनुसार अपने भोग में लगाया गया धन व्यर्थ ही चला गया है ऐसा निश्चित समझकर सदैव दानादि उत्तम कार्यों में धन का सदुपयोग करते रहना चाहिए।

आचार्यों ने बताया है कि जिसके क्रोधादि विकार भाव विद्यमान हैं वह क्या देव हो सकता है? जिस धर्म में प्राणियों की दया प्रधान नहीं है वह क्या धर्म कहा जा सकता है? जिसमें सम्यग्ज्ञान नहीं है क्या वह तप और गुरु हो सकता है तथा जिस संपत्ति में से पात्रों के लिए दान नहीं दिया जाता है वह सम्पत्ति क्या सफल हो सकती है? अर्थात् नहीं।

अभिप्राय यह है कि जिसमें राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि मौजूद हैं वह देव नहीं, माना जा सकता है। जिस धर्म में दया धर्म की प्रमुखता नहीं है वह धर्म भी सच्चा धर्म नहीं है। जो तपश्चर्या सम्यग्ज्ञान सहित होकर की जाती है वह कर्मनिर्जरा को कराने वाली है और जो गुरु सम्यग्ज्ञान से सहित हैं वे ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु गुरु हैं। उसी प्रकार जिस संपत्ति के कुछ भाग को मुनियों के आहारदान आदि में लगाया जाता है वही संपत्ति सफल है।

यदि मनुष्य के पास तीनों लोकों को वशीभूत करने के लिए अद्वितीय वशीकरण मंत्र है तो वह दान है और व्रत आदि से उत्पन्न हुआ धर्म विद्यमान है तो ऐसे कौन से गुण हैं जो उसके वश में न हो सकें, वह कौन सा सुख है जो उसको प्राप्त न हो सके तथा वह कौन सी विभूति है जो उसके अधीन न हो जाये। तात्पर्य यही है कि 'दान' यह तीनों लोकों को अपने वश में करने के लिए उत्तम वशीकरण मंत्र है। जिसको दान दिया जाता है वह प्रसन्न हो जाता है और भव-भव में उसके उपकार को मानता रहता है। मुनिजनों को आहारदान देने से तो पुण्य के साथ-साथ विशेष कीर्ति फैलती है। सज्जन पुरुष उसे आदर देते हैं। दान देने से शत्रुता भी खत्म हो जाती है। वैसे ही व्रत आदि शुभ कार्य भी धर्म हैं उनसे भी लोग अपने अधीन बन जाते हैं। इसीलिए आचार्यदेव का कहना है कि दान और व्रत करने वाले सज्जन पुरुषों को इतना लाभ होता है कि सभी लोग उसके वश में हो जाते हैं, सभी प्रकार के सुख उसको मिलते हैं और सभी प्रकार की विभूतियाँ भी उसे प्राप्त हो जाती हैं। अब आचार्यदेव तुलना करते हुए बतलाते हैं कि–

एक मनुष्य के पास उत्तम पात्र को दिये गये आहारदान से उत्तम हुआ पुण्य समुदाय विद्यमान है तथा दूसरे मनुष्य के पास राज्यलक्ष्मी विद्यमान है। फिर भी प्रथम मनुष्य की अपेक्षा द्वितीय मनुष्य दरिद्र ही है, क्योंकि उसके पास आगामी काल में फल देने वाला कुछ भी शेष नहीं है। अभिप्राय यही है कि सुख का कारण एक मात्र पुण्य ही है अतः जिसने दान दिया है उसने इतना अधिक पुण्य संचय कर लिया है कि वह

आगामी काल में नवनिधि आदि तमाम धन संपत्ति का स्वामी होगा तथा जिस व्यक्ति के पास राज्यलक्ष्मी तो है वह वर्तमान में धनी है किन्तु आगे वह निर्धन ही रहेगा।

जिसके धन दान के लिए नहीं है, शरीर व्रत के लिए नहीं है और शास्त्राभ्यास कषायों की उपशांति के लिए नहीं है उसका जन्म केवल संसार के दुःखों के लिए मूल-भूत ऐसे जन्म मरण के लिए ही है। तात्पर्य यही है कि धन पाकर दान देना चाहिए। मनुष्य का शरीर पाकर व्रत करना चाहिए और शास्त्रों को पढ़कर कषायों को मंद करना चाहिए। यदि धन से दान नहीं दिया, शरीर से व्रत नहीं किया और शास्त्र पढ़कर भी क्रोध, मान, माया, लोभ को बढ़ाते रहे तो समझ लीजिए उस व्यक्ति ने अपने संसार के दुःखों को ही बढ़ावा दिया है।

मनुष्य जन्म को प्राप्त कर प्रत्येक व्यक्ति को तप करना चाहिए। क्योंकि यह तप संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए अपूर्व पुल के समान है। जो मनुष्य देव, गुरु एवं मुनि की पूजा करता है, दान देता है तो उसका वैभव पाना सफल है क्योंकि यदि वैभव पाकर भी दान, पूजन नहीं किया तो वह वैभव मात्र कर्मबंध का ही कारण है। पाप को उत्पन्न करने वाले समस्त कार्यों से रहित ऐसे चित्तवृत्ति का आश्रय करने वाली भिक्षा कहीं श्रेष्ठ है किन्तु सत्पात्र दान से रहित होकर विपुल एवं तीव्र दुःखों से परिपूर्ण दुर्लभ्य नरक आदि गतिरूप दुर्गति को करने वाली विभूति श्रेष्ठ नहीं है।

आचार्य श्री पद्मनंदि देव कहते हैं कि जो गृहस्थ भगवान के चरण कमलों की पूजा नहीं करता है और संयमी साधुओं को दान नहीं देतार है उसे गहरे जल में डुबो देना चाहिए। इसका अभिप्राय यही ही कि दान और पूजा क्रिया से रहित गृहस्थ स्वयं ही गृहस्थाश्रम के पाप के भार से अगाध संसार समुद्र में डूब जाता है। इसलिए श्रावक का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन दान पूजा अवश्य करे इसी से गृहस्थाश्रम सफल है। इस संसार रूप समुद्र में परिभ्रमण करते हुए यदि चिरकाल में बड़े दुःख से मनुष्य पर्याय प्राप्त हो गई है तो उसे पाकर उत्कृष्ट तप करना चाहिए। अर्थात् मुनि दीक्षा ले लेना चाहिए और यदि कदाचित् वह तप नहीं किया जा सकता है तो अणुव्रती ही हो जाना चाहिए जिससे कि प्रतिदिन पात्रदान हो सके। इससे यही अभिप्राय निकलता है कि अणुव्रत लिए बगैर श्रावक नहीं कहा सकता है और श्रावक हुए बगैर मुनियों को आहार देने का सौभाग्य नहीं मिलता है।

यदि कोई मनुष्य अपने घर से बहुत सा नाश्ता (मार्ग में खाने योग्य पकवान) लेकर दूसरे गांव जाता है तो वह जिस प्रकार सुखी रहता है उसी प्रकार दूसरे जन्म में जाने के लिए व्यक्ति को व्रत एवं दान से कमाया हुआ एकमात्र पुण्य ही सुख का कारण होता है। यहाँ इस लोक में काम, अर्थ (धन) और यश के लिए किया गया प्रयत्न भाग्यवश कदाचित् निष्फल भी हो जाता है किन्तु मुनि, आर्यिका आदि पात्रों के नहीं

मिलने पर हर्षपूर्वक उनके लिए किया गया दान का संकल्प भी पुण्य को प्रदान करता ही करता है। अपने मकान में शत्रुजन के भी आ जाने पर सज्जन मनुष्य प्रिय वचन एवं आसन देना आदि के द्वारा उसका अनुपम आदर सत्कार करते हैं। फिर भला उत्तम गुणों रूप रत्नों के आश्रयभूत उत्कृष्ट पात्र के अपने घर पर आ जाने पर सज्जन पुरुष क्या हर्ष से आदर सत्कार नहीं करते हैं अर्थात् अवश्य ही वे दान आदि के द्वारा उनका यथायोग्य सम्मान करते हैं। तात्पर्य यही है कि गृहस्थ के घर में यदि कदाचित् शत्रु भी आ जाये तो उसको भी बिठाना चाहिए, मधुर वचन से उसे संतुष्ट करना चाहिए और यदि कदाचित् उत्तम पात्र मुनि, आर्यिका आदि का घर में आगमन हो जाये तो उनकी विधिवत् नवधाभक्ति करके उन्हें आहारदान देकर महान पुण्य संचय कर लेना चाहिए।

सज्जन पुरुष के लिए अपने पुत्र की मृत्यु का दिन भी उतना बाधक नहीं होता जितना कि मुनिदान से रहित दिन उसको बाधक दिखता है। ठीक है, दुर्निवार दैव के द्वारा कुत्सित कार्य के किए जाने पर बुद्धिमान मनुष्य उसे अनिष्ट नहीं मानता, किन्तु पुरुष के द्वारा ऐसे किसी कार्य के किए जाने पर विवेकी मनुष्य के घर पर यदि पुत्र का मरण हो जाता है तो वह विशेष शोकाकुल नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि यह पुत्र वियोग अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से हुआ है जो कि किसी प्रकार से टाला नहीं जा सकता था परन्तु यहाँ यदि किसी दिन साधुजन को आहार नहीं दिया जाता है तो वह इसके लिए पश्चाताप करता है कारण कि वह अपनी असावधानी से हुआ है वह सोचता है कि यदि हम सावधान होकर द्वारापेक्षण आदि करते तो पात्र का लाभ अवश्य मिल जाता तथा पात्रदान के अभाव में जो पुण्य लाभ की हानि हुई है और अपनी आवश्यक क्रिया की पूर्ति नहीं हुई है इसलिए वह पुत्र वियोग से अधिक भी दुःख महसूस करता है।

यह है सच्चे श्रावक की भावना, सच है आज भी यत्र–तत्र मुनि, आर्यिकाएं और क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएं दिख रहे हैं। जो भक्तजन उनकी भक्ति करते हैं उन्हें आहारदान देते हैं वह अपने मनुष्य पर्याय को सफल कर लेते हैं। इससे विपरीत जो उनकी निंदा में अपने समय को बिता रहे हैं वे बेचारे व्यर्थ ही पाप की पोट बांधकर अपने संसार को बढ़ा रहे हैं। यह निश्चित बात है।

करोड़ों परिश्रमों से संचित किया हुआ जो धन है वह मनुष्यों को अपने पुत्रों और प्राणों से भी अधिक प्रिय प्रतीत होता है उसका सदुपयोग तो केवल दान देने में ही होता है। इसके विरुद्ध दुर्व्यसनादि में उसका उपयोग करने से मनुष्य को अनेक कष्ट ही भोगने पड़ते हैं, ऐसा आगम का कथन है। इस लोक में गृहस्थों की जो संपत्ति प्रतिदिन खाने-पीने आदि में खर्च होती है वह नष्ट हुई ही समझो चूँकि वह यहाँ फिर से कभी वापस नहीं आती है किन्तु उत्तम पात्रों के लिए दिये गये दान में जो संपत्ति व्यय होती

है वह संपत्ति नियम से फिर से प्राप्त हो जाती है अर्थात् असंख्य गुणा होकर फलती है जैसे कि उत्तम भूमि में बोया हुआ बड़ का बीज करोड़ गुणा फल देता है।

जिस श्रावक ने यहाँ मोक्षाभिलाषी मुनि को भक्तिपूर्वक आहार दिया है उसने केवल उन मुनि को ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त नहीं किया है बल्कि अपने आपको भी उसने मोक्षमार्ग में लगा दिया है। तो ठीक ही है जैसे–मंदिर को बनाने वाला कारीगर भी निश्चय से उस मंदिर के साथ ही ऊँचे स्थान को चला जाता है अर्थात् जिस प्रकार मंदिर को बनाने वाला कारीगर जैसे-जैसे मंदिर ऊँचा बनाता जाता है वैसे-वैसे वह भी पेंड बांधकर ऊँचे स्थान पर चढ़ता चला जाता है। ठीक उसी प्रकार से मुनि को भक्तिपूर्वक आहार देने वाला मनुष्य भी उस मुनि को मोक्षमार्ग में बढ़ाता हुआ स्वयं भी उनके ही साथ मोक्षमार्ग में बढ़ता चला जाता है।

भक्तिरस से अनुरंजित बुद्धि वाला जो गृहस्थ श्रेष्ठ मुनि को शाक भी आहार देता है वह अनन्त फल का भोगने वाला होता है। सो ठीक ही है। उत्तम खेत में बोया गया बीज क्या किसान को बहुत फल नहीं देता है? अवश्य देता है। मन-वचन-काय की शुद्धि करके विशुद्ध हुआ जो मनुष्य साक्षात् पात्र मुनि, आर्यिका आदि को केवल आहार ही देता है। उसको भी संसार से पार उतारने वाला ऐसा पुण्य प्राप्त हो जाता है कि जिस पुण्य की इन्द्र भी अभिलाषा करते हैं। अभिप्राय यही है कि आहारदान का पुण्य इतना महान है जिसे इन्द्र भी चाहते हैं। लोक में मोक्ष के कारणीभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की जाती है वह रत्नत्रय मुनिगण शरीर की शक्ति से ही धारण करते हैं, वह शरीर की शक्ति भोजन से प्राप्त होती है और वह भोजन अतिशय भक्ति से सहित गृहस्थ के द्वारा ही दिया जाता है। इसी कारण वास्तव में उस मोक्षमार्ग को गृहस्थजनों ने ही धारण किया है।

लोक में अत्यन्त विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रीतिपूर्वक उत्तम पात्रों को एक बार भी दिया गया दान जितने महान उन्नतफल को देता है, उतने फल को गृह को अनेक झंझटों से उत्पन्न पाप समूहों से शक्तिहीन किये गये गृहस्थ के व्रत नहीं फलते हैं। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ अपने घर के अनेक आरंभ, व्यापार-धंधे आदि से जो पाप कर्म संचित करता रहता है उससे उस द्वारा किए गए व्रत, जप, तप आदि उतना फल नहीं दे पाते हैं कि जितना फल उसे मुनि को एक बार भी दिये गये आहारदान से मिल जाता है। ये श्री पद्मनंदी आचार्य के वाक्य हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष की लक्ष्मी मूल में अल्प होकर भी तत्पश्चात् मुनिराज को दिये गये दान से उत्पन्न हुए पुण्य के प्रभाव से कीर्ति के साथ निरंतर दिन पर दिन वृद्धि को प्राप्त होती हुई मोक्ष पर्यंत साथ जाती है। जैसे नदी मूल में क्रूश होकर भी अतिशय दीप्त फेन के साथ उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होकर समुद्र पर्यंत जाती है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नदी के उद्गम स्थान में उसका विस्तार

बहुत ही थोड़ा रहता है फिर भी वह समुद्रपर्यंत पहुँचने तक उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। इसके साथ-साथ नदी का फेन भी उसी क्रम से बढ़ता जाता है। उदाहरण के लिए गंगा नदी हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर के पूर्वद्वार से निकलते समय मात्र 6 (1/4) योजन विस्तार वाली है आगे बढ़ते-बढ़ते समुद्र के प्रवेशस्थान पर 62 (1/2) योजन प्रमाण विस्तृत हो जाती है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष को धन-संपत्ति भी यद्यपि मूल में बहुत थोड़ी रहती है तो भी वह आगे उसके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये पात्र दान के पुण्य के प्रभाव से दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है। उसके साथ ही उस दाता की कीर्ति भी बढ़ती चली जाती है।

जगत् में जिस उत्कृष्ट आत्मस्वरूप के ज्ञान से शुद्ध आत्मा के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है वह आत्मज्ञान घर में रहने वाले गृहस्थ के प्रायः कहाँ से हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। किन्तु वह पुरुषार्थ की सिद्धि पात्रजनों में किए गए चार प्रकार के दान से अनायास ही हस्तगत हो जाती है। जो मनुष्य मोक्षमार्ग में चलने वाले मुनियों को केवल नाम मात्र भी स्मरण करता है उसके समस्त पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं पुनः जो मनुष्य मुनि का आहार, औषधि और मठ–उपाश्रय अर्थात् वसतिका आदि प्रदान कर उपकार करते हैं, वे यदि संसार से पार हो जाते हैं तो भला इसमें आश्चर्य ही क्या है। मतलब स्पष्ट है कि मुनि का नाम मात्र लेने से भी तमाम पाप नष्ट हो जाते हैं तो उन्हें आहार, औषधि, शास्त्र और वसतिका दान देने से संसार से छुटकारा मिलता ही है। जो मुनिजन साक्षात् अपने पादोदक से गृहगत पृथ्वी के अग्रभाग को सदा पवित्र किया करते हैं ऐसे मुनिजन जिनगृहों के भीतर साक्षात् संचार नहीं करते हैं वे गृह क्या हैं अर्थात् ऐसे गृहों का कुछ भी महत्व नहीं है। इसी प्रकार स्मरण के वश से अपने चरणजल के द्वारा श्रावकों के शिर के प्रदेशों को पवित्र करने वाले वे मुनिगण जिन श्रावकों के मन में संचार नहीं करते हैं वे श्रावक भी क्या हैं अर्थात् उनका भी जीवन सफल नहीं है। अभिप्राय यह है कि जिन घरों में मुनियों का आहार आदि के निमित्त आवागमन होता रहता है वे ही घर सफल हैं। क्योंकि उनके चरण प्रक्षालन का गंधोदक घर में पड़ता है अर्थात् वे मुनिगण अपने कमण्डलु के जल से अपने पैर धोते हैं उस चरण प्रक्षालित जल से घर भी पवित्र हो जाते हैं और जिन घरों में मुनियों का आवागमन नहीं है वे घर पवित्र नहीं होते हैं। ऐसे ही जब मुनियों को पड़गाहन कर श्रावक उनकी नवधाभक्ति करते हैं मुनियों के चरण प्रक्षालन कर उस गंधोदक को अपने-अपने मस्तक पर लगाते हैं उन श्रावक-श्राविकाओं का मस्तक तो पवित्र हो जाता है साथ ही उनका जीवन भी सफल हो जाता है।

इस प्रकार दान की महिमा को जानकर आप सभी अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग करते हुए अपने मानव जीवन को सफल करें, यही मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–27

पंडित मरण

महानुभावों! आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने बताया है कि–

एकम्हि भवग्गहणे समाहिमरणं लभेज्ज जो जीवो।
सतद्भवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि।।54।।

एक भव में यदि जीव को समाधिमरण की प्राप्ति हो जावे तो सात या आठ भव में वह उत्कृष्ट निर्वाणपद को प्राप्त कर लेता है।

मरण के सत्रह भेद हैं–

आवीचिमरण, तद्भवमरण, अवधिमरण, आद्यंत मरण, सशल्य, गृद्धपृष्ठ, जिघ्रास, व्युत्सष्ट, बलाका, संक्लिश्य, बाल बाल, बाल, बाल पंडित, भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी, प्रायोपगमन और पंडित पंडित मरण के ये सत्रह भेद हैं।

अथवा मध्यम रूप से मरण के पाँच भेद हैं–पंडित पंडित, पंडित, बाल पंडित, बाल और बाल बाल। इनमें से पहला पंडित पंडित मरण केवली भगवान को होता है, पण्डितमरण मुनियों के होता है, बाल पंडित मरण देशव्रती श्रावक को होता है, बालमरण अविरति सम्यग्दृष्टी को होता है और बालबालमरण मिथ्यादृष्टी को होता है।

पंडित मरण के तीन भेद हैं– भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन। अपने शरीर की सेवा आप ही करें किसी दूसरे से न करावें यह इंगिनी मरण है। अपने शरीर की सेवा न तो स्वयं आप ही करे और न दूसरों से ही करावे, काष्ठावत् शरीर को छोड़कर अर्थात् शरीर पूर्णतया निःस्पृह होकर जो सन्यास मरण होता है वह प्रायोपगमन मरण है।

भक्त प्रत्याख्यान मरण के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट से तीन भेद हो जाते हैं। अंतमुर्हूतकाल जघन्य है और बारह वर्ष का काल उत्कृष्ट है। अन्तर्मुहूर्त से ऊपर और बारह वर्ष के भीतर का जितना भी काल है वह सब मध्यम है।

जब कोई मुनिराज यह निर्णय कर लेते हैं अर्थात् निमित्त आदि ज्ञान से यह समझ लेते हैं कि अब मेरी आयु बारह वर्ष के ऊपर नहीं है, तभी वे बारह वर्ष की उत्कृष्ट सल्लेखना ग्रहण करते हैं तथा–उपसर्ग के आ जाने पर, दुर्भिक्ष में वृद्धावस्था में रोग आने पर जबकि इनका प्रतीकार न हो सके उस काल में धर्म की रक्षा के लिए शरीर का त्याग कर देना है। जब किसी साधु की नेत्र ज्योति मंद हो जाती है जिससे ईर्यापथ में और आहार के शोधन में असुविधा होती है अथवा जंघा बल घट जाता है या और कोई ऐसे ही संयम की विराधना के कारण आ जाते हैं उस समय साधु इस भक्त प्रतिज्ञा नाम की सल्लेखना का आश्रय लेते हैं।

जिस सन्यास विधि में भक्त अर्थात् भोजन की प्रतिज्ञा अर्थात् क्रम-क्रम से त्याग

किया जाता है उसे भक्त प्रतिज्ञा कहते हैं। भक्त प्रत्याख्यान भी इसे ही कहते हैं। सत्–सम्यक् प्रकार से लेखन-कृश करना अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषायों को कृश करते हुए जो सन्यास विधि है वह सल्लेखना कहलाती है, इसे समाधि भी कहते हैं। सम–सम्यक्–आ–सब तरफ से धि–धारण करना अर्थात् धर्म शुक्ल ध्यान का अवलंबन लेना ही समाधि है।

जब कोई भी साधु बारह वर्ष की सल्लेखना ग्रहण कर लेते हैं तब वे बारह वर्षों में निम्न प्रकार से चर्या करते हैं–

बारह वर्ष की सल्लेखना का नियम लेने वाले साधु को चार वर्ष तक तो श्रेष्ठ योग और उग्र–उग्र तपश्चरण धारण करना चाहिए। चार वर्ष रसों का त्याग करते हुए पूर्ण करना चाहिए। दो वर्ष तक कांजी आदि का आहार ग्रहण करना चाहिए। एक वर्ष दूध, छाछ, वगैरह पर व्यतीत करना चाहिए। फिर छह महिने तक मंद-मंद रीति से उपवास करना चाहिए और शेष 6 माह कठिन नियमों को धारण कर व्यतीत कर देना चाहिए।

यदि सल्लेखना लेने वाले आचार्य हैं तो वे अपना भार अपने योग्य शिष्य पर डालकर स्वयं संघ छोड़कर अन्य संघ के आचार्य के पास जाकर सल्लेखना करते हैं। क्योंकि अपने संघ में शिष्यों के प्रति राग-द्वेष होना साहजिक है अतः ऐसी आज्ञा है। ऐसा सामान्य साधु भी कर सकते हैं तथा यदि ऐसा प्रसंग कठिन हो तो जैसी सुविधा हो उसी के अनुरूप करना चाहिए। वास्तव में सल्लेखना करने वाले साधु को द्रव्य, क्षेत्र, काल की अनुकूलता पर अधिक लक्ष्य देना चाहिए। उसी से भाव शुद्धि रहेगी।

सल्लेखना ग्रहण वाला साधु क्षपक कहलाता है और सल्लेखना कराने वाले आचार्य निर्यापकाचार्य कहलाते हैं। ये आचार्य सल्लेखना के योग्य निर्विघ्न ग्राम, देश, स्थान और वसतिका को देखकर वहाँ पर साधु की सल्लेखना कराते हैं।

वे क्षपक निर्यापकाचार्य पर अपना संपूर्ण भार सौंपकर संस्तर पर आरोहण करते हैं। घास या लकड़ी का पाटा संस्तर कहलाता है, आचार्य विधिवत् सर्व संघ को बुलाकर सबसे निर्णय करके भक्तिपाठ आदि की विधि से क्षपक साधु को संस्तर दिलाते हैं। स्थिर बुद्धि वाले धर्मप्रेमी पापभीरु आदि अनेक गुणों से सम्पन्न और प्रत्याख्यान के ज्ञाता ऐसे परिचारक क्षपक की शुश्रूषा के योग्य माने गये हैं। ऐसे निर्यापक यति अड़तालीस होते हैं। ये अड़तालीस निर्यापक यति क्या-क्या उपकार करते हैं उसे बताते हैं–निर्यापकाचार्य क्षपक की शरीर सेवा आदि के लिए चार परिचारक मुनि नियुक्त करते हैं, चार मुनि धर्मकथा सुनाते हैं, चार मुनि क्षपक के आहार की व्यवस्था करते हैं। चार मुनि क्षपक के योग्य आहार के पेय पदार्थों की व्यवस्था करते हैं, चार मुनि निष्क्रमादी हुए आहार की वस्तुओं की देखभाल करते हैं, चार मुनि क्षपक के मल-मूत्रादि विसर्जन, वसतिका, उपकरण संस्तर आदि को स्वच्छ

करते हैं, चार मुनि क्षपक की वसतिका के दरवाजे पर प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं अर्थात् असंयत आदि अयोग्यजनों को अंदर आने से रोकते हैं, चार मुनि उपदेश मंडप के द्वार के रक्षण का भार लेते हैं, निद्रा विजयी चार मुनि क्षपक के पास रात्रि में जागरण का कार्य करते हैं, चार मुनि जहाँ संघ ठहरा है उसके आसपास के शुभाशुभ वातावरण का निरीक्षण करते हैं, चार मुनि आये हुए दर्शनार्थीजनों को सभा में उपदेश सुनाते हैं, चारमुनि धर्मकथा कहने वाले मुनियों के सभा की रक्षा का भार लेते हैं। ऐसे ये अड़तालीस मुनि क्षपक की सल्लेखना में पूर्ण सहायता करते हैं।

आचार्य कहते हैं कि यदि भरतादि क्षेत्र में कदाचित् उत्कृष्ट रूप से इतने निर्यापक संभव न हों तो क्रम से चवालीस भी हो सकते हैं अथवा देश काल के अनुसार उपर्युक्त गुणों से युक्त चालीस भी होते हैं, ऐसे चार-चार कम करते हुए अंतिम चार निर्यापक तो अवश्य होना चाहिए। कदाचित् चार मुनि इन निर्यापक गुणों से युक्त नहीं मिल सकें तो दो अवश्य ही होना चाहिए, क्योंकि एक निर्यापक का विधान आगम में नहीं है, बल्कि एक निर्यापक से असमाधि आदि अनेक हानि होने की संभावना हो सकती है। इस प्रकार से मूलाराधना में वर्णन है विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ से देख लेना चाहिए।

जब मृत्युकाल निकट हो जाता है तब क्रम से क्षपक को दूध के बाद मट्ठा या रस का त्याग कराकर केवल पानी देते हैं जिससे क्षपक को आकुलता नहीं होवे, ऐसी पद्धति से शांति से त्याग कराते हैं। निर्यापक जबरदस्ती नहीं कराते हैं अन्यथा क्षपक के परिणामों में आकुलता हो जाने से मरण बिगड़ जाता है। जब क्षपक जल भी छोड़ना चाहता है तब आचार्य उत्तमार्थ प्रतिक्रमण सुनाते हैं, जो कि दीक्षित जीवन भर के दोषों की शुद्धि हेतु है। पुनः क्षपक सबसे क्षमा करके सभी को क्षमा प्रदान कर देता है। उस समय से मात्र धर्मरूपी अमृत ही क्षपक की आत्मा की पुष्टि करने वाला आहार होता है। सभी साधु अपने-अपने विभाजित कार्य के अनुसार सुश्रूषा में उत्साही और धर्मप्रेमी रहते हैं।

आर्यिकाओं के सल्लेखना की भी ऐसी ही विधि है। क्षुल्लक, ऐलक भी अंत में निर्ग्रंथ दीक्षा लेकर सल्लेखना करते हैं तथा श्रावक, श्राविकाएं भी अंत में सल्लेखना सिद्धि के लिए संघ में गुरु के पादमूल में आकर यथायोग्य दीक्षा ग्रहण कर सल्लेखना ग्रहण कर सकते हैं।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय में कहा है कि–

यो हि कषायाविष्टः कुंभकजल धूमकेतु विष शस्यैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्य मात्म बधः।।178।।

अर्थात् मरणकाल में काय और कषाय को कृश करने में आत्मघात नहीं है, यदि कषाय से अविष्ट होकर कोई विष, शास्त्र आदि से मरण करता है। उसके नियम से

आत्मघात दोष होता है किन्तु इसमें आत्मघात दोष नहीं है।

जिन साधु ने सल्लेखना ली हुई है उनके दर्शन के लिए आस-पास के साधु, साध्वी भी आते हैं, यहाँ तक कि ये वर्षायोग काल में भी बारह योजन–छ्यानवे मील तक आ सकते हैं। श्रावक–श्राविकाओं को भी ऐसे सल्लेखनारत साधुओं का दर्शन करना चाहिए। ऐसे समय में दर्शन का बहुत ही विशेष महत्त्व बतलाया है।

क्षपक जब अन्नादि चारों प्रकार का आहार त्याग कर देते हैं कदाचित् उनके भूख-प्यास आदि की बाधा से या शरीर में किसी प्रकार की वेदना हो जाने से उपदेश देने वाले साधु या आचार्य महाराज उन्हें संबोधन करते हैं कि–हे क्षपक! जीवन भर जो तुमने रत्नत्रय का पालन किया है और तपश्चर्या की है यदि अंत में आर्तध्यान हो गया तो सब कमाई व्यर्थ हो जाती है। इसलिए अब सावधान होवो। अनादिकाल से आज तक सभी पुद्गलों का उपभोग किया है फिर भी तृप्ति नहीं हुई है–श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है–

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा।।

अर्थात् मैंने आज तक इस संसार में सभी पुद्गलों का भोग भोग कर छोड़ा है, अतः ये सब उच्छिष्ट के समान हैं अब मुझ भेद विज्ञानी की इसमें क्या इच्छा होगी? ऐसा तुम विचार करो तथा यह भी सोचो कि–

न मे मृत्युः कुतो भीतिः न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोहं न युवैतानि पुद्गले।।

अर्थात् मुझे मृत्यु नहीं है पुनः भय किससे होगा और मुझे व्याधि नहीं है अतपीड़ा कैसे होगी? न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न युवा हूँ ये सब पुद्गल की ही पर्यायें हैं।

इसी प्रकार से आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि हे क्षपकराज! यह मृत्यु एक प्रकार का कल्पवृक्ष है तुम जो कुछ भी इससे चाहोगे वह मिल जायेगा। यह निगोद में भी ले जा सकता है, विकलत्रय में भी पहुँचा सकता है, नरक में भी गिरा सकता है तथा तिर्यंचयोनि में चिरकाल तक परिभ्रमण करा सकता है। यदि इस कल्पवृक्ष से अच्छी चीजें चाहिए तो समता भाव से मरण करो, उत्तम स्वर्ग सुख का अनुभव करके तुम नियम से सात या आठ भव में मोक्ष प्राप्त कर लोगे, इससे अधिक भव धारण नहीं करोगे। हे मुनिराज! तुम चिन्तवन करो कि आत्मा परमानंदमयी है, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य इन अनंत चतुष्टय का स्वामी है अर्थात् प्रत्येक संसारी जीव की आत्मा शक्तिरूप से परमात्मा है। निश्चयनय से इस देहरूपी देवालय में भगवान आत्मा विराजमान है, वह जन्म मरण आदि से रहित टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावी है। ऐसा चिन्तवन करते हुए आत्मा को इस नश्वर जीर्ण-शीर्ण शरीर से भिन्न समझो।

शरीर में ममत बुद्धि ही पुनः-पुनः शरीर ग्रहण कराने में कारण है और शरीर में निर्मम बुद्धि ही इस जीव को शरीर रूपी कारावास से छुटाकर अशरीरी सिद्ध तक बना देती है। इत्यादि प्रकार से उपदेश देकर क्षपक के परिणामों में स्थिरता करानी चाहिए।

पूज्यपाद स्वामी ने यहाँ तक कह दिया है कि–

आबाल्याज्जिन देव देव भवतः श्रीपादयोः सेवया।
सेवासक्तविनेय कल्पलतया कालोद्य यावद् गतः।।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राण प्रयाण क्षणे।
त्वन्नाम प्रतिबद्ध वर्णपठने कठस्त्वकुंठो मम।।

हे जिनेन्द्रदेव! बचपन से लेकर आज तक मैंने आपके श्रीचरणों की सेवा से जो भी पुण्य संचित किया है उसका फल मैं यही मांगता हूँ कि जब मेरे प्राण प्रयाण कर रहे हों उस समय आपके नाम मंत्र को पढ़ने में मेरा कंठ अकुंठित ही रहे अर्थात् अंत समय मैं आपके नाम मंत्र को जपते-जपते ही शरीर को छोड़ूँ।

वास्तव में अंत समय को सुधारने के लिए ही दीक्षा ली जाती है और जीवन भर घोरातिघोर तपश्चरण आदि करके शरीर को कष्टसहिष्णु बनाया जाता है। जैसे राजकुमार प्रतिदिन शास्त्रों का अभ्यास करता है तब वह निष्णात योद्धा युद्धभूमि में शत्रु को मारकर अपनी राज्यपताका ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार से मुनिराज सदैव, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं को आराधित करते हैं और इन सामग्री से निष्णात हुए अंत समय में मृत्यु के साथ युद्ध करने में कुशल योद्धा होते हुए पंडितमरण से मरण करके पंडित पंडित मरण को भी प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं।

केवली भगवान् चौदहवें गुणस्थान के अंत में आयु कर्म से तथा मनुष्य गति आदि सभी कर्मों से छूट जाते हैं। पुनः उन्हें वापस जन्म नहीं लेना होता है। इसीलिए उनके मनुष्यायु के छूटने रूप मरण को पंडित पंडित नाम है, सभी महाव्रती जीवों का छठे से ग्यारहवें गुणस्थान तक जो मरण है वह पंडित मरण है जिसका विश्लेषण किया है। देशव्रतियों का मरण बाल पंडित है। क्योंकि ये भी भक्त प्रतिज्ञा की विधि से आहार को क्रम-क्रम से घटाते हुए शरीर छोड़ते हैं और अधिक काल तक संसार में नहीं घूमते हैं। अव्रती सम्यग्दृष्टि भी सम्यक्त्व सहित धर्मध्यानरूप परिणाम से मरण करते हैं इसलिए उनका मरण बाल संज्ञक है। चूँकि वे अभी बालकवत् अभ्यासी हैं किन्तु ये भी संसार का अंत करने वाले ही हैं। मिथ्यादृष्टी कुमरण से मरते हैं। इसलिए इनको इस संसार में बार-बार मरना पड़ता है। इसी कारण से उनके मरण को बाल बाल कहा है।

देव भी मिथ्यात्व सहित और अंत समय संक्लेश भाव से मरता है कि हाय! हाय! अब मुझे ये भोग, ये देवांगनाएं, ये वैभव छोड़ना पड़ेगा तथा मर्त्यलोक में माता के गर्भ में नव मास तक रहना होगा, मल मूत्र से भरित घृणित शरीर प्राप्त करना होगा।

इत्यादि सोच-सोचकर विलाप करते हुए अत्यधिक संताप करते हैं। उसके फलस्वरूप मरकर एकेंद्रिय में पृथ्वी, जल या वनस्पति शरीर को भी धारण लेते हैं कि जिस निकृष्ट स्थावर पर्याय से पुनः त्रस पर्याय पाना अत्यन्त ही कठिन है।

सिंह ने सल्लेखना विधि से मरण करके दशवें भव में महावीर तीर्थंकर के पद को प्राप्त किया है। हाथी भी सल्लेखना से मरकर नवमें भव में भगवान पार्श्वनाथ हुआ है। महाबल विद्याधर सल्लेखना के प्रसाद से दशवें भव में भगवान ऋषभदेव हुए हैं। आज तक जितने भी पुरुष सिद्ध हुए, होते हैं या होंगे, वह सब सल्लेखना का ही प्रसाद है।

यह मृत्यु बहुत ही उपकारी है। बहुत बड़ा साहूकार है। देखो, आपके रुग्ण, जीर्ण- शीर्ण शरीर को लेकर पहले आपको नूतन वैक्रियिक दिव्य शरीर प्रदान करता है। पुनः क्रम से अशरीरी सिद्ध पद भी दे देता है।

इसलिए सभी को प्रतिदिन यह भावना करनी चाहिए कि–

गुरुमूले यति निचिते चैत्य सिद्धान्त वार्धिसद्घोषे।
मम भवतु जन्म जन्मनि सन्यसन समन्वितं मरणं।

हे भगवन्! गुरु के पादमूल में, जहाँ कि यतियों का समुदाय एकत्रित हो, जिन प्रतिमाएं विराजमान हों, सिद्धांत शास्त्ररूपी समुद्र का उद्घोष हो रहा हो, ऐसे स्थान पर जन्म-जन्म में मेरा समाधि विधि से सहित मरण होवे।

श्री कुंदकुद देव ने भी भक्ति की प्रत्येक अंचलिका में कहा है कि–**''दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुण संपत्ति होऊ मज्झं।''** हे भगवन्! मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधि रत्नत्रय का लाभ हो, सुगति में गमन हो, मेरा समाधिपूर्वक मरण हो और हे भगवन्! आपके गुणों की संपत्ति मुझे प्राप्त होवे।

सदैव ऐसी भावना भाने से निश्चित ही एक न एक दिन अपनी आत्मा का कल्याण होगा। इसी भावना को भाते हुए आप सभी अपने नर तन को सार्थक करें, यही मंगल आशीर्वाद है।

श्रद्धान ही सम्यक्त्व है

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।।

अर्थ–जिस कार्य को चारित्र या अनुष्ठान को करना शक्य है-किया जा सकता है उसे करना चाहिए और जिसको करना शक्य न हो उसका श्रद्धान करना चाहिए क्योंकि श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व होता है ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

(भगवान कुंदकुंद, दर्शनप्राभृत)

प्रवचन–28

राजगृही तीर्थ का महत्त्व

भव्यात्माओं! मगध देश में अत्यन्त प्राचीन राजगृही नगरी है जो युगानुयुग से प्रसिद्ध है। वर्तमान में उस नगरी में विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर के समवसरण के प्रतीक में समवसरण की रचना बनी हुई है जो कि अत्यन्त ऊँचाई पर है, वह पूरा समवसरण तो नहीं अपितु उसी गन्धकुटी का रूप है जिसमें विशाल 4 प्रतिमायें विराजमान हैं। भगवान महावीर का समवसरण विपुलाचल पर्वत पर अनेकों बार आया, इस बात की प्रसिद्धि सम्पूर्ण जैन समाज में है।

मैंने इन दिनों जब से सभी तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमियों के विकास पर प्रकाश डाला तो कितने ही लोगों से मैंने यह प्रश्न किया कि राजगृही कौन से भगवान की जन्मभूमि है ? लेकिन कोई भी उसका उत्तर नहीं दे सका कि भगवान मुनिसुव्रतनाथ की जन्मभूमि भी है। लोग पुराण भी पढ़ते हैं और चौबीसों तीर्थंकरों की पूजा भी करते हैं फिर ऐसा क्यों हुआ ? तीर्थंकरों की जन्मभूमि की जो इतनी उपेक्षा हुई है वर्तमान में वह शोचनीय विषय है। केवल साधुओं, विद्वानों के लिए ही नहीं अपितु श्रेष्ठीवर्गके लिए भी बहुत ही विचारणीय विषय है। राजगृही के बारे में मैं आपको संक्षेप में बाती हूँ–

आज से लगभग 12 लाख वर्ष पूर्व भगवान मुनिसुव्रतनाथ हुए हैं, शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो वर्तमान में वीर निर्वाण संवत् 2533 चल रहा है उस हिसाब से 11 लाख 86 हजार 533 वर्ष पूर्व भगवान मुनिसुव्रतनाथ उसी राजगृही नगरी में वहां के क्षत्रियवर्णी महाराज सुमित्र की महारानी सोमा की पवित्र कुक्षि से जन्मे थे, उनके वंश को पर्यायवाची शब्दों में यदुवश और हरिवंश भी कहते थे।

महानुभावों! जब तीर्थंकर भगवान स्वर्ग से चयकर माता के गर्भ में अवतीर्ण होने को होते हैं तो इन्द्र की आज्ञा से कुबेर छः महीने पूर्व ही माता के आंगन में रत्नों की वर्षा करता है। राजगृही में आज भी पंच पहाड़ियों में दूसरा पहाड़ रत्नागिरि के नाम से प्रसिद्ध है उसे लोग भगवान की जन्मभूमि कहते हैं परन्तु यह निश्चित है कि जन्मभूमि कभी भी पहाड़ पर नहीं होती है, पर्वत पर दीक्षा लेना, केवलज्ञान होना तो माना गया है परन्तु जन्मभूमि तो नगर में, राजधानी में होती है। चूँकि जन्मभूमि राजगृही है अतः मैंने यहां 11 फुट उत्तुंग भगवान मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा विराजमान करने की प्रेरणा दी, मुझे प्रसन्नता है कि वह मंदिर पूर्ण होकर उसमें मुनिसुव्रतनाथ भगवान विराजमान हो चुके हैं।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ का चिन्ह कछुआ है, इनकी आयु 30 हजार वर्ष की थी, वैडूर्यमणि (नीलमणि) के सदृश इनका वर्ण था। उस वर्ण के बारे में सुनकर आज लोक

कह देते हैं कि वह कैसे लगते होंगे ? परन्तु हम और आप तो कल्पना नहीं कर सकते हैं। कहते हैं कि इन्द्र दो नेत्रों से देखकर भी जब तृप्त नहीं हुआ तो हजार नेत्र बना लिये तब भी प्रभु की मनोहारी छवि देखकर तृप्त नहीं हो पाया तो उनकी सुन्दरता का वर्णन तो हम और आप कर ही नहीं सकते ऐसा भगवान का सुन्दर वैडूर्यमणि सदृश नीलवर्ण था। भगवान की ऊँचाई 80 हाथ थी और वह श्रावण कृष्णा दूज को माता के गर्भ में अवतीर्ण हुए। तीर्थंकर भगवान के गर्भ में आने से पूर्व माता सोलह स्वप्न देखती हैं, माता सोमा ने भी सोलह स्वप्न देखे थे। उनका जन्म वैशाख कृष्णा द्वादशी को हुआ, उसी तिथि में मैंने कुण्डलपुर से राजगृही नगरी में स्वयं जाकर भगवान का जन्ममहोत्सव मनाने की प्रेरणा सभी को दी और वहाँ धूमधाम से जन्मोत्सव मनाया गया। मैंने उन्हें यह भी प्रेरणा दी कि आप प्रतिवर्ष भगवान मुनिसुव्रतनाथ का जन्मोत्सव इस तिथि में धूमधाम से मनाएं। उसी दिन संयोग से वहाँ भगवान महावीर ज्योति रथ का प्रवर्तन भी हुआ।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ ने विवाह किया और राज्य भी किया। अनन्तर उनके वैराग्य का निमित्त इस प्रकार मिला कि उनका जो हाथी था उसे जातिस्मरण हो जाने से उसने खाना-पीना छोड़ दिया, जब भगवान के सामने यह बात आई तो उन्होंने उसके पूर्व भवों के बारे में अवधिज्ञान से जान लिया और उस हाथी को सम्बोधित किया, हाथी को भगवान का उपदेश सुनकर बोध हो गया और उसने सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया। यही निमित्त था कि भगवान को वैराग्य हो गया और उन्होंने वैशाख कृष्णा दशमी को चम्पक वृक्ष के नीचे अपनी राजधानी के उद्यान में दीक्षा ले ली। यह नियम है कि तीर्थंकर भगवान अपनी राजधानी के उद्यान में ही जाकर दीक्षा लेते हैं। दीक्षा के पश्चात् राजगृही के राजा ऋषभसेन के द्वारा खीर का प्रथम आहार कराया गया। कालान्तर में भगवान समस्त आर्यखंड में विहार करते हुए राजगृही नगरी में आये और वहीं नील वन में चम्पक वृक्ष के नीचे उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया और वे सम्मेदशिखर से मोक्ष गए हैं।

इन भगवान के श्रीमल्लि नाम के प्रथम गणधर थे तथा अन्य 118 गणधर थे, 30 हजार मुनि थे, गणिनी आर्यिका श्री पुष्पदत्ता थीं जो कि 50 हजार आर्यिकाओं में गणिनी थीं, 1लाख श्रावक, 3लाख श्राविका आदि समवसरण में चतुर्विध संघ था। भगवान के शासन यक्ष वरूण देव और यक्षी बहुरूपिणी देवी थीं। यह तो मैंने भगवान मुनिसुव्रतनाथ के बारे में संक्षेप में बताया और विस्तार से जानकारी आप उत्तरपुराण से प्राप्त कर सकते हैं।

मेरा तो सदैव यही कहना रहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक संकल्प करना चाहिए कि हमें अपने तीर्थंकरों की कौन-कौन सी जन्मभूमियां कहाँ-कहाँ हैं इस बारे में

विस्तार से समझना है, साथ ही सब जन्मभूमियों के दर्शन करने का सौभाग्य भी प्राप्त करें। हमारे भगवन्तों की जन्मभूमियों पर कब क्या हो रहा है, इसकी भी जानकारी रखनी चाहिए जैसे भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर विवादित थी। मैं समझती हूँ कि वह विवाद समाप्तप्राय है, कतिपय लोगों के सिवाय जो प्रबुद्ध लोग हैं, दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रंथों का अध्ययन करने वाले हैं वह कभी वैशाली को जन्मभूमि नहीं मानेंगे, वह भगवान की ननिहाल है, राजा चेटक की राजधानी है। अतः वहां भगवान का जन्मदिन मनाना हास्यास्पद है। महाराजा सिद्धार्थ देवों से भी पूज्य महाराज थे, उनकी राजधानी 12 योजन विस्तृत थी, वर्तमान में जहाँ हम और आप बैठे हैं वह छोटा भले ही दिख रहा हो पर उस समय बहुत ही विस्तृत था। ऐसे ही वर्तमान में कई एक तीर्थंकरों की जन्मभूमि भी उपेक्षित हैं। शीतलनाथ भगवान की जन्मभूमि आज भी विवाद के घेरे में है। कोई यहाँ गया के पास कोलुवा पहाड़ को जन्मभूमि कह रहे हैं, कोई उसी के पास इटखोरी को कह रहे हैं, कोई मध्यप्रदेश के पास विदिशा को जन्मभूमि कह रहे हैं। खैर, लोग उसका भी विवाद दूर करने का प्रयास कर रहे हैं, भगवान मल्लिनाथ और नमिनाथ की जन्मभूमि तो मिथलापुरी है, लोग कहते हैं कि वह नेपाल में है जो भी हो राजगृही तो निर्विवाद बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ भगवान की जन्मभूमि है, फिर लोग क्यों उसे भूल गये आश्चर्य होता है।,

राजगृही का इतिहास बहुत ही सुन्दर है। 2600 वर्ष पूर्व की घटना है, राजा चेटक की एक पुत्री और महारानी त्रिशला की छोटी बहन चेलना, सम्राट् महाराज श्रेणिक की पट्टरानी थीं, राजा श्रेणिक उस समय राजगृही के महाराज थे। भगवान महावीर को जब वैशाख सुदी दशमी को केवलज्ञान प्रकट हुआ तब अर्धनिमिष में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना कर दी,यहीं कहीं ऋजुकूला नदी रही होगी। उसी के तट पर भगवान को केवलज्ञान हुआ था, भगवान समवसरण में विराजमान थे, बारह सभा, सारी रचना, सारा वैभव था, जब भगवान श्रीविहार करते तब समवसरण विघटित हो जाता और–

'चरण कमल तल कमल हैं नभ तें जय जयवान'

भगवान आकाश में अधर ही चलते थे और देवगण उनके चरणों के नीचे दिव्य कमलों की रचना करते जाते थे उसमें दिव्य सुगन्धि निकलती थी, जहाँ भगवान रूक जाते वहीं अर्धनिमिष में समवसरण की रचना तैयार हो जाती थी ऐसे श्रीविहार करते-करते लगभग 66 दिन पश्चात् भगवान राजगृही नगरी पहुंचे ऐसा हरिवंशपुराण में विस्तृत वर्णन है-''षट्षष्टि दिवसान् प्रभू विहरन् ''। उसके बाद अकस्मात् इन्द्र को चिन्तन चला कि भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी सो क्या कारण है ?65 दिन निकल गए, दिव्य अवधिज्ञान से उन्होंने चिन्तन किया और

समझ लिया कि गणधर का अभाव है। उसकी पात्रता किसमें है ? यह चिन्तन करते हुए वहीं ब्राह्मण नगर नामक एक ग्राम था वहां ब्राह्मण के वेश में पहुँचे। वहाँ शांडिल्य नाम के ब्राह्मण की दो पत्नियां थीं स्थण्डिला और केशी, उनके तीन पुत्र थे। पहली के दो पुत्र इन्द्रभूति और वायुभूति तथा दूसरी के अग्निभूति, इनमें इन्द्रभूति बहुत विद्वान थे। 14 प्रकार की विद्याओं के पारंगत, वेद-वेदांगों के ज्ञाता, व्याकरण छन्दादि, वेदशास्त्रों (लौकिक शास्त्रों)के पारगामी, पूर्णरूपेण निष्णात थे। इनकी उपाध्यायशाला में 500-500 विद्यार्थी अध्ययन करते थे, ये तीनों ब्राह्मण गौतम गोत्रीय थे, समस्त आर्यखंड में विख्यात थे, अभिमानी थे। जैनधर्म के नाम से विद्वेष नहीं करते थे अपितु पराङ्मुख थे। ब्राह्मण वेशधारी उस इन्द्र ने वहाँ पहुँचकर एक बहुत ही सुन्दर श्लोक पढ़ा और कहा हे विद्वान् पण्डित! हम आपसे कुछ सीखने आये हैं, चूंकि मेरे गुरू अभी मौन हैं उन्होंने मुझे यह श्लोक पढ़ाया था मगर मैं उसका अर्थ भूल गया हूँ अतः कृपया आप उसका अर्थ बताएं। तब इन्द्रभूति ने कहा कि आप हमें वह श्लोक बताएं। यह सुनकर इन्द्र ने कहा–

धर्मद्वयम् त्रिविधकाय समग्रकर्म, षट्द्रव्य काय सहिताः समयैश्च लेश्याः।
तत्त्वानि संयमगती सहितं पदार्थै-रंगप्रवेदमनिशं वदचास्तिकायम् ।।

अर्थात् दो प्रकार का धर्म क्या है ? तीन प्रकार का काल क्या है ? छह द्रव्य क्या हैं? षट्काय क्या हैं ? समय क्या है ? अस्तिकाय क्या है ? पदार्थ क्या है ? लेश्या क्या है ? तत्त्व क्या है ? संयम क्या है ? गति कितनी हैं? इत्यादि को पूछते हुए वह अंग-पूर्व के बारे में पूछने लगे।

वर्तमान में तो देखा जाता है कि हिन्दू ही नहीं अपितु सभी धर्म के लोग एकूसरे के धर्म ग्रंथों को पढ़कर ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और तब जैनधर्म का भी अच्छा प्रतिपादन कर लेते हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह जैन धर्म को अच्छी तरह से जानते हैं। उस समय ऐसी परम्परा नहीं थी कि दूसरों के ग्रंथों को पढ़ें और उनके बारे में तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करें।

इन्द्रभूति गौतम यह श्लोक सुनकर चिन्तन करने लगे कि कहीं इसे यह न पता लग जाए कि मुझे इसका अर्थ नहीं मालूम है अतः बोले कि ठीक है मैं आपके गुरू के पास चलकर उनसे ही शास्त्रार्थ करूंगा। शास्त्रों में आया है कि इन्द्र ने एक शर्त कराई थी कि अगर आपको हमारे गुरू ने पराजित कर दिया तो आप हमारे गुरू के शिष्य बन जाना और अगर आपने उन्हें जीत लिया तो मैं आपका शिष्य बन जाऊंगा। इन्द्र ने इसलिए ऐसा कहा क्योंकि वह जानते थे कि सर्वज्ञ भगवान विश्व में किसी के द्वारा नहीं जीते जा सकते हैं। जब उनका शासन और उनका स्याद्वादमयी धर्म ही किसी के द्वारा नहीं जीता जा सकता है तो उन्हें कौन जीत सकता है। इन्द्रभूति गौतम उन ब्राह्मणरूपी इन्द्र के साथ अपने-अपने भाइयों और 1500 शिष्यों के साथ पहुँचते हैं। आगे-आगे

इन्द्रभूति थे पीछे उनकी शिष्य मंडली, राजगृही के निकट पहुँचते ही एकदम दूर से मानस्तम्भ देखते हैं और दर्शन से ही उनका मान गलित हो जाता है, परिणामों में शांति आ जाती है और यह महिमा तीर्थंकर के विद्यमान रहने की है। अगर समवसरण में तीर्थंकर भगवान विद्यमान न हों तो यह महिमा नहीं आ पाती है फिर भी आप देखते हैं कि हस्तिनापुर में कैसा भी धर्म का विद्वेषी, कैसा भी निन्दक व्यक्ति पहुँच जाए, जम्बूद्वीप में सुमेरू पर्वत को देखते ही उसका मान गलित हो जाता है, एकदम प्रसन्नमना हो भगवान के दर्शन करने लग जाता है फिर वह तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान थे, उनके समवसरण में मानस्तंभ को देखकर मान गलित होना कोई बड़ी बात नहीं है। गौतम तत्क्षण बोल उठे–

जयति भगवान् हेमाम्भोज प्रचार विजृम्भिता.....

गौतमस्वामी द्वारा रचित यह चैत्यभक्ति हम लोग त्रिकाल सामायिक में पढ़ते हैं। कहते हैं कि ज्यों ही इन्द्रभूति ने चैत्यभक्ति का उच्चारण करते हुए भगवान की प्रसन्नमना होकर स्तुति की, उन्हें सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया और वस्त्राभरण त्यागकर भगवान के चरणों में दीक्षा ले ली, दिगम्बर महामुनि बन गए। उसी समय अन्तर्मुहूर्त में उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया। अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हो गयीं, गणधरपद प्राप्त हो गया। उन्होंने समवसरण में भगवान से हाथ जोड़कर प्रश्न किया, भगवान की दिव्यध्वनि खिर पड़ी, यह आज से 2564 वर्ष पूर्व की बात है। वह महान दिन श्रावण शुक्ला एकम का था जब भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। उस समय 12 सभाओं में असंख्यात प्राणी बैठे थे उन्हें उस धर्ममयी अमृत की वर्षा का पान कर कितनी खुशी हुई थी यह वर्णनातीत है। भगवान की दिव्यध्वनि एक योजन तक सबको सुनाई देती है,यह 718 भाषाओं में परिणत हो जाती है।

षट्खण्डागम नामक ग्रंथ में बताया है कि वह दिव्यध्वनि सर्वभाषामयी है, जितने जीव वहाँ बैठे हैं वह सब अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं ऐसी भगवान की दिव्यध्वनि निरक्षरी होकर भी सब भाषा में खिरती है इसलिए साक्षर है। उसी दिन श्रावण कृष्णा एकम की रात्रि में गणधर देव ने अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांग की रचना कर दी। षट्खण्डागम ग्रंथ मं वर्णन है कि–"बारह अंगाणं, चोद्दसपुव्वाणं च दंसणम् एक्केण चेव मुहुत्तेण रयणा कदा।"

भावश्रुत पर्याय से परिणत होकर वह इन्द्रभूति गौतम गोत्र से पवित्र हो गए। इस प्रकार उस राजगृही नगरी में प्रथम बार भगवान की देशना खिरी, उसका वहाँ स्मारक बनाया गया और मैं समझती हूँ कि भगवान महावीर ने समस्त आर्यखंड में 30 वर्ष तक विहरण किया तो अधिकतर समवसरण राजगृही में विपुलाचल पर्वत पर ही आया होगा। यह मुख्य श्रोता राजा श्रेणिक का पुण्य था, बिहार प्रदेश का पुण्य विशेष था।

राजगृही से और भी अनेकों घटनाएं जुड़ी हैं जैसे एक बार राजा श्रेणिक भगवानके समवसरण में जा रहे थे अकस्मात् एक मेढ़क जो कि कमल पांखुडी लेकर भगवान के समवसरण में दर्शन के लिए जा रहा था राजा के हाथी के पैर के नीचे दबकर मर गया और शुभ भावों से मरकर देव हो गया। वह राजा श्रेणिक से पहले ही समवसरण में पहुँच गया और वहाँ भक्ति में सुन्दर नृत्य करने लगा। राजा श्रेणिक ने समवसरण में पहुँचकर भगवान को नमस्कार कर उस देव के मुकुट में मेढ़क का चिन्ह देखकर प्रश्न किया तब भगवान की दिव्यध्वनि खिरी-भव्यात्मन् ! यह मेढ़क अभी-अभी तुम्हारे हाथी केपैर के नीचे दबकर मरा और दर्शन के भाववश स्वर्ग में देव हुआ और इससे पूर्व का वर्णन यह है कि यह राजगृही नगरी में एक सेठ था, पत्नी के मोह में मरकर मेढ़क हो गया।तो यह संसार की स्थिति है कि गृहस्थाश्रम में रहकर पत्नी आदि परिवार के मोह में मरकर तिर्यंचगति मिल जाती है और भगवान की भक्ति से तिर्यंच को भी देव गतिमिल जाती है, ऐसे अनेकों उदाहरण शास्त्रों में भरे पड़े हैं। वर्तमान में जितना उपलब्ध ज्ञान है, श्रुत है, गुरू ग्रंथ हैं, वह सब राजा श्रेणिक के प्रश्न के अनुसार हैं और बड़े-बड़े महान आचार्यों के द्वारा रचे गए हैं इसलिए भी राजगृही का अपना विशेष महत्त्व है।

वर्तमान में वहाँ का वातावरण इतना पवित्र और सुन्दर है जब हम लोग दर्शन करने पहुँचते तो मन इतना प्रसन्न होता और ऐसा लगता कि भगवान की दिव्यध्वनि के परमाणु वहाँ घूम रहे होंगे। ऐसे तीर्थ तो जैन समाज के लिए धरोहर हैं, महान हैं। उनकी वंदना करने से, उनके दर्शन करने से, उनके नाम मात्र से असंख्य पापों का नाश हो जाता है। राजा श्रेणिक का चरित्र, रानी चेलना का इतिहास उस भूमि से जुड़ा है। भगवान महावीर इस अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर हैं लेकिन आगे की तीर्थंकर परम्परा को उन्होंने चालू कर दिया है। उनके ही पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाले एवं समवसरण के मुख्य श्रोता राजा श्रेणिक अगली आने वाली उत्सर्पिणी में अयोध्या नगरी में प्रथम तीर्थंकर होंगे। अयोध्या चौबीसों तीर्थंकर की शाश्वत जन्मभूमि है। हुण्डावसर्पिणी कालदोषवश इस युग के केवल 5 तीर्थंकर अयोध्या नगरी में जन्में हैं। लेकिन आगे आने वाली उत्सर्पिणी में सभी चौबीस तीर्थंकर अयोध्या में जन्म लेंगे और सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त करेंगे। शाश्वत तीर्थ इस धरती पर दो ही हैं– अयोध्या व सम्मेदशिखर। जिसमें अयोध्या शाश्वत जन्मभूमि तथा सम्मेदशिखर शाश्वत निर्वाण भूमि है। लेकिन वर्तमान में राजगृही, कुण्डलपुर आदि जन्मभूमियां और पावापुरी,चम्पापुरी आदि निर्वाणभूमियां हैं उनकी महिमा कम नहीं है। उनका चिन्तन करें तो हम पाएंगे कि यह जो महान तीर्थ हैं आज इनकी उपेक्षा हो रही है और नये-नये तीर्थ लोग बना रहे हैं। जहाँ कुछ भी नहीं है वहाँ करोड़ों की राशि वाले तीर्थ बनाए जा रहे हैं। मैं कई बार श्रावकों से प्रेरणा व साधुओं से निवेदन करती हूँ कि वह इस बात को सोचें कि हमें

तीर्थ बनाना चाहिए। जगह-जगह तीर्थ बनाना इतना महत्व का नहीं है जितना तीर्थ को तीर्थ बनाने का, तीर्थ के जीर्णोद्धार का पुण्य अधिक है।अगर आप अविकसित तीर्थ को, जीर्ण-शीर्ण तीर्थ को तीर्थ का रूप देंगे, जैसे राजगृही, पावापुरी, कुण्डलपुरी आदि जो तीर्थ हैं इनका जितना विकास करेंगे आपका पुण्य सौ गुणा नहीं, हजार गुणा वृद्धिंगत होगा। इस बात को आपको ध्यान में रखना है कि वर्तमान में राजगृही को सिद्धक्षेत्र भी कहते हैं। मैंने वहाँ का इतिहास जानना चाहा कि कौन-कौन से मुनि वहाँ से मोक्ष गए हैं तो वहां कोई नहीं बता पाया। अभी मैं उत्तरपुराण का स्वाध्याय कर रही थी तो उसमें बड़ा ही सुन्दर प्रकरण आया कि जीवन्धर कुमार भी वहाँ से तपश्चर्या करके मोक्ष गए हैं।

जीवन्धर स्वामी का इतिहास बड़ा प्रसिद्ध है, छत्रचूड़ामणि, गद्यचिन्तामणि, जीवन्धर चम्पू आदि में इसका विस्तृत वर्णन है। सुधर्माचार्यादि अनेक मुनि यहाँ से मोक्ष गए हैं इसलिए उसे सिद्धक्षेत्र भी कहते हैं लेकिन पहले यह जन्मभूमि है पुनः सिद्धक्षेत्र है फिर भगवान की प्रथम देशनाभूमि है। वर्तमान में यहां जैन, हिन्दू, बौद्ध आदि पर्यटक लोग बहुतायत संख्या में आते हैं।

यह तीर्थ जन्मभूमि के नाम से बिहार प्रदेश में ही नहीं, पूरे भारत एवं विश्व में प्रसिद्धि को प्राप्त हो। ऐसे ये पावन तीर्थ हमारे और आपके सभी के मन को पवित्र करें, जीवन को पवित्र करें। इनकी वन्दना करके, भगवान की दिव्यध्वनि रूप ग्रंथों का स्वाध्याय करके आप लोग अपने समीचीन ज्ञान को विकसित करें और अपने जीवन में मोक्षमार्ग को साकार करें यही आप सबके लिए मेरा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है।

दिगम्बर मुनि भगवान हैं

भिक्खं वक्कं हिययं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुद्धिद साहू भणिओ जिणसासणो भयवं।।

जो साधु नित्य ही आहार, वचन और मन का शोधन करके चारित्र का पालन करते हैं, वे सर्वगुण सम्पन्न हैं। जिनशासन में उन्हें भगवान कहा है।

भावार्थ–जो दिगम्बर मुनि आगम के अनुसार 46 दोष और 32 अन्तराय टाल कर निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं, भाषा-समिति के अनुसार हित-मित और प्रिय पथ्य वचन बोलते हैं तथा दुर्ध्यान को, क्रोधादि कषायों को दूर करके मन को सदा धर्मध्यान में लगाते हैं, वे ही साधु भिक्षा, वाक्य और मन की शुद्धि करने वाले हैं। वे मोक्षमार्ग में स्थित हैं, सर्वगुणों से समन्वित हैं। अतः ऐसे वे निर्ग्रंथ साधु ही इस संसार में चलते-फिरते भगवान माने गये हैं। ऐसा जिनागम का कथन है।

(श्री कुंदकुंददेव कृत मूलाचार)

प्रवचन–29

अक्षय तृतीया पर्व की महिमा

भव्यात्माओं! भगवान् ऋषभदेव का जब छह माह का योग पूर्ण हो गया तब वे यतियों-मुनियों की आहार विधि बतलाने के उद्देश्य से शरीर की स्थिति के लिये निर्दोष आहार हेतु निकल पड़े। महामेरू भगवान् ऋषभदेव ईर्यापथ से गमन कर रहे हैं, अनेकों ग्राम नगर शहर आदि में पहुँच रहे हैं। उन्हें देखकर मुनियों की चर्या को न जानने वाली प्रजा बड़े उमंग से साथ सन्मुख आकर उन्हें प्रणाम करती है। उनमें से कितने ही लोग कहने लगते हैं कि हे देव! प्रसन्न होइये और कहिये क्या काम है ? हम सब आपके किंकर हैं, कितने ही भगवान के पीछे-पीछे हो लेते हैं। अन्य कितने ही लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवान् के सामने रख देते हैं और कहते हैं कि हे नाथ! प्रसन्न होइये, तुच्छभेंट स्वीकार कीजिये, कितने ही सुन्दरी और तरूणी कन्याओं को सामने करके कहते हैं प्रभो! आप इन्हें स्वीकार कीजिये, कितने ही लोग वस्त्र, भोजन, माला आदि अलंकार लेकर उपस्थित हो जाते हैं, कितने ही लोग प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! आप आसन परविराजिये, भोजन कीजिये इत्यादि इन सभी निमित्तों से प्रभु की चर्या में क्षण भर के लिए विघ्न पड़ जाता है पुनः वे आगे बढ़ जाते हैं। इस प्रकार से जगत को आश्चर्य में डालने वालीगूढ़ चर्या से विहार करते हुए भगवान के छह माह व्यतीत हो जाते हैं।

एक दिन रात्रि के पिछले भाग में हस्तिनापुर के युवराज श्रेयांस कुमार सात स्वप्न देखते हैं। प्रसन्नचित्त होते हुए प्रातः राजा सोमप्रभ के पास पहुंचकर निवेदन करते हैं कि हे भाई! आज मैंने उत्तम-उत्तम सात स्वप्न देखे हैं सो आप सुनें–

प्रथम ही सुवर्णमय सुमेरू पर्वत देखा है, दूसरे स्वप्न में जिनकी शाखाओं पर आभूषण लटक रहे हैं ऐसा कल्पवृक्ष देखा है, तृतीय स्वप्न में ग्रीवा को उत्पन्न करता हुआ सिंह देखा है, चतुर्थ स्वप्न में अपने सींग से किनारे को उखाड़ता हुआ बैल देखा है, पंचम स्वप्न में सूर्य और चंद्रमा देखे हैं, छठे स्वप्न में लहरों से लहराता हुआ और रत्नों से शोभायमान समुद्र देखा है और सातवें स्वप्न में अष्ट मंगल द्रव्य को हाथ में लेकर खड़ी हुई ऐसी व्यंतर देवों की मूर्तियां देखी हैं । सो इनका फल जानने की मुझे अतिशय उत्कंठा हो रही है।

भाई के स्वप्नों को सुनते हुए राजा सोमप्रभ कुछ अकल्पित ही श्रेष्ठ फलों की कल्पना करते हुए पुरोहित की तरफ देखते हैं कि पुरोहित निवेदन करता है–

'हे राजकुमार! स्वप्न में मेरू पर्वत के देखने से यह स्पष्ट ही प्रकट हो रहा है कि जिसका मेरू पर्वत पर अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव आज अवश्य ही अपने घर आयेगा और ये अन्य स्वप्न भी उन्हीं के गुणों की उन्नति को सूचित कर रहे हैं। आज

उन भगवान के प्रति की गई विनय के द्वारा हम लोग अतिशय पुण्य को प्राप्त करेंगे। आज हम लोग जगत में बड़ी भारी प्रशंसा, प्रसिद्धि और संपदा के लाभ को प्राप्त करेंगे इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं है और कुमार श्रेयांस तो स्वयं ही इन स्वप्नों के रहस्य को जानने वाले हैं।

इस तरह से पुरोहित के वचनों से प्रसन्न हुए दोनों भाई स्वप्न की और भगवान की कथा करते हुए बैठे ही थे कि इतने में योगिराज भगवान ऋषभदेव ने हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया।

उस समय भगवान के दर्शनों की इच्छा से चारों तरफ अतीव भीड़ इकट्ठी हो गई। कोई कहने लगे– देखो-देखो, आदिकर्ता भगवान् ऋषभदेव हम लोगों का पालन करने के लिए यहां आए हैं, चलो जल्दी चलकर उनके दर्शन करें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें। कोई कह रहे थे कि संसार का कोई एक पितामह है ऐसा हम लोग मात्र कानों से सुनते थे सो आज प्रत्यक्ष में उनके दर्शन हो रहे हैं। अहो! इन भगवान के दर्शन करने से नेत्र सफल हो जाते हैं, इनका नाम सुनने से कान सफल हो जाते हैं और इनका स्मरण करने से अज्ञानी जीवों के भी अन्तःकरण पवित्र हो जाते हैं। कोई कहने लगे ओहो! ये भगवान् तीन लोक के स्वामी होकर भी सब कुछ छोड़कर इस तरह अकेले ही क्यों विहार कर रहे हैं ?

कोई स्त्री बच्चे को दूध पिलाते हुए भी अपने से अलग कर धाय की गोद में छोड़कर भगवान के दर्शन के लिए दौड़ पड़ी, कोई स्त्री कहने लगी सखी! भोजन करना बन्द कर, जल्दी उठ और यह अर्घ्य हाथ में ले, अपन चलकर जगतगुरु भगवान की पूजा करेंगे। इत्यादि कोलाहल के बीच से निकलते हुए भगवान मनुष्यों से भरे हुए नगर को सूने वन के समान जानते हुए निराकुल छोड़कर वाँद्रीचर्या का आश्रय लेकर विहार कर रहे हैं। इसी बीच सिद्धार्थ नाम का द्वारपाल आकर गदगद् वाणी से बोलता है–

'महाराज! तीन जगत् के गुरू भगवान् ऋषभदेव स्वयं ही अकेले इधर आ रहे हैं।' इतना सुनते ही राजा सोमप्रभ और राजकुमार श्रेयांस दोनों ही भाई अन्तःपुर सेनापति और मंत्रियों के साथ तत्क्षण ही उठ पड़े और राजमहल के आंगन तक बाहर आ गए। दोनों भाइयों ने दूर से ही भगवान को नमस्कार किया। उनके चरणों में अर्घ्य सहित जल समर्पित किया। भगवान के मुख कमल को देखते ही कुमार श्रेयांस को अपने कई भवों का जातिस्मरण हो आया, उनको रोमांच हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो मेरे घर में तीन लोक की सम्पदा ही आ गई है– उन्हें आहार देने की सारी विधि याद आ गई। शीघ्र ही पड़गाहन विधि को करते हुए भगवान की तीन प्रदक्षिणायें दीं। अन्दर ले गये, उन्हें उच्च आसन पर बैठने के लिए निवेदन किया–

'भगवान! उच्च आसन पर विराजमान होइये।' पुनः प्रभु के चरणों का प्रक्षालन

करके मस्तक पर गंधोदक चढ़ाकर अपना जीवन धन्य माना और अष्ट द्रव्य से पूजा की। पुनः पुनः प्रणाम करके मन, वचन, काय की शुद्धि का निवेदन किया, पुनः आहार जल की शुद्धि का निवेदन करके भक्ति से हाथ जोड़कर बोले–,

'नाथ! यह प्रासुक इक्षुरस है इसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिए।' भगवान् ने उस समय खड़े होकर अपने दोनों हाथों की अंजुली बनाई और उसमें आहार लेना शुरू किया।

राजकुमार श्रेयांस भगवान के हाथ की अंजुली में इक्षुरस दे रहे हैं। राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमती भी प्रभु के कर पात्र में इक्षुरस देते हुए अपने आप को धन्यसमझ रहे हैं। इसी बीच गगनांगण में देवों का समूह एकत्रित हो गया और रत्नों की वर्षाकरने लगा, मंदार पुष्पों को बरसाने लगा, मंदसुगंध पवन चलने लगी, दुंदभि बाजे-बजने लगे और 'अहोदान, महादान', आदि ध्वनि से आकाश मंडल शब्दायमान हो गया।

इस समय दोनों भाइयों ने अपने आपको बहुत ही कृतकृत्य माना क्योंकि कृतकृत्य हुए भगवान् ऋषभदेव स्वयं ही उनके घर को पवित्र करने वाले हैं। उस समय दान की अनुमोदना करने वाले बहुत से लोगों ने भी परम पुण्य को प्राप्त किया था। भगवान् ऋषभदेव आहार ग्रहण कर वन की ओर प्रस्थान कर गये। राजा सोमप्रभ और श्रेयांस भी कुछ दूर तक भगवान् के पीछे-पीछे गये पुनः भगवान् को हृदय में धारण किये हुए ही वापस लौटते समय उन्हीं के गुणों की चर्चा करते हुए और प्रभु के पद से चिन्हित पृथ्वी को भी नमस्कार करते हुए आ गये। उस समय पूरे हस्तिनापुर में एक ही चर्चा थी कि राजकुमार श्रेयांस को प्रभु को आहार देने की विधि कैसे मालूम हुई। यह आश्चर्यमयी दृश्य देवों के हृदय को भी आश्चर्यचकित कर रहा था। देवों ने भी मिलकर राजा श्रेयांस की बड़े आदर से पूजा की। भरत महाराज भी वहाँ आ गये और आदर सहित राजकुमार श्रेयांस से बोले–

'हे महादानपते! कहो तो सही तुमने भगवान के अभिप्राय को कैसे जाना ? हे कुरुराज! आज तुम हमारे लिए भगवान के समान ही पूज्य हुए हो, तुम दानतीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले हो और महापुण्यवान हो, इसलिये मैं तुमसे यह सब पूछ रहा हूँ कि जो सत्य हो वह अब मुझसे कहो।'

इस प्रकार सम्राट के पूछने पर श्रेयांस कुमार बोलते हैं–

राजन्! जिस प्रकार प्यासा मनुष्य सुगंधित स्वच्छ शीतल जल के सरोवर को देखकर प्रसन्न हो उठता है वैसे ही भगवान् के अतिशय रूप को देखकर मेरी प्रसन्नता का पार नहीं रहा कि मुझे उसी निमित्त से जातिस्मरण हो आया जिससे मैंने भगवान् का अभिप्राय जान लिया।'

'वह क्या ? मुझे भी सुनाओ।'

'महाराज! आज से आठवें भव पूर्व विदेह क्षेत्र की पुंडरीकिणी नगरी के राजा

वज्रजंघ और रानी श्रीमती ने बड़े ही प्रेम से वन में चारण ऋद्धिधारी युगल मुनियों को आहार दान दिया था। उस समय राजा के मंत्री, सेनापति, पुरोहित और सेठ भी आहार दान की अनुमोदना कर रहे थे और पास में कुछ ही दूर से देखते हुए नेवला, वानर, व्याघ्र और सूकर ये चार पशु भी आहार देखकर प्रसन्नमन होते हुए उसकी अनुमोदना कर रहे थे। आहार होने के अनंतर कंचुकी ने कहा–

राजन् ! ये दोनों ही मुनि आपके ही युगलिया पुत्र हैं। महाराज वज्रजंघ को अतीव हर्ष हुआ। वे उनके चरणों के निकट बैठकर अपनी रानी श्रीमती के, अपने मंत्री आदि चारों के तथा नेवला आदि चारों के भी पूर्व भव पूछने लगे। मुनिराज ने भी अपने दिव्य अवधिज्ञान के द्वारा क्रम-क्रम से सभी के पूर्व भव सुना दिये; अनंतर बतलाया कि–

आप इस भव से आठवें भव में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी में राजा नाभिराय की महारानी मरूदेवी की कुक्षि से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के रूप मेंअवतार लेंगे। आपकी रानी श्रीमती का जीव हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ का भाई श्रेयांसकुमार होगा।

आपके ये मंत्री आदि आठों जीव भी अब से लेकर आठ भव तक आपके साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए आपके तीर्थंकर के भव में आपके ही पुत्र होवेंगे और उसी भव से मोक्ष की प्राप्ति करेंगे।

हे चक्रवर्तिन्! आप उस समय राजा वज्रजंघ के मतिवर नाम के महामंत्री थे, सो इस भव में भगवान् के ही पुत्र होकर चक्रवर्ती हुए हो। उस समय के राजा वज्रजंघ के जो आनंद नाम के पुरोहित थे; उन्हीं का ही जीव आज आपके भाई बाहुबली हुए हैं जो कि कामदेव हैं। अकंपन सेनापति का जीव ही आपका भाई ऋषभसेन हुआ है जो कि आज पुरिमतालपुर नगर का अधीश्वर है, धनमित्र सेठ का जीव आपका अनंतविजय नाम का भाई है। दान की अनुमोदना से ही उन्नति करने वाले व्याघ्र का जीव आपका अनंतवीर्य नाम का भाई है, शूकर का जीव अच्युत नाम का भाई है, वानर का जीव वीर नाम का भाई है और नेवला का जीव वरवीर नाम का भाई है अर्थात् राजा वज्रजंघ के आहार दान के समय जो मतिवर मंत्री आदि चार लोग दान की अनुमोदना कर रहे थे और जो व्याघ्र आदि चारों जीव अनुमोदना कर रहे थे वे दान की अनुमोदना के पुण्य से ही क्रम -क्रम से मनुष्य के और देवों के सुखों का अनुभव करके अब इस भव में तीर्थंकर के पुत्र होकर महापुरूष के रूप में अवतीर्ण हुए हैं और सब इसी भव से प्रभु के तीर्थ से ही मोक्षधाम को प्राप्त करेंगे। मैं भी भगवान का गणधर होकर अंत में मोक्षधाम को प्राप्त करूंगा।

सम्राट भरत! यह दान की महिमा अचिन्त्य है, अद्भुत है और अवर्णनीय है। देव भी इसकी महिमा को नहीं कह सकते हैं पुनः साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है? राजन! जो दाता, दान, देय और पात्र इनके लक्षणों को समझकर सत्पात्र में दान देता

है वह निश्चित ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। देखो! इस आहारदान के बिना मोक्षमार्ग चल नहीं सकता है; अतः आहार, औषधि, शास्त्र और अभय इन चारों दानों में भी आहारदान ही सर्वश्रेष्ठ है और वही शेष दानों की भी पूर्ति कर सकता है।'

इस प्रकार से विस्तृत भवावली और अपना या भगवान ऋषभदेव का व राजकुमार श्रेयांस के कई भवों तक पारस्परिक सम्बन्ध सुनकर भरत चक्रवर्ती अत्यधिक प्रसन्न हुए और बोले–

'कुरूवंशशिरोमणे! भगवान् ऋषभदेव जैसा ना तो कोई उत्तम सत्पात्र होगा और न आप जैसा महान दातार होगा, न आप जैसी नवधा भक्ति की विधि ही होगी, न आपके जैसा उत्तम फल को प्राप्त करने का अधिकारी ही हर कोई बन सकेगा। आप इस युग में 'दानतीर्थ के प्रथम प्रर्वतक' कहलाओगे। युग-युग तक आपकी अमर कीर्ति यह भारत वसुन्धरा गाती ही रहेगी।' 'इत्यादि प्रकार से राजकुमार श्रेयांस का सत्कार करके राजा भरत अयोध्या नगरी की तरफ प्रस्थान कर गये।

जिस दिन भगवान का आहार हुआ था उस दिन वैशाख सुदी तृतीया थी। अतः उस दान के प्रभाव से ही वह 'अक्षय तृतीया' इस नाम से आज तक इस भारत भूमि में प्रचलित है क्योंकि जहां पर भगवान का आहर होता है वहां पर उस दिन भोजनशाला में सभी वस्तु 'अक्षय' हो जाती है अतः इसका यह नाम सार्थक हो गया है तथा वह दिन इतना पवित्र हो गया कि आज तक भी बिना मुहूर्त देखे शोधे भी बड़े से बड़े मांगलिक कार्य इस अक्षय तृतीया के दिन प्रारम्भ कर दिये जाते हैं। सभी सम्प्रदाय के लोग भी इस दिन को सर्वोत्तम मुहूर्त मानते हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। यह है आहार दान का माहात्म्य जो कि सभी की श्रद्धा करने योग्य है।

दिगम्बर मुनि और आर्यिकाएं ही करपात्र में आहार लेते हैं

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्ख मग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।।10।।

अर्थ–तीर्थंकर परमदेव ने नग्न मुद्रा के धारी निर्ग्रंथ मुनि को ही पाणिपात्र में आहार लेने का उपदेश दिया है। यह एक निर्ग्रंथ मुद्रा ही मोक्षमार्ग है, इसके सिवाय सब अमार्ग हैं-मोक्ष के मार्ग नहीं है।

लिंगं इच्छीणं हवदि भुंजइ पिडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेई।।22।।

अर्थ–एक लिंग स्त्रियों का होता है, इस लिंग–आर्यिका वेष को धारण करने वाली स्त्री दिन में एक ही बार करपात्र से आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका एक वस्त्र–साड़ी धारण करती है और वस्त्रावरण सहित ही आहार ग्रहण करती है।

–भगवान कुंदकुंद देव, सूत्र पाहुड़

प्रवचन–30

अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में आर्यखण्ड है। इस आर्यखण्ड में ''विदेह'' नाम से एक प्रसिद्ध देश माना गया है। कभी यह देश खेट, खर्वट, मटंब, पुटभेदन, द्रोणामुख, आकर-सुवर्ण, चाँदी आदि की खान, खेत, ग्राम और घोषों से विभूषित था। जैसा कि हरिवंशपुराण में बताया है कि–

सखेटखर्वटाटोपिमटंबपुटभेदनैः।
द्रोणामुखाकरक्षेत्रग्रामघोषैर्विभूषितः।। 3।।

जो देश नगर, नदी और पर्वत से घिरा हो वह ''खेट'' है। जो केवल पर्वतों से घिरा हो वह ''खर्वट'' है। जो पाँच सौ गाँवों से घिरा हो वह ''मटम्ब'' है। जो समुद्र के किनारे हो तथा जहाँ पर लोग नाव से उतरते हों वह ''पत्तन'' या ''पुटभेदन'' कहलाता है। जो नदी के किनारे बसा हो उसे ''द्रोणामुख'' कहते हैं। जहाँ सोना, चाँदी आदि निकलते हैं उसे ''खान'' कहते हैं। अन्न उसन्न होने की भूमि क्षेत्र-''खेत'' है। जिसमें बाढ़ से घिरे हुए घर हों, जिसमें अधिकतर किसान लोग निवास करते हों, जो बाग-बगीचा और मकानों से सहित हो उन्हें ''ग्राम'' कहते हैं और जहाँ अहीर लोग रहते हों उसे ''घोष'' कहते हैं। ये सब शास्त्रीय प्राचीन परिभाषाएँ हैं। इन सभी से सहित वह ''विदेह'' देश था।

इस देश की राजधानी कुण्डपुर या कुण्डलपुर प्रसिद्ध थी। यह परकोटा एवं खाई आदि से विभूषित बहुत ही वैभवपूर्ण नगरी थी। इसका वर्णन बहुत ही सुन्दर किया गया है। आचार्य ने कहा है कि–

एतावतैव पर्याप्तं, पुरस्य गुणवर्णनम्।
स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम्।। 12।।

इस नगर के गुणों का वर्णन तो इतने से ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्ग से अवतार लेते समय भगवान महावीर का आधार हुआ था अर्थात् साक्षात् महावीर स्वामी जहाँ अवतीर्ण हुए थे।

यहाँ के राजा ''सर्वार्थ'' महाराज थे और उनकी महारानी का नाम ''श्रीमती'' था। इनके पुत्र का नाम ''सिद्धार्थ'' था। इनकी रानी महाराजा चेटक की पुत्री ''प्रियकारिणी'' थीं जिनका दूसरा नाम ''त्रिशला'' था। जो राजा सिद्धार्थ वर्तमान में भगवान वर्द्धमान के पितृपद को प्राप्त हुए थे भला उनके उत्कृष्ट गुणों का वर्णन कौन कर सकता है? तथा अपने पुण्य से तीर्थंकर महावीर को जन्म देने वाली उन त्रिशला के गुणों का वर्णन भी

कोई मनुष्य नहीं कर सकता है। राजा सिद्धार्थ के माता-पिता का नाम हरिवंशपुराण में वर्णित है।

सर्वार्थश्रीमतीजन्मा तस्मिन् सर्वार्थदर्शनः।
सिद्धार्थोभवदर्काभो भूपः सिद्धार्थपौरुषः।। 3।।

महावीर प्रभु का जन्म कुण्डलपुर में हुआ ऐसा वर्णन तिलोयपण्णत्ति एवं षट्खण्डागम पु. 9 में भी आया है। यथा-

सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं, णयरम्मि कुंडले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।। 549।।

अब भगवान महावीर के नाना के कुल का संक्षिप्त वर्णन भी आपको बताती हूँ। उत्तरपुराण में वर्णन आया है कि–

सिंध्वाख्ये विषये भूभृद्वैशाली नगरेभवत्।
चेटकाख्योतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः।। 3।।

सिंधुदेश के वैशालीनगर में चेटक नाम के प्रसिद्ध राजा थे इनकी रानी का नाम भद्रा-सुभद्रा था। इनके दश पुत्र थे जिनके नाम धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, शिवदत्त, हरिदत्त, कम्बोज, कम्पन, प्रयंग, प्रभंजन और प्रभास थे, ये दशों पुत्र दशधर्मों के समान निर्मल गुणों से विभूषित थे। इन्हीं राजा चेटक की महारानी ने सात ऋद्धियों के समान ही सात पुत्रियों को जन्म दिया था जो क्रमशः प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चन्दना इन नाम को धारण करने वाली थीं।

विदेहदेश की कुण्डपुरी-कुण्डलपुरी नगरी में ''नाथवंश'' के राजा सिद्धार्थ के साथ राजा चेटक ने अपनी बड़ी पुत्री प्रियकारिणी- ''त्रिशला'' का विवाह किया था। वत्सदेश में कौशाम्बी नगरी के चंद्रवंशी राजा शतानीक के साथ दूसरी पुत्री मृगावती का विवाह हुआ था। दशार्ण देश के हेरकच्छनगर में सूर्यवंशी राजा दशरथ राज्य करते थे, राजा चेटक की तृतीया पुत्री सुप्रभा इन दशरथ की पट्टरानी हुई थीं। कच्छदेश के "रोरुकनगर'' में राजा उदयन राज्य करते थे, चतुर्थी पुत्री प्रभावती का राजा चेटक ने इनके साथ विवाह किया। पाँचवीं पुत्री चेलनी राजगृही के राजा श्रेणिक की पट्टरानी हुई थीं तथा ज्येष्ठा और चंदना कुमारिका ने आर्यिका दीक्षा से अपना जीवन विभूषित किया था।

यही प्रकरण ''वीरजिणिंदचरिउ'' पुस्तक में भी आया है कि–

जम्बूद्वीप के विदेहप्रदेश में कुण्डपुर-कुण्डलपुर में राजा सिद्धार्थ की महारानी प्रियकारिणी से भगवान महावीर जन्में हैं।

इसी ग्रन्थ में राजा चेटक की राजधानी वैशाली का वर्णन आया है इसे सिंधुदेश में माना है। इन राजा के दश पुत्र और प्रियकारिणी आदि सात पुत्रियाँ थीं। जिनमें से बड़ी पुत्री प्रियकारिणी को कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ की महारानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

गर्भावतरण—भगवान महावीर होने वाले महापुरुष सोलहवें स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में थे। जब उनकी आयु मात्र छह महिने की शेष रही तब सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने विदेहदेश की राजधानी कुण्डलपुरी में राजा सिद्धार्थ के आँगन में रत्नों की वृष्टि करना शुरु कर दी। ये रत्न प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ बरसते थे।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना है कि राजा सिद्धार्थ वैशाली के राजा नहीं थे और न ही वे वैशाली के अन्तर्गत छोटे से कुण्डग्राम के छोटे-मोटे राजा थे किन्तु वे तत्कालीन वैशाली के राजा चेटक, जो कि उनके श्वसुर थे उनके समकक्ष तथा इन्द्रों से भी पूज्य महान राजा थे। जैसा कि उत्तरपुराण में लिखा है -

तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।
भरतेस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे।। 251।।
राज्ञः कुंडपुरेशस्य, वसुधाराप तत्पृथु।
सप्तकोटीमणीः सार्द्धाः, सिद्धार्थस्य दिनं प्रति।। 252।।

इन राजा के महल का नाम ''नंद्यावर्त'' था। यह सात खन का बहुत ही सुन्दर था। एक दिन महारानी त्रिशला अपने ''नंद्यावर्त'' महल में रत्ननिर्मित सुंदर पलंग पर सोई हुई थीं, रात्रि में रत्नों के दीपों का प्रकाश फैला हुआ था। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन पिछली रात्रि में रानी ने सोलह स्वप्न देखे। प्रातः पतिदेव से उनका फल पूछने पर ''आप तीर्थकर पुत्र को जन्म देंगी'' ऐसा सुनकर प्रसन्नता को प्राप्त हुईं। तभी इन्द्रादि देवगण ने आकर ''गर्भकल्याणक'' उत्सव मनाया।

जन्मकल्याणक—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को माता त्रिशला ने पुत्र रत्न को जन्म दिया तब इन्द्रों ने असंख्य देवपरिवारों के साथ आकर बालक को ऐरावत हाथी पर बिठाकर सुमेरुपर्वत पर ले जाकर वहाँ स्वर्णमयी कुंभों से क्षीरसागर के जल से भरे ऐसे 1008 कलशों से प्रभु का जन्माभिषेक किया था। अनंतर आभूषण आदि से जिनबालक को विभूषित कर ''वीर'' और ''वर्द्धमान'' ऐसे दो नाम प्रसिद्ध किए थे।

एक बार ''संजय'' और ''विजय'' नाम के दो चारणऋद्धिधारी महामुनियों को किसी पदार्थ में संदेह उत्पन्न हो गया तब जन्म के बाद ही जिनशिशु के समीप आए। भगवान के दर्शनमात्र से उनका संदेह दूर हो गया। तब उन महासाधुओं ने ''सन्मति'' इस नाम से शिशु को संबोधित किया था। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर उन भगवान के आयु, समय और इच्छा के अनुसार स्वर्ग से सारभूत भोग-उपभोग की वस्तुएँ लाते थे।

किसी एक दिन स्वर्ग में प्रभु की शूरवीरता की चर्चा चल रही थी। उसे सुनकर ''संगम'' देव ने उनकी परीक्षा करने की भावना की। उस समय वर्द्धमान कुमार उद्यान में अनेक राजकुमारों के साथ वृक्ष पर चढ़ने-उतरने का खेल खेल रहे थे। तभी संगम देव महासर्प का रूप धारणकर वृक्ष में नीचे से ऊपर तक लिपट गया। सभी बालक डर

से वृक्ष से कूदकर भागने लगे किंतु जिनवीर ने सर्प के मस्तक पर पैर रखकर ऐसी क्रीडा की कि जैसे माता के पलंग पर खेल रहे हों। तब संगमदेव ने अपना रूप प्रगटकर प्रभु की नाना स्तुति करके ''महावीर'' यह नाम रखा।

दीक्षाकल्याणक—जब भगवान तीस वर्ष के हो गए तब उन्हें एक दिन जातिस्मरण होने से आत्मज्ञान प्रगट हो गया। प्रभु के विरक्त होते ही लौकांतिक देव आ गए उन्होंने प्रभु के वैराग्य की प्रशंसा करते हुए खूब स्तुति की। अनंतर देवों ने चन्द्रप्रभा पालकी पर प्रभु को बिठाया। प्रभु ने षंड नाम के वन में रत्ननिर्मित शिला पर बैठकर उत्तरदिशा में मुख करके तेला का नियम लेकर सम्पूर्ण वस्त्राभरणों का त्याग कर दिया एवं केशलोंच करके जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। यह दिन मगसिर कृष्णा दशमी का था। जन्म से प्रभु मति, श्रुत एवं अवधि इन तीन ज्ञान के धारी थे अब चार ज्ञान के धारी हो गए। प्रभु ने ''साल'' वृक्ष के नीचे दीक्षा ली है ऐसा वर्णन प्रतिष्ठातिलक ग्रन्थ में आया है। उसमें ऐसा बताया है कि चौबीसों तीर्थंकरों के दीक्षावृक्ष और केवलज्ञानवृक्ष वही-वही हैं।

वट, सप्तच्छद आदि वृक्षों में अन्तिम तीर्थंकर के दीक्षावृक्ष का ''साल'' यह नाम है। उसमें कहा है -

सालश्चैते जिनेन्द्राणां, दीक्षावृक्षां प्रकीर्तिताः।
एत एव बुधैर्ज्ञेयाः केवलोत्पत्तिशाखिनः।।4।।

जब भगवान श्री महावीर महामुनि के वेष में आहार के लिए निकले तो प्रथम आहार का लाभ ''कूलग्राम'' के राजा ''कूल'' को प्राप्त हुआ। इनका नाम हरिवंशपुराण में ''वकुल'' आया है। इन्होंने प्रभु को खीर का आहार दिया और देवों ने उसी क्षण पंचाश्चर्यवृष्टि की। इन पंचाश्चर्यों में रत्नों का प्रमाण साढ़े बारह करोड़ बताया है।

तिलोयपण्णत्ति में ''नाथवन'' में दीक्षा लेने का कथन है। उसमें लिखा है—

मगसिरवहुलदसमी-अवरण्हे उत्तरासु णाधवणे।
तदियखवणम्मि गहिदं महव्वदं वड्ढमाणेण।। 667।।

वर्द्धमान स्वामी ने मगसिर कृष्णा दशमी को अपराण्ह काल में उत्तरा नक्षत्र के रहते ''नाथवन'' में तृतीय भक्त के साथ अर्थात् बेला का नियम लेकर महाव्रतों को ग्रहण किया था।

तपश्चर्या करते हुए भगवान एक बार उज्जयिनी महानगर के बाहर ''अतिमुक्तक'' नाम के श्मसान में प्रतिमायोग से ध्यान में लीन हो गए। उन्हें देखकर ''स्थाणु'' नामक रूद्र ने उनके धैर्य की परीक्षा करने के लिए उनके ऊपर उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। विद्या से वहाँ अंधेरा करके अनेक बेतालों-भूतों को नचाना शुरू कर दिया। तदनंतर सर्प, हाथी, सिंह, अग्नि और वायु आदि के साथ भीलों की सेना बना दी। इत्यादि

प्रकार से उस रूद्र ने अपनी विद्या के प्रभाव से ध्यानस्थ महावीर के ऊपर भयंकर उपसर्ग किया परन्तु भगवान अचल हुए ध्यान में लीन थे तब उनके ध्यान के प्रभाव से प्रभावित हो रूद्र ने प्रभु का नाम ''महति महावीर'' रखकर अपनी भार्या के साथ अनेक प्रकार से स्तुति करके भावविभोर हो नृत्य किया।

कुछ समय बाद प्रभु महावीर आहार के लिए विचरण करते हुए कौशाम्बी नाम की महानगरी में आए। वहाँ वृषभदत्त सेठ के यहाँ चन्दनबाला को उसकी पत्नी सुभद्रा ने दुष्ट अभिप्राय से सांकलों से बाँधकर सिर मुंडाकर रखा था और खाने को मिट्टी के सकोरे में कांजी से मिला हुआ पुराने कोदों का भात दिया करती थी।

महामुनि महावीर को आहार हेतु आते देख भक्ति से चन्दनबाला आगे बढ़ी। उसी क्षण प्रभु की भक्ति एवं उसके शील के प्रभाव से चंदना की बेड़ियां टूट गईं, उसके शिर पर केश आ गए और शरीर के वस्त्राभरण सुंदर हो गए उसके पास रखा मिट्टी का सकोरा स्वर्णमयी हो गया और कोदों का भात सुंदर शालिधान्य की खीर बन गया। चन्दनबाला ने भक्ति से प्रभु का पड़गाहन करके नवधाभक्ति से खीर का आहार दिया। तत्क्षण ही देवों द्वारा पंचाश्चर्यवृष्टि होने लगी। दुंदुभि बाजों की ध्वनि सुनकर राजा शतानीक-रानी मृगावती जो कि चंदना की बहन थीं वे सब वहाँ आ गए। तब घबड़ाकर सेठ-सेठानी ने चंदनबाला से क्षमायाचना की। तभी से कौशाम्बी नगरी जो कि छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ की जन्मभूमि थी वह अत्यधिक महिमा को प्राप्त हो गई है।

इस प्रकार प्रभु को तपश्चर्या करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गए।

केवलज्ञान कल्याणक—एक बात यह विशेष ज्ञातव्य है कि तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेते ही मौन ग्रहण कर लेते हैं और केवलज्ञान प्रगट होने तक उनकी वाणी नहीं खिरती है।

भगवान महावीर एक बार ''जृंभिकाग्राम'' के निकट ''ऋजुकूला'' नदी के किनारे ''मनोहर'' नामक वन में रत्ननिर्मित एक शिलापट्ट पर प्रतिमायोग से विराजमान हो गए। ध्यान में लीन प्रभु ने ''वैशाख शुक्ला दशमी''के दिन घातिकर्म को नष्टकर केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। तत्क्षण ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने आकर आकाश में अधर समवसरण की रचना कर दी। समवसरण में बारह सभा बनी हुई थी किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी।

विपुलाचल पर प्रथम देशना—एक बार इंद्र ने विचार किया कि गणधर के अभाव में प्रभु की दिव्यध्वनि नहीं खिरी है। तब युक्ति से ''इंद्रभूति'' नामक गौतम गोत्रीय ब्राह्मण को वहाँ उपस्थित किया। इंद्रभूति ने आकर प्रभु से जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करके मनःपर्ययज्ञान के साथ-साथ अनेक ऋद्धियों को प्राप्तकर प्रथम गणधर का पद प्राप्त कर लिया। श्रावण कृ. एकम के दिन भगवान की दिव्यध्वनि खिरी,

असंख्य भव्यों ने प्रभु का उपदेश श्रवण करके अपने जीवन को सफल किया। इन इंद्रभूति का नाम गोत्र के नाम से ''गौतमस्वामी'' प्रसिद्ध हो गया। चन्दना ने भी आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रमुख ''गणिनी पद'' प्राप्त कर लिया। राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर भगवान की प्रथम बार दिव्यध्वनि खिरी थी अतः वह पर्वत भी तीर्थ बन गया है। राजगृही के राजा श्रेणिक प्रभु के समवसरण में ''मुख्य श्रोता'' कहलाए हैं।

मोक्षकल्याणक—भगवान ने तीस वर्ष तक पूरे आर्यखंड में श्रीविहार करके समवसरण में स्थित हो दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश दिया पुनः पावापुरी में सरोवर के मध्य से आकाश में अधर ही सर्व अघातिया कर्मों को नष्ट करके कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रभात समय निर्वाण पद को प्राप्त हो गए। तभी इन्द्रों ने असंख्य देवों के साथ आकर प्रभु का निर्वाणकल्याणक महोत्सव करके दीपमालिका मनाई थी। तब से लेकर आज तक कार्तिक कृष्णा अमावस्या को दीपावली पर्व मनाया जा रहा है। यह बात हरिवंशपुराण में कही गई है -

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समंततः, प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते।। 19।।
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात, प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं, जिनेंद्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्।। 21।।

उस समय सुर और असुरों के द्वारा जलाई हुई बहुत भारी देदीप्यमान दीपकों की पंक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। तदनंतर सभी मनुष्य एवं देवगण प्रभु की निर्वाणकल्याणक पूजा कर यथास्थान चले गए। उस समय से लेकर भगवान के निर्वाणकल्याणक की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरतक्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे अर्थात् भगवान महावीर के निर्वाण कल्याणक की स्मृति में ही दीपावली पर्व मनाने लगे। ये अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हमारे और आप सब के लिए मंगलकारी होवें। इसी भावना के साथ आप सबके लिए बहुत-बहुत आशीर्वाद है।

क्या सारा जगत कुमार्ग से रहित हो सकता है?

जिनैरपि कृतं नैतत्सर्वज्ञैर्निः कुमार्गकम्।
जगत् किमुत शक्येत कर्तु मस्मद्विधैर्जनैः।।

जब सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव भी इस संसार को कुमार्ग से रहित नहीं कर सके तब फिर हमारे जैसे लोग कैसे कर सकते हैं?

—श्री रविषेणाचार्य

प्रवचन—31

आठ मूलगुणों का पालन गृहस्थ के लिए आवश्यक है

भव्यात्माओं! आगम में पांच उदुम्बर और मद्य, मांस तथा मधु का त्याग ये आठ मूलगुण गृहस्थों के बतलाये हैं।

पहला है मद्य अर्थात् शराब महामोह को करने वाला है, सभी पापों का मूल है और सभी दोषों को उत्पन्न करने वाला है। इसके पीने से मुनष्य को हित-अहित का ज्ञान नहीं रहता है और हित-अहित का ज्ञान न रहने से प्राणी संसाररूपी वन में भटकाने वाला ऐसा कौन सा पाप नहीं करता है ?,

लोक में यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीने से यादव नष्ट हो गये और जुआ खेलने से पांडवों ने अनेक कष्ट उठाये हैं। बहुत से प्राणी अनेक बार जन्म-मरण करके काल के द्वारा प्राणियों का मन मोहित करने के लिए मद्य का रूप धारण करते हैं। मद्य की एक बूंद में इतने जीव रहते हैं कि यदि वे फैलें तो समस्त जगत् में भर जायें इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। ऐसे जीव के निवास स्थान स्वरूप और दुर्गति में ले जाने वाले इस मद्य का सुख के आकांक्षी जनों को सदैव के लिए त्याग कर देना चाहिए।

दूसरा है मांस जो स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गंध से भरा है, दूसरों के प्राणों का घात करने पर ही तैयार होता है तथा कसाई घर जैसे अपवित्र स्थानों से ही प्राप्त होता है। ऐसे मांस को भले आदमी कैसे खा सकते हैं। यदि जिस पशु को मांस के लिये हम मारते हैं, दूसरे जन्म में वह हमें मारे या मांस के बिना जीवन ही न रह सके तब तो प्राणी पशु हत्या अवश्य ही करें किंतु ऐसी बात नहीं है, बल्कि मांस के बिना भी मनुष्यों का जीवन चलता ही है।

धर्म के फलस्वरूप प्राप्त हुए अनेक सुखों को भोगने वाले मनुष्य भी न जाने धर्म से द्वेष क्यों करते हैं ? भला इच्छित वस्तु को देने वाले कल्पवृक्ष से कौन द्वेष करेगा ?

यदि बुद्धिमान पुरूष थोड़े से कष्ट से अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वयं बुरे लगें उन कार्यों को दूसरों के प्रति भी उसे नहीं करना चाहिए। जो दूसरों का घात न करने से सुख का सेवन करता है वह इस जन्म में भी सुख भोगता है और दूसरे जन्म में भी सुख प्राप्त करता है।

जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरूषार्थों में से एक का भी पालन नहींकरता है वह पृथ्वी का भार है और जीते हुए भी मृत है। तथा जो धर्म का फल भोगताहुआ भी धर्माचरण करने में आलस्य करता है वह मूर्ख है, जड़ है, अज्ञानी है और पशु से भीगया बीता है। और जो न तो स्वयं अधर्म करता है न दूसरों से कराता है वह विद्वान है, समझदार है, बुद्धिमान है और पंडित है। जो अपना हित चाहते हैं और अहित से बचना चाहते हैं वे भला दूसरों के मांस से अपने मांस की वृद्धि कैसे कर सकते हैं?

जैसे दूसरे को दिया हुआ धन कालान्तर में ब्याज के बढ़ जाने से अपने को अधिक होकर मिलता है वैसे ही मनुष्य दूसरे को जो सुख या दुःख देता है वह सुख या दुःख कालान्तर में उसे अधिक होकर मिलता है अर्थात् सुख देने से अधिक सुख मिलता है और दुःख देने से अधिक दुःख मिलता है। यदि मद्य, मांस और मधु का सेवन करना धर्म हो जावे तो फिर अधर्म क्या होगा? और दुर्गति का कारण क्या होगा ?

अतः धर्म वही है जिसमें अधर्म नहीं है, सुख वही है जिसमें दुःख नहीं है, ज्ञान वही है जिसमें अज्ञान नहीं है और गति वही है जहाँ से लौटकर आना नहीं है।

जिस प्रकार अपने को अपना जीवन प्रिय है उसी प्रकार से दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है इसलिये मांस और अंडों के भक्षण का सदैव के लिए त्याग कर देना चाहिए।

जो मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती, जो शराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते, जो मधु और उदुम्बर फलों का भक्षण करते हैं उनमें रहम नहीं होता है।

तीसरा है मधु अर्थात् शहद जो मधुमक्खियों के छत्ते को निचोड़ने से पैदा होता है। वह रज और वीर्य के मिश्रण के समान है। भला सज्जन पुरूष ऐसे शहद का सेवन कैसे कर सकते हैं ? मधु का छत्ता व्याकुल शिशु के गर्भ की तरह है और अंडों से उत्पन्न होने वाले जंतुओं के छोटे-छोटे अंडों के टुकड़ों से सदृश है। करूणा से रहित मनुष्य ही उस मधु का भक्षण करते हैं।

चौथा है पीपल, उदुम्बरफल, पाकर, बड़फल और ऊमरफल, ये पांचों फल त्रस जीवों के रहने के स्थान भूत हैं। इन फलों में बहुत से त्रस जीव प्रत्यक्ष ही दिखाईदेते हैं। इनके सिवा इन फलों में बहुत से सूक्ष्म जंतु भी पाये जाते हैं जैसा कि शास्त्रोंमें वर्णन है।

इस प्रकार से मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फल इन आठों का त्याग करना ही मूल गुण है जो कि सम्यग्दृष्टी जीवों के लिये धारण करने योग्य है।

जिस प्रकार से इन वस्तुओं के खाने में महान पाप है वैसे ही इन वस्तुओं के सेवन करने वालों की संगति करना भी सर्वथा हानिप्रद ही है। इसी बात को स्वयं उपसकाध्ययन ग्रंथ के कर्ता कह रहे हैं।

मद्य, मांस, वगैरह सेवन करने वाले लोगों के घरों में भी खानपान नहीं करना चाहिए तथा उनके बर्तनों को भी काम में नहीं लेना चाहिए। जो मनुष्य मद्य, मांस सेवन करने वालों के साथ खानपान करते हैं उनकी यहां तो निन्दा होती ही है किन्तु परलोक में भी उन्हें अच्छी गति प्राप्त नहीं होती है। व्रती पुरुष को चमड़े की मशक का पानी, चमड़े के पात्र में रखा हुआ घी, तेल और मद्य, मांस आदि का सेवन करने वाली स्त्रियों को भी सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

इसी संदर्भ में उपासकाध्ययन ग्रंथ के भाषाकार पं. श्री कैलाशचंद्र जी सिद्धांत शास्त्री अपने अभिप्राय को प्रकट करते हुए भावार्थ में कहते हैं कि–

'छोटी से छोटी बुराई से बचने के लिए बड़ी सावधानी रखनी होती है फिर आज

तो मद्य, मांस का इतना प्रचार बढ़ता जाता है कि उच्च कुलीन पढ़े लिखे लोग भी उनसे परहेज नहीं रखते हैं, अंग्रेजी सभ्यता के साथ अंग्रेजी खान-पान भी भारत में बढ़ता जाता है और अंग्रेजी खान-पान की जान मद्य और मांस ही है। प्रायः जो लोग शाकाहारी होते हैं उनका भोजन भी रेलवे वगैरह में माँसाहारियों के भोजन के साथ ही पकाया जाता है। उसी में से माँस को बचाकर शाकाहारियों को खिला देते हैं। जो लोग पार्टी वगैरह में शरीक होते हैं उनमें से कोई-कोई सभ्यता के विरुद्ध समझकर जो कुछ मिल जाता है उसे ही खा आते हैं। इस तरह संगति के दोष से बचे-खुचे शाकाहारी भी मांसाहार के स्वाद से नहीं बच पाते और ऐसा करते-करते उनमें से कोई-कोई मांसाहार करने लग जाते हैं। अंग्रेजी दवाईयों का तो कहना ही क्या है, उनमें भी मद्य वगैरह का सम्मिश्रण रहता है। पौष्टिक औषधियों और तथोक्त विटामिनों को न जाने किन-किन पशु-पक्षियों और जलचर जीवों तक के अवयवों और तेलों से बनाया जाता है। फिर भी सब खुशी-खुशी उनका सेवन करते हैं। ओवल्टीन नाम के पौष्टिक खाद्य में अण्डे डाले जाते हैं फिर भी जैन घरानों तक में उसका सेवन छोट और बड़े करते हैं। यह सब संगति दोष का ही कुफल है। उसी के कारण बुरी चीजों से घृणा का भाव घटता जाता है और धीरे-धीरे उनके प्रति लोगों की अरूचि टूटती जाती है। इन्हीं बुराईयों से बचने के लिए आचार्यों ने ऐसे स्त्री-पुरुषों के साथ रोटी-बेटी के व्यवहार का निषेध किया है जो मद्यादिक का सेवन करते हैं। जैनाचार को बनाये रखने के लिये और अहिंसा धर्म को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है कि जैनधर्म का पालन करने वाले कम से कम अपने खान-पान में दृढ़ बने रहें। यदि उन्होंने भी देखा-देखी शुरू की और वे भी भोग विलास के गुलाम बन गये तो दुनिया को फिर अहिंसा धर्म का संदेश कौन देगा? कौन दुनिया को बताएगा कि शराब का पीना और मांस का खाना मनुष्य को बर्बर बनाता है और बर्बरता के रहते हुए दुनिया में शांति नहीं हो सकती। अतः जैसे सफेदपोश बदमाशों से बचे रहने में ही कल्याण है वैसे ही सभ्य कहे जाने वाले पियक्कड़ों और गोश्तखोरों के साथ खान-पान का सम्बन्ध न रखने में ही सबका हित है। ऐसा करने से आप प्रतिगामी, कूढ़मगज या दकियानूसी भले ही कहलावें किन्तु इसकी परवाह न करें। आप दृढ़ रहेंगे तो दुनिया आपकी बात की कदर करने लगेगी। किन्तु यदि आप ही अपना विश्वास खो बैठेंगे और क्षण भर की वाहवाही में बह जाएंगे तो न अपना हित कर सकेंगे और न दूसरों का हित कर सकेंगे। मधु भी मद्य और मांस का ही भाई है। कुछ लोग आधुनिक ढंग से निकाले जाने वाले मधु को खाद्य बतलाते हैं। किंतु ढंग के बदलने मात्र से मधु खाद्य नहीं हो सकता। आखिर को तो वह मधु-मक्खियों का ही उगाल है।' इस प्रकार से अष्टमूल को धारण करने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा की दया करता है। उसका पालन कर आप सब अपनी आत्मा का कल्याण करें, यही मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–32

चिंताओं को कैसे दूर करें ?

धर्मप्रेमी महानुभावों! गृहस्थाश्रम में पुरूष व महिलाओं को प्रायः किसी न किसी प्रकार की चिंता बनी ही रहती है। किसी के पास धन नहीं है तो किसी के व्यापार में घाटा लग रहा है, किसी का धन चोर लूट रहे हैं तो किसी को सरकारी बंधन व कानूनों से धन का संरक्षण करना कठिन हो रहा है। इन निमित्तों से चिंता होना साहजिक है। किसी के पुत्र या पुत्री आज्ञापालक नहीं हैं, प्रतिकूल हैं या दुर्व्यसनी हैं, अथवा रोगी हैं या युवावस्था में मरण हो प्राप्त हो गये हैं, अथवा वे अत्यंत प्रिय और अनुकूल हैं फिर भी किसी निमित्त से उनका बिछोह हो गया है। किसी के शरीर में अनेक प्रकार के रोग लगे हुए हैं, पेट भर भोजन अथवा उत्तम-उत्तम पकवान खाने को नहीं मिल पा रहा है। डॉक्टर ने परहेज में घी, नमक आदि बन्द कर दिये हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के और भी कारण हैं जिनसे अंतरंग में चिंता घर बनाये रखती है और मन सदैव खिन्न रहने से न उन्हें इह लौकिक सुख ही मिल पा रहा है न परलोक के सुख की ही आशा की जा सकती है क्योंकि संक्लेश परिणामों से उत्तम गति का मिलना असंभव ही है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए ? किसी भी चिंता को कैसे दूर कर सकते हैं ?

यदि आप सम्यग्दृष्टी हैं तो आपकी कैसी भी भयंकर चिंता क्यों न हो, दुख हो, वेदना क्यों न हो अर्थात् आपको कैसा भी शारीरिक या मानसिक संताप क्यों न हो किंतु फिर भी आप उसे बहुत शीघ्र ही घटा सकते हैं, जड़मूल से निर्मूलन करके आत्मिक शांति प्राप्त कर सकते हैं, कैसे? इन चार महौषधियों के द्वारा ।

वे चार महौषधियां कौन सी हैं?

कर्म सिद्धांत–अर्थात् होनी को स्वीकार करना।

वैराग्य–अर्थात् वस्तु के स्वभाव का विचार करना।

भक्ति–अर्थात् ईश्वर में विश्वास कर उनकी कृपा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

अध्यात्म भावना–अर्थात् अपनी अनंत शक्ति को पहचान कर उसे विकसित करने का प्रयत्न करना।

उदाहरण के लिये देखिये–यदि आपके पुत्र, मित्र, स्त्री, बंधु या शिष्य कोई भी आपके प्रतिकूल आचरण कर रहे हों, आपके साथ विश्वासघात कर रहे हों, आपकी झूठी निन्दा कर रहे हों, आपको व्यापार आदि प्रसंगों में कष्ट दे रहे हों, आपकी उन्नति से ईर्ष्या कर रहे हों, अकारण ही आपके लिए दुःखदायी हों तो उस समय आप उनके साथ वैसे ही मत बनिये। सोचिये कि पूर्वभव में या इस भव में इनके साथ मैंने कोई गलत्व्यवहार किया होगा, इन्हें कष्ट दिया होगा उसके फलस्वरूप ये स्वजन होकर भी शत्रु बने हुए हैं। अथवा

अकारण ही ये मुझे त्रास देकर स्वयं अशुभ कर्म बंध कर रहे हैं मेरा कर्तव्य है कि मैं शांति से सहन करूं। आप पार्श्वनाथ का चरित पढ़िये और जीवंधर स्वामी की भी जीवनी देखिये आपको मानसिक शांति मिलेगी। पहले तो आप इन प्रतिकूल वस्तुओं को व प्रसंगों को अपने से दूर करने की कोशिश कीजिए। यदि उनसे नहीं बच सकते तो कर्म सिद्धांत पर दृढ़ विश्वास कीजिए कि इनका कुछ भी दोष नहीं है, मेरे पूर्वकर्मों का ही फल मुझे इनके निमित्त से मिल रहा है। श्री अमितगतिसूरि ने कहा है–

स्वयं कृतं यदात्मनापुरा, फलं तदीयं, लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।

'यदि स्वयं के द्वारा किये हुए कर्मों के अतिरिक्त भी कोई अन्य मुझे सुख या दुःख देने में समर्थ हो सकता है तो फिर मेरे द्वारा किये गये कर्म व्यर्थ हो जायेंगे।' इसीलिये यह सिद्धांत अटल है कि अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल ही अपने को मिलता है अन्य सब निमित्त मात्र हैं उन्हें दोष देना व्यर्थ है। मर्यादा पुरूषोत्तम भगवान रामचंद्र के इतिहास को पढ़िये। कहाँ तो राज्याभिषेक होने की तैयारी और कहां कैकेयी के निमित्त से वन-वन में भटकना। महासती शिरोमणि सीता को ही देखिये कि कहाँ तो जिनके वियोग में रामचंद्र का अश्रु बहाना, दुःखी होना और कहां प्रजा के संदेहमात्र से गर्भवती अवस्था में सीता को घोर निर्जनवन में छुड़वा देना। अहो! इष्ट के द्वारा ही ऐसे-ऐसे भयंकर कष्टों का प्रसंग आ जाना यह स्व कर्मोदय का ही माहात्म्य है अन्य कुछ नहीं है इत्यादि उदाहरणों के द्वारा अपने मन में संक्लेश न करके शांति बनाये रखना ही उभयलोक के लिये हितकर है।

यदि आपके किसी इष्ट बंधु, पुत्र, स्त्री, पति या शिष्य का वियोग हो गया है, असमय में उनका मरण हो गया है या वे तुमसे प्रतिकूल हो रहे हैं अथवा धन, मकान, आदि प्रिय वस्तुओं की हानि हो रही है ऐसे प्रसंग में कर्म सिद्धांत ही शांति प्रदान करेगा। अरे! जो वस्तु जितने काल तक मेरे पास रहने वाली है उतने काल तक ही रहेगी। संसार में कोई किसी के साथ हमेशा नहीं रह सका है। हमें प्रत्येक इष्ट वस्तु अपने अनुरूप चाहिये किंतु ऐसा कब होता है ? वह तो मिलती है भाग्य के ही अनुरूप। यदि आपका भाग्य अनुकूल नहीं है तो कितना भी प्रयत्न कीजिए किंतु वह वस्तु आपको नहीं मिल सकेगी। मिलकर भी आपसे दूर हो जायेगी उसके लिये आपको चिंता करने से, दुःख करने से हानि के सिवाय लाभ नहीं है। सुकौशल की माता ने पति के दीक्षित हो जाने पर बहुत दुःख माना। पुत्र भी दीक्षित न हो जावे, मेरी आँखों से ओझल न हो जावे इसलिये उसने अपने शहर में मुनियों का आना रोक दिया किंतु जब पुत्र भी दीक्षित हो गया तो पति और पुत्र के मोह में पागल हो गई, रो-रोकर आर्तध्यान में मरकर व्याघ्री हो गई तथा जिनके प्रति अत्यंत मोह था उन्हीं के प्रति प्रतिकूलता से द्वेष भावना बन जाने से उन्हीं को खाने लगी। इन उदाहरणों को देखकर इष्ट में आसक्ति व

उनके वियोग में शोक नहीं करना चाहिए। देखो! धर्मात्मा सेठ जिनदत्त मरते समय अपनी पत्नी में अत्यंत मोह को प्राप्त हो गये, मरकर अपने घर की बावड़ी में मेढ़क हो गया और पानी भरते समय सेठानी के ऊपर उछल-उछलकर आने लगा। जब सेठानी को मुनि के मुख से मालूम हुआ कि यह मेढ़क मेरे पति का जीव है तो उसे महान् आश्चर्य हुआ और दुःख भी।

अतएव इस श्लोक को बड़े अक्षर में लिखकर फ्रेम में जड़वाकर अपने विश्रांति के स्थान में लगा लीजिए और प्रतिदिन उसको पढ़ते रहिये।

उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात् , मोहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात् , परचिंता धमाधमाः ।।

अर्थात् अपनी आत्मा की चिंता उत्तम है, मोहचिंता मध्यम है, पंचेन्द्रिय विषयों की चिंता अधम है और पर की चिंता करना अधम से भी अधम है।

ऐसा ही शरीर में रोगों के निमित्त से कितनी भी भयंकर वेदना हो उस समय सोचो क्या नरक में जैसी वेदनायें होती हैं वैसी यहां हो सकती हैं ? क्या तिर्यंच योनि के दुःखों से बढ़कर भी यह दुःख है ? नहीं-नहीं। यह तो उनके आगे तिल तुष मात्र भी नहीं है। अन्य जीवों को दुःख देने से, पीड़ा देने से, सताने से ही ये वेदनायें होती हैं। कर्म बांधते समय दूसरों को कष्ट देते समय मैंने जब कुछ नहीं विचारा तो अब उस कर्म के उदय के समय घबड़ाने से क्या होगा ? अभी भी ऐसा करने से तो आगे के लिए असाताकर्म बंधता चला जावेगा। अतः धैर्य से निर्दोष प्रासुक औषधि से रोग का उपचार करना चाहिए। श्री गुणभद्रसूरि कहते हैं–

यावदस्ति प्रतीकारः तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियां।
तथाप्यनुपशांतानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया।

जब तक इलाज हो सके इलाज करना और जब नहीं हो सके तो उद्विग्न नहीं होना ही उस रोग का इलाज है। अपने से अधिक दुःखी व रोगी जीवों की तरफ दृष्टि डालये। जो सब तरफ से साधन हीन हैं, दीन हैं, अनाथ हैं उनकी तरफ देखिये आपकी वेदना हलकी होगी दुःख कम महसूस होगा।

आपको संसार के अच्छे-अच्छे भोग साधन सुखकर मालूम होते हैं या आपको स्वर्ग का वैभव, राज्य वैभव अच्छा लगता है अथवा बड़े-बड़े पद अच्छे लगते हैं तो शायद आप उन प्रलोभनों में आकर यही इच्छा करेंगे कि मुझे ये वस्तुयें भविष्य में अवश्य मिलें या आप पुनः पुनः उसके मिलने की चिन्ता करते रहेंगे किन्तु क्या आपने सोचा है कि यह भोगाकांक्षा भविष्य में दुर्गति का कारण है। देखो जितने भी नारायण होते हैं भोगों की आकांक्षा से निदान से, ही होते हैं पुनः वे इस भव में चन्द दिनों तक अर्ध चक्रवर्ती पद के वैभव का उपभोग करके पूर्व के संस्कारवश भोगों की आसक्ति से

मरकर नियम से नरक में ही जाते हैं। दूसरी बात यह है कि आपने इतना अधिक पुण्य नहीं किया है तो आपको मनचाही इच्छित वस्तु मिलेगी ही नहीं और यदि मिल भी गई तो राख के लिये हीरे को भस्म कर देने से सदृश वह निदान भावना मूर्खतापूर्ण ही है क्योंकि जो धर्म, तप, दान या पूजन आपको त्रैलोक्य का धनी बना सकता है उससे आपने विनाशीक पुत्र, पत्नी या धन वैभव को खरीदकर कोदों बोने के लिये चन्दनवन को जला डालने सदृश ही कार्य कर लिया है। इसलिये निदान करके अपने पुण्य को क्षीणकर आप स्वयं अपने को भविष्य में दुःख के गर्त में मत डालिये। यह तो हुआ कर्म सिद्धांत का चिंतवन, यह आपके लिये महौषधि है।

अब आप दूसरी महौषधि का प्रयोग कीजिये–

कैसा भी कष्टकर प्रसंग हो, आपके इष्ट का वियोग व अनिष्ट का संयोग हो गया है या वेदना से आप तड़प रहे हों। वैराग्य औषधि लेते ही आपका दुःख हलका हो जायेगा। संसार में जो जन्मा है वह मरेगा ही मरेगा, जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग होगा ही होगा अर्थात् जन्म के पीछे मरण, जवानी के पीछे बुढ़ापा, संयोग के पीछे वियोग, सुख के पीछे दुःख और सम्पत्ति के पीछे विपत्ति नियम से आती ही आती हैं। संसार की स्थिति यही है तथा इस जगत में है कौन किसका ? अनादिकाल से लेकर अब तक अनंतानंत काल व्यतीत हो गया है, इस जगत में कौन ऐसा जीव है जो मेरी माता नहीं हुआ, मेरा पिता नहीं हुआ, पुत्र, मित्र या शत्रु नहीं हुआ है। अथवा मैं किसी का मित्र या शत्रु नहीं हुआ हूँ फिर भला अब किससे प्रेम करना? किसको अपना समझना? अथवा किससे द्वेष करना या किसको अपना शत्रु समझना? संसार तो इसी का नाम है तथा शरीर जो मेरा है मेरा आत्म प्रदेशों से एकमेक हो रहा है। क्या वह मेरा है? यदि है तो मेरे अनुकूल क्यों नहीं है? मेरे साथ क्यों नहीं जाता है? यदि एक दिन इसे भोजन न मिले तो यह मेरे कार्य में विघ्न क्यों डाल देता है अथवा मुझे पूर्णतया जवाब दे देता है फिर यह मेरा कैसे है? यह तो महाकृतघ्नी है। असंख्य रोगों का घर है, दुःखों की खान है और इसी के मोह में तो जीव अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं।

इस श्लोक को प्रतिदिन पढ़िये और अपने उठने-बैठने के स्थान पर ऊंचे पर इसे लिखकर टांग दीजिये। श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि–

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं।।

अर्थात् जिस कार्य से जीव का उपकार होता है उसके शरीर का अपकार होता है और जिससे शरीर का उपकार होता है उससे जीव का अपकार होता है।

इत्यादि रूप से संसार और शरीर का विचार करते हुए संसार के भोगों को भी किंपाक फल के समान देखने में ही मधुर समझना क्योंकि ये भोग हालाहल विष

से भी भयंकर हैं ऐसी भावना भाना नित्य ही 'वैराग्य भावना' और कोई एक 'बारह भावना' का पाठ करना। देखिये, आपको शारीरिक और मानसिक शांति का अनुभव अवश्य होगा।

तृतीय महौषधि भक्ति है। व्यक्ति के मन में जब तक किसी सुन्दर आदर्श के प्रति या किसी महान व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रेम के स्थायी भाव नहीं होते तब तक दुराचार से हटकर सदाचार में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। संसार में जिनेन्द्रदेव एक महान आदर्श हैं। उनके प्रतीक दिगम्बर जैन आचार्य, उपाध्याय और साधु भी महान आदर्श हैं। अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियों को आदर्श मानकर इनकी भक्ति करना। संकट के समय इनकी पूजा, उपासना, आराधना, जाप्य आदि करना वैसे ही है कि जैसे दावानल अग्नि के बुझाने में मेघ की वर्षा। यदि आप अधिक व्याकुलता में कुछ भी करने में असमर्थ हैं तो भी विश्वास से साथ मन-मन में णमोंकार मंत्र जपते ही रहिये। यदि पूरा मंत्र नहीं जप सकते तो इतना अवश्य जपिये 'अरहंत सिद्ध, भव रोग वैद्य' यह मंत्र रामबाण औषधि है, अमोघ मंत्र है यह निरर्थक हो ही नहीं सकता है। आपके अशुभ कर्मों के पर्वत सौ-सौ खंड रूप हो जावेंगे, असाता कर्म गल-गल कर समाप्त हो जावेंगे। कैसा संकट क्यों न हो उससे आप छुटकारा पा लेंगे। सभी आस्तिकवादी दुःखों के नाशहेतु अपने इष्टदेव का स्मरण स्वीकार करते हैं। यहां तक कि नास्तिक लोग भी प्रार्थना करते हैं और उससे संकट का नाश, इच्छित की प्राप्ति होना स्वीकार करते हैं। फिर जब आप सच्चे वीतराग देव की सच्चे मन से जाप्य करेंगे तो आपके दुःख दूर क्यों नहीं होंगे ? निर्जन वन में, श्मशान में, समुद्र में, युद्ध भूमि में, सिंह और डाकू वगैरह के समीप आने पर ही यह महामंत्र आपकी रक्षा करने में पूर्णतया सक्षम है। श्रीमानतुंगाचार्य के भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से 48 ताले टूट गये। सीता की जिनेन्द्र भक्ति ने अग्नि को जल बना दिया, चंदना की बेड़ी टूट गई, श्रीपाल ने समुद्र को पार कर लिया और अनंतमती ने अपने शील की रक्षा कर ली। अनेक उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है, पढ़िये महापुरूषों के इतिहास को और अर्हंतदेव की भक्ति में तन्मय हो जाइये फिर देखिये क्या नहीं होता है ? सब कुछ सिद्ध होगा यहां तक कि आप भक्ति करते-करते भक्त ही नहीं रहेंगे, किंतु एक न एक दिन स्वयं भगवान बन जायेंगे तब संसार के सर्व दुःखों से सदा-सदा के लिये छूट जायेंगे।

अब चतुर्थ औषधि का प्रयोग कीजिए यह है 'अध्यात्म-भावना' यह सर्व दुःखों केा जड़मूल से नष्ट करने वाली है। अनादिकाल से मेरी आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है फिर भी शुद्ध निश्चयनय से मेरी आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है, एक है, शुद्ध है, पुद्गल का एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है। मेरे में अनंतदर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य ये चतुष्टय विद्यमान हैं, मैं अनंतगुणों का पूंज हूँ परमानंद स्वरूप हूँ, सिद्ध हूँ। ये कर्मजन्यपर्यायें मेरी आत्मा की नहीं है अर्थात् मैं नारकी, तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव नहीं हूँ। मैं स्त्री पुरुष या

नपुंसक नहीं हूँ। मैं बाल, वृद्ध या युवा नहीं हूँ। मैं पंडित, मूर्ख, कुरूप, सुरूप,धनी, निर्धन आदि नहीं हूँ। किंतु मैं चित्चैतन्य स्वरूप हूँ, परंज्योति स्वरूप हूँ। अनादि काल से मिथ्यात्व के निमित्त से मैंने अपने आप को नहीं पहिचाना इसीलिये शरीर को ही आत्मा मानकर बहिरात्मा बना रहा अब मैं जिनेन्द्रदेव की कृपा प्रसाद से सम्यक्त्व निधिको पाकर संतुष्ट हो गया हूँ। मेरी रत्नत्रय निधि ही मेरी अटूट सम्पत्ति है। मैं अनंत शक्तिमान हूँ । इत्यादि भावना के भाने से यह आत्मा अपने आप को दुःखी, दीन, रोगी, असमर्थ या अस्वस्थ नहीं समझता है प्रत्युत् उतने क्षण तो अपने आपको कर्म बंधन से रहित,संसार दुःखों से रहित समझने लगता है। यही भावना आगे चल कर जब दृढ़ हो जाती है तब यह आत्मा अंतरात्मा होता हुआ एक देश और पूर्ण चरित्र को ग्रहण कर अपने आपको साधु, आचार्य, उपाध्याय बना लेता है, जगद्वंद्य पूज्य हो जाता है पुनः क्रम-क्रम से शक्ति संचित करके परमात्मा बन जाता है। वास्तव में जो भी हमारी संसारी अवस्था है वह व्यवहारनय का विषय है निश्चयनय तो वस्तु के सहज स्वभाव का ही वर्णन करता है। इस प्रकार से इष्ट वियोग आदि प्रसंगों पर या वेदना आदि के समय अथवा अनिष्ट उपद्रव, उपसर्गों के समय इस अध्यात्म भावना के अवलंबन से ही आत्मा में एक प्रकार का आनंद उत्पन्न होता है। वह आनंद क्षणमात्र में तमाम कर्म ईंधन को भस्मसात् कर देता है जिससे इस लोक में भी शारीरिक व मानसिक शांति मिल जाती है और परलोक में तो स्वर्ग व परंपरा से मोक्ष निश्चित ही है। इस अध्यात्म भावना में आत्मा की भक्ति होती है। ध्यान सूत्रों को पढ़ते हुए भी इसे भाना चाहिए। अध्यात्म भावना के बिना ध्यान की सिद्धि असंभव है अतः इसका अवलंबन लेना ही चाहिए। इस भावना से यह जीव शरीर से निर्मम हो जाता है अतः उस पर आये दुःखों को सहने का आदी हो जाता है। बल्कि वह उपवास, कायक्लेश आदि द्वारा दुःखों को बुला-बुलाकर अध्यात्म की भावना भाता है क्योंकि समाधिशतक में कहा है कि –

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः।।

अर्थात् सुखिया जीवन में किया गया तत्व का अभ्यास दुःख के आ जाने पर पलायमान हो जाता है। अतएव मुनि दुःखों में भी आत्मा की भावना करे यह परमौषधि है।

यदि किसी के प्रति आपने असीम उपकार किये हैं किंतु उनका बदला वह अपकार से चुका रहा है अथवा उन उपकारों को अपकार ही मान रहा है या वह आपके उपकारों को मानने को तैयार नहीं है तो न सही। आप तो सोचिये कि मैंने उसका कुछ नहीं किया है उसके उत्तम भाग्य से ही उसका भला हुआ है, मैं तो एक निमित्त मात्र था ऐसा सोच कर आप अहंकार व कर्तृत्व की बुद्धि को दूर कीजिए। यदि उसके अशुभ कर्म का उदय होता तो आपके द्वारा किये गये उपकारों का निमित्त उसे नहीं भी मिलता इत्यादि। दूसरी बात यह है कि श्री भट्टाकलंकदेव ने भी कहा है कि 'कृतज्ञता गुण – किये हुये के

उपकार को मानना' यह गुण अत्यन्त दुर्लभ है जैसे निगोद से स्थावर होना अत्यंत कठिन है पुनः स्थावर से त्रस पर्याय मिलना कठिन है, पुनः त्रस में भी विकलत्रय जीवों की बहुलता होने से पंचेन्द्रिय पर्याय पाना उतना ही कठिन है जितना कि गुणों में कृतज्ञता गुण मिलना कठिन है।

अथवा यदि अकारण ही कोई आपके प्रति द्वेष कर रहा है, आपकी झूठी निंदा या अवर्णवाद कर रहा है या आपके प्रति बुरा कर रहा है तो भी आपको कर्म सिद्धांत का विचार करते हुए उस पर क्षमा भाव रखना ही उचित है। आप जीवंधर के जीवन चरित्र को पढ़कर काष्ठांगार की कृतघ्नता का उदाहरण सामने रखिये और उस कुत्ते के द्वारा जीवंधर स्वामी के प्रति किये गये प्रत्युपकार को भी देखिये एवं व्यावहारिक जनों की सूक्ति का भी विचार कीजिए कि 'नेकी कर कुंये में डाल'। इस सूक्ति से भी आपको क्लेश नहीं होगा।

इस तरह से जितने भी संक्लेश के कारण हैं वे सब आर्त ध्यान के ही अंदर आ जाते हैं। तथा जितने भी बुरे विचार हैं वे सब रौद्र ध्यान में गर्भित हो जाते हैं। जैसे प्रिय वस्तुओं के प्राप्त करने की चिंता, नष्ट हो जाने पर उनके मिलने की बार-बार उत्कंठा, चिंता, अप्रिय वस्तुओं के मिल जाने पर उनसे दूर होने की चिंता या अप्रिय समागम न होने की भावना, रोग जनित पीड़ा से बेचैनी व पंचेन्द्रियों के विषयों की आकांक्षा, उनके प्राप्त होने की चिंता-उपाय आदि ये सब आर्तध्यान हैं। किसी को अप्रिय शत्रु समझकर उनके मारने, नष्ट करने आदि की चिंता, असत्य, मायाचारी आदि के द्वारा दूसरों को वंचित करने की चिंता, किसी की वस्तु को अपहरण करने की चिंता या परिग्रह के अर्जन, संरक्षण आदि की अधिक चिंता ये सब रौद्र ध्यान हैं। इनसे छूटने के उपायों में जो चार कारण बताये हैं। कर्म सिद्धान्त विचार, वैराग्य भावना, भक्ति भावना और अध्यात्म भावना, ये चारों ही उपाय चारों धर्मध्यान में गर्भित हैं। कर्म सिद्धांत विपाकविचय नामक तृतीय धर्मध्यान में, वैराग्य भावना अपायविचय में, भक्ति भावना आज्ञाविचय में और अध्यात्म भावना आज्ञाविचय तथा संस्थान धर्मध्यान में ही गर्भित हैं अर्थात् ये चारों धर्मध्यान ही क्रम से सभी दुर्ध्यानों को समाप्त करके मानसिक, आत्मिक शांति देने में समर्थ हैं।श्री अमितगतिसूरि कहते हैं–

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, विलष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।

इसी प्रकार से सब जीवों के प्रति मैत्री भाव, गुणीजनों में प्रमोद, दुःखी जीवों के प्रति करूणा और विपरीत वृत्ति वालों के प्रति मध्यस्थभाव ये चार भावनायें भी हमेशा आपको सुख शांति प्रदान करने वाली हैं। इनको भी नित्य ही भाते रहिये।'

आपका जीवन सदाचारी होना चाहिए। इसके लिए जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करनाये सात

व्यसन नरक के द्वार हैं इन्हें सबसे पहले गुरू की साक्षी से त्याग कर देना और मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करके सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेना। पुनः संकल्पी हिंसा का त्याग, असत्य का त्याग, चोरी का त्याग, कुशील का त्याग और परिग्रह का परिमाण इन पांच अणुव्रतों को धारण कर लेना चाहिए क्योंकि ये अणुव्रत नियम वे देवगति केही कारण हैं। अणुव्रत धारण के पश्चात् यह जीव नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति में नहीं जा सकता है तथा देवपूजा, गुरू की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह आवश्यक क्रियाओं को नित्य करना। इन छहों में भी 'दाणं पूजा मुक्खो सावयधम्मो ण सावया तेण विणा' इस कुंदकुंददेव की वाणी के अनुसार दान और पूजा को श्रावक का मुख्य कर्तव्य मानकर अवश्य करना चाहिए क्योंकि इनके बिना श्रावक नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार महिलाओं को भी उपर्युक्त कथित अनुसार चिंतायें छोड़नी चाहिए।यदि आपकी सास या आपके पति अथवा पुत्र या पुत्रवधुयें, पुत्रियां आदि अनुकूल नहीं हैं तो भी उनके साथ उचित व्यवहार करते हुए आप मन में शांति धारण करें क्योंकि ये चंद दिनों के सम्बन्ध हैं। प्रत्येक जीव अकेला ही आया है और अकेला ही जायेगा। अतः किसीके लिए संक्लेश या चिंता करके अपने स्वास्थ्य और परलोक को मत बिगाड़िये। आत्मा स्त्री नहीं है, पुरूष या नपुंसक भी नहीं है। वह तो शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध, सिद्ध सदृश है उसीका अवलंबन लेकर पराधीन स्त्री पर्याय से छूटने का उपाय कीजिए। यदि आपको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है तो नियम से अब स्त्री पर्याय को नहीं प्राप्त करेंगी। अपने शील धर्म को तीन लोक में श्रेष्ठ रत्न समझिये। क्षणिक भौतिक चमत्कार व प्रलोभनों में पड़कर अपने शीलरत्न को मत गंवाईये। हमेशा सीता, अंजना, चंदना, अनंतमती आदि के उदाहरण सामने रखिये। पति और पुत्रों को धर्मनिष्ठ बनाने में चेलना बनिये। निर्धनता, बीमारी आदि संकट के समय धैर्य न छोड़िये। स्त्री पर्याय को सर्वथा निंद्य समझकर खेद करना, पराधीनता के पिजड़े में बंद रहना अथवा आधुनिक वातावरण से प्रभावित होकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना ये सभी बातें ठीक नहीं हैं। तीर्थंकर की मातायें, चंदना आदि सतीयां ये भी महिलायें थीं फिर भी ये गुणों की खान मानी जाती हैं। पुरूष तो क्या देव इंद्रभी इनके सामने नत हुए हैं। महासती सीता ने आर्यिका दीक्षा लेकर भगवान् रामचंद्र को भी नत कर दिया था उन्होंने भी आर्यिका वेष में सीता को नमस्कार किया था। अतः अपनेको हीन-दीन भी मत समझिये और स्वैरवृत्ति करके अपने कुल को, धर्म को कलंकित भी मत कीजिए। चारों प्रकार के अनुयोगों को हमेशा स्वाध्याय करके अपने ज्ञान को निर्मल बनाइये। सुख और वैभव को पाकर फूलिये मत और दुःख तथा विपत्ति के समय घबड़ाइये मत। अपना संतुलन बनाये रखिये और हमेशा प्रसन्नचित्त व प्रसन्नमुख रहिये फिर देखिये आपको कितनी शांति मिलेगी।

प्रवचन–33

नूतन वर्ष-अभिनन्दन

आज भारत देश में वीर निर्वाण संवत्, विक्रम संवत्, शालिवाहन शक और ईसवी सन् प्रचलित हैं। इनके प्रथम दिवस को वर्ष का प्रथम दिन मानकर नववर्ष की मंगल कामनाएं की जाती हैं। जैन धर्मानुयायी महानुभावों को किस वर्ष का कौन सा दिवस नववर्ष का मंगलदिवस मानना चाहिए?

आज ईसवी सन् अत्यधिक प्रचलित है। प्रायः कलेंडर, तिथिदर्पण और डायरियाँ भी इसी सन् से छपने लगी हैं। वास्तव में अंग्रेजों ने अपने भारत पर शासन करके अपना ऐसा प्रभाव छोड़ा है कि उसे मिटाना असंभव है। खैर! कोई बात नहीं,1 जनवरी से ईसवी सन् प्रारंभ होता है। इसे भी मान लीजिये-मना लीजिये कोई बाधा नहीं है।

कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा गुजरात में विक्रम संवत् को अधिक महत्व दिया जाता है। मैंने श्रवणबेलगोल में देखा, जो लोग वर्ष भर वहीं रहकर भी चैत्रवदी अमावस्या (दक्षिण व गुजरात के अनुसार फाल्गुन कृ0 अमावस्या) की रात्रि में पहाड़ पर जाकर सोते हैं और प्रातः उठते ही भगवान् बाहुबली का दर्शन कर नूतन वर्ष की मंगल कामना करते हुए नीचे उतरते हैं। चैत्रशुक्ला एकम से विक्रम संवत् का नया वर्ष शुरू होता है। आज पंचांग इसी संवत् से चल रहे हैं।

अनेक वर्षों से वीरनिर्वाण महोत्सव की चर्चा जैन क्या जैनेतरों में भी सारे देश में फैल चुकी है। पच्चीस सौवां निर्वाण महोत्सव भी एक वर्ष तक जैन के चारों संप्रदाय के महारथियों ने आगे होकर मनाया जिससे जैन के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के अहिंसा धर्म का प्रचार-प्रसार खूब ही हुआ है। अब तिथिदर्पण भी ''वीरनिर्वाण संवत् '' से निकाले जाने लगे हैं। वैसे पं. नाथूलाल जी शास्त्री द्वारा सम्पादित ''जैनतिथिदर्पण'' बहुत पुराना प्रतीत होता है। यह कब से चालू हुआ है मुझे मालूम नहीं है, फिर भी यह प्रामाणिक माना जाता है ।

आज जैन समाज में ही नहीं, जैनेतर समाज में भी वीरनिर्वाण दिवस की (दीपावली के दिन)रात्रि में गणेशपूजा और लक्ष्मी पूजा करके दुकान पर नूतन वसन और नूतन बही आदि बदलने की प्रथा है। इस दिन अनेक प्रबुद्ध जैन दुकान पर यन्त्र अथवा जिनवाणी रखकर भगवान महावीर की पूजा, सरस्वती की पूजा आदि करके मांगलाष्टक पढ़कर नूतन बहियों और वसनों पर स्वस्तिक, श्री आदि बनाकर '' श्री महावीराय नमः'' आदि मन्त्र लिखकर बही बदलने का मुहूर्त करके नया सम्वत् लिख देते हैं।

इस दिन लक्ष्मी-गणेश की पूजा के बारे में सही स्थिति का बोध कराने के लिये मैंने श्री गौतमगणधर की पूजा और केवलज्ञान महालक्ष्मी की पूजा ऐसी दो पूजायें

बनाई हैं, जम्बूद्वीप पूजांजलि में ये दोनों पूजायें छपी हुई हैं वहां से ले सकते है। क्योंकि कार्तिक कृ0 अमावस्या को प्रातः प्रत्यूष बेला में भगवान महावीर स्वामी ने पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया था उसी के उपलक्ष्य में स्वर्ग से इन्द्रों ने, असंख्य देव-देवियों ने आकर यहां पावापुरी में भगवान का निर्वाणोत्सव मनाया था और पावापुरी में दीपों को जलाकर उत्सव किया था उसी समय से आज तक प्रतिवर्ष अपने भारत देश में सायंकाल में सर्वत्र दीपक जलाकर ''दीपमालिका'' या दीपावली दिवस मनाया जाता है। जैसाकि हरिवंशपुराण में कहा भी है–

जिनेन्द्रवीरोऽपि बिबोध्य संतत, समन्ततौ भव्यसमूहसंततिम् ।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं, मनोहरोद्यानवने तदीपके ।।15।।
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकै-र्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसु-प्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः।।16।।
अघातिकर्माणि निरूद्धयोगको, विधूप घातीन्धनवद्धिबन्धनः।
विबन्धनस्थानमवाप शंकरो, निरन्तरापोरूसुखानुबन्धनम् ।।17।।
स पंचकल्याणमहामहेश्वरः, प्रसिद्धनिर्वाणमहे चतुर्विधैः।
शरीरपूजाविधिना विधानतः, सुरैः समभ्यर्च्यत सिद्धशासनः।।18।।
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदस्म पावानगरी समन्ततः, प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ।।19।।
तथैव च श्रेणिक पूर्वभूभुजः, प्रकृत्य कल्याणमहं सहप्रजाः।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथायथं, प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः ।।20।।
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपालिकपात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वर, जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ।।21।।

भगवान महावीर भी निरंतर सब ओर के भव्य समूह को सम्बोधकर पावानगरी पहुँचे और वहां के ''मनोहरोद्यान'' नामक वन में विराजमान हो गये ।।15।। जब चतुर्थकाल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रहे तब स्वाति नक्षत्र में कार्तिक अमावस्या के दिन प्रातःकाल के समय स्वभाव से ही योग निरोध कर घातिया कर्म रूप ईंधन के समान अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर बन्धन रहित हो संसार के प्राणियों को सुख उपजाते हुए निरन्तराय तथा विशाल सुख से सहित निर्बन्ध-मोक्ष स्थान को प्राप्त हुए।।16-17।। गर्भादि पाँचों कल्याणकों के महान अधिपति, सिद्धशासन भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के समय चारों निकाय के देवों ने विधिपूर्वक उनके शरीर की पूजा की।।18।। उस समय सुर और असुरों के द्वारा जलायी हुई बहुत भारी देदीप्यमान दीपकों की पंक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा।।19।। श्रेणिक आदि राजाओं ने भी प्रजा के साथ मिलकर भगवान् के निर्वाण कल्याणक की

पूजा की। तदनन्तर बड़ी उत्सुकता के साथ जिनेन्द्र भगवान् के रत्नत्रय की याचना करते हुए इन्द्र देवों के साथ-साथ यथास्थान चले गये ।।20।। उस समय से लेकर भगवान के निर्वाण कल्याण की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरतक्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे। भावार्थ–उन्हीं की स्मृति में दीपावली का उत्सव मनाने लगे।।21।।

यह हुई दीपावली की बात, पुनः जो उसी दिन रात्रि में नूतन बही पूजन के लक्ष्मी और गणेश की पूजा की प्रथा है उसमें भी रहस्य है। उसी दिन भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद सायंकाल में श्री गौतमगणधर को केवलज्ञान प्रगट हुआ था तत्क्षण ही इन्द्रों ने आकर उनकी गंधकुटी की रचना करके उनके केवलज्ञान की पूजा की थी । **''गणानां ईशः गणेशः गणधरः''** ये पर्यायवाची नाम श्री गौतमस्वामी के ही हैं। सब लोग इस बात को न समझकर गणेश और लक्ष्मी की पूजा करने लगे। वास्तव में गणधर देव की, केवलज्ञान महालक्ष्मी पूजा करनी चाहिए। खासकर जैनों को तो यही नूतन वर्ष मानना चाहिए। कार्तिक शु. प्रतिपदा (एकम)के दिन से ही तिथिदर्पण व कलेंडर छापना चाहिए।

वैसे मेरी दृष्टि में युगादि दिवस भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसकी तरफ प्रायः जैन धर्मानुयायियों का लक्ष्य नहीं है। यह मंगलमल दिवस है ''श्रावण कृष्णा प्रतिपदा'' यह प्रत्येक युग का आदि दिवस है इसलिये इसे ''युगादि'' कहा है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह काल माने हैं। यथा–

अवसर्पिणी के सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा। ये ही उत्सर्पिणी में उल्टे क्रम से चलते हैं। जैसे अतिदुःषमा आदि। इन सब कालों की समाप्ति आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को होती है और प्रारम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है।

इस मंगल दिवस ही भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी अतः आज इसे ''वीरशासन जयंती'' दिवस के नाम से मनाने की प्रथा है। इस विषय में तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में कहा है–

एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि।
तेत्तीसवासअऽमासपण्णरसदिवससेसम्मि ।।68।।
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजोणक्खत्तम्मिं य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स।।69।।
सावणबहुले पाडिवरूद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदो इमस्स पुढं।।70।।

यहां अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अन्तिम भाग में तेतीस वर्ष, आठ माह और

पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावण नामक प्रथम महीने में, कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।।68-69।।

श्रावण कृष्णा पड़िवा के दिन रूद्र मुहुर्त के रहते हुए सूर्य का शुभ उदय होने पर अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में इस युग का प्रारम्भ हुआ, यह स्पष्ट है।।70।।

धर्मतीर्थ की उत्पत्ति का अर्थ है भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी। धवला प्रथम पुस्तक में भगवान् महावीर को ''अर्थकर्ता'' बताते हुये आचार्यश्री ने कहा है–

इमिसे वसप्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए।
चौत्तीस-वास-ससे किंचि विसेसूणए संते ।।55।।
वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि।।56।।
सावण-बहुण-पडिवदे रूद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम-जोए एत्थ जुगाई मुणेयव्वो ।।57।।

इस अवसर्पिणी कल्पकाल के दुःषमा-सुषमा नाम के चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर, वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण मास में, प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष में, प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल के समय आकाश में अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर तीर्थ अर्थात् धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई ।।55-56।।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन रूद्रमुहूर्त में सूर्य का उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में जब युग की आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए।।57।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ''श्रावण कृष्णा प्रतिपदा'' युग की आदि है। भगवान् महावीर के मोक्ष जाने के बाद पांचवां काल प्रवेश होने में तीन वर्ष, आठ माह, पन्द्रह दिन बाकी रहे थे। तीन वर्ष , कार्तिक शुक्ला के पन्द्रह दिन और मगसिर से आषाढ़ तक आठ माह गिनने चाहिये।।

कर्नाटक मे लोग चैत्र शु01 को ही 'युगादि अब्बा'' कहते हैं किन्तु वह तो विक्रमादित्य राजा से चला है अतः वह ''युगादिअब्बा'' न होकर श्रावणकृष्णा एकम ही युगादि पर्व है। दक्षिण में पर्व को ''अब्बा'' कहते हैं।

महानुभावों! मेरा अभिप्राय यही है कि आप जैन लोग वीर निर्वाण सम्वत् से ही ''नूतन वर्ष '' मनावें तथा श्रावण कृष्ण एकम को ''वीरशासन जयन्ती'' और युगादि दिवस-पर्व अवश्य मनावें । यदि जैन ही अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार नहीं करेंगे तो भला और कोन करेंगे ? इसलिये वीर निर्वाण के दिन रात्रि में जैन विधि से बही और वसना आदि बदलकर कार्तिक शुक्ला एकम से ''नूतनवर्ष '' मानना चाहिये।

प्रवचन–34

वीरशासन दिवस

भव्यात्माओं! अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन खिरी थी, उन्हीं के धर्मतीर्थ का प्रवर्तन वर्तमान में चल रहा है। उनके धर्म को धारण करने वाले जीव उन्हीं वीर प्रभु के शासन में रह रहे हैं। इसलिए यह श्रावणवदी एकम का दिवस 'वीर शासन जयंती' के नाम से सर्वत्र मनाया जाता है।

धवला में श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं–

'पंचशैलपुर (पंचपहाड़ी से शोभित राजगृही के पास) में विपुलाचल पर्वत के ऊपर भगवान महावीर ने भव्यजीवों को अर्थ का उपदेश दिया।

इस अवसर्पिणी कल्पकाल के 'दुःषमा सुषमा' नाम के चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर वर्ष के प्रथम मास, प्रथम पक्ष और प्रथम दिन में अर्थात् श्रावण कृष्णा एकम् के दिन प्रातःकाल के समय आकाश में अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति हुई।।55-56।।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन रुद्रमुहूर्त में सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथमयोग में जब युग की आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए।।57।।

यह श्रावण कृष्णा प्रतिपदा वर्ष का प्रथम मास है और युग की आदि–प्रथम दिवस है। जैसा कि अन्यत्र ग्रंथों में भी कहा है।

अतः यह स्पष्ट है कि यह श्रावण कृष्णा एकम दिवस युग का प्रथम दिवस है। अर्थात् प्रत्येक सुषमा सुषमा, सुषमा आदि कालों का प्रारंभ इस दिवस से ही होता है। इसलिए यह दिवस अनादिनिधन जैन सिद्धांत के अनुसार वर्ष का प्रथम दिवस माना जाता है। अनादिकाल से युग और वर्ष की समाप्ति आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को होती है। युग तथा वर्ष का प्रारंभ श्रावण कृष्णा एकम से होता है। वर्तमान में इसी दिन वीर प्रभु की दिव्यध्वनि खिरने से धर्मतीर्थ का प्रवर्तन इसी दिन से चला है। इसलिए यह दिवस और भी महान होने से महानतम अथवा पूज्यतम हो गया है।

भगवान महावीर को केवलज्ञान वैशाख शुक्ला दशमी को प्रगट हो चुका था किन्तु गणधर के अभाव में छ्यासठ दिन तक भगवान की दिव्य ध्वनि नहीं खिरी इसके बारे में जयधवला में स्पष्ट किया है कि–

'केवलज्ञान होने के बाद छ्यासठ दिन तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी?'' गणधर के नहीं होने से।'

'सौधर्म इन्द्र ने केवलज्ञान होने के बाद ही गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया?

'नहीं, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था।'

'जिसने अपने पादमूल में महाव्रत ग्रहण किया है ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती?'

'ऐसा ही स्वभाव है, और स्वभाव दूसरों के द्वारा प्रश्न करने योग्य नहीं होता है।

'उन इन्द्रभूति नाम के गौतम गणधर ने (उसी दिन) बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रंथों की एक ही मुहूर्त में (48 मिनट में) क्रम से रचना की। अतः भावश्रुत और अर्थ पदों के कर्ता तीर्थंकर हैं तथा तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुत पर्याय से परिणत हुए, इसलिए द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। उन गौतम स्वामी ने भी दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहाचार्य को दिया। लोहाचार्य ने भी जम्बूस्वामी को दिया। परिपाटी क्रम से (एक के बाद एक) ये तीनों ही सकलश्रुत के धारण करने वाले कहे गये हैं और यदि परिपाटी क्रम की अपेक्षा न की जाये तो उस समय संख्यात हजार सकलश्रुत के धारी हुए हैं।' अर्थात् संख्यात हजार मुनि द्वादशांग के पारगामी हुए हैं।

अब मैं आपको दिव्यध्वनि के बारे में बताती हूँ कि दिव्यध्वनि कैसी होती है?

दिव्यध्वनि सर्वभाषामयी है, अक्षर-अनक्षरात्मक है, जिसमें अनंत पदार्थ समाविष्ट हैं अर्थात् जो अनंत पदार्थों का वर्णन करती है, जिसका शरीर बीज पदों से गढ़ा गया है, जो प्रातः, मध्यान्ह और सायं इन तीनों कालों में छह-छह घड़ी तक निरंतर खिरती रहती है। इस समय को छोड़कर बाकी समय गणधरदेव के संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को प्राप्त होने पर उन्हें दूर करने के लिए खिरती है।''

यहाँ पर दिव्यध्वनि को सर्वभाषा रूप कहा है–''अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं से युक्त, तिर्यंच, देव और मनुष्यों की भाषा के रूप में परिणत होने वाली ऐसी दिव्यध्वनि है।''

''अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएं हैं उन सभी रूप से दिव्यध्वनि होती है। वह तालु, दांत, कंठ, ओष्ठ के व्यापार से रहित है। तीनों कालों में नव मुहूर्तों तक खिरती है। इसके अतिरिक्त गणधरदेव, इंद्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप शेष समयों में भी खिरती है, ऐसा वर्णन तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में आया है।

दिव्यध्वनि सुनने का माहात्म्य अचिन्त्य है। ''जैसे चन्द्रमा से अमृत झरता है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की वाणी को सुनकर बारह गणों के भव्यजीव अनंतगुण श्रेणी रूप विशुद्धि से संयुक्त शरीर को धारण करते हुए असंख्यात श्रेणी रूप कर्मपटल को नष्ट कर देते हैं।''

दिव्यध्वनि सुनने के लिए बैठने का स्थान कैसा है? ''समवसरण में बारह कोठों के क्षेत्र से यद्यपि वहाँ पर पहुँचने वाले जीवों का क्षेत्रफल असंख्यातगुणा अधिक है, तथापि वे सब जीव जिनदेव के माहात्म्य से एक-दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं। जिन

भगवान के माहात्म्य से बालक आदि सभी जीव प्रवेश करने अथवा निकलने में अंतर्मुहूर्त में ही (48 मिनट के अंदर ही) संख्यात योजन चले जाते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन कोठों में कौन जा सकते हैं?

इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं जाते हैं तथा अनध्यवसाय से युक्त, संदेह से संयुक्त और विविध प्रकार के विपरीत भावों सहित जीव भी वहाँ नहीं रहते हैं। इससे अतिरिक्त वहाँ पर जिन भगवान के माहात्म्य सेआतंक, रोग, मरण, जन्म, वैर, कामबाधा, क्षुधा और पिपासा की बाधाएं भी नहीं होती है।''

हरिवंशपुराण में भी बताया है कि वहाँ पर शूद्र, पाखंडी व अन्य वेषधारी तापसी आदि नहीं जा सकते हैं।

वर्तमान में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुसार ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप श्रुत नहीं है। फिर भी वर्तमान में जो षट्खण्डागम, कसायपाहुड़, महाबंध, समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रंथ उपलब्ध हैं वे भगवान की वाणी के अंशरूप ही हैं। अर्थात् ''जिनका अर्थरूप से तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है और गणधरदेव ने जिनकी ग्रंथ रचना की है ऐसे द्वादश अंग आचार्यपरम्परा से निरंतर चले आ रहे हैं। परन्तु काल प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर उन अंगों को धारण करने वाले योग्य पात्रों के अभाव में वे उत्तरोत्तर क्षीण होते जा रहे हैं। इसलिए जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषों का अभाव देखा और जो अत्यन्त पाप भीरु थे, जिन्होंने गुरु परम्परा से श्रुत और उसका अर्थ ग्रहण किया था उन आचार्यों ने तीर्थ विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग संबंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतएव वे असूत्र न होकर सूत्र ही हैं, ऐसा धवला ग्रंथ में कहा है।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथ भगवान की वाणी के ही अंशरूप हैं। अतः पूर्णतया प्रामाणिक हैं।

इस वीर शासन जयंती दिवस को सोल्लासपूर्ण वातावरण में मनाते हुए प्रत्येक जैन श्रावकों का कर्तव्य हो जाता है कि उस दिन स्वाध्याय करने का नियम लेकर अपने ज्ञान को समीचीन बनावें और वीर भगवान के शासन में रहते हुए अपनी आत्मा को कर्मों से छुटाने के पुरुषार्थ में लगें तथा प्रतिदिन निम्नलिखित श्लोक के द्वारा श्रुतदेवता की आराधना, उपासना, भक्ति करते रहें–

''अंगंगबज्झणिम्मी अणाइमज्झंतणिम्मलंगाए।
सुयदेवयअंबाए णमो सया चक्खुमइयाए।।4।।

अर्थात् जिसका आदि, मध्य और अंत से रहित निर्मल शरीर अंग और अंगबाह्य से निर्मित है और जो सदा चक्षुष्मती जाग्रतचक्षु है ऐसी श्रुतदेवी माता को मेरा सतत नमस्कार होवे।

प्रवचन–35

'शास्त्र स्वाध्याय कभी व्यर्थ नहीं जाता'

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मूलाचार में कहा है–

विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
त उवट्ठादिपरभवे केवलणाणं च आहवदि।।

इसका अर्थ यह है कि जो प्राणी विनयपूर्वक श्रुत/शास्त्र को पढ़ता है वह पढ़ा गया श्रुत आदि प्रमाद से कभी विस्मृत भी हो जावे, तो अगले भव में वह कभी न कभी उपलब्ध हो जाता है तथा केवलज्ञान की प्राप्त कराने में भी वह स्वाध्याय कारण बन जाताहै।

जैन सिद्धान्त में चार अनुयोग माने गये हैं–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनका क्रमपूर्वक अध्ययन करना ही स्वाध्याय कहलाता है। शास्त्र को पढ़ते समय यदि कोई विषय आपकी समझ में भी नहीं आता है तो भी दुखी होने की आवश्यकता नहीं है। आज नहीं तो कभी न कभी वह विषय अवश्य ही समझ में आयेगा।

एक ब्राह्मण कन्या एक दिन अपनी सखियों के साथ दिगम्बर मुनिराज के दर्शनार्थ गई। वहाँ धर्मोपदेश सुनकर मुनि से उसने पाँच अणुव्रत ग्रहण किऔर आशीर्वाद लेकर वापस घर आ गई। गुरुदेव दीर्घदर्शी थे अतः कन्या को घर जाते समय उन्होंने कहा कि बेटी! यदि माता-पिता को तेरे इन व्रतों से कोई कष्ट पहुँचे तो मुझे व्रत वापस कर जाना।

यद्यपि व्रत कोई साग भाजी की तरह वापस नहीं होते हैं फिर भी गुरुदेव ने कुछ सोचकर कह दिया। कन्या ने घर जाकर जब यह बतलाया कि मैं आज दिगम्बर मुनि से हिंसा आदि पाँच पापों का एकदेश त्याग करके पाँच अणुव्रत ग्रहण करके आई हूँ तब उसके पिता ब्राह्मण देवता बहुत क्रोधित हो उठे और बोले कि अरे! उस नंगे की यह हिम्मत कैसे हुई? मेरे बिना पूछे तू उससे नियम क्यों लेकर आई? उस दिगम्बर ने जरूर तेरे ऊपर कोई जादू किया है, ये तो ठग होते ही हैं जो भी भोला प्राणी इनके चक्कर में आ जाता है उसे ही कुछ न कुछ नियम देकर फंसाते हैं। वह बेचारा ब्राह्मण सार्वभौम धर्म के ज्ञान से शून्य था इसीलिए ऐसी बातें कर रहा था।

बेटी ने घर में इतनी अशांति देखकर कहा कि पिताजी! गुरुदेव ने मुझसे यह भी कहा था कि यदि इन व्रतों से घर में किसी को कष्ट होवे तो मुझे वापस कर जाना। पुत्री के ये शब्द सुनकर पिताजी को कुछ राहत मिली और वे बोले–हाँ ठीक है, तू मेरे साथ चल, मैं इन व्रतों को वापस करके आऊँगा और उनसे यह भी पूछूँगा कि तूने मेरे बिना पूछे मेरी कन्या को व्रत क्यों दिया?

पिताजी के साथ पुत्री व्रतों को वापस करने के लिए घर से चल पड़ती है। चलते-चलते मार्ग में एक दृश्य उपस्थित होता है–

कई सिपाही एक व्यक्ति को बड़ी क्रूरतापूर्वक मार रहे हैं, बहुत सारी भीड़ वहाँ एकत्रित है। यह दृश्य देखकर कन्या ने पिताजी से पूछा–इस पुरुष को क्यों मारा जा रहा है? सोमशर्मा ब्राह्मण बोला–बेटी! इसने एक व्यक्ति की हिंसा की थी अतः राजा ने इसे प्राणदण्ड की सजा दी है। लड़की कहती है–पिताजी! इसी हिंसा को तो मुनि ने मुझे त्याग कराया है, फिर आप उसे वापस करने क्यों जा रहे हैं? बेटी की बात से निरुत्तर होकर सोमशर्मा कहने लगा–पुत्री! तेरी इच्छा है तो इस व्रत को रख ले, बाकी व्रत तो वापस करना ही है।

कुछ दूर आगे जाने पर एक अन्य व्यक्ति को देखा जिसकी जीभ काटी जा रही थी। पूछने पर ज्ञात हुआ कि यह झूठ बोलकर लोगों को ठगता है अतः इसे दण्डित किया जा रहा है। नागश्री नामक उस कन्या ने पिताजी से कहा कि मैं इस पाप का त्याग करके सत्याणुव्रत ग्रहण कर चुकी हूँ अतः उसे मैं कदापि नहीं छोड़ सकती हूँ। इसी प्रकार पाँचों पापों के दृश्य देखकर उसने पिताजी को राजी कर लिया फिर भी सोमशर्मा बोला–भले ही तू इन व्रतों को रख ले किन्तु मैं वहाँ चलकर उस मुनि को दो-चार बातें तो अवश्य सुनाऊँगा ताकि भविष्य में वे किसी को इस प्रकार व्रत न दे सकें।

मुनिराज के पास पहुँचते ही ब्राह्मण देवता गुर्रा करके बोले–क्यों रे नंगे! तूने मेरी लड़की को व्रत देकर क्यों ठग लिया? कई खरी-खोटी बातें सुनने के बाद मुनिराज शांत भाव से कहते हैं–यह लड़की तो मेरी है इसीलिए मैंने इसे व्रत दिए हैं। कन्या शांत भाव से बैठी थी, उसके पिता जी अब और परेशानी में पड़ गये, वे राजा के पास न्याय के लिए पहुँचे कि मेरी लड़की को यह नंगा अपनी पुत्री कह रहा है, आप चलकर उसे समझावें।

मुनिराज के पास भीड़ लगी थी। राजा आकर जब मुनिराज को कन्या वापस करने हेतु समझाने लगे तो मुनि कन्या को पास बुलाकर उसके मस्तक पर पिच्छी लगाते हुए बोले–हे कन्ये! पूर्व जन्म में वायुभूति नाम का तू मेरा पुत्र था, तब मैंने तुझे कई शास्त्र पढ़ाये थे। तू सबके सामने शास्त्र की उन समस्त बातों को सुना दे। इतना कहते ही नागश्री न जाने क्या-क्या सुनाने लगी, उसे पूर्वभव का जातिस्मरण हो गया था।

सारी सभा आश्चर्यचकित थी। राजा इस घटना को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। विस्तृत रूप से अवधिज्ञानी मुनि के मुखारविन्द से उनके और नागश्री के पूर्वभवों के संबंध सुनकर राजा को वैराग्य हो गया अतः उन्होंने, सोमशर्मा ने, नागश्री ने तथा अनेकों लोगों ने मुनि के चरण सानिध्य में मुनि-आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर ली।

यह है गुरुमुख से पढ़े गये श्रुत की महत्ता, जो अगले भव में दीक्षा प्राप्त कराने में भी कारण बन गया।

बचपन में पढ़ी गई विद्या जो बड़े होकर यदि भूल भी जाते हैं फिर भी किंचित्

मात्र दूसरे से सुन लेने पर वह ज्यों की त्यों उपलब्ध हो जाती है क्योंकि उसके संस्कार तो मस्तिष्क में होते ही हैं।

मेरे गुरु आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज कहा करते थे-

''पठितव्यं खलु पठितव्यं अग्रे अग्रे स्पष्टं भविष्यति'' अर्थात् हमेशा पढ़ते रहो, आगे-आगे विषय स्पष्ट होगा। जैसे श्रावक की दैनिक षट् क्रियाओं में स्वाध्याय एक क्रिया है, उसी प्रकार मुनियों के 6 अंतरंग तपों में स्वाध्याय नाम का एक तप है। आप जगह-जगह सूक्तियाँ भी पढ़ते हैं–**''स्वाध्यायः परमं तपः''।**

वैसे तो श्रावकों के लिए मुख्यरूप से दान और पूजा ये दो क्रियाएँ आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार में बतलाई हैं। इनके पालन बिना मनुष्य श्रावक नहीं कहलाता। पूजा करते हुए यदि उनकी पंक्तियों का अर्थ अच्छी तरह समझ में आता रहता है तो स्वाध्याय भी उसी में गर्भित हो जाता है।

स्वाध्याय के पाँच भेद हैं–वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। जिस प्रकार लकड़ी के अन्दर विद्यमान अग्नि भी बिना जलाए प्रकट नहीं होती उसी प्रकार ज्ञान का दीपक जो हमारे भीतर ही विद्यमान है वह भी स्वाध्याय के बिना प्रदीप्त नहीं होता है अतः अंतरंग दीप को प्रज्वलित करने हेतु शास्त्र स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

हमारा भारत देश एक धनाढ्य देश है क्योंकि यहाँ के अनमोल साहित्य ने अन्य देशों में भी अपना कीर्तिमान स्थापित किया है। हमारे ही शास्त्रों के आधार पर वहाँ विभिन्न खोजें हो रही हैं। अन्तर यह हो गया है कि वैज्ञानिक केवल पुद्गल की खोज में लगे हुए हैं, आत्मा-चैतन्य की खोज से वे विमुख हो गये हैं। आज भूगोल और ज्योतिर्लोक का विषय प्रायः अछूता सा हो गया है। मात्र आत्मा की चर्चा करने वालों को यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जब तक आप अपने निवास स्थान को नहीं जानेंगे, अन्य गतियों के बारे में नहीं जानेंगे, तब तक कर्मचक्र से छूटने का पुरुषार्थ भी नहीं कर सकते हैं।

एक ''जैन कास्मोलॉजी'' नामक अंग्रेजी पुस्तक इटली से प्रकाशित हुई है, जिसमें लेखक ने प्राचीन ग्रंथों के आधार से अनेकों चित्र तथा पर्याप्त विषय का प्रतिपादन किया है। सन् 1982 में ज्ञानज्योति के उद्घाटन के समय जब वह पुस्तक श्रीमती इन्दिरा गांधी को अवलोकनार्थ दी गई, तो वे उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुईं। जैसे साहित्य रचना व्यक्ति को अमर कर देती है उसी प्रकार साहित्य का स्वाध्याय भी मनुष्य जन्म को सार्थक कर देता है।

आप लोग प्रतिदिन किसी न किसी शास्त्र की 10-20 लाइनें अवश्य पढ़ें, आत्मा में ज्ञान का विकास करें और एक दिन स्वाध्याय के फल को प्राप्त करके रत्नत्रयरूप परिणत होवें, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–36

राग के साथ द्वेष भी अवश्यंभावी है

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्वं नेतरोजनः।।

जिस प्रकार से स्थिर जल में अपना मुख दिखने लगता है उसी प्रकार रागद्वेष आदि कल्लोलों से रहित मनरूपी जल में आत्मा दिखने लगती है।

राग नहीं छूटे तो मत छोड़ो परन्तु उस राग को परिवर्तित कर दो अर्थात् पंचेन्द्रिय विषयों से राग छोड़कर धर्म और गुरु से राग करना शुरू कर दो। देखो! इस युग के महान आध्यात्मिक संत आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने हृदय में पंचपरमेष्ठी की भक्ति धारण करके दशभक्तियों की रचना की है।

वर्तमान में लोग उनके समयसार को ही उनकी प्रमुख देन समझने लगे हैं किन्तु यदि आचार्य कुन्दकुन्द की दशों भक्तियाँ आप पढ़ेंगे तो ज्ञात होगा कि उनका हृदय तो भक्ति से ओतप्रोत था। राग की परिभाषा को समझने की आवश्यकता है क्योंकि राग प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों रूप होता है। जैसे प्रातःकाल और सायंकाल की लालिमा में प्रकाश और अंधकार का अंतर होता है उसी प्रकार शुभ और अशुभ रागों में भी महान अन्तर है। विषय भोगों में फंसा हुआ मानव अशुभ राग तो प्रतिक्षण करता ही रहता है पुनः वही मानव जब जिनेन्द्रभक्ति, गुरु भक्ति, पूजा, दान आदि शुभ कार्य करता है तो वही प्रशस्त–शुभ राग में प्रवृत्त हुआ कहलाता है।

श्रावकों की बात तो जाने दो, प्रवचनसार ग्रंथ में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने आचार्य परमेष्ठियों के लिए भी बताया है–

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणां जिणिंद पूजोवदेसो य।।

अर्थात् आचार्य परमेष्ठी जो चतुर्विध संघ का संचालन करते हैं वे दर्शन, ज्ञान का उपदेश देवें, शिष्यों का ग्रहण तथा उनका पोषण करें एवं जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उपदेश देवें यही सरागी साधु–आचार्य की चर्या है। जो छठे-सातवें गुणस्थान में चढ़ने उतरने वाले आचार्य परमेष्ठी हैं उन्हीं के लिए यह उपदेश देने को कहा है वीतरागी क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वालों के लिए तो मात्र अपनी आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी उपादेय नहीं है।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान में भी जो साधुगण मंदिर आदि बनवाने की प्रेरणा प्रदान करते हैं उसमें कोई दोष नहीं है। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने भी कुम्भोज बाहुबली तीर्थक्षेत्र पर समन्तभद्र मुनिराज को भगवान बाहुबली

की खड्गासन प्रतिमा विराजमान करने की प्रेरणा प्रदान की थी। कुंथलगिरि में उन्हीं की प्रेरणा से कुलभूषण-देशभूषण मुनिराजों की प्रतिमा विराजमान हुई थी, जिनके चरण सानिध्य में आचार्यश्री ने समाधिमरण स्वीकार किया था। आज से एक हजार वर्ष पूर्व आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के निर्देशन में भगवान बाहुबली की 57 फुट ऊँची प्रतिमा का निर्माण हुआ था। इत्यादि अनेकों उदाहरण ऐसे हैं जो साधुओं के भी प्रशस्त राग का पोषण करने वाले हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं अपने विशाल संघ सहित गिरनार यात्रा को गये थे और वहाँ पाषाण की अम्बिका देवी के मुख से निर्ग्रन्थ दिगम्बर पंथ की पुष्टि करवाई थी।

शुभ-अशुभ रागों में से अशुभ राग को संकल्पपूर्वक छोड़ा जाता है तथा शुभ राग स्वयमेव शुद्ध अवस्था में छूट जाता है। जैसे फल के आने पर फूल स्वयं झड़ जाता है यदि फल आने से पूर्व फूल तोड़ दिया जावे तो फल की प्राप्ति तीन काल में भी संभव नहीं है उसी प्रकार प्रशस्त राग फूल है उसके बिना शुद्ध आत्मा रूप फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

आचार्यश्री शुभचन्द्र स्वामी ने कहा है–

"जहाँ राग है वहाँ द्वेष अवश्यंभावी है" राग और द्वेष का जोड़ा अनादिकाल से चला आ रहा है।"

एक समय किसी देवता ने द्रौपदी का अपहरण करके उसे सोते समय ही उठाकर धातकीखण्ड द्वीप में पहुँचा दिया। जब द्रौपदी प्रातः सोकर उठती है तो देखती है कि मैं हस्तिनापुर में नहीं हूँ, कहीं मुझे स्वप्न तो नहीं आ रहा है वह आश्चर्यचकित हो इधर-उधर देख ही रही थी तभी वहाँ का राजा सामने आकर कहता है कि देवी! यह धातकीखण्ड नाम के द्वीप की अमरकंका नामक नगरी है, मैं यहाँ का राजा हूँ। मैंने तुम्हें एक देव से यहाँ हरण कराया है, तुम्हें मैं अपनी पत्नी बनाऊँगा। द्रौपदी घबरा जाती है किन्तु वह कर भी क्या सकती थी? उसने णमोकार महामंत्र के बल पर अपने सतीत्व की रक्षा की। वह क्रोध के आवेग में बोली-अरे नराधम! मेरे शील के प्रभाव से मेरे पति अवश्य यहाँ तक आयेंगे और तुझे मारकर मुझे वापस ले जायेंगे। उसने पति का समाचार न सुनने तक चतुराहार का त्याग कर दिया।

राजकन्याओं को प्राचीनकाल में उपवास का अभ्यास अवश्य रहता होगा तभी अवसर पड़ने पर वे कई-कई दिनों का उपवास कर लेती थीं। देखो! सीता ने भी 11 दिनों के बाद अन्न-जल ग्रहण किया था। इधर अर्जुन भी प्रातःकाल उठते ही द्रौपदी को राजमहल में न देखकर अत्यधिक परेशान होते हैं किन्तु थोड़ी ही देर में इसे अपहरण काण्ड समझकर द्रौपदी को खोजने का प्रयत्न सोचने लगते हैं। पाँचों पांडव मिलकर सबसे पहले श्रीकृण के पास जाते हैं। श्रीकृष्ण अपने अनेकों दूतों एवं किंकरों को चारों तरफ द्रौपदी को खोजने भेज देते हैं। किन्तु द्रौपदी जब पूरे आर्यखण्ड में थी ही नहीं तो मिलती कहाँ से? सभी किंकर वापस आ गए।

नारद ने प्रतिशोध की भावना से द्रौपदी का अपहरण कराया था वे पाँडवों को परेशान एवं द्रौपदी की दृढ़ता देखकर बता देते हैं कि द्रौपदी तो धातकीखण्ड में पहुँच चुकी है। इतना समाचार सुनते ही पाँचों पाण्डव एवं श्रीकृष्ण द्रौपदी को वापस लाने हेतु प्रयाणकरते हैं। नदी के किनारे पहुँचकर छहों व्यक्ति मंत्राराधना प्रारंभ कर देते हैं। मंत्र की सिद्धि होते ही वहाँ छह घोड़े प्रगट हो गये जो जल में भी स्थल जैसा चलने में सक्षम थे। उन घोंड़ोंपर सवार होकर सभी नदी पार करके धातकीखण्ड की अमरकंकापुरी में पहुँच गये। राजा पद्मनाभ के महल का दरवाजा उन महापुरुषों ने लात मारकर ही तोड़ दिया।

राजा को समझते देर न लगी कि द्रौपदी के रक्षक यहाँ तक आ गये हैं अतः वह डर गया। अपने प्राणों की रक्षा हेतु राजा पद्मनाभ द्रौपदी के पैरों में गिरकर कहने लगा कि बहन! मेरी रक्षा करो, मैं तुमसे क्षमायाचना करता हूँ। द्रौपदी सरल हृदया थी, बहन शब्द उसके मुँह से सुनते ही द्रौपदी बोली-भाई! तुम स्त्री का रूप धारण कर नारायण के पास चले जाओ, तुम्हारी रक्षा होगी। बाद में सारा भेद खुला, यद्यपि पांडवगण राजा पद्मनाभ पर अत्यन्त क्रुद्ध थे परन्तु द्रौपदी के कहने से उन्होंने उसे क्षमा प्रदान किया और द्रौपदी को लेकर वापस चल दिए।

देखो! पाण्डवों से विशेष राग होने के कारण श्रीकृष्ण ने उन लोगों की इतनी सहायता की। महाभारत के जानकार और भी प्रसंगों को जानते हैं कि श्रीकृष्ण ने सदैव पाण्डवों की रक्षा की है।

अब मैं द्वेष का भी एक उदाहरण बता रही हूँ कि जिनके साथ राग होता है उनकी प्रतिकूलता होने पर द्वेष भी अत्यधिक होता है। जब द्रौपदी के साथ ये सभी वापस अपने जम्बूद्वीप में आने लगे तो भीम ने समुद्र पार करने के समय कौतुकवश श्रीकृष्ण की नाव छिपा दी और स्वयं पाँचों पांडव समुद्र पार आकर उनका इंतजार करने लगे। श्रीकृष्ण के साथ द्रौपदी भी थी, उन्होंने जब समुद्र तट पर नाव नहीं देखती तो अपने शारीरिक पराक्रम का सदुपयोग किया। वे अपने बायें हाथ पर रथ में द्रौपदी को लेकर और दाएं हाथ से समुद्र का पानी उलीचते हुए समुद्र पारकर गए। पांडवों ने उनसे पूछा कि आपके लिए नाव नहीं थी तो समुद्र कैसे पार किया? नारायण ने बता दिया कि शारीरिक शक्ति भी तो कभी प्रयोग करनी चाहिए। बातों बातों में उन्हें ज्ञात हुआ, कि भीम ने बता दिया कि हमने अपनी शक्ति परीक्षण करने के लिए ही तो नाव छिपा दी थी, इस बात को सुनते ही श्रीकृष्ण बहुत क्रोधित हुए वे बोले कि इतने दिनों में तुम लोग मेरी शक्ति नहीं जान पाये थे। असमय में ऐसी हँसी क्यों? पांडवों द्वारा बार-बार क्षमायाचना करने पर भी श्रीकृष्ण ने उन लोगों को दक्षिणापथ भेज दिया। वे सभी बड़े दुःखी हुए किन्तु नारायण की आज्ञा के विरुद्ध कुछ भी कर नहीं सकते थे।

इसीलिए आचार्यों ने कहा है कि राग के साथ द्वेष भी अवश्य होता है। अतः राग और द्वेष दोनों का त्याग करने वाले ही स्थिर चित्त होकर आत्मावलोकन कर सकते हैं।

प्रवचन–37

संसार में ध्यान ही सारभूत है

भव्यात्माओं! आज से लगभग 2560 वर्ष पूर्व की घटना है जब भगवान महावीर को दिव्य केवलज्ञान प्राप्त हुआ और तत्क्षण इन्द्र की आज्ञा से धनकुबेर ने समवसरण की रचना कर दी किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी। छ्यासठ दिन तक मौनपूर्वक विहार करते हुए श्री वर्धमान भगवान जगत्प्रसिद्ध भगवान मुनिसुव्रतनाथ की जन्मभूमि राजगृही नगरी आए वहाँ जिस प्रकार सूर्य उदयाचल पर आरुढ़ होता है उसी प्रकार लोगों को प्रतिबद्ध करने के लिए समवसरण लक्ष्मी के स्वामी भगवान विपुलाचल पर्वत पर विराजमान हो गए।

जब इन्द्रराज ने देखा कि भगवान को केवलज्ञान होकर 66 दिन व्यतीत हो गए फिर भी उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिर रही है क्या कारण है? तब चिन्तन कर योग्य गणधर का अभाव जान सौधर्मेन्द्र इन्द्रभूति ब्राह्मण को इस योग्य जानकर उस अभिमानी को युक्ति से समवसरण में ले आया, वहाँ मानस्तंभ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उन्हें सम्यक्त्व प्रकट हो गया। समवसरण के सारे वैभव को देखते हुए महान आश्चर्य को प्राप्त उन्होंने भगवान महावीर स्वामी का दर्शन किया और भक्ति में गद्गद् होकर 'जयति भगवान्.....' इत्यादि स्तुति करने लगे। स्तुति करके विरक्तमना होकर उन इन्द्रभूति ने प्रभु के चरण सानिध्य में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली तत्क्षण ही उन्हें मति-श्रुत ज्ञान के साथ ही अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया। वे गणधर पद को प्राप्त हो गए तभी भगवान की दिव्यध्वनि खिरी थी, तब प्रभु की दिव्यध्वनि को सुनकर उन गौतम गणधर ने 11 अंग और 14 पूर्व रूप द्वादशांग श्रुत की रचना की। उनके द्वारा रचित प्रतिक्रमणसूत्र में उन्होंने कहा–

जो सारो सव्वसारेसु, सो सारो एस गोयम।
सारं झाणंति णामेण, सव्वं बुद्धेहिं देसिदो।।

अर्थात् उन्होंने स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे गौतम! संसार में अगर सारभूत है, तो ध्यान ही है।

किसी एक विषय में चित्त को रोकना ध्यान है इसके चार भेद हैं-आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। दुःख से युक्त होने वाले ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं जिसके इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, पीड़ाजन्य एवं निदान ऐसे चार भेद हैं। क्रूर परिणामों से होने वाला ध्यान रौद्रध्यान है इसके हिंसानंदी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी ऐसे चार भेद हैं। धर्म से विशिष्ट ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं इसके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ऐसे चार भेद हैं। शुद्धध्यान

को शुक्लध्यान कहते हैं इसके भी चार भेद हैं– 1. पृथक्त्ववितर्क 2. एकत्ववितर्क 3. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और 4. व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

इसमें आर्तध्यान से तिर्यंचगति मिलती है, रौद्रध्यान से नरकगति मिलती है, धर्मध्यान ही सारभूत है जो शुक्लध्यान को प्राप्त कराने वाला है और शुक्लध्यान मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है। निर्विकल्प ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं जो आज सुलभ नहीं है, हाँ धर्मध्यान सुलभ है। मन को किसी एक स्थान पर टिका लेना ध्यान है। उस ध्यान की सिद्धि हेतु गुरुओं का सत्संग, यात्रा, पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं की जाती हैं जितने भव्य पंचकल्याणक आदि हैं वे सब ध्यान की सिद्धि के लिए, ध्यान के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किए जाते हैं। आत्मा की सिद्धि हेतु धर्मध्यान कारण है/सामग्री है। इसके द्वारा हम मन को एकाग्र कर सकते हैं। मन बंदर की तरह चंचल है, किन्तु उस चंचल मन को ध्यान के द्वारा एकाग्रचित्त कर लें तो क्या होगा? हमारी आत्मा तो यहीं बैठी हैं परन्तु एक मिनट को चिन्तन किया कि मेरी आत्मा सिद्धालय में जा रही है उससे महान पुण्य का बंध हो जाएगा और वह ध्यान की सिद्धि में कारण बन जाएगा।

अपने को ऐसा काम करना है जिससे नरक आदि गति न मिले, स्वर्गादि गतियां मिलें अतः हमें सदैव धर्मध्यान का ही आश्रय लेना चाहिए। कभी किसी को इष्टवियोगज आर्तध्यान हो जाता है, तब मोह व्यक्ति को विह्वल कर देता है, ऐसे समय में अगर तीर्थयात्रा जाओ, गुरु के पास रहो तो चित्त बदलता है। एक सेठ का अपनी पत्नी की ओर ध्यान था, अतः वह आर्तध्यान से मरकर मेढ़क हुआ। कोई किसी के प्रति विशेष प्रेम करता है तो पूर्वजन्म के संस्कार काम करते हैं, कोई किसी के प्रति विद्वेष करे तो वह भी संस्कार है। यह प्राणी आर्तरौद्रादि दुर्ध्यानों के माध्यम से किस प्रकार से कर्मों को भोगता है और किस प्रकार से धर्म और शुक्ल ध्यान के माध्यम से मोक्षरूपी सम्पदा को प्राप्त कर लेता है इसका एक बहुत ही रोमांचक उदाहरण मैं आपको सुनाती हूँ–

अयोध्या नगरी में प्रजापाल नामक राजा राज्य करते थे, उनके राज्य में एक सिद्धार्थ नाम के विख्यात श्रेष्ठी रहते थे जिनकी 32 स्त्रियां थीं, किन्तु दुर्भाग्यवश उनके कोई सन्तान नहीं थी। इन 32 स्त्रियों में जयावती नाम की स्त्री सेठ जी को प्राणों से भी अधिक प्रिय थी। वह जयावती पुत्र प्राप्ति के लिए सदा मिथ्यात्व क्रियाएँ किया करती थी। एक बार की बात है एक मुनिराज ने जयावती को सम्बोधित करते हुए कहा कि पुत्री! तू जिनधर्म पर विश्वास रख, जैनधर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने से तू अपनी मनवाञ्छित वस्तु को सात वर्ष के भीतर अवश्य प्राप्त कर लेगी। मुनि के वचनों को सुनकर जयावती जिनधर्म पर श्रद्धान करने लगी। मुनि का कथन सत्य हुआ और जिनधर्म के प्रसाद से जयावती ने पुत्ररत्न की प्राप्ति की और बहुत प्यार से उसका नाम रखा 'सुकौशल'। सुकौशल खूबसूरत होने के साथ-साथ तेजस्वी भी था।

इधर सिद्धार्थ सेठ जी विषयों को भोगते-भोगते विरक्तमना हो चुके थे, उन्हें अब क्षणमात्र भी संसार सुख रुचिकर नहीं लग रहा था किन्तु सम्पत्ति को संभालने वाला कोई न होने से लाचारीवश घर में रह रहे थे। सुकोशल के जन्म लेते ही अत्यन्त प्रसन्नमना सेठ जी पुत्र का मुख देख उसे सेठ पद का तिलक कर नयंधर नामक मुनिराज के पास दीक्षित हो गये। नवजात बालक और प्रिय पत्नी को इतनी कठोरतापूर्वक निर्ममभाव से छोड़कर जिनदीक्षा लेने की बात सुनकर सेठानी जयावती को न सिर्फ अपने पति पर ही गुस्सा आया बल्कि नयंधर मुनि पर भी बड़ा क्रोध आया, उसे मुनि मात्र पर ही अश्रद्धा हो गयी और उसने घर में मुनियों का आना-जाना तक बंद कर दिया। सच ही है, मोह व्यक्ति को बड़े से बड़ा दुष्कर्म भी करवा देता है इसलिए आचार्यों ने मोह को सभी कर्मों में प्रधान मानकर शत्रु की भी उपमा दी है, मोह के वशीभूत प्राणी जन्म से अंधे पुरुष के समान धर्मरूपी चिन्तामणि रत्न को भी खो देता है।

सेठानी जयावती ने युवावस्था में सुकौशल का अच्छे-अच्छे घराने की 32 कन्या रत्नों के साथ विवाह कर दिया और सुकौशल भौतिक सुखों का उपभोग करते हुए आराम से रहने लगे। माता के अत्यधिक स्नेहवश सैकड़ों दास-दासी उसकी सेवा में उपस्थित रहते थे। सच भी है, जिनके पुण्य का उदय होता है उन्हें सब सुख-सम्पत्ति सहज में ही प्राप्त हो जाती हैं।

एक बार की बात है सुकौशल अपनी माता, स्त्रियों एवं धाय के साथ अपने महल की छत पर बैठे अयोध्या की शोभा व प्रकृति का आनंद ले रहे थे तभी दूर से उन्हें कोई मुनिराज आते दिखे जो कि उनके पिता ही थे, जो अन्य नगरों से विहार करते हुए इधर आ रहे थे, नग्न दिगम्बर मुनि को कभी न देखने वाले सुकौशल ने जब आश्चर्यचकित हो अपनी माँ से इस अजब वेष के बारे में पूछा तो जयावती की आँखों में खून उतर आया और घृणा व उपेक्षाभाव से बोली– होगा कोई भिखारी, तुझे इससे क्या मतलब? परन्तु सुकौशल उनकी सुन्दरता व तेज को देख जब बार-बार माँ से पूछने लगा तब पास में बैठी धाय सुनन्दा से अपने मालिक के लिए भिखारी शब्द सुनकर न रहा गया और वह सुकौशल को सारी बात बताने लग गई। धाय की बात पूरी हो इससे पूर्व ही जयावती ने उसे आँख के इशारे से चुप कर दिया। वैसे तो सुकौशल पूरी बात सुन नहीं पाया था पर इतना अवश्य जान गया कि माँ ने सच बात मुझे नहीं बताई, इतने में रसोइया सुकौशल को भोजन हेतु बुलाने आ पहुँचा, किन्तु उसने भोजन से इंकार कर दिया, यहां तक कि माता व पत्नियों के कहने पर भी भोजन के लिए न जाकर बोले कि जब तक मैं उन महापुरुष का सच्चा-सच्चा हाल न सुन लूँ तब तक भोजन नहीं करुंगा। जयावती तो सुकौशल के इस हठाग्रह से नाराज हो वहां से चली गयी पर पीछे से धाय ने सारी बात बता दी, तब दुःखी सुकौशल को वैराग्य हो गया और उसने तत्काल ही

सिद्धार्थ महाराज के पास जाकर धर्मश्रवण किया और मुनिधर्म व गृहस्थधर्म का पूरा स्वरूप समझकर मुनिधर्म को अंगीकार करने की भावना से वापस घर आकर अपनी सुभद्रा नामक स्त्री के गर्भस्थ शिशु का सेठ पद का तिलककर सर्व आरंभ-परिग्रह, मोह-ममता का परित्याग कर सिद्धार्थ मुनि के पास ही जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। अब तो एकमात्र पुत्र के मुनि बन जाने की बात सुन माता जयावती को गहरी ठेस पहुँची और पुत्र के मोह में पागल सी दुःख और चिन्ता के मारे दिनोंदिन सूखने लगी और एक दिन इष्टवियोगज आर्तध्यान से उसके प्राण निकले अतः अशुभ भावों के कारण वह मगधदेश के मौदि्गल नामक पर्वत पर व्याघ्री हुई, जिसके तीन बच्चे थे। संयोगवश विहार करते हुए सिद्धार्थ व सुकौशल मुनि ने उसी पर्वत पर योग धारण कर लिया। योगपूर्ण कर जब ये आहार हेतु शहर की ओर जा रहे थे तब उस व्याघ्री ने इन्हें खा लिया। दोनों पिता-पुत्र समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में एक भवावतारी देव हुए। इधर व्याघ्री ने सुकौशल को खाते-खाते जब उसका हाथ खाना शुरू किया तब उसकी दृष्टि सुकौशल के हाथों के लाञ्छनों पर गई और उसे जातिस्मरण हो गया, यह सोचकर कि ''ओह! जिसे मैं खा रही हूँ वह कभी मेरा प्यारा पुत्र था'' वह आत्मग्लानि से स्वयं को धिक्कारने लगी– उस मोह को धिक्कार है जिसके वशीभूत यह जीव हित-अहित को भूल कुमार्ग में फंसकर दुःख उठाता है। इस प्रकार अपने कर्मों की आलोचना करते हुए उस व्याघ्री ने सन्यास ग्रहण कर लिया और आयु के अंत में शुभ भावों से मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव पद प्राप्त किया।

आचार्यों ने सत्य ही कहा है कि जीवों की शक्ति अद्भुत ही हुआ करती है और जैनधर्म का प्रभाव भी संसार में बड़ा ही उत्तम है। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक प्राणी स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता व भोक्ता है, भावों की जैसी परिणति होगी, जैसा ध्यान होगा वैसी ही गति भी होगी।

देखो! इष्टवियोगज आर्तध्यान का प्रभाव, जो माता अपने पुत्र को इतना राग, इतना मोह करती थी, पहले पति की विरक्ति पुनः पुत्र की दीक्षा से दुःखी हो आर्तध्यान से शरीर छोड़ा और अशुभ भावों के कारण व्याघ्री बनकर अपने बच्चों सहित उसी पति और बेटे को खाने लग गयी पुनः जब सुकौशल मुनि के हाथों के लाञ्छन देख पूर्वजन्म का ज्ञान हुआ तो आत्मग्लानि से अपने कर्मों की निन्दा करती हुई सन्यास ग्रहण कर शुभ भावों से मरकर स्वर्ग गयी और धर्मध्यान का प्रभाव भी देखो कि उन सिद्धार्थ व सुकौशल मुनि ने इस घोर उपसर्ग को सहन करते हुए आत्मचिंतन में लीन हो शरीर से ममत्व भाव को छोड़ा और सर्वार्थसिद्धि में देव हुए। वास्तव में संसार में भावों की बड़ी महिमा है, कहां तो आर्तध्यान से तिर्यंचगति और कहां धर्मध्यान से सर्वार्थसिद्धि में एक भवावतारी देव बनकर सिद्धपद की प्राप्ति।

आचार्य श्री पद्मनन्दि ने पद्मनन्दिपंचविंशतिका नामक ग्रंथ में आत्म चिन्तवन के बारे में बताते हुए कहा है कि–

तद्ध्यायत तात्पर्याज्ज्योतिः सच्चिन्मयं विना तस्मात्।
सदपि न सत्सति यस्मिन्नश्चितमाभासते विश्वम् ।।

जिस प्रकार श्रेष्ठ तथा ज्ञानस्वरूप चैतन्य के बिना समस्त मौजूद पदार्थ भी नहीं मौजूद के समान हैं और जिस चैतन्य के होने पर समस्त पदार्थों का प्रगट रीति से प्रतिभास होता है उसे ज्ञानस्वरूप आत्मारूपी ज्योति की भव्यजीवों को अवश्य आराधना व उपासना करनी चाहिए।

आचार्यों ने परम ध्यान का लक्षण बताते हुए कहा है–

तुम कुछ भी तन की चेष्टा को, मत करो वचन भी मत बोलो।
मन से भी चिंतन कुछ न करो, जैसे होवे स्थिर हो लो।।
इस विध जब आत्मा-आत्मा में, स्वयमेव लीन हो जाता है।
तुम समझो जग में यही ध्यान, बस सर्वश्रेष्ठ कहलाता है।।

भव्यात्माओं! आप लोगों को भी संसार में रहते हुए गृहस्थ धर्म का संचालन करने के साथ-साथ अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यदि आपने कुछ क्षण को भी अध्यात्म भावना का चिन्तन कर लिया तो निश्चित ही आज का किया हुआ लघु चिन्तन भी आने वाले समय में आपके पूर्ण आत्मचिन्तन में सहायक होगा और आपकी आत्मा को परमात्मास्वरूप पद प्रदान करने में भी सहायक होगा अतः आप सभी भव्यजीव 24 घंटे में कुछ क्षण के लिए ही शुद्धात्म स्वरूप का चिन्तन करें कि मेरीआत्मा सिद्ध स्वरूपी है, चित्चैतन्य चिदानन्द स्वरूपी है और सिद्धस्वरूपी है। यह आत्मचिन्तन, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति आपको चरम लक्ष्य तक पहुँचावे यही मंगल आशीर्वाद है।

मंगलाचरण

यस्य देशं समाश्रित्य साधवः कुर्वते तपः।
षष्ठमंशं नृपस्तस्य लभते परिपालनात्।।

जिस देश का आश्रय पाकर साधु जन तपश्चरण करते हैं उन सबकी रक्षा के कारण वहां का राजा उस तप के छठवें भाग पुण्य को प्राप्त कर लेता है।

काले दानविधिं पात्रे, क्षेत्रे चायुःस्थितिक्षयम्।
सम्यग्बोधिफलां विद्यां नाभव्यो लब्धुमर्हति।।

योग्य काल में पात्र को दान देना, क्षेत्र (निर्वाण क्षेत्र आदि) में आयु की स्थिति समाप्त होना तथा रत्नत्रय की प्राप्तिरूपी फल से युक्त विद्या प्राप्त होना इन तीन कार्यों को अभव्य जीव कभी नहीं पाता है।

–श्री रविषेणाचार्य

प्रवचन–38

अणुव्रती नियम से देवगति प्राप्त करता है

इस नश्वर संसार में मनुष्य पर्याय प्राप्त करने के बाद सर्वश्रेष्ठ सम्यग्दर्शन है–

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नाम्यत्तनूभृताम्।।

आचार्यों ने कहा है कि सम्यक्त्व के समान तीनों लोकों व तीनों कालों में कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है तथा मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी शत्रु नहीं है।

इस हुण्डावसर्पिणी काल के तृतीय काल के अंत में भगवान ऋषभदेव के पोते एवं सम्राट भरत चक्रवर्ती के पुत्र मरीचि कुमार हुए हैं जिन्होंने मिथ्यात्व का पोषण किया और मिथ्यात्व के कारण एक कोड़ाकोड़ी सागर तक संसार परिभ्रमण किया, यहाँ तक कि नरक निगोद में भी गये अंततः सिंह की पर्याय में अमितगति एवं अजितञ्जय मुनि के द्वारा सम्बोधन प्राप्त कर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया तब दश भवों के पश्चात् तपस्या आदि के प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर चतुर्थ काल के अंत में वर्तमान चौबीसी के चौबीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर हुए हैं।

महानुभावों! सम्यग्दर्शन के बल पर कोई भी मनुष्य स्वयं को भगवान आत्मा बना सकता है और मिथ्यात्व से चतुर्गति भ्रमण तो करता ही है, अगर कदाचित् निगोद में चला जाए तो मनुष्य पर्याय पाना बहुत कठिन है।

सम्यग्दृष्टि की चार पहचान हैं–

(1) प्रशम अर्थात् कषायों की मन्दता (2) संवेग अर्थात् संसार से डरकर तथा संसार, शरीर, भोग से वैराग्य के साथ ही पंचपरमेष्ठी की शरण (3) अनुकम्पा–प्राणी मात्र पर दया भाव (4) आस्तिक्य–तीर्थंकर भगवन्तों की वाणी पर विश्वास करना, जैसे सुमेरु पर्वत कहाँ है? आत्मा, ईश्वर, शरीर, परलोक आदि का अस्तित्व स्वीकार करना इत्यादि।

जिनधर्म में वर्णित प्रत्येक वस्तु तत्त्व पर श्रद्धान करना आस्तिक्य है।

आज जैन धर्मावलम्बियों को निरीश्वरवादी कहकर यह आरोप लगाया जाता है कि जैनों ने ईश्वर को स्रष्टा नहीं माना अतः वह नास्तिक हैं किन्तु ऐसा नहीं है, वह ईश्वरवादी हैं, उन्होंने अनन्त तीर्थंकरों का अस्तित्व स्वीकार किया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों का कर्ता-भोक्ता है तथा हमारी आत्मा भी शक्ति रूप में भगवान आत्मा है। जैन पूर्णरूपेण आस्तिक हैं, ईश्वरवादी हैं, वह नरक, निगोद, परलोक को मानते हैं जबकि नास्तिक लोग नरक, निगोद, परलोक, आत्मा, ईश्वर आदि को नहीं मानते हैं। अगर जैन नास्तिक होते तो वे अणुव्रत, महाव्रत आदि भी नहीं लेते और न ही आत्मा की सिद्धि हेतु तपश्चरण आदि ही करते।

जैनधर्म सर्वथा अहिंसा स्वरूप है। पुरुषार्थसिद्धि उपाय नामक ग्रंथ में अहिंसा का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन है। आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने अहिंसा का लक्षण बताते हुए कहा है कि–

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु।।

अर्थात् धर्म अहिंसा रूप है, परम रसायन है। जो जीव अहिंसारूप धर्म को अच्छी प्रकार समझते हुए भी स्थावर हिंसा को छोड़ने में असमर्थ हैं वे भी त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करें, अणुव्रत ग्रहण करें।

अणुव्रत क्या हैं? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों के अणु अर्थात् एकदेश त्याग को अणुव्रत कहते हैं। मन,वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदना से संकल्पपूर्वक (इरादापूर्वक) किसी त्रस जीव को नहीं मारना अहिंसा अणुव्रत है। स्वयं स्थूल झूठ न बोले, न दूसरों से बुलवाए और ऐसा सच भी नहीं बोले कि जिससे धर्म आदि पर संकट आ जावे सो सत्याणुव्रत है। किसी का रखा हुआ, पड़ा हुआ, भूला हुआ अथवा बिना दिया हुआ धन-पैसा आदि द्रव्य नहीं लेना और न उठाकर किसी को देना अचौर्याणुव्रत है। अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य स्त्री के साथ कामसेवन नहीं करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत अथवा शीलव्रत कहलाता है। यह व्रत सभी व्रतों में अधिक महिमाशाली है। इसके पालन करने वाले को मनुष्य तो क्या देवता भी नमस्कार करते हैं तथा धन, धान्य, मकान आदि वस्तुओं का जीवन भर के लिए परिमाण कर लेना, उससे अधिक की इच्छा नहीं करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। इस व्रत के पालन करने से आशाएं सीमित हो जाती हैं तथा नियम से सम्पत्ति बढ़ती है।

वैसे आचार्यों ने पाक्षिक श्रावक के लिए कहा है कि उसे पहले अष्टमूलगुण का पालन करना चाहिए। अष्टमूलगुण की परिभाषा बताते हुए आचार्यश्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है–

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।

अर्थात् मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फल ये आठों पदार्थ महापाप के कारणों हैं इस कारण इनका त्याग करने पर ही पुरुष किसी उपदेश के सुनने के योग्य पात्र होता है अर्थात् इनके त्याग के बिना श्रावक नहीं हो सकता, इसी कारण इनके त्याग को अष्टमूलगुण माना है।

और भी कहा है–

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।।

अर्थात् हिंसा त्याग करने की कामना करने वाले पुरुषों को प्रथम ही यत्नपूर्वक शराब, मांस, शहद और ऊमर, कठूमर, पीपल, बड़, पाकर ये पांचों उदुम्बर फल छोड़ देना चाहिए।

सागारधर्मामृत में पण्डित श्री आशाधर जी ने अष्टमूलगुण के बारे में बताते हुछ्वा है–

मद्यपलमधुनिशासन पंचफलीविरतिपंचकाप्तनुतिः।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।

(1) मद्य (2) मांस (3) मधु (4) रात्रि भोजन तथा (5) पंच उदुम्बर फल, इनका त्याग (6) जीव दया का पालन (7) जल छानकर पीना एवं (8) पंच परमेष्ठी को नमस्कार करना ये अष्टमूलगुण हैं।

एक और प्रकार से अष्टमूलगुणों के बारे में बताते हुए आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है–

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।

अर्थात् मद्य, मांस, मधु इन तीन मकारों का त्याग और पांच अणुव्रतों का पालन तृतीय प्रकार का अष्टमूलगुण है।

इस प्रकार तीन रूपों में इस अष्टमूलगुण के बारे में बताया है जिसमें रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अणुव्रत को भी लिया है। इन पांचों अणुव्रतों की बड़ी महिमा है। अणुव्रत वही ले सकता है जिसके नरक व तिर्यंच आयु नहीं बंधी है। अणुव्रती नियम से देवगति प्राप्त करने का अधिकारी होता है। ''अणुवद महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं'' अर्थात् इसको पालन करने वाला देवायु का ही बंध करता है।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है–

पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते।।

निधिस्वरूप ये पांच अणुव्रत यदि निरतिचार पाले जाते हैं तो ये नरक, पशु और मनुष्यगति से रहित देवपद को प्राप्त कराते हैं फिर वहाँ वे देव वैक्रियिक शरीर, अणिमा, महिमा आदि आठ ऋद्धियाँ और अवधिज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तथा कई सागर तक दिव्य सुखों का उपभोग करते हैं। इसका एक उदाहरण मैं आपको सुनाती हूँ–

मैंने पहले आपको अग्निभूति और वायुभूति की कथा सुनाई थी कि किस प्रकार अग्निभूति के दीक्षित हो जाने पर उसकी पत्नी सोमदत्ता ने अपने देवर वायुभूति से उन्हें वापस लाने की प्रार्थना की पर उसके द्वारा लात मारे जाने पर उसने निदान बंध कर लिया और वह वायुभूति जिसने मुनि की तीव्र निन्दा की थी जिसके कारण अग्निभूति ने दीक्षा ली, उस को तीव्र पापकर्म का बंध होने से बहुत जल्दी ही उसका फल मिल गया।

यह नियम है कि सच्चे गुरु की निन्दा करने वाला व्यक्ति महान कष्टों को सहन करता है अतः उस वायुभूति के भी सात दिन के अंदर ही कुष्ट रोग हो गया और वह अत्यन्त कष्ट से मरकर कभी गधा तो कभी जंगली सुअर हुआ, पुनः कुयोनियों में भटकता हुआ चम्पापुरी में एक चाण्डाल के घर कुत्ती हुआ और वहाँ से मरकर दूसरे

चाण्डाल के यहाँ एक लड़की हुई जो कि जन्म से अंधी और दुर्गन्धित थी। अतः इसके माता-पिता ने इसे छोड़ दिया, पर भाग्य सभी का बलवान होता है इसलिए इसकी भी किसी तरह रक्षा हुई। वह एक जामुन वृक्ष के नीचे पड़ी हुई जामुन खाया करती थी।

इधर चम्पापुरी की ओर विहार करते हुए सूर्यमित्र मुनि अग्निभूति के साथ उधर आ निकले। उस दुखियारी कन्या को देखकर अग्निभूति के हृदय में कुछ मोह व कुछ दुःख हुआ। उन्होंने गुरु से पूछा कि प्रभो! इसकी कैसी कष्टमयी दशा है? इसे कैसे शांति मिलेगी? तब अवधिज्ञानी सूर्यमित्र गुरु ने कहा कि यह तुम्हारा पूर्व जन्म का भाई है यह अल्पजीवी है, तुम इसे सम्बोधित करो। साथ ही उसके अन्य जन्मों की बात भी बताई। तब अग्निभूति मुनि ने उस चाण्डाल कन्या को पाँच अणुव्रत देकर उसको सन्यास दिलवा दिया और वह कन्या मरकर व्रत के प्रभाव से चम्पापुरी में ही नागशर्मा ब्राह्मण की नागश्री नाम की कन्या हुई। एक दिन नागश्री वन में नागपूजा करने अपनी सखियों के साथ गई थी। पुण्ययोग से सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनि भी विहार करते हुए इस ओर आ गए। उन्हें देखकर नागश्री के मन में उनके प्रति अत्यन्त भक्ति हो गई और वह उनके पास जाकर हाथ जोड़कर बैठ गई। उन अग्निभूति मुनि को उस कन्या को देख पुनः अपनत्व जगा तब गुरु से पूछने पर उन्होंने पूर्व जन्म का भ्रातृ-भाव बताया। तब अग्निभूति ने उसे धर्म का उपदेश देकर सम्यक्त्व तथा पंचाणुव्रत ग्रहण करवा दिया और कहा कि अगर तेरे पिता नाराज हों तो तू आकर मुझे मेरे व्रत वापस दे जाना। सच है, मुनि लोग दीर्घदृष्टा व सच्चे मार्गदर्शक होते हैं।

जब नागश्री उन मुनिराजों को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर घर वापस आ गई तब उसकी सहेलियों ने व्रतादि की सभी बातें नागशर्मा को बता दीं। उस समय नागशर्मा क्रोधित होता हुआ उसे समझाने लगा कि हम पवित्र ब्राह्मण कुल के लोग इन नंगे मुनियों के दिये हुए व्रत नहीं लेते। तू इन व्रतों को छोड़ दे तब पिता के डांटने से नागश्री व्रत छोड़ने को तैयार हो गई और मुनि के कहे अनुसार पिता को साथ लेकर उन व्रतों को वापस करने के लिए चल दी, नागशर्मा भी क्रोधित होता हुआ साथ चल दिया। रास्ते में नागश्री ने एक जगह देखा कि कुछ लोग एक बंधे हुए मनुष्य को क्रूरतापूर्वक मार रहे हैं तब उसने पिता से पूछा कि पिताजी, इस बेचारे को इतनी निर्दयतापूर्वक क्यों मारा जा रहा है? तब नागशर्मा बोला कि बेटी, इसने एक बनिये के लड़के से कुछ रुपये लिए थे जो उसने मांगे तब इस पापी ने उसे रुपये न देकर जान से मार डाला अतः उस अपराध में राजा ने इसे प्राणदण्ड की सजा दी है तब नागश्री ने जरा जोर देकर कहा कि पिताजी यही व्रत तो उन मुनियों ने मुझे दिया है फिर आप उसे छुड़ाने के लिए क्यों कहते हैं। नागशर्मा निरुत्तर होकर बोला कि ठीक है तू यह व्रत न छोड़, बाकी के व्रत तो उन्हें देना ही पड़ेगा। आगे चलकर नागश्री ने एक और पुरुष को बंधा हुआ देखा तब पिताजी से पूछा तो उन्होंने बताया कि यह झूठ बोलकर लोगों को ठगता

था अतः इसकी जीभ काटकर इसे सजा दी जा रही है। तब फिर नागश्री बोली कि पिताजी, यही व्रत तो मैंने भी लिया है, मैं इसे भी नहीं छोडूंगी। इसी प्रकार चोरी, परस्त्रीसेवन तथा लोभ आदि से दुख पाते हुए मनुष्यों को देखकर नागश्री ने व्रत न छोड़ने की बात कहकर पिता को निरुत्तर कर दिया। तब पिता ने कहा कि अच्छा ठीक है, तू उन व्रतों को मत छोड़, पर तू मुझे उन मुनियों के पास तो ले चल। मैं उनसे इतना तो पूछूं कि किस अधिकार से उन्होंने मेरी लड़की को बिना पूछे व्रत दिये? और उन मुनियों के पास पहुँचकर क्रोधित होते हुए बोला-क्यों रे नंगों! तुमने मेरी लड़की को व्रत देकर क्यों ठग लिया? बतलाओ, तुम्हें यह अधिकार किसने दिया?

नागशर्मा के सब कुछ कहने पर भी मुनि शांत रहे पुनः विनोद में कहा कि यह बेटी तो मेरी है। तब ब्राह्मण देवता घबरा गए। वे 'अन्याय-अन्याय' चिल्लाते हुए राजा के पास पहुँचे तब सारी बात सुनकर राजा भी सोच में पड़ गए और उन मुनिराज के पास पहुँचकर नमस्कार कर बैठ गए। पुनः जब वहीं झगड़ा उपस्थित हो गया और भीड़ लग गई तब राजा ने मुनि से कौतुकवश पूछा तो मुनि बोले कि अच्छा, नागशर्मा! तूने इसे क्या पढ़ाया है? यदि यह तेरी लड़की है तो बताए और सुन, मैंने इसे सब शास्त्र पढ़ाये हैं इसलिए यह लड़की मेरी है। तब राजा बोले कि प्रभो! आप इसकी परीक्षा कर हमें विश्वास दिलावें। तब मुनि बोले-नागश्री! अभी तक मैंने तुम्हें वायुभूति कीपर्याय में जो कुछ पढ़ाया है सो बता दे। इतना कहते ही नागश्री ने जन्म-जन्मान्तर का पढ़ा सारा विषय सुना दिया। जिसे सुनकर राजा तथा सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह सब देखकर राजा ने सम्पूर्ण विषयों का खुलासा करने की प्रार्थना की तब अवधिज्ञानी सूर्यमित्रने वायुभूति के भव से लगाकर नागश्री के जन्म तक सारी घटना उसे सुनाई जिसे सुनकर राजा वो बहुत आश्चर्य हुआ और मोह को इसका मूल कारण जान उन्हें वैराग्य हो गया और उन्होंने बहुत से राजाओं के साथ दीक्षा ले ली उनके साथ नागशर्मा ने भी जैनधर्म का उपदेशसुन दीक्षा ले ली। वहां से विहार कर सूर्यमित्र एवं अग्निमित्र यह दोनों मुनि अग्निमंदिरनामक पर्वत पर पहुँचे और तपस्या द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिय। नागश्री भी आर्यिका दीक्षा ले सम्यक्त्व के प्रभाव से स्त्रीलिंग का छेदकर कालांतर में मुक्ति को प्राप्त हुई, ऐसी इस सम्यक्त्व व पंच अणुव्रतों की महिमा है।

यह नियम है कि सम्यग्दृष्टि जीव एकेन्द्रिय स्थावरों में, विकलत्रय में, असंज्ञी, अपर्याप्तक और संमूर्च्छन जीवों में, अल्पायु में, दरिद्र और नीचकुलों में, नरकगति औरतिर्यंचगति में, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में तथा स्त्रियों में जन्म नहीं लेते हैं और सम्यग्दृष्टि स्त्री कभी भी नरक व पशुयोनि में नहीं जाएगी, अणुव्रती स्त्री तो नियम से प्रथम तो देवपद प्राप्त करेगी और कालान्तर में मोक्ष जाएगी अगर कदाचित् कोई गति बंध कर लिया तो अणुव्रती होने पर नरक व पशुगति नहीं बंधेगी। अतः आपभीअणुव्रती बन परम्परा से मोक्षपद प्राप्त करें यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन—39

''संस्कार से मानव भगवान बनता है''

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः

जैसे पाषाण शिल्पकार के द्वारा संस्कारित होकर भगवान बनता है, मिट्टी कुम्हार से संस्कारित होकर घड़ा, सकोरा, खिलौने आदि के रूप को धारण कर लेती है, लोहा लुहार के द्वारा तपाये जाने पर, कूटे-पीटे जाने पर ताला, चाबी, अलमारी, तिजोरी आदि अनेक प्रकार से परिवर्तित हो जाता है, सोना स्वर्णकार के हाथों में आकर प्रयोगों के बल पर चमकता है तथा अनेक आभूषणों का रूप धारण करता है। उसी प्रकार गुरु से संस्कारों को प्राप्त करके मनुष्य श्रावक व साधु का रूप धारण कर लेते हैं।

जो अनादिकाल के मिथ्यात्व को दूर करके सम्यक्त्व में दृढ़ करें वे सच्चे गुरु कहलाते हैं। उनके द्वारा प्राप्त संस्कार इस भव में तो काम आते ही हैं, अगले कई जन्मों में वे संस्कार कभी न कभी जागृत अवश्य होते हैं। साधुगण जहाँ भी जाते हैं समाज को अपना धर्मोपदेश प्रदान करते हैं। कोई पूरा ग्रहण करते हैं, कोई थोड़ा तथा कोई मात्र सुनते ही हैं एक अक्षर भी ग्रहण नहीं करते फिर भी आचार्यों ने उन्हें सांत्वना प्रदान की है कि मात्र सुना हुआ उपदेश भी बिल्कुल व्यर्थ नहीं जाता वह किसी भव में देशनालब्धि के रूप में कार्यकारी अवश्य होता है। नरकों में जाने वाले जीवों को भी पूर्वभव की देशना काम आ जाती है। पहले नरक से तीसरे नरक तक तो पूर्व भव के कोई संबंधी देव सम्बोधन करने पहुँच सकते हैं किन्तु चौथे से सातवें नरक तक किसी देव का आवागमन नहीं है अतः वहाँ तो मात्र पूर्वभव का ज्ञान ही काम आ सकता है।

पूर्वभव के संस्कारों से कभी-कभी विद्या ज्यों की त्यों उपलब्ध हो जाती है। सन् 1952 में जब मैंने घर छोड़ा, मेरे मन में पढ़ने की तीव्र उत्कण्ठा थी किन्तु पढ़ाने वाला कोई नहीं मिला। सन् 1954 में जब मैं कातंत्र व्याकरण के सूत्र पढ़ाती तो रात्रि स्वप्न में मुझे कुछ सूत्र नये याद हो जाते। सुबह अपने साथ की क्षुल्लिका विशालमती जी को बताती तो वे कहतीं कि पूर्वजन्म में तुमने इस व्याकरण को अवश्य पढ़ा होगा। एक बार पढ़ने मात्र से मुझे उस व्याकरण के सारे सूत्र याद हो जाते थे। इसी प्रकार बिना पर निमित्त के शास्त्रों का स्वाध्याय करते-करते मुझे वैराग्य हो गया। घर में माता-पिता मेरी बातें सुनकर आश्चर्यचकित होते कि मेरी बेटी ऐसी बातें क्यों कर रही है? परन्तु मुझे ऐसा लगता कि दीक्षा कोई नई चीज नहीं है। शायद ये भी पूर्वजन्म के संस्कार ही हों।

आप लोगों के भी कई जन्म के संस्कार ही हैं जो इस कलिकाल में गुरुओं का उपदेश मिल रहा है, सहज में यह पुण्य अवसर प्राप्त नहीं होता। शास्त्रों में भी कई

उदाहरण मिलते हैं कि वैर और मित्रता के संस्कार भव-भव तक चलते हैं। भगवान पार्श्वनाथ के साथ कमठ का वैर कई भवों तक चलता रहा है। अन्त में उन्हीं की प्रकर्ष क्षमा ने उन्हें तीर्थंकर महापुरुष बना दिया। हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को तो आठ भव पूर्व के संस्कार स्मरण में आ गए जिसके बल पर दिगम्बर जैन मुनियों की आहारचर्या विधि को जाना और भगवान आदिनाथ को मुनि अवस्था में उन्होंने इक्षुरस का आहार दिया।

राम, रावण और सीता के जीवन से आप परिचित हैं। एक स्त्री के लिए राम को इतना घमासान युद्ध करना पड़ा। संसार में कंचन, कामिनी (स्त्री) और कीर्ति इन तीन के कारण ही बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं। यदि सीता को रावण से मुक्त कराने हेतु राम-लक्ष्मण यह युद्ध नहीं करते तो वे मर्यादा पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध नहीं होते यद्यपि जैन रामायण के अनुसार उनके आठ हजार रानियाँ थीं उनमें से एक सीता के चले जाने से कोई फर्क नहीं पड़ रहा था किन्तु स्त्री जाति पर होने वाले अन्याय का प्रतीकार करने के लिए ही उन्होंने युद्ध किया।

लोक में नीति भी है– ''अन्याय को सहन करने वाला भी अन्यायी कहलाता है'', अतः महापुरुष कभी भी अन्याय को सहन नहीं कर सकते हैं। मैं यहाँ संस्कार के विषय में बता रही थी कि यद्यपि रावण ने सीता के रूप पर मोहित होकर उसका अपहरण किया किन्तु उसका जबरदस्ती शील भंग नहीं किया क्योंकि रावण ने एक बार मुनिराज से नियम लिया था कि ''जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसके साथ बलात्कार नहीं करूँगा।''

सीता ने रावण के इस उपकार का भविष्य में बदला भी ऐसा चुकाया कि नरक में पड़े हुए रावण को वह स्वर्ग से भी सम्बोधन करने पहुँच गई। फलस्वरूप रावण ने वहाँ पर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया, कालान्तर में वह रावण का जीव धातकीखण्ड में तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। यह सम्यक्त्व के संस्कार थे अन्यथा सीताजी रावण की बुराइयों को सोचकर उन्हें नरक के दुःख भोगते हुए देखकर प्रसन्न भी हो सकती थीं किन्तु महापुरुष बुराइयों में भी अच्छाइयाँ ढूंढ लेते हैं। सीता ने भी रावण का एक गुण ही याद किया उसकी बुराइयां नहीं। बुराइयों का फल तो बेचारा वह स्वयं भोग ही रहा था। जैसे शत्रुता और मित्रता के संस्कार जन्मजात तक चलते हैं उसी प्रकार धर्म के संस्कार भी कई भवों तक काम आते हैं। चार पुरुषार्थों में से धर्म पुरुषार्थ की गणना सर्वप्रथम आई है– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह क्रम बहुत ही सुन्दर रूप से आचार्यों ने बतलाया है। जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सभी ने इन्हीं क्रम से पुरुषार्थों का पालन करके मोक्षधाम को प्राप्त किया है।

दुनिया में लाखों करोड़ों की संख्या में स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय आदि बने

हुए हैं। किसलिए? प्रत्येक प्राणी को शिक्षित करने के लिए। आज तक कहीं पर ऐसा विद्यालय नहीं देखने में आया होगा जहाँ चोरी, डकैती, बेइमानी, अन्याय की शिक्षा दी जाती हो किन्तु फिर भी इन पापों की बहुलता होती जा रही है। इसका एक ही कारण है अनादिकालीन अज्ञान और पाप के संस्कार।

जल स्वभावतः नीचे की ओर ही बहता है उसे ऊपर पहाड़ों पर या कई मंजिले ऊंचे मकानों में पहुँचाने के लिए मशीनों का प्रयोग करना पड़ता है इसी प्रकार संसारी प्राणियों की मनःस्थिति प्रायः अधोगामी मानी गई है उसे ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए सत्संग, स्वाध्याय आदि मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। समयसार में आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा है–

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सविकाम भोगबन्धकहा।
एयत्तस्सुवलम्भो णवरिण सुलहो विहत्तस्स।।

अर्थात् काम, भोग, बंध की कथाएँ तो संसार में सभी के लिए श्रुत, परिचित और अनुभूत हैं क्योंकि अनादिकाल से इन्हीं में सभी रचे-पचे हुए हैं। आत्मतत्त्व के एकत्वविभक्त की कथा ही मात्र दुर्लभ रही है जिसे सुनने और सुनाने वाले प्राणी प्रायः दुर्लभता से प्राप्त होते हैं।

बच्चा जन्म लेते ही माँ के स्तन में मुँह लगाकर दूध पीने लगता है उसे दूध पीना कोई सिखाता तो नहीं है। पंचेन्द्रिय विषय भोगों में आसक्त होने के लिए किसी को सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु धर्ममार्ग पर लगाने के लिए सैकड़ों प्रयास करने पड़ते हैं। फिर भी संसार में एक आश्चर्य की बात देखने में आती है कि यदि कोई प्राणी दीक्षा में, त्याग में आगे बढ़ने लगता है तो परिवार एवं कुटुम्बी लोग उसे धर्म से उन्मुख करके संसारबंधन में फँसाने हेतु प्रयास करते हैं।

सन् 1952 में जब मैं बाराबंकी शहर में आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत और दीक्षा के लिए आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से प्रार्थना कर रही थी तब अपने कुटुम्बी तो विरोध के लिए आए ही साथ में न जाने कितने लोग अपनत्व दिखाते हुए मुझे रोकने के लिए आये थे। मैंने जब उन लोगों की बात नहीं मानी तो वे आचार्य महाराज को धमकियाँ देने लगे– देखते हैं आप इस लड़की को दीक्षा कैसे देंगे? इत्यादि। खैर! मेरा पुण्य था, पूर्व जन्म के दृढ़ संस्कार थे, मैंने भगवान की भक्ति का आश्रय लिया और अपनी माँ को रातभर समझाया। उन्होंने मुझे स्वीकृति प्रदान की अतः मुझे सफलता प्राप्त हुई। मैं तो उन माता मोहिनी के भी पूर्व संस्कार ही मानती हूँ जिन्होंने संसार की क्षणभंगुर स्थिति को पहचानकर पहले मुझे सहयोग प्रदान कर असली माता का कर्तव्य निर्वाह किया एवं बाद में स्वयं भी दीक्षा धारण कर आर्यिका रत्नमती बनीं।

मैं कई बार कहा करती हूँ कि यदि कोई लड़का या लड़की ब्रह्मचर्य व्रत लेने लगे

तो अपने और पराए सभी रोकने के लिए तैयार रहते हैं किन्तु न जाने किन-किन अपरिचितों के साथ शादी कराके बड़े खुश होते हैं जबकि उसमें सुखी रहने की कोई गारंटी नहीं होती। किन्तु अनादिकाल से इन्हीं संस्कारों में संस्कारित मानव इन्हीं कार्यों में आनंद की अनुभूति करता है।

संस्कारों का सर्वाधिक प्रभाव बाल जीवन पर पड़ता है। क्योंकि जैसे गीली मिट्टी को चाहे बर्तन या खिलौने रूप बनाया जा सकता है, नरम सोने को इच्छानुसार गहने रूप परिवर्तित कर सकते हैं उसी प्रकार बाल्यावस्था भी गीली मिट्टी और नरम सोने के समान होती है तथा उनकी उस समय की ग्राहक शक्ति भी तीक्ष्ण होती है इसलिए उन पर डाले गये संस्कार भी उन्हें शीघ्र ही प्रभावित करते हैं। माता की ममतामयी गोद उनके लिए सबसे बड़ी पाठशाला होती है जो संस्कार वे मान्टेसरी या कान्वेन्ट में प्राप्त नहीं कर सकते वे माँ से अज्ञातरूप में ही प्राप्त हो जाते हैं। इसके लिए घर और मोहल्ले का वातावरण भी जिम्मेदार होता है। यदि आपकी कॉलोनी शिक्षित है तो आपके बच्चों को भी शिक्षित होने में सहयोग प्राप्त होगा। अतः मेरा तो यही कहना है कि पहले आप स्वयं गुरुओं से संस्कार प्राप्त कर शिक्षित बनें पुनः भावी पीढ़ी को संस्कारित करने का संकल्प लेवें तभी देश और समाज का कल्याण हो सकता है।

मनहस्ती को वश में करो

जह चंडो वणहत्थी उद्दामो णयररायमग्गम्मि।
तिक्खंकुसेण धरिदो णरेण दिढसत्तिजुत्तेण।।
तह चंडो मणहत्थी उद्दामो विसयराजमग्गम्मि।
णाणंकुसेण धरिदो रुद्धो जह मत्तहत्थिव्व।।

अर्थ–जैसे जिसके गंडस्थल से मद झर रहा है और जो अत्यन्त कुपित हो रहा है ऐसा वनहस्ती यदि सांकल आदि बंधनों से रहित होकर नगर के राजमार्गों में दौड़ रहा है तो दृढ़ शक्तिशाली मनुष्य तीक्ष्ण अंकुश के द्वारा ही उसे वश में कर सकता है। उसी प्रकार से पंचेन्द्रियों के विषयरूपी राजमार्ग में उद्दंड फिरता हुआ मनरूपी हस्ती ज्ञानरूपी अंकुश के द्वारा ही वश में किया जाता है एवं जैसे मदोन्मत हस्ती भी वशीभूत हो जाने से स्वच्छंद कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार से मुनि भी जब अपने मनरूपी हस्ती को वश में कर लेते हैं तो वे उसे जहाँ लगाते हैं, वहीं पर ठहर जाता है, व्यर्थ के दुःखदायी आर्तरौद्र ध्यान की तरफ नहीं जाता है, ऐसा अभिप्राय है।

–भगवान कुंदकुंद देव, मूलाचार

प्रवचन–40

द्रौपदी पंचभर्तारी नहीं थी

भव्यात्माओं! माकंदी के राजा द्रुपद की पुत्री का नाम द्रौपदी था। जब वह नवयौवना हुई तब राजा ने उसके विवाह के लिए स्वयंवर का निर्णय लिया। उस स्वयंवर में कन्या ने अर्जुन को वरण किया। वैदिक सम्प्रदाय में कुछ लोग द्रौपदी को पंचभर्तारी मानते हैं और सती भी कहते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है। जैन महाभारत (हरिवंशपुराण) में क्या लिखा है? वह प्रकरण मैं आपको बताती हूँ। जैन श्रावक-श्राविकाओं को यथार्थ जानकारी रखनी चाहिए और बालक-बालिकाओं को भी यह प्रकरण सुनाकर सही बोध देना चाहिए।

हरिवंशपुराण सर्ग 45 पृ. में पेज 547 पर यह प्रकरण आया है कि–

उस समय यह घोषणा की गई कि 'जो अत्यन्त भयंकर गाण्डीव धनुष को गोल करने एवं राधावेध (चन्द्रकवेध) में समर्थ होगा वही द्रौपदी का पति होगा।' इस घोषणा को सुनकर वहाँ जो द्रोण तथा कर्ण आदि राजा आये थे वे सब गोलाकार हो धनुष के चारों ओर खड़े हो गये। परन्तु सती स्त्री के समान देवों से अधिष्ठित उस धनुष-यष्टिका को देखना भी उनके लिए अशक्त था, फिर छूना और खींचना तो दूर रहा।

तदनन्तर जब सब परास्त हो गये तब द्रौपदी के होनहार पति एवं सदा सरल प्रकृति को धारण करने वाले अर्जुन ने उस धनुष-यष्टि को देखकर तथा छूकर ऐसा खींचा कि वह सती स्त्री के समान इनके वशीभूत हो गयी। जब अर्जुन ने खींचकर उस पर डोरी चढ़ायी और उसका आस्फालन किया तो उसके प्रचण्ड शब्द में कर्ण आदि राजाओं के नेत्र फिर गये तथा कान बहरे हो गये। तीक्ष्ण आकृति के धारक पार्थ को देखकर कर्ण आदि के मन में यह तर्क उत्पन्न हुआ कि क्या स्वाभाविक ऐश्वर्य को धारण करने वाला अर्जुन अपने भाइयों के साथ मरकर यहाँ पुनः उत्पन्न हुआ है? अर्जुन के सिवाय अन्य सामान्य धनुर्धारी का ऐसा खड़ा होना कहाँ संभव है? अहा! इसकी दृष्टि, इसकी मुट्ठी और इसकी चतुराई सभी आश्चर्यकारी हैं। उधर राजा लोग ऐसा विचार कर रहे थे इधर अत्यन्त चतुर अर्जुन डोरी पर बाण रख झट से चलते हुए चक्र पर चढ़ गया और राजाओं के देखते-देखते उसने शीघ्र ही चन्द्रकवेध नाम का लक्ष्य बेध दिया। उसी समय द्रौपदी ने शीघ्र ही आकर वर की इच्छा से अर्जुन की झुकी हुई सुन्दर ग्रीवा में अपने दोनों कर-कमलों से माला डाल दी। उस समय जोरदार वायु चल रही थी इसलिए वह माला टूटकर साथ खड़े हुए पाँचों पाण्डवों के शरीर पर जा पड़ी। इसलिए विवेकहीन किसी चपल मनुष्य ने

जोर-जोर से यह वचन कहना शुरू कर दिया कि इसने पाँच कुमारों को वरा है। जिस प्रकार किसी सुगंधित, ऊँचे एवं फलों से युक्त वृक्ष पर लिपटी फूली लता सुशोभित होती है उसी प्रकार अर्जुन के समीप खड़ी द्रौपदी सुशोभित हो रही थी। तदनन्तर कुशल अर्जुन नूपुरों के निश्चल बंधन से युक्त उस द्रौपदी को अनीतिज्ञ राजाओं के आगे से उनके देखते-देखते माता कुन्ती के पास ले चला। युद्ध करने के लिए उत्सुक राजाओं को यद्यपि नीति चतुर राजा द्रुपद ने रोका था तथापि कितने ही राजा जबरदस्ती अर्जुन के पीछे लग गये। परन्तु अर्जुन, भीम और धृष्टद्युम्न इन तीनों धनुर्धारियों ने उन्हें दूर से ही रोक दिया। ऐसा रोका कि आगे न पीछे कहीं एक डग भी रखने के लिए समर्थ नहीं हो सके।

तदनन्तर धृष्टद्युम्न के रथ पर आरूढ़ अर्जुन ने अपने नाम से चिन्हित एवं समस्त संबंधों को सूचित करने वाला बाण द्रोणाचार्य की गोद में फेंका। द्रोण, अश्वत्थामा, भीष्म और विदुर ने जब समस्त संबंधों को सूचित करने वाले उस बाण को बांचा तो उसने सबको परम हर्ष प्रदान किया। पाण्डवों का समागम होने पर राजा द्रुपद, कुटुम्बीजन तथा द्रोणाचार्य आदि को जो महान सुख उत्पन्न हुआ था, उससे शंख और बाजों के शब्द होने लगे। परम आनन्द को देने वाले भाइयों के इस समागम पर दुर्योधन आदि ने भी ऊपरी स्नेह दिखाया और पाँचों पाण्डवों का अभिनंदन किया। जिस प्रकार स्नेह–तेल के समूह से भारी दीपिका किसी के पाणिग्रहण-हाथ में धारण करने से अत्यधिक देदीप्यमान होने लगती है उसी प्रकार स्नेह-प्रेम के भार से भरी द्रौपदी, पाणिग्रहण-विवाह के योग से अर्जुन के द्वारा धारण की हुई अत्यधिक देदीप्यमान होने लगी। राजा लोग द्रौपदी और अर्जुन का विवाह मंगल देखकर अपने-अपने स्थान पर चले गये और दुर्योधन भी पाण्डवों को साथ ले हस्तिनापुर पहुँच गया। दुर्योधनादि सौ भाई और पाण्डव आधे-आधे राज्य का विभाग कर पुनः पूर्व की भांति रहने लगे। उज्ज्वल चारित्र के धारक युधिष्ठिर तथा भीमसेन ने पहले अज्ञातवास के समय अपने-अपने योग्य जिनकन्याओं को स्वीकृत करने का आश्वासन दिया था उन्हें बुलाकर तथा उनके साथ विवाह कर उन्हें सुखी किया। द्रौपदी अर्जुन की स्त्री थी, उसमें युधिष्ठिर और भीम की बहू–जैसी बुद्धि थी और सहदेव तथा नकुल उसे माता के समान मानते थे।

द्रौपदी की भी पाण्डु के समान युधिष्ठिर और भीम में श्वसुर बुद्धि थी और सहदेव तथा नकुल इन दोनों देवरों में अर्जुन के प्रेम के अनुरूप उचित बुद्धि थी। गौतम स्वामी कहते हैं कि जो अत्यन्त शुद्ध आचार के धारक मनुष्यों की निंदा करने में तत्पर रहते हैं उनके उस निंदा से उत्पन्न हुए पाप का निवारण करने के लिए कौन समर्थ है? दूसरे के विद्यमान दोष का कथन करना भी पाप का कारण है फिर

अविद्यमान दोष के कथन करने की तो बात ही क्या है? वह तो ऐसे पाप का कारण होता है जिसका फल कभी व्यर्थ नहीं जाता–अवश्य ही भोगना पड़ता है। साधारण से साधारण मनुष्यों में प्रीति के कारण यदि समानधनता होती है तो धन के विषय में होती है स्त्रियों में नहीं होती। फिर जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध है उनकी तो बात ही क्या है? हरिवंशपुराण में कहा है–

महापुरुषकोटीस्थकूटदोषविभाषिणाम्।
असतां कथमायाति न जिह्वया शतखण्डताम्।।155।। (सर्ग 45)

अर्थात् महापुरुषों की कोटि में स्थित पाण्डवों के मिथ्या दोष कथन करने वाले दुष्टों की जिह्वा के सौ खण्ड क्यों नहीं हो जाते? पाप का वक्ता और श्रोता जो इस लोक में उसका फल नहीं प्राप्त कर पाता है वह मानो परलोक में वृद्धि के लिए ही सुरक्षित रहता है ऐसा समझना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस पाप का फल वक्ता और श्रोता को इस लोक में नहीं मिलता उसका फल परभव में अवश्य मिलता है और ब्याज के साथ मिलता है। सद्बुद्धि से पुण्यरूप कथाओं का सुनना वक्ता और श्रोता के लिए जिस प्रकार कल्याण का कारण माना गया है उसी प्रकार पापरूप कथाओं का सुनना उनके लिए अकल्याण का कारण माना गया है।

सरस्वती वंदना

मतेः सूतेर्वीजं सृजति मनसश्चक्षुरपरं।
यदाश्रित्यात्मायं भवति निखिलयेज्ञविषयः।।
विवर्तैरत्यंतैर्भरित भुवनाभोगविभवैः।
स्फुरत्तत्वं ज्योतिस्तदिह जयतादक्षरमयम्।।

अर्थ–जिसका अभ्यास करके यह आत्मा एक अद्वितीय चक्षु–ज्ञाननेत्र को प्राप्त कर लेता है जिससे यह संपूर्ण लोक–अलोक को जानने वाला हो जाता है, जिस ज्योति में समस्त जीव, अजीव आदि तत्त्व तीनों लोकों में विस्तार से पाई जाने वाली अपनी अनन्त पर्यायों के साथ प्रकाशित हो रहे हैं तथा जो विशेष बुद्धि की उत्पत्ति का एकमात्र बीज है, वह अक्षरमय ज्योति-द्वादशांगमय श्रुतज्ञान इस पृथ्वीतल पर सदैव जयशील होवे अर्थात् पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट जिनमुखोद्भूत सरस्वती माता को मेरा बारम्बार नमस्कार होवे।

प्रवचन–41

''अध्यात्म भावना आत्मा को परमात्मा बनाने में सहायक होती है''

भव्यात्माओं! संसार में तीर्थंकर भगवान किसलिए सबसे महान माने गए हैं यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है? ''धर्म तीर्थं करोति इति तीर्थंकरः'' जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, वह तीर्थंकर कहलाते हैं। धर्म की व्याख्या बहुत प्रसिद्ध है–''उत्तमे सुखे धरति इति धर्मः'' अर्थात् जो उत्तम सुख में पहुंचाए वह धर्म है। ऐसे तीर्थंकर भगवान महान इसलिए हैं कि उनके जन्म लेते ही दिव्य अतिशय प्रकट हो जाते हैं, सारे विश्व में क्षेम हो जाता है। उत्तरपुराण में वर्णन आया है कि-

सरोगाः प्रापुरारोग्यं, शोकिनो वीतशोकताम्।
धर्मिष्ठतां च पापिष्ठाश्चित्रमीशसमुद्भवे।।26।।

उस समय अगर कोई रोगी है तो वे स्वस्थ हो जाते हैं, आरोग्यता प्राप्त कर लेते हैं और जिन्हें किसी प्रकार से शोक हो रहा है, जो खिन्नता को प्राप्त हैं वह शोकरहित हो जाते हैं। तीर्थंकर भगवान के जन्म लेते ही पापिष्ठजन धर्मिष्ठ बन जाते हैं, यह विशेषता उनके जन्म लेते ही स्वभाव से प्रगट हो जाती है।

यह क्या है? जो उन्होंने पूर्व में पुण्य संचित किया, उन्होंने जो कई जन्मों तक तपस्या की, कई जन्मों तक जो अपायविचय धर्मध्यान की भावना की, जीवों के उद्धार की भावना से अपने परिणामों को ओत-प्रोत रखा, उसी का ये सर्वोच्च प्रतिफल है।

हमारी व आप सब की आत्मा भी भगवान आत्मा है। यहां तक कि जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति यह पांचों एकेन्द्रिय जीव हैं, इनकी आत्मा भी शक्तिरूप में भगवान आत्मा है। अपनी आत्मा में शक्ति रूप में स्थित भगवान आत्मा को व्यक्त अथवा प्रकट वो करते हैं, जो कर्मों का नाश कर सिद्धालय में विराजमान हो चुके हैं, बाकी सब शक्तिरूप में भगवान हैं परन्तु पुरुषार्थ की कमी से संसारी बन रहे हैं। शक्तिरूप में भगवान आत्मा को प्रकट करना, यह एक पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के चार भेद हैं-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष।

सही अर्थों में पुरुषार्थ वही है जो कि आत्मा को परमात्मा बना दे। गृहस्थाश्रम में रहकर आप लोग अर्थ पुरुषार्थ भी करते हैं। आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज एवं आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज कहते थे कि जिस गृहस्थ के पास कौड़ी नहीं वह कौड़ी का और जिस साधु के पास कौड़ी है वह कौड़ी का, क्योंकि गृहस्थ धन कमाएगा, अपने परिवार का पालन करेगा एवं धर्म का पालन करेगा। साथ ही गुरुओं की

वैयावृत्ति, संघ का संचालन, तीर्थयात्रा, तीर्थों के विकास, तीर्थों के जीर्णोद्धार, चतुर्विध संघ की सेवा आदिक जितने भी कार्य हैं वे सब गृहस्थों पर ही निर्भर हैं। यह अनादि परम्परा है कि मंदिरों व मूर्तियों का निर्माण, इनकी पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं आदि आयोजन, बड़े-बड़े अनुष्ठान, विधानादि सब गृहस्थ करते हैं और पैसे से करते हैं तो जिस गृहस्थ के पास कौड़ी नहीं है, वह कौड़ी का और जिस साधु के पास कौड़ी है वह कौड़ी का, क्योंकि साधुओं के परिणाम निर्मल होते हैं और सम्पूर्ण आरंभ तथा परिग्रह को छोड़ देने पर ही निर्मलता आ सकती है। जब वह अपने शरीर से निर्मम हैं, मोह छोड़ चुके हैं तो उनके परिणाम निर्मल हो सकते हैं। परिणामों में कलुषता तो तब आएगी जब उन्हें किसी के प्रति राग होगा या द्वेष होगा। राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायें आत्मघाती हैं।

छत्रचूड़ामणि में आचार्य श्री वादीभसूरि ने कहा है–

कषाय जब उत्पन्न होती है तो सर्वप्रथम वह आत्मा तथा उसके शान्त परिणामों का घात कर देती है, उसकी पवित्रता नष्ट कर देती है फिर दूसरे का घात हो अथवा न भी हो। इन्हें **''अंगारवत् कषायाश्च''** अर्थात् अंगारे के समान बताया है जैसे किसी ने अंगारा लिया और किसी के ऊपर फेंकने का उपक्रम किया, यह तो सामने वाले का पाप-पुण्य है कि वह जल जाये अथवा बच जाये पर उस अंगारे ने फेंकने वाले का हाथ तो पहले जला ही दिया। जैसे दुर्योधन ने पाण्डवों को जलाने के लिए लाक्षागृह में आग लगा दी, उनका पुण्य था कि वे बच गए लेकिन दुर्योधन को पापबंध हुआ, अपयश मिला और वह नरक भी गया। इसलिए मैं कई बार कहती हूँ कि ये कषायें आत्मघाती बम हैं इनसे आत्मा की पवित्रता, शुद्धता, उसका सहज स्वभाव व शान्ति नष्ट होती है। गृहस्थाश्रम में रहकर भी आप इससे स्वयं को बचा सकते हैं। कैसे? आत्मा की भावना, अध्यात्म की भावना के बल पर आप स्वयं में शान्त रह सकते हैं, परिणामों को निर्मल बना सकते हैं, उन्हें पवित्र बना सकते हैं।

अगर विचार करके देखें तो यह अध्यात्म भारतवर्ष के सिवाय आपको किसी भी देश में नहीं मिलेगा, वहाँ आपको अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि का पालन करने वाले तो मिल सकते हैं किन्तु अध्यात्म हमारे भारत की देन है और यहाँ भी जितना अध्यात्म जिनागम में मिलेगा उतना अध्यात्म आपको कहीं नहीं मिलेगा जहाँ आत्मा को परमात्मा कहा हो। सब तो कहते हैं कि आत्मा परमात्मा का अंश है, भक्ति करो, खूब भक्ति करो, उसमें विलीन हो जाओगे तो सब सुख मिल जाएंगे लेकिन तुम्हारी आत्मा परमात्मा बन जाएगी, तुम सब अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकते हो, तुम्हारे जैसे ही भव्यात्माओं ने अपनी आत्मा को परमात्मा बनाया है, ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकरों ने इसका ही पालन किया है, इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व को दिखलाने वाला, आत्मा के स्वभाव का भान कराने वाला, परम शान्ति को प्रदान करने वाला जिनेन्द्र भगवान

के द्वारा कहा हुआ सर्वोपरि जैन धर्म है। हम पढ़ते हैं–

"केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि" अर्थात् जो केवली भगवान द्वारा प्रणीत धर्म है, मैं उसकी शरण लेता हूँ । यह जैन धर्म कितना महान है जो आज इस पंचमकाल में मोक्षमार्ग को साकार कर रहा है और पंचमकाल के अंत तक मोक्षमार्ग को साकार करेगा। चतुर्थ काल में तो मोक्ष है और चतुर्थकाल में जन्म लेने वाले महापुरुष पंचमकाल में मोक्ष गए हैं परन्तु पंचमकाल में जन्म लेकर कोई भी मोक्ष नहीं गया है। बहुत से लोगों का यह कहना रहता है कि माताजी! जब पंचमकाल में मोक्ष नहीं है तो इतनी कठिन तपश्चर्या क्यों? दीक्षा लेना, एक बार खाना, पदविहार करना, ऐसा क्यों? यह सब शरीर को कष्ट देने वाले जो अनेक कार्य हैं इनको करने से क्या लाभ? लेकिन आचार्यों ने कहा है कि आज मोक्ष नहीं है पर मोक्षमार्ग है, आप मार्ग में लगे हैं तो अतिशीघ्र अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकते हैं। एक उदाहरण द्वारा मैं आपको यह बात समझाती हूँ-

राजगृही नगरी में जम्बूस्वामी हुए, जिनके पिता श्री अर्हदास सेठ एवं माता जिनदासी थीं। जब जम्बूस्वामी युवा हो गए तो माता-पिता ने जम्बूस्वामी के बहुत मना करने पर भी उसी शहर की चार सुन्दर कन्याओं से उनकी शादी कर दी जबकि जम्बूस्वामी ने यह नियम कर लिया था कि मैं प्रातः होते ही जैनेश्वरी दीक्षा ले लूंगा, पर माता-पिता नहीं माने और बोले कि कोई बात नहीं तुम एक दिन के लिए ही विवाह कर लो। उनको यह विश्वास था कि शादी होने के बाद यह भूल जाएगा कि दीक्षा लेना है और राग में फंस जाएगा किन्तु विरक्तमना जम्बूस्वामी की चारों पत्नियों के साथ रात भर राग-विराग की चर्चा चलती रही। इधर उसकी माँ परेशान हो इधर-उधर घूम रही थी तभी विद्युत्चोर नामक चोरों का सरदार चोरी के इरादे से वहाँ आ गया। जब उसने जम्बूस्वामी की माँ को विक्षिप्त देखा तो पूछा कि बहन क्या कारण है? तू इतनी विक्षिप्त क्यों है? आधी रात हो गयी तू अभी तक क्यों जाग रही है? तब वह बोली कि मेरा बेटा प्रातः होते ही दीक्षा ले लेगा। मैंने चार-चार सुन्दर कन्याओं से उसका विवाह कर उसे राग में फंसाना चाहा लेकिन वह लगातार वैराग्य की ही चर्चाएं कर रहा है। मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा है कि मैं क्या करूं? सारी बात सुनकर विद्युत्चोर ने कहा कि बहन! तू निश्चिन्त हो जा, मेरे ऊपर विश्वास रख, मैं अभी इसको राग में फंसाए देता हूँ। इतना कहकर चोर दरवाजा खुलवाकर वहीं बैठ गया और अपनी सुनाने लगा परन्तु कोई फायदा नहीं निकला। वास्तव में जो अध्यात्म से ओत-प्रोत हैं, जिन्हें अपनी आत्मा गुणों का पुंज दिख रही है, जिन्हें यह अनुभव आ रहा है कि मेरी आत्मा भगवान आत्मा है, इस भव में मैं अपनी आत्मा को भगवान आत्मा बनाकर उस अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करूंगा जिस सुख के बाद दुःख ही नहीं है, जिस ज्ञान के बाद अज्ञान ही नहीं

है, जिस गति के बाद आगति नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, मत्सर नहीं है, मान नहीं है कुछ भी नहीं है ऐसी स्वाभिमानपूर्ण अपनी आत्मा को प्रगट करना है, उन जम्बूस्वामी को कौन डिगा सकता था? वे सब अलग चिंतामग्न थे कि कैसे जम्बूस्वामी को सरागी बना दें और जम्बूस्वामी अपनी आत्मा को वीतरागी बनाने के लिए उद्यम कर रहे थे उनमें ऐसी शक्ति कहाँ से आई? पूर्व भव में जब वह चक्रवर्ती के पुत्र शिवकुमार थे तब उन्होंने माता-पिता के अतीव आग्रह से घर नहीं छोड़ा किन्तु घर में रहकर 12 वर्षों तक वैराग्य भावना का चिन्तन करते हुए तीन हजार स्त्रियों के बीच असिधारा व्रत पाला था ऐसा उत्तरपुराण में वर्णन आया है। उसमें लिखा है कि वे कठोर उपवास करते हुए असिधाराव्रत का पालन करते थे तो उस समय आत्मा में प्रकट हुए वह संस्कार अगले भव में भी काम आ गए।

आज मंत्रों के, अक्षत के, लौंग के व पुष्पों के संस्कार से आप मूर्ति को संस्कारित कर पत्थर को भगवान बना देते हैं फिर जो भगवान की वाणी रूप मंत्र हैं उन मंत्रों के संस्कार से अगर आप आत्मा को संस्कारित करेंगे तो निश्चित ही संस्कार अमिट बन जाएंगे जोकि आगे जाकर भी नहीं छूटेंगे, यहाँ तक कि मोक्ष प्राप्त कराने तक भी नहीं छूटेंगे। आप पूजा के अंत में पढ़ते हैं–

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण संप्राप्तिः।।

हे भगवन् ! आपके चरण युगल मेरे हृदय में विराजमान होंवे और मेरा हृदय आपके चरणकमल में स्थित हो जाए कब तक? जब तक निर्वाण न मिले, तब तक।

अगर बार-बार यह चिन्तनधारा चलती रहे चाहे आप जो भी कार्य कर रहे हों, हर कार्य करते हुए भी हर क्षण अगर उपयोग अपनी तरफ है तो आत्मा संस्कारित हो रही है ऐसा समझना चाहिए। यही गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थ की विशेषता है कि उपयोग को बार-बार अपनी ओर खींचकर लावें। विधान, अनुष्ठान, तीर्थयात्रा, गुरुओं के समागम तथा पूजा आदि के द्वारा बार-बार अपनी आत्मा पर इसीलिए संस्कार डाले जाते हैं कि हमारी आत्मा अध्यात्म से ओत-प्रोत हो जाए और इतनी संस्कारित हो जाए कि कोई संस्कार उस पर काम न कर सके। जैसे-गुड़ अधिक मीठा होता है अगर उसे खुले में रख दिया जाये और गीला हो तो धूल के जो कुछ कण उस पर गये वह भी मीठे हो गए । बात यह है कि अगर धर्म के ज्यादा संस्कार हैं तो अशुभ कर्म को भी पछाड़ देते हैं, उसे दूर कर देते हैं। यह अध्यात्म भावना है कि मैं भिन्न हूँ, शरीर भिन्न है यही जम्बूस्वामी चिन्तन कर रहे थे कि शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है। जब मेरा शरीर ही अपना नहीं है तो यह माता-पिता, धन-वैभव, चारों पत्नियाँ आदि किसके? इस प्रकार वह अपनी अध्यात्म भावना के बल पर सबका हृदय जीत लेते हैं। उसी रात्रि में उस

विद्युत्चोर को भी वैराग्य हो गया, उसने सोचा कि छोड़ो चोरी करना। यहाँ तक कि अपने 500 चोरों को भी वैराग्य का उपदेश दिया जिससे वे चोर भी दीक्षा हेतु उद्यत हो गये। जम्बूस्वामी के माता-पिता, चारों पत्नियाँ सभी के भाव बदल गए और सभी दीक्षा लेने को तैयार हो गए। सुबह उठते ही यह घटना राजा को पता लगी। महामंगलीक बेला में राजा ने उनका स्वागत कर महाभिषेक किया और पुनः सभी ने जम्बूस्वामी के साथ दीक्षा ले ली तो देखा जाए यह अध्यात्म भावना की जीवन्त मिशाल है।

अध्यात्म भावना, वैराग्य भावना, धर्म भावना में ही शांति व निराकुलता है, यह विचार करने का विषय है। आज गृहस्थ छोटी-छोटी बातों में आकुलता करता है और उन बातों को महत्व देता है तो घर नर्क बन जाता है और अगर उदारता व सहनशीलता है, छोटी-छोटी बातों में उलझते नहीं है तो घर स्वर्ग बन जाता है और महिलाओं में खास यह बात देखी जाती है, बहुत दिनों तक वह परिवार संयुक्त रहता है अन्यथा बिखर जाता है। यह बात चाहे धर्मनीति हो, राजनीति हो, हर क्षेत्र में लागू होती है। अपने देश में भी जब तक सामञ्जस्य बिठाने की क्षमता है तब तक देश चल रहा है अन्यथा टूट जाता है, बिखर जाता है, दूसरे हावी हो जाते हैं। अंग्रेज हमारे देश की शक्ति कमजोर देखकर ही तो हावी हुए थे, तो बात यही है कि चाहे देश हो, राष्ट्र हो, संस्था हो या परिवार हो सर्वत्र यही बात लागू होती है। जहाँ आध्यात्मिकता व विवेक है वहीं शान्ति है, देखा जाए तो आत्म-चिन्तन हर क्षण में, हर स्थिति में सुखदायी है। किसी स्थिति में आप क्यों न हों, सहसा परिवार में कैसा भी दुख का समय आ गया हो, अशांति का प्रसंग आ गया हो तो अगर अध्यात्म भावना है कि जब शरीर ही अपना नहीं है तो कौन किसका? मेरी आत्मा तो भगवान आत्मा है। तो आत्मा के गुणों को पहचानते ही, आत्मा पर दृष्टि पड़ते ही मन प्रसन्न व प्रफुल्ल हो जाता है, अपने गुणों का भान होता है कि मैं कितना शक्तिशाली हूँ।

आचार्य कहते हैं कि जैसे लोहे से लोहे का पात्र बनता है, स्वर्ण से स्वर्णाभूषण बनता है तथा चाँदी से चाँदी के आभूषण बनते हैं वैसे ही जैसी हमारी चिन्तनधारा होगी वैसी ही हमारी आत्मा परिणत होगी और आगे शुद्धोपयोग की ओर बढ़ेगी। शुद्धोपयोग तो गृहस्थाश्रम में होगा नहीं किन्तु जो शुद्धोपयोग की भावना कर रहे हैं उन मुनियों के प्रति आदरभाव रहे तथा कब हमारी आत्मा शुद्धोपयोग को प्राप्त हो ऐसा बार-बार चिन्तवन करते रहे तो पुनः-पुनः भाई गयी भावना एक न एक दिन सफल हो जाती है। कभी जम्बूस्वामी ने पूर्व भव में जो भावना भायी थी, असिधारा व्रत पाला था तो चारों पत्नियों में आसक्त न होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और तपश्चरण करने लगे। कैसी होगी उनकी विचारधारा, कैसे होंगे उनके भाव? अगर ऐसे महापुरुषों का चिन्तन बार-बार किया जाये तो निश्चित सफलता मिलेगी।

आज लोग अध्यात्म के लिए समयसार पढ़ने की शिक्षा देते हैं परन्तु आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज कहा करते थे कि चारों अनुयोगों का अध्ययन करो, ये चारों अनुयोग आपको अध्यात्म की राह दिखाने वाले हैं। आध्यात्मिक पुरुषों का चिन्तवन करने से आपकी अध्यात्म भावना वृद्धिंगत होगी।

और यह भी अवश्य ध्यान रखना है कि अध्यात्म की भावना जीवन भर करो लेकिन अगर कोई रोग, कोई क्लेश या कोई संकट आदि आ जाए तो भगवान की भक्ति भी करो, वह आपकी आध्यात्मिक भावना को दृढ़ कर देगी अन्यथा अगर कोरा तोतारटन्त अध्यात्म है कि बहेलिया आएगा, जाल बिछाएगा, दाना डालेगा, लेकिन उसमें फंसना नहीं, कहते-कहते फंस जाते हैं वैसा ही हाल होगा।अध्यात्म के साथ-साथ भगवान की भक्ति , अपने कर्तव्य का भाव, समय पर देव-धर्म व गुरुओं की शरण लेना तथा आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है इस प्रकार चिन्तवन करते हुए आत्मा को शरीर से पृथक करना है। आत्मा व शरीर को सहसा पृथक् नही किया जा सकता, केवल विवेक तथा समीचीन ज्ञान से धीरे-धीरे पृथक करके उसे परमात्मा रूप बनाना है इसमें एक-दो नहीं आठ-दस भव लग सकते हैं तो आपका यह पुरुषार्थ अतिशीघ्र फलित हो और सब प्रकार के मनोरथों को सफल करके, आत्मिक शक्ति को पहचानकर प्रसन्नमना होते हुए आप सब भगवान की भक्ति करते रहें यही आपके लिए मंगल आशीर्वाद है।

धर्म की रक्षा से ही अपनी रक्षा है

धर्मो रक्षति रक्षितो ननु हतो हन्ति ध्रुवं देहिनाम्।
हन्तव्यो न ततः स एव शरणं संसारिणां सर्वथा।।
धर्मः प्रापयतीह तत्पदमपि ध्यायान्ति यद्योगिनः।
धर्मात्सत्सुहृदस्ति नैव च सुखी नो पण्डितो धार्मिकात्।।

जो प्राणी धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। परन्तु जो प्राणी धर्म को नष्ट कर देता है, छोड़ देता है, धर्म उसको भी नष्ट कर देता है, संसार में डुबो देता है। यह ध्रुव सिद्धांत है। अतः भव्यजीवों को धर्म का हनन–त्याग कभी भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि सर्वथा–सब प्रकार से वह धर्म ही प्राणियों के लिए शरण है–सहायक है–रक्षक है। जिस पद का योगीश्वर सदा ध्यान करते रहते हैं, यह धर्म उस मोक्ष पद को भी देने वाला है इसलिए धर्म से बढ़कर कोई सच्चा मित्र नहीं है तथा धर्मात्मा मनुष्य से बढ़कर और कोई अधिक सुखी नहीं है और न धर्मात्मा से बढ़कर अन्य कोई पंडित ही है।

–श्री पद्मनंदिआचार्य

प्रवचन–42

गुरुभक्ति की महिमा

गुरुभक्त्या वयं सार्ध-द्वीपद्वितयवर्तिनः।
वंदामहे त्रिसंख्योन नवकोटिमुनीश्वरान् ।।

ढ़ाई द्वीप में तीन कम नव करोड़ मुनिराज हैं उन सभी को गुरुभक्तिपूर्वक मेरा नमस्कार होवे।

गुरुभक्ति से क्या होता है? आचार्यों ने बताया है–

''गुरुभक्ति संजमेण य तरंति संसार सायरं घोरं''

'गुरुभक्ति से संयम प्राप्त होता है जो हमें घोर संसार सागर से पार कराने में सहायक है।' ऐसी गुरुभक्ति इस पंचमकाल में भव्य श्रावकों के लिए कल्पवृक्ष के समान फल को देने वाली है। यह नियम है कि जब तक धर्म है, तब तक गुरु हैं और जब तक गुरु हैं तब तक धर्म है। परस्पर में दोनों का संबंध जुड़ा हुआ है।

तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रंथ में वर्णन आया है कि–

भगवान पुष्पदंत से लेकर भगवान धर्मनाथ तक तीर्थंकरों के तीर्थकाल में कुछ काल ऐसा गया है कि जिसमें धर्मरूपी सूर्य अस्त हो गया और वह सूर्य कैसा था? चतुर्विध संघ रूप। यह नियम है कि मुनि–आर्यिका नहीं होंगे तो श्रावक–श्राविका नहीं होंगे। चतुर्विध संघ ही धर्मरूपी सूर्य है, जिसकी परम्परा भगवान ऋषभदेव के समय से चली आ रही है। प्रयाग नगरी जो आज आपको महाकुंभ का एक तीर्थ दिख रहा है, वह प्रयाग सर्वप्रथम धर्मरूपी सूर्य अर्थात् चतुर्विध संघ से ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ था। ''प्रकृष्टो वा कृतस्त्याग प्रयागस्तेन कीर्तितः'' भगवान ऋषभदेव ने वहाँ प्रकृष्ट रूप से त्याग किया था, दीक्षा ली थी और वहीं उन्हें वटवृक्ष के नीचे 1000 वर्ष की तपस्या के बाद केवलज्ञान हुआ था इसलिए वह प्रयाग कहलाया तब वहीं चतुर्विध संघ की व्यवस्था बनी। पुरिमतालपुर के राजा ऋषभसेन जो कि भगवान ऋषभदेव के ही तृतीय पुत्र थे, ने वहीं मुनि दीक्षा ली थी और भगवान के समवसरण में प्रथम गणधर का पद प्राप्त किया था, उनकी बड़ी पुत्री ब्राह्मी ने सर्वप्रथम आर्यिका दीक्षा लेकर गणिनी पद प्राप्त किया था, तब चतुर्विध संघ बना था, वही परम्परा आज भगवान महावीर के शासनकाल तक चली आ रही है और आगे भी चलती रहेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक मुनिधर्म है, मुनि, आर्यिकाएं, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएं हैं, श्रावक–श्राविकाएं हैं तब तक धर्म परम्परा चलती रहेगी। आचार्यों ने उस चतुर्विध संघ की भक्ति आदि की महिमा का वर्णन करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में बताया है–

उच्चैर्गोत्रं प्रणते, भोर्गोदानादुपासनात् पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं, स्तवनात् कीर्तिः तपोनिधिषु।।

अर्थात् उन महामुनियों, आर्यिकाओं, क्षुल्लक–क्षुल्लकादि पिच्छीधारी साधुओं को नमस्कार करने से उच्च गोत्र प्राप्त होता है, उनको दान देने से इस भव में तथा परभव में उत्तम-उत्तम सामग्री प्राप्त होती है, उनकी उपासना करने से सब लोगों का आदर प्राप्त होता है और उनकी भक्ति करने से सुन्दर रूप प्राप्त होता है। ऐसे तपोनिधि साधुओं की स्तुति करने से कीर्ति, प्रशंसा की प्राप्ति होती है और अयशस्कीर्ति का नाश होता है। गुरुभक्ति की एक छोटी सी घटना याद आती है–

कौशाम्बी में राजा अतिबल राज्य करते थे, उनके पुरोहित सोमशर्मा के अग्निभूति और वायुभूति ऐसे दो पुत्र थे। माता-पिता के दुलार के कारण वे दोनों अनपढ़ रह गए। कालचक्र के प्रभाव से असमय में ही सोमशर्मा की मृत्यु हो गई। पुरोहित पुत्रों को वज्रमूर्ख देख राजा अतिबल ने उन्हें पुरोहित पद न देकर किसी अन्य विद्वान को दे दिया तब उसे अपमान समझ दोनों भ्राताओं को अत्यधिक दुःख हुआ और उनमें पढ़ने की इच्छा जगी, अतः वे अपने मामा सूर्यमित्र के पास राजगृही गए और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इनकी अध्ययन की प्रबल आकांक्षा देखकर मामा ने स्वयं उन्हें विद्याभ्यास प्रारंभ कराया एवं थोड़े समय में ही प्रकाण्ड विद्वान बना दिया। पुनः ये अपने नगर लौट आए एवं राजा अतिबल को अपनी विद्वता का परिचय कराकर पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित हो गए। वास्तव में संसार में विद्या कामधेनु के समान मानी गई है।

एक दिन संध्याकाल में सूर्यमित्र सूर्य को अर्घ्य चढ़ा रहा था कि उसकी अंगुली से राजकीय रत्नजटित अंगूठी निकल कर महल के नीचे तालाब में जा गिरी, पूजा के पश्चात् जब उसकी दृष्टि अंगुली पर पड़ी तब उसे ज्ञात होते ही कि 'राजमुद्रिका कहीं गिर गई' वह भय से कांप उठा। तब किसी से सुनकर वह अवधिज्ञानी मुनिराज सुधर्म के समीप गया और करबद्ध हो अंगूठी के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की, तब मुनि ने बताया कि सूर्य को अर्घ्य देते समय तालाब में खिले हुए एक कमल में वह अंगूठी गिरी है एवं प्रातः सूर्योदय होते ही कमल के खिलने के साथ ही मिल जाएगी, वह अगले दिन मुनि के कहे अनुसार मिल गई, तब सूर्यमित्र ने आश्चर्यचकित होते हुए यह सोचा कि मुझे भी यह विद्या सीखना चाहिए। यह विचारकर वह सुधर्म मुनि के पास जाकर नमस्कार कर बोला–मुझे भी आप यह विद्या सिखा दीजिए तो महान कृपा होगी। मुनि ने कहा–मुझे यह विद्या सिखाने में कोई इंकार नहीं है पर बिना जिनदीक्षा लिए यह विद्या नहीं आ सकती। तब सूर्यमित्र मात्र विद्या के लोभ में दीक्षा ले मुनि हो गया। सुधर्म मुनि ने सूर्यमित्र को मुनियों के आचार के शास्त्र तथा सिद्धान्त पढ़ाए, जिससे उसकी आंखे खुल गयीं। गुरुउपदेशरूपी दीपक द्वारा अपने हृदय के अज्ञान अंधकार को नष्ट कर वह जैनधर्म के प्रकाण्ड विद्वान हो गए। जिनका क्षयोपशम अच्छा होता है, पूर्व पुण्य होता

है उन्हें ज्यादा सिखाना नहीं पड़ता। आर्यिका रत्नमती माताजी ने जब दीक्षा ली, वह अत्यन्त वृद्ध थीं और ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थीं लेकिन मैंने उन्हें कुछ नहीं सिखाया और उन्हें स्वयं सामायिक आदि आ गई और अच्छे से अच्छा स्वाध्याय करने लगीं। प्रायः कितनों को बहुत दिन तक पढ़ाना पड़ता है, यह अपना-अपना क्षयोपशम है

अब सूर्यमित्र यह चिन्तन करते थे–

जीवोद्रन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।

यह तत्त्वज्ञान होने के बाद उन्होंने चौरासी लाख योनियों में खोई अपनी आत्मा को प्राप्त कर लिया तब गुरु के द्वारा विद्या सिखाने हेतु पूछने पर कहते हैं कि मुझे वास्तविक ज्ञान मिल गया है अतः यह क्षणिक विद्या नहीं सीखनी है। बारह भावनाओं में धर्म भावना में कहा है–

धन कन कंचन राजसुख सबहि सुलभ करि जान।
दुर्लभ है संसार में एक जथारथ ज्ञान।।

अर्थात् धनसंपदा, स्त्री, स्वर्णादि व राज्यसुख इनकी प्राप्ति तो सुलभ है किन्तु इस संसार में यथार्थज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। सूर्यमित्र मुनि यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर एक बार विहार करते हुए कौशाम्बी नगरी आए तब अग्निभूति ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार कराया और वायुभूति की धर्म में रुचि जागृत करने हेतु मुनिराज की वंदना करने को कहा परन्तु उसका फल उल्टा हुआ। क्रोधित वायुभूति ने मुनि की मिथ्या आरोपों से निंदा कर बहुत भला-बुरा कहा और समझाने पर भी नहीं माना।

शास्त्रों में लिखा है कि जो साधु को पिच्छी दान देता है वह पुत्रवान और चिरायु होता है, कमण्डलु देने से नीरोगी– स्वस्थ होता है और पवित्रात्मा कहलाता है। आर्यिकाओं और क्षुल्लक आदि को वस्त्र देने से सुख-सम्पन्नता मिलती है और क्रम से शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है एवं शास्त्रदान से ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए लोग साधुओं को यह दान प्रदान करते हैं, इसकी महिमा ही विशेष है।

अग्निभूति को वायुभूति के द्वारा मुनि का अपमान करने से बड़ा दुःख हुआ और वह मुनि के साथ वन में चला गया। वहाँ गुरु से धर्मोपदेश सुनकर वैराग्य हो जाने से दीक्षा लेकर तपस्वी बन गया। यह सूचना पाकर उसकी शीलवती स्त्री सोमदत्ता बड़ी दुःखी हुई और वायुभूति से कहा कि तुमने मुनि की वंदना न करके अपमान किया जिससे दुखी होकर वह मुनि बन गए। यदि वे मुनि न हुए हों तो चलो हम उन्हें समझाकर वापस ले आवें। तब उस पापात्मा ने यह सुनकर क्रोधित हो अपशब्द कहते हुए भाभी को लात मारी और चला गया। सोमदत्ता को उसके व्यवहार से गहरा आघात लगा पर अबला होने के कारण वह कुछ न कर सकी तब उसने मन ही मन निश्चय किया 'जिस पैर से तूने मुझे स्त्री होने के कारण मारा है उसका बदला मैं अभी तो न

ले सकी, पर अगले जन्म में अवश्य लूंगी। कभी मैं तेरे इस पैर को खाऊंगी तभी मुझे संतोष होगा।' ये वैर और स्नेह के संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चलते हैं। कालान्तर में वायुभूति सुकुमाल मुनि हुए और भाभी का जीव सियारनी हुआ और उसने मुनि को ध्यान करते हुए देखकर पूर्व भव के वैर से उनके पैर को खाया।

देखो! लौकिक स्वार्थवश भी दीक्षा लेने से सूर्यमित्र एक दिन केवली बन गए, उन्होंने लौकिक स्वार्थ से गुरुभक्ति की थी फिर भी उनके लिए फलीभूत हो गयी ऐसी इस गुरुभक्ति की महिमा है। शास्त्रों में वर्णन आया है कि प्रयाग में नमि-विनमि ने भगवान ऋषभदेव से राज्य मांगते हुए धरना दे दिया और नाना प्रकार से भगवान ऋषभदेव की भक्ति की, तब वनदेवता का आसन कांपा और उन्होंने उस भक्ति को फलीभूत कर उन्हें विद्याधरों का राजा बना दिया। वास्तव में गुरुभक्ति मिश्री के समान सदैव फलदायी होती है।

मैंने चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी के पास रहकर उनकी कठोर तपश्चर्या, संयम, सच्ची तपस्या, निश्छल जीवन एवं अनुशासन आदि को देखा है। ऐसे गुरुओं की भक्ति कर आप सब अपने जीवन को सफल करते हुए एक दिन परम पूज्य पद को प्राप्त करें यही मंगल आशीर्वाद है।

पुण्य से क्या-क्या मिलता है?

पुण्यात् सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्यात्,
बीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः।
पुण्यं च दानदमसंयमसत्यशौच-
त्यागक्षमादि शुभचेष्ठितमूलमिष्टम्।।
पुण्यात् सुरा सुरनरोरग भोगसाराः,
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठम्,
आर्हन्त्यमन्त्यरहिताखिल सौख्यमग्रयम्।।

इस संसार में पुण्य से ही सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार पुण्य के बिना सुख नहीं हो सकता। दान देना, इंद्रियों को वश में करना, संयम धारण करना, सत्य बोलना, लोभ नहीं करना और क्षमाभाव धारण करना आदि शुभ चेष्टाओं से अभिलषित पुण्य की प्राप्ति होती है।

सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र के अभिलषित भोग, लक्ष्मी, दीर्घायु, अनुपमरूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्री का साम्राज्य, इन्द्रपद जिसे पाकर फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता, ऐसा अरहंत पद और अंतरहित समस्त सुखदायी श्रेष्ठ निर्वाणपद, इन सभी की प्राप्ति एक पुण्य से ही होती है।

–भगवज्जिनसेनाचार्य

प्रवचन–43

अन्तरात्मा ही परमात्मा बन सकता है

आचार्यश्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने गोम्मटसार में कहा है-

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं।।

अर्थात् जीव और कर्मों का अनादिकाल से संबंध चला आ रहा है। जैसे स्वर्णपाषाण पर स्वाभाविक रूप से किट्ट कालिमा लगी होती है और उसे पुरुषार्थपूर्वक हटाकर सोने को शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार से प्रकृति, शील या स्वभावरूप से जो कर्मजीवात्मा के साथ दूध-पानी के समान एकमेक जैसा संबंध बनाये हुए हैं उन्हें त्याग-तपस्याआदि पुरुषार्थों के द्वारा दूर करके आत्मा को शुद्ध भगवान आत्मा बनाया जा सकता है।

जीव और पुद्गल का यद्यपि यह स्वाभाविक संबंध अनादिकाल से है, फिर भी दोनों में एक सैद्धान्तिक अन्तर भी है कि जीव तो स्वाभाविक रूप में अनादिकाल से अशुद्ध था और वह कर्म से छूट कर ही शुद्ध बनता है किन्तु पुद्गल का परमाणु अपने रूप में सदैव शुद्ध ही रहता है वह तो द्वयणुक, त्रयणुक रूप स्कंध बनकर अशुद्ध होता है। इस परिभाषा के साथ-साथ यह भी जानना आवश्यक है कि पुद्गल के परमाणु तो शुद्ध से अशुद्ध और अशुद्ध से शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ करते हैं किन्तु जीव एक बार पूर्ण शुद्ध होने के बाद कभी भी अशुद्ध नहीं होता है।

भव्यात्माओं! जैन शास्त्रों में जीवात्मा की तीन श्रेणियां बताई गई हैं-1. बहिरात्मा 2. अन्तरात्मा 3. परमात्मा। इनमें से बहिरात्मा वे कहलाते हैं जो शरीर और आत्मा को बिल्कुल एकरूप मानकर शरीर में ही आत्मबुद्धि रखते हुए आत्मा के रहस्य से पूर्ण अनभिज्ञ रहते हैं। जैसा कि छहढाला में कहा है–

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबलदीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण।।

अर्थात् समस्त पर पदार्थों को आत्मरूप समझकर उनमें ही सुख-दुःख का वेदन करना बहिरात्मा का लक्षण है। इस बहिरात्म अवस्था को छोड़ने से और स्व-पर का भेद विज्ञान करने से ही जीव अंतरात्मा बनते हैं।

छत्रचूड़ामणि में वर्णन आया है कि–

जब काष्ठांगार मंत्री ने राजा सत्यंधर के ऊपर आक्रमण कर दिया था और उनकी मृत्यु बिल्कुल निकट मंडरा रही थी, उस समय अपनी गर्भवती रानी विजया को उन्होंने एक विमान में बिठाकर उड़ा दिया। पतिवियोग के दुःख से व्याकुल विजया रानी को उस समय सत्यंधर राजा ने तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया था कि संसार में संयोग–

वियोग आदि में जीव सुख–दुख का अनुभव करता है किन्तु विपत्ति के साथ धैय धारण करना ही उचित है। अतः हे प्रिये! इस संकट की घड़ी में तुम धैर्यपूर्वक अपनी एवं गर्भस्थ शिशु की रक्षा करो। महानुभावों! विपत्ति के समय धर्म और धैर्य को कभी न छोड़कर तत्त्वज्ञान का ही चिन्तन करना चाहिए, वही धैर्य प्रदान कर सकता है।

अन्तरात्मा जीव जब इसी प्रकार पुद्गल कर्मों को आत्मा से पृथक् समझकर शुद्धात्मतत्त्व पर श्रद्धान करने लगता है तब धीरे-धीरे परमात्मा बनने की श्रेणी में आगे बढ़ता है। कर्म के तीन भेद होते हैं–1. भावकर्म 2. द्रव्यकर्म 3. नोकर्म। रागद्वेष आदि परिणामों को भावकर्म कहते हैं।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्म और इनके भेद–प्रभेद रूप 148 कर्मप्रकृतियों को द्रव्यकर्म कहते हैं तथा औदारिक आदि शरीर नोकर्म कहे जाते हैं।

इन तीनों प्रकार के कर्मों से आत्मा मलिन है किन्तु इसी मलिन, विनश्वर शरीर से निर्मल, अविनश्वर, आत्मतत्त्व की प्राप्ति करने हेतु ही मानव जीवन में पुरुषार्थ किया जाता है। सांसारिक दृष्टि से मनुष्य एवं तिर्यंचों की अकालमृत्यु संभव है किन्तु देव–नारकियों की अकालमृत्यु नहीं होती है।

जैसा कि धवला में कहा है–

विसवेयणरत्तक्खय भयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं।
उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ।।

अर्थात् विष खाने से, अत्यधिक वेदना से, रक्त के क्षय हो जाने से, आकस्मिक भयावह स्थिति पैदा हो जाने से, शस्त्र लगने से, अत्यन्त संक्लिष्ट परिणामों से और श्वासोच्छ्वास के निरोध हो जाने से अकाल में मरण होता है।

ऐसा मरण न तो भोगभूमि के मनुष्यों के होता है और न देव-नारकियों के है, वे तो अपनी पूरी आयु भोगकर ही मरते हैं तथा कर्मभूमि के मनुष्य-पशु उपर्युक्त किन्हीं कारणों से अकालमृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं। अन्तरात्मा जीव शरीर और आत्मा को भिन्न समझते हुए अकालमृत्यु के कारणों से सदैव बचने का प्रयास करता है, राग-द्वेष आदि से भी दूर रहता है तभी वह सम्यग्दर्शन में दृढ़ रह सकता है। जैसा कि कहा भी है–

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्वं नेतरो जनः।।

अर्थात् जिसका मन राग-द्वेष आदि कल्लोल-तरंगों से विचलित नहीं होता है वही आत्मतत्त्व को देख सकता है। यद्यपि वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन होने वाले महामुनियों के लिए ही राग-द्वेष को पूर्णरूप से त्याग कर पाना संभव है, फिर भी सरागी मुनि एवं गृहस्थजन जब तक इनसे पूरी तरह छूट नहीं पाते, तब तक उन्हें अपने परिणामों को शुभरूप में परिवर्तित करने की प्रेरणा दी गई है।

देखो! आपके घर में यदि दो नालियाँ हैं। उनमें एक से गन्दा पानी आ रहा है एवं दूसरी से गंगा का निर्मल जल आ रहा है तो पहली नाली जो गंदा पानी लाती है उसे बंद करने का आप प्रथम प्रयास करेंगे, उसके बाद यदि गंगाजल की आवश्यकता नहीं है तो उस नाली को भी बंद करेंगे।

अब आपको देखना यह है कि शुभ और अशुभ कर्मों का आगमन किन कारणों से होता है? इसका उत्तर है कि आत्मा में कर्मों के आने के द्वार को आश्रव कहते हैं पुनः यह आश्रव शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। शुभ कर्मों के आने को शुभ आश्रव एवं अशुभ कर्मों के आने को अशुभ आश्रव कहते हैं।

यूं तो इस जीव के प्रतिक्षण कषायों के कारण, इन्द्रियविषयों के कारण एवं अव्रत आदि पाप क्रियाओं से अशुभ कर्मों का आश्रव तो होता ही रहता है, उन्हें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, पूजन, स्वाध्याय, दान आदि धार्मिक क्रियाओं के द्वारा शुभ रूप में परिणत करना चाहिए।

अन्तरात्मा जीव किस प्रकार से छोटा सा निमित्त पाकर भी परमात्मा बनने की ओर अग्रसर हो जाता है इसका साक्षात् उदाहरण देखिये–

चम्पापुर नगरी के उद्यान में एक महामुनिराज गर्मी के दिनों में एक मास का उपवास ग्रहण कर ध्यान में लीन थे। भीषण गर्मी के कारण पित्त की अधिकता हो जाने से उन्हें प्यास की बाधा सताने लगी, जिससे ध्यान में विघ्न उपस्थित होने लगा। मुनिराज की तपस्या से गंगा देवी का आसन कम्पित हुआ, उसने अवधिज्ञान से मुनि की स्थिति जान ली और वह घड़े में शुद्ध गंगाजल लेकर उनके सम्मुख प्रगट होकर बोली–

भगवन्! इस जल के द्वारा आप अपनी प्यास बुझाइये ताकि ध्यान निर्विघ्नतया हो सके। मुनि ने देवी के शब्द सुनकर कहा–

हे देवी! पहली बात तो मैंने एक माह का उपवास ग्रहण कर रखा है। जिसे आकुलता होने पर भी तोड़ नहीं सकता। दूसरी बात, दिगम्बर जैन साधु देवी-देवताओं के हाथ से आहार ग्रहण नहीं करते हैं इसलिए आपसे मैं जल ग्रहण नहीं कर सकता।

मुनि की द्वितीय बात सुनकर देवी के मन में दुःख हुआ कि धातु-उपधातु से रहित हम देवों के वैक्रियिक पवित्र शरीर से ये साधु आहार क्यों नहीं ले सकते? उसने विदेहक्षेत्र में जाकर सीमंधर स्वामी तीर्थंकर से इसका समाधान प्राप्त किया कि जिन मनुष्यों में तपस्या करके मोक्ष जाने की योग्यता मौजूद हैं उनसे ही ये साधुजन आहार लेते हैं। तब गंगादेवी के मन में सहज ही भावना उत्पन्न हुई कि मैं आहार नहीं दे सकती तो न सही, अन्य प्रकार से गुरु की वैयावृत्ति तो कर सकती हूँ। तत्क्षण ही उसने अपनी विक्रिया से आकाश में चारों तरफ बादल छा दिये और धीमी-धीमी फुहारों को लाने वाली वर्षा शुरू कर दी। मौसम बदलते ही मुनिराज के पास ठंडी-ठंडी हवा पहुँची और

प्यास की बाधा शांत होते ही वे धर्मध्यानरूपी वैराग्य भावनाओं को भाते हुए शुक्लध्यान में पहुँच गये। क्षण भर में चार घातिया कर्मों का नाशकर केवली भगवान बन गये और गन्धकुटी में उनकी दिव्यध्वनि खिरने लगी। देखो! एक देवी द्वारा की गई योग्य परिचर्या से मुनिराज को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इस उदाहरण से सभी को गुरु वैयावृत्ति का पाठ सीखना चाहिए।

जैसे पहलवान को देखकर साधारण व्यक्ति के अन्दर भी पहलवान बनने की भावना जागृत होती है, सेना में भर्ती होने वाले सैनिकों को देखकर दूसरों में भी वीरत्वशक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही त्यागी महामुनियों की साधना देखकर अपने अन्दर भी त्याग की भावना प्रगट होनी चाहिए। इस भव में किया गया त्याग का अभ्यास भी धीरे-धीरे किसी न किसी भव में मोक्ष तक प्राप्त कराने में सहायक बनता है। श्री देवसेन आचार्य ने इसलिए कहा है–

वरिस सहस्सेण पुरा, जं कम्मं हणइ तेण कायेण।
तं कम्मं वरिसेण हु, णिज्जरयइ हीणसंहणणे।।

अर्थात् चतुर्थ काल में जिस शरीर के द्वारा एक हजार वर्षों में जो कर्म नष्ट किये जाते थे, इस काल में हीन संहनन के द्वारा उन कर्मों को एक वर्ष की तपस्या के द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

अतः यह बात सहज सिद्ध हो जाती है कि आज हम लोगों के लिए चतुर्थकाल की अपेक्षा पंचमकाल श्रेष्ठ है क्योंकि आत्मतत्त्व का सार इस काल में प्राप्त हुआ है। प्रवचन का सारांश यही है कि अनादिकाल से चली आ रही बहिरात्म अवस्था को छोड़कर अन्तरात्मपने को प्राप्त कर आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव करते हुए वैराग्य और ध्यान का सतत अभ्यास करना चाहिए।

देव का लक्षण

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा।।

'जो देवे सो देव' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अर्थ–निधि, रत्न आदि धन को देता है, धर्म–चारित्र लक्षण धर्म को, दया लक्षण धर्म को, वस्तु स्वरूप लक्षण धर्म को, आत्मा की उपलब्धि लक्षण धर्म को और उत्तम क्षमादि दशभेद लक्षण धर्म को देता है। काम–अर्ध-मंडलीक, मंडलीक, महामंडलीक, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती और धरणेन्द्र के भोगरूप काम को देता है तथा केवल ज्योति–स्वरूप ज्ञान को देता है वह देव है। क्योंकि जिसके पास जो है वह वही देता है और जिनेन्द्रदेव के पास अर्थ है, धर्म है एवं प्रव्रज्या है इसीलिए वह अर्थ, धर्म और प्रव्रज्या–सर्व सौख्यमय दीक्षा को देते हैं।

–भगवान कुंदकुंददेव, बोधपाहुड़ गाथा 24

प्रवचन–44

भगवान के दर्शन से अनेक उपवासों का फल मिलता है

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

आप लोग मंदिर में प्रवेश करते ही ॐ जय-जय-जय, निःसही-निःसही-निःसही नमोऽस्तु-नमोऽस्तु-नमोऽस्तु बोलते हैं। इसमें ॐ जय और नमोऽस्तु का अर्थ तो लगभग सभी को पता होता है किन्तु 'निःसही' का अर्थ प्रायः लोगों को ज्ञात नहीं होता। निःसही का वास्तविक अर्थ है कहीं भी प्रवेश करते समय वहाँ के अधिष्ठाता देव से पूछना। प्रायः प्रत्येक स्थान के कोई न कोई अधिष्ठाता देव होते हैं चाहे मंदिर हो या मकान, पर्वत हो या गुफा, सरोवर हो या नदी–समुद्र आदि। श्रावकों को तो केवल मंदिरों में प्रवेश करते हुए निःसही शब्द का प्रयोग करना बतलाया है किन्तु साधुओं के लिए आचार ग्रंथों मे उनकी तेरह क्रियाओं के अन्तर्गत असही और निःसही ये दो क्रियाएं बताई हैं, जिन्हें उनको अहोरात्रि (दिन-रात) हर समय करने पड़ते हैं। आपने निःसही शब्द तो सुना और प्रयोग किया है किन्तु असही शब्द तो शायद सुना ही नहीं होगा। जैसे निःसही शब्द मंदिर या मकान में प्रवेश करते समय बोला जाता है, वैसे ही असही शब्द वहाँ से वापस जाते (बाहर निकलते) समय बोला जाता है। इसका मतबल होता है कि उस मंदिर या वसतिका के अधिष्ठाता जो भूत व्यंतरदेव हैं, उनसे पूछकर या उन्हें सूचित करके प्रवेश करना तथा उनसे कहकर ही वापस बाहर निकलना ।

साधुगण (मुनि–आर्यिकादि) तो जितनी बार मल–मूत्र विसर्जन करने जाते हैं अथवा मंदिर या वसतिका आदि में प्रवेश करते हैं, तो निःसही बोलते हैं और वहाँ से वापस आते समय असही बोलते हैं। ये क्रियाएँ उनके लिए आवश्यक होती हैं।

अनगारधर्मामृत में एक श्लोक आया है–

वसत्यादौ वसेत्तत्स्थं भूतादिं निःसही गिरा।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासही गिरा।।

इसका अर्थ यही है कि वसतिका आदि सभी स्थानों के आधीन देवताओं से पूछकर वहाँ प्रवेश करना या रहना और उनसे पूछकर ही वापस जाना चाहिए।

इन अस्ही–निःसही शब्दों का प्रयोग किसी देवता से निवेदन या प्रार्थना करना नहीं है बल्कि यह एक व्यवहारिकता है। इस निःस्ही शब्द को बोले बिना सहसा मंदिर में घुस जाना उद्दण्डता का प्रतीक है। साधु यदि इन क्रियाओं का प्रयोग नहीं करें, तो आगम के अनुसार वे प्रायश्चित के भागी होते हैं। आप भी जब अपने किसी रिश्तेदार के घर जाते हैं, तो अत्यंत परिचित होते हुए भी बाहर से घंटी बजाकर उन्हें सूचित करते हैं, किसी सरकारी ऑफिस या कॉलेज की क्लास में प्रवेश करते हैं "मे आई कम इन, सर" बोलकर साहब से पूछकर प्रवेश करते हैं। मैंने यहाँ तक भी देखा है कि कोई विद्यार्थी कक्षा में अध्यापक से बिना पूछे ही घुस गया, तो अध्यापक जी ने उसे कक्षा से

बाहर निकाल दिया। क्योंकि उसने व्यवहारिकता का उल्लंघन कर दिया था, इसी प्रकार यदि आपने भी मंदिर प्रवेश में निःसही बोलकर व्यवहारिकता का पालन नहीं किया, तो किसी भूतादि का संकट भी उपस्थित हो सकता है।

यह तो हुई निःसही बोलने की बात, उसके पश्चात् मंदिर के अन्दर घुसते हुए 'निस्संगोऽहं जिनानां सदनमनुपमं त्रिःपरीत्येत्य भक्त्या' इत्यादि ईर्यापथशुद्धि पाठ पढ़ते हुए भगवान की तीन प्रदक्षिणा लगावें। पुनः जिनप्रतिमा के समीप खड़े होकर हाथ जोड़कर णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं एवं चत्तारिमंगल पढ़कर पंचांग नमस्कार करें। पुरूषों का पंचांग नमस्कार घुटने जमीन पर टेक कर दोनों हाथ जोड़ते हुए मस्तक को भूमि पर स्पर्श कराना है, तथा महिलाओं को गवासन में बैठकर हाथ जोड़ते हुए मस्तक को भूमि पर स्पर्श कराते हुए नमोऽस्तु बोलकर पंचांग नमस्कार करना चाहिये।

मंदिर में प्रतिमाओं के समक्ष वेदिका पर चावल के पुंज भी चढ़ाने का अपना एक तरीका है। प्राचीन परम्परानुसार तो पहले प्रदक्षिणा करके पुंज चढ़ाकर नमस्कार करने का क्रम है। वर्तमान में शायद पहले चावल चढ़ाकर पुनः प्रदक्षिणा लगाने की परम्परा है। जो भी हो, मंदिर में विराजमान देव, शास्त्र, गुरू तीनों के समक्ष अलग-अलग तरीके से पुंज चढ़ाकर नमस्कार करना चाहिए। जैसे–भगवान की प्रतिमा के समक्ष **अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु** बोलकर **पांच पुंज** चढ़ाना चाहिये। बंद मुट्ठी में चावल रखकर अंगूठा अंदर करके सबसे पहले णमो अरिहंताणं बोलते हुए बीच में एक पुंज रखें, पुनः णमो सिद्धाणं बोलकर उस पुंज के ऊपर एक पुंज चढ़ावें, णमो आयरियाणं बोलकर दाईं ओर पुंज चढ़ावें, णमो उवज्झायाणं कहते हुए नीचे पुंज चढ़ावें और णमो लोए सव्वसाहूणं बोलते हुए बाईं ओर अंतिम पाँचवां पुंज चढ़ावें। सभी वेदियों में भगवान की प्रतिमाओं के समक्ष इसी क्रम से पांच पुंज चढ़ाना चाहिए पुनः जिनवाणी–शास्त्र जहाँ विराजमान रहते हैं, उनके समक्ष वेदी पर **'प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः'** बोलते हुए सीधे क्रम से ही **चार पुंज** चढ़ाने चाहिए। क्योंकि जिनवाणी माता प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार की होती है। उनके समक्ष पुंज चढ़ाने के पश्चात् पंचांग नमस्कार करते समय भी यही प्रथमं करणं वाला पद बोलें। इसके बाद मंदिर में या धर्मशाला में यदि कोई साधु-मुनि, आर्यिकादि विराजमान हों, तो उनके पास जाकर **'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र'** बोलकर क्रम से **तीन पुंज** चढ़ावें। क्योंकि साधु रत्नत्रय की साधना करते हैं। इसीलिए उनके समक्ष तीन पुंज चढ़ाकर पंचांग नमस्कार किया जाता है।

साधुओं के पास नमस्कार करने में भी अलग-अलग शब्दों का प्रयोग होता है। उन्हें भी आप लोगों को अवश्य जानना चाहिए। जैसे– **दिगम्बर मुनियों को नमस्कार करने में 'नमोऽस्तु' बोला जाता है, आर्यिकाओं को 'वंदामि' कहकर नमस्कार करते हैं, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं को 'इच्छामि' कहकर नमस्कार करते हैं।**

नित्य देवदर्शन करने वाले को जिनवाणी और गुरूदर्शन का लाभ तो अनायास प्राप्त हो ही जाता है। जैन कुल में जन्म लेने के नाते प्रत्येक प्राणी को मंदिर दर्शन का नियम अवश्य लेना चाहिए। जैन रामायण पद्मपुराण के 32वें पर्व में जिनेन्द्र दर्शन का अचिन्त्य माहात्म्य बतलाया है–

फलं ध्यानाच्चतुर्थस्य षष्ठस्योद्यममात्रतः।
अष्टमस्य तदारंभे गमने दशमस्त तु।।

इसी प्रकार आगे पांच श्लोकों में कहा है– 'भगवान के दर्शन के लिए विचार करने मात्र से एक उपवास का फल मिलता है। गमन के लिए उद्यम करने पर दो उपवास, नहाने–धोने आदि रूप आरम्भ करने पर तीन उपवास, घर से मंदिर के लिए चल देने पर चार उपवास, थोड़ी दूर चले जाने पर पाँच उपवास, आधा रास्ता तय हो जाने पर पन्द्रह उपवास, कुछ दूर से मंदिर के दिख जाने पर एक महीने का उपवास, मंदिर के परिसर में पहुँच जाने पर छह मास का उपवास, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष का उपवास, भगवान की तीन प्रदक्षिणा लगाने पर सौ वर्ष का उपवास, जिनेन्द्र भगवान के मुख कमल का दर्शन करने पर हजार वर्ष का उपवास और भावपूर्वक स्तुति करने से अनंत उपवासों का फल प्राप्त होता है।' इसका मतलब यही है कि जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से बढ़कर संसार में कोई वस्तु नहीं है।

मेंढ़क जैसा तुच्छ तिर्यंच प्राणी देवदर्शन की भावना से कमल पांखुड़ी अपने मुँह में दबाकर चल पड़ा, मार्ग में राजा श्रेणिक के हाथी के पैर तले दबकर मर गया, तो भी वह स्वर्ग में देव हो गया। यह उसकी दर्शन करने की भावना का ही फल तो था। भक्ति के प्रवाह में उस बेचारे ने यह भी नहीं सोचा कि मुझ जैसा क्षुद्र प्राणी इतनी भीड़ में भगवान महावीर के पास तक कैसे पहुंच जाएगा? लेकिन वह तो अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्य लेकर चल पड़ा था अतः भले ही उस पर्याय में भगवान तक न पहुँच सका किन्तु मरकर तुरंत ही अन्तर्मुहूर्त में देव शरीर धारण कर महावीर स्वामी के समवसरण में पहुंच गया। राजा श्रेणिक से पहले ही उसे जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन का सौभाग्य मिला। समवशरण में श्रेणिक द्वारा प्रश्न किये जाने पर ज्ञात हुआ कि यह मेंढ़क का जीव भक्ति के फलस्वरूप देव बनकर यहाँ आया है। आप महावीराष्टक स्तोत्र में भी पढ़ते हैं–

'यदर्च्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह'

देखो! एक मेंढ़क को कवियों ने अपनी स्तुतियों में स्थान दे दिया। आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उस मेंढ़क की भक्ति का निरूपण किया है–

अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेकैन राजगृहे।।120।।

यह जिनेन्द्र दर्शन का ही माहात्म्य है। आप मनुष्य होकर जिनदर्शन का महत्व जानकर अपने जीवन का सदुपयोग करें, अनंत जन्मों में संचित पाप पुंज का नाश करने बिना उपवास किए असंख्यात उपवासों का पुण्यफल प्राप्त करें, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–45

जिनेन्द्र पूजा एवं दान श्रावक के लिए आवश्यक है

श्रीमुखालोकनादेव, श्रीमुखालोकनं भवेत् ।
आलोकन विहीनस्य तत्सुखावाप्तयः कुतः।।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि श्री जिनेन्द्र भगवान के मुखावलोकन–दर्शन से श्रीमुख–लक्ष्मी का अवलोकन–धन की प्राप्ति होती है तथा जो श्रीमुख का दर्शन नहीं करता उसे उस सुख की प्राप्ति भला कैसे हो सकती है।

यहाँ पर अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की लक्ष्मी प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करना बतलाया है।

भावसंग्रह ग्रंथ में आचार्य श्री देवसेन स्वामी ने भी कहा है–

''देवपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया''

अर्थात् देवपूजा के बिना सामायिक आदि क्रियायें भी अधूरी मानी जाती हैं। श्रावक या श्राविका जब तक पिच्छी धारण करके साधु नहीं बनते है तब तक उनके लिए दान-पूजन आदि क्रियाएँ आवश्यक है। कोई श्रावक यदि मात्र सामायिक करके संतुष्ट होना चाहे अथवा बिना द्रव्य चढ़ाए भावपूजा कर लेवे, तो यह उसके लिए दोषास्पद है। भाव पूजा तो मात्र साधुओं के लिए है क्योंकि उनके पास द्रव्य है ही नहीं। श्रावक-श्राविका तो अपने पोषण हेतु भोजन वस्त्रादि के निमित्त द्रव्य रखते हैं, तो उन्हें द्रव्य पूजा में भी कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए । पद के अनुसार ही आचार्यों ने क्रियाओं का विभाजन किया है। **''बिना पिच्छी ग्रहण किये साधु जैसी क्रिया करके उनके सदृश ही अपने को पुजवाने से नीच गोत्र का आश्रव होता है।''** यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए। इसीलिए आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने श्रावकों के लिए रयणसार में **''दाणं पूजा मुक्खो, सावयधम्मो ण सावया तेण विणा''** कहकर श्रावकों को उनके कर्तव्य का परिचय कराया है तथा साधुओं के लिए ''झाणज्झयणं मुक्खो'' अर्थात् ध्यान और अध्ययन मुख्य बतलाया है।

आदिपुराण में पूजा के 5 भेद माने हैं–नित्यमह, आष्टान्हिक, इन्द्रध्वज, चतुर्मुख और कल्पद्रुम। प्रतिदिन अभिषेकपूर्वक पूजन करना तो नित्य महापूजा है ही, इसके साथ-साथ मंदिर का निर्माण कराना, मंदिर में पूजन हेतु स्थाई दान देना, खेत आदि मंदिर के नाम कर देना, मुनियों को दान देना आदि भी नित्य पूजा में शामिल है।

भगवान तो कृतकृत्य हो चुके हैं आप उनकी पूजा करें या न करें उनकी महिमा में कोई अंतर नहीं आता। लेकिन पूजा करने वाला भक्त परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने कहा है कि जैसे मकान बनाने वाला मिस्त्री पहले नीचे-नीचे सीढ़ी बनाकर फिर धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है, उसी प्रकार से साधु के साथ-साथ श्रावक भी दान के प्रभाव से धीरे-धीरे ऊपर उठ जाता है। एक गरीब ब्राह्मण की पत्नी खेत में काम करने के बाद मजदूरी से प्राप्त धान्य (जौ) लेकर आई और नित्य की भांति उसने आटा पीसकर तीन लड्डू बनाए। एक अतिथि के लिए, एक पति के लिये और एक अपने लिए। रसोई बनाने के बाद वह द्वारापेक्षण के लिए घर के बाहर खड़ी हो गई। संयोगवश एक मासोपवासी मुनिराज वहाँ आ गये। महिला ने पड़गाहन किया और एक क्रम-क्रम से तीनों लड्डू महाराज को आहार में दे दिये। उसने सोचा कि आए हुए अतिथि को भूखे रखना ठीक नहीं है, हम लोग आज उपवास कर लेंगे। महाराज के आहार के बीच में ही उस ब्राह्मण के घर में रत्नादि पंचाश्चर्य की वृष्टि होने लगी । नगर के राजा को जब यह सब पता लगा तो उन्होंने ब्राह्मण को बुलाकर पूछा कि मेरे महल में तो रत्नवृष्टि कभी नहीं हुई तेरे घर में इतने रत्न कैसे बरस गए? ब्राह्मण बोला– राजन् ! ये सब आहारदान का चमत्कार है। राजा बोले– तू अपना पुण्य मुझे दे दे। किन्तु यह विचारणीय विषय है कि भला किसी का कर्म कोई ले सकता है?

सत्पात्र को आहारदान देने वाला जीव नियम से नरक में नहीं जाता है। चतुर्थकाल के मुनियों के आहारदान में तो रत्नवृष्टि हुआ करती थी, आज के साधुओं में इतना चमत्कार तो नहीं किंतु थोड़ा बहुत अतिशय अवश्य देखा जाता है। वर्तमान में साधुओं को आहार देने वाले श्रावक कभी गरीब– दरिद्र नहीं देखे जाते हैं।

मैं बंगाल प्रांत में विहार कर रही थी, तो पुरलिया नामक गांव से विहार करने के बाद वहाँ के सेठ उम्मेदमल की धर्मपत्नी ने आकर मुझसे कहा कि जिस दिन से आपने हमारे यहाँ से विहार किया है उसी दिन से हमारी गाय ने शाम को दूध देना बंद कर दिया है। मैंने हँसकर कहा– मेरे विहार से आपकी गाय का भला क्या सम्बन्ध? तब वे बोलीं– अब तक मैं गुरूओं की महिमा सुना ही करती थी। आज प्रत्यक्ष में देखने का अवसर मिला। हमारे संघ की अन्य आर्यिकाएं आश्चर्यपूर्वक उनसे पूछने लगीं। तब उन्होंने बताया कि मेरी गाय हमेशा तो केवल एक टाइम दूध दिया करती थी। किन्तु जब माताजी का संघ यहां आया, तब आपके संघ की ब्रह्मचारिणी मनोवतीबाई (वर्तमान में आर्यिका अभयमती जी) ने कहा कि बड़ी माताजी के लिए मुझे मट्ठा बनाने हेतु शाम को दूध चाहिए। मैं बोली– बहन जी! क्षमा करें, मेरी गाय तो केवल सुबह एक समय ही दूध देती है। फिर भी कुछ सोचकर हम दोनों बर्तन लेकर गाय के पास पहुँचे। आश्चर्य की बात थी उसने सुबह जितना ही शाम को भी दूध दुहने दिया और संघ रहने तक बराबर इसी प्रकार दोनों टाइम दूध देती रही और दही-मट्ठा बनता रहा। जिस दिन माताजी ने वहाँ से विहार कर दिया, उसी दिन से फिर शाम का दूध बन्द हो

गया। मेरे घर में तो सभी लोग कहते हैं कि यह सब माताजी का ही प्रभाव था।

मैंने सारी घटना सुनकर कहा– यह तो कोई खास बात नहीं है, साधुओं की तपस्या से तो न जाने कितने अतिशय हो जाते हैं। यदि मुझे पहले वहीं पर तुम बता देतीं, तो मैं उस मट्ठे को कभी न लेती, क्योंकि तुम तो मेरे निमित्त से ही वह मट्ठा बनाती होगी। खैर! वह बेचारी डर सी गई, कहने लगी– माताजी! साधुओं की बीमारी का इलाज करना तो हम श्रावकों का कर्त्तव्य है फिर हम तो सब साधुओं को भी देते थे और खुद भी पीते थे।

जब हृदय में साधुओं के प्रति वात्सल्य भाव उत्पन्न होता है तो असीम आनन्द की प्राप्ति होती है और सारे मनोरथ भी सिद्ध होते हैं। भक्ति को आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने कामधेनु की उपमा दी है– **'कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्'** भगवान ऋषभदेव को यदि राजा श्रेयांस ने आहार न दिया होता, तो आज साधुओं के दर्शन नहीं होते। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने इस युग में जन्म लेकर साधुओं को मार्गदर्शन प्रदान किया। वे उत्तर भारत में भी आये और दिल्ली के चौराहों पर खड़े होकर फोटो खिचवाए, ताकि भविष्य में कभी जैन साधुओं के विहार पर प्रतिबन्ध न रहे। कुछ कुतर्कियों ने इस विषय पर विरोध भी प्रदर्शित किया कि आचार्यश्री को फोटो खिंचवाने का बड़ा शौक है। तब आचार्यश्री ने अपनी प्रवचन सभा में इस बात का स्पष्टीकरण करते हुआ कहा कि मुझ दिगम्बर को फोटो से क्या लाभ? मेरे पास तो फोटो रखने की जगह भी नहीं है लेकिन ये फोटुएं युग-युग तक स्मरण कराएंगी कि परतन्त्रयुगीन भारत में भी जैन साधु गली-गली में विचरण करतेथे।

2500वें निर्वाणोत्सव के समय आचार्यश्री धर्मसागर महाराज, देशभूषण महाराज और मुनि विद्यानन्दि जी ने समस्त साधुवर्गों का समीकरण बनाकर देशव्यापी धर्मप्रभावना की। उस समय दिल्ली के लोग आचार्य धर्मसागर जी महाराज के संघ को दिल्ली लाने से डर रहे थे। क्योंकि वे विशेष त्याग नियम करवाकर श्रावकों से आहार लेते थे। मैंने दिल्ली वालों को समझा-बुझाकर आचार्यश्री के पास निवेदन करने अलवर (राज.) भेजा। आप सबके पुण्योदय से वे संघ सहित दिल्ली आए, पश्चिमी उत्तरप्रदेश में भी उनके चातुर्मास हुए। उनकी निस्पृहता एवं सिंहवृत्ति से आज इधर का बच्चा-बच्चा परिचित है।

धर्म की प्रभावना तो श्रावक और साधु दोनों से मिलकर होती है। हम लोग आगम आधार को लेकर ही समाज का मार्गदर्शन करते हैं। आचार्य शांतिसागर महाराज ने भी आगम पढ़कर पहले अपनी चर्या को निर्दोष बनाया। उन्होंने मुनिश्री देवेन्द्रकीर्ति जी से क्षुल्लक एवं मुनिदीक्षा धारण की पुनः मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों को पढ़ा। उस समय दक्षिण में ऐसी परम्परा थी कि मंदिर के उपाध्याय

(पुजारी) जिस घर में भोजन बनाने को कह देते थे, उसी घर में मुनि महाराज जाकर आहार ग्रहण कर लेते थे। किन्तु शांतिसागर महाराज जब वृत्तपरिसंख्यान (नियम) लेकर सारे गाँव-शहरों में चर्या करने लगे, ज्यादा चौके न लगने के कारण महाराज के उपवास होने लगे, तब श्रावक लोग पुजारी को डांटने-फटकारने लगे। उस पुजारी ने श्रावकों को शास्त्रोक्त आहारचर्या बतलाई और तब लोगों ने घर-घर चौके लगाकर पड़गाहन करना शुरू किया।

आप लोगों को सुनकर आश्चर्य होगा कि आचार्यश्री ने अपने 36 वर्ष के दीक्षित जीवन में साढ़े पच्चीस वर्ष उपवास में व्यतीत किये तथा मात्र साढ़े नौ वर्ष आहार ग्रहण किया। जिन्होंने ऐसे महातपस्वी का दर्शन भी कर लिया मानों संसार से तिर गये।

शास्त्रों में मुनियों को जिनेन्द्र का लघुनन्दन माना गया है और उनकी सेवा, वैय्यावृत्ति, आहारदान आदि को नित्यमह पूजन में गर्भित किया है।

मैंने अपने 40 वर्ष के दीक्षित जीवन में आचार्यश्री शांतिसागर महाराज से लेकर आज तक सैकड़ों साधु देखे किन्तु आचार्यश्री के समान तो दूसरा कोई न हुआ न होगा। वे तो वास्तव में सुदृढ़ चारित्र और तप की साक्षात् मूर्ति थे। इसीलिए उनकी चारित्रचक्रवर्ती उपाधि सार्थक थी। आप सभी श्रावक हैं अतः गुरुचरणों के भक्त बने रहें, दान-पूजन की सार्थकता समझकर उससे जीवन को अलंकृत करें, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

श्रुतज्ञान महान वृक्ष सदृश है

अनादिकाल की अविद्या के संस्कार से प्रत्येक मनुष्य का मन मर्कट के समान अतीव चंचल है। उसको रमाने के लिए श्री गुणभद्र सूरि इस श्रुत ज्ञान को महान वृक्ष की उपमा देते हुए कहते हैं–

'अनेकांतात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते।
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।।
समुत्तुंगे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं।
श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्।।170।।

जो श्रुतस्कंध रूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका है, वचनों रूप पत्ते से व्याप्त है, विस्तृत नयों रूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञान रूप जड़ से स्थिर है उस श्रुतस्कंध वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधु अपने मनरूपी बंदर को प्रतिदिन रमण करावें।

इस श्रुतस्कंध वृक्ष में चारों ही अनुयोग समाविष्ट है क्योंकि एक अनुयोग से होने वाला ज्ञान अपूर्ण ही है।

-आत्मानुशासन

प्रवचन–46

सिद्धचक्र विधान का माहात्म्य

"सिद्धचक्र" का अर्थ है सिद्धों का समूह। तीनलोक के अग्रभाग पर अनन्तानन्त सिद्ध विराजमान रहते हैं। उन सबको सिद्धचक्र विधान के माध्यम से नमन किया गया है। अष्टान्हिका पर्व में प्रायः सभी जगह सिद्धचक्र विधानों के आयोजन देखे जाते हैं क्योंकि मैना सुन्दरी ने अष्टान्हिका में इसकी विधिवत् आराधना करके अपने पति एवं सात सौ कुष्ठियों का कुष्ठ रोग दूर किया था।

"सिद्ध" यह शब्द विशेष मंगलसूचक है। इस पद के नामोच्चारण से अनेक कार्यों की सिद्धि होती है। आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने **"जैनेन्द्रप्रक्रिया"** नामक व्याकरण ग्रंथ का शुभारंभ **"सिद्ध"** शब्द से किया है। उसका प्रथम सूत्र है– **"सिद्धिरनेकान्तात्"** जिसका अर्थ है–अनेकान्त से शब्दों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार शर्ववर्म आचार्य ने कातन्त्ररूपमाला में **"सिद्धो वर्णसमाम्नायः"** इस सूत्र से शुभारंभ किया है जिसका अर्थ है कि **"वर्णों का समुदाय अनादिकाल से सिद्ध है।"**

ग्रंथ के प्रारंभ में **"सिद्धि"** एवं **"सिद्ध"** शब्द का प्रयोग स्वयमेव मंगलाचरण का रूप धारण कर लेता है जिससे कृति का निर्माण निर्विघ्न सम्पन्न होता है। "सिद्ध" शब्द से "सिद्धान्त" बनता है। जिन शास्त्रों-ग्रंथों के अन्त में सिद्धों का वर्णन आता है उसे "सिद्धान्त" कहते हैं। सिद्धान्त शब्द की व्याख्या करते हुए कहा भी है-

सिद्धानां कीर्तनादन्ते, यः सिद्धान्तप्रसिद्धवाक्।
सोऽनाद्यनन्तसन्तानः, सिद्धान्तो नोऽवताच्चिरम्।।

अर्थात् जिन ग्रंथों के अन्त में सिद्धों का कीर्तन किया गया हो उन्हें सिद्धान्त कहा जाता है, वह अनादि अनन्तकाल से चला आया सिद्धान्त चिरकाल तक हम सबकी रक्षा करे। इस कथन के अनुसार किसी अपेक्षा से चारों अनुयोग भी "सिद्धान्त" कहलाते हैं क्योंकि इन सबके अन्त में सिद्धों का वर्णन आया है।

आपकी, हमारी और समस्त जीवों की आत्मा निश्चयनय से सिद्ध है। व्यवहारनय से हम सभी संसारी हैं क्योंकि पंचपरिवर्तनशील संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। जब तक हम सिद्ध नहीं बन जाते, तब तक सिद्धों की आराधना करनी होगी। अष्टान्हिक पर्व अनादिनिधन पर्व है, आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन इन तीन महीनों की शुक्ला अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक यह पर्व वर्ष में तीन बार आता है। इनमें प्रायः श्रावक लोग व्रतादि भी करते हैं और सिद्धचक्र, नन्दीश्वर, कल्पद्रुम, इन्द्रध्वज आदि मंडल विधानों के आयोजन भी करते देखे जाते हैं।

आष्टान्हिक पर्व को मुख्यरूप से "नन्दीश्वर पर्व" कहते हैं क्योंकि इस पर्व में

चारों प्रकार के इन्द्र, देवगण नन्दीश्वर द्वीप में जाकर वहाँ के बावन जिनालयों की पूजा करते हैं। आप भी नन्दीश्वर की पूजन में पढ़ते हैं–

हमें शक्ति सो नाहिं इहाँ करि थापना।
पूजूँ जिनगृह प्रतिमा, है हित आपना ।।

अर्थात् मनुष्य नन्दीश्वर द्वीप में नहीं पहुँच सकते हैं क्योंकि वह मनुष्य क्षेत्र से बाहर है। जिस प्रकार आप लोगों के लिए पर्वों में नैमित्तिक पूजा-विधान आदि क्रियाएँ बतलाई हैं उसी प्रकार हम साधुओं के लिए नन्दीश्वर पर्व की अलग से नैमित्तिक क्रिया शास्त्रों में बताई है। हम लोग भी प्रतिदिन नन्दीश्वर क्रिया में सिद्धभक्ति, नन्दीश्वर भक्ति, पंचगुरुभक्ति, शान्तिभक्ति और समाधिभक्ति पढ़ते हैं। आज जगह-जगह नन्दीश्वर द्वीप की रचनाएं भी बन गई हैं जिनके माध्यम से उन अकृत्रिम चैत्यालयों का अनुमान लगाया जा सकता है। सबसे बड़ी बात वहाँ पर मनुष्य क्षेत्र के समान रात-दिन का कोई भेद नहीं है। कर्मभूमि की तिथियों के अनुसार ही वहाँ अष्टमी से पूर्णिमा तक देवगण अहर्निश पूजन करते हैं। त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ती आदि करणानुयोग के ग्रंथों में नन्दीश्वर द्वीप के वैभव का बड़ा विस्तृत सुन्दर वर्णन है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य समाधिमरणपूर्वक शरीर त्याग करके जब वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं तो वे स्नानादि से निवृत्त होकर इच्छानुसार इन अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करने जाते हैं। आप लोगों को भी जिनेन्द्र भक्ति करते हुए अपना सम्यग्दर्शन निर्मल करना है तभी मैना सुन्दरी के समान फल की प्राप्ति हो सकती है।

एक बार जंगल में कोई शिकारी राजा शिकार के लिए बाण छोड़ रहा था लेकिन उस दिन उसका प्रत्येक बाण निष्फल जाता था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि मेरे सधे हुए हाथों से प्रतिदिन तो एक बार में छोड़े गये बाण से काम सिद्ध हो जाता था और आज मेरा प्रत्येक बाण खाली जा रहा है। "आखिर इसका कारण क्या है?" यह विचार करता हुआ वह राजा जंगल में आगे बढ़ता है। कुछ दूर जाने पर उसकी दृष्टि एक शिलातल पर ध्यानमग्न दिगम्बर मुनिराज पर पड़ती है। मुनि के समीप जाकर नमस्कार करने पर मुनिराज का ध्यान भंग होता है और वे राजा को अहिंसा धर्म का मार्मिक उपदेश सुनाते हैं। राजा ने प्रभावित होकर अहिंसाधर्म स्वीकार किया और वह जैनधर्मी बन गया। अहिंसा धर्म विश्व में सर्वश्रेष्ठ धर्म है जिसे सभी जातियों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। भारतीय संस्कृति विशेषरूप से अहिंसा प्रधान संस्कृति है।

एक बार दिल्ली में डॉ. कैलाशचंद जी (राजा टॉयज) ने मुझे बताया कि माताजी! मैंने जापान में जाकर विदेशियों के बीच बैठकर भी हमेशा छना हुआ जल पिया। वहाँ मेरे द्वारा पानी मांगने पर एक गिलास में पानी और एक खाली गिलास आता था जिसमें मैं अपने रूमाल से पानी छान लेता था। उन्होंने उसी बातचीत के दौरान अपनी एक कमी

भी बतलाई कि एक दिन मेरे पास पानी का मात्र एक गिलास ही आया, दूसरा गिलास न होने से छानने की समस्या आ गई। मैं संकोचवश वही अनछना जल पीने लगा तो एक जापानी ने मुझसे कहा कि जैनसाहब! आप आज अनछना जल कैसे पी रहे हैं? मैं झेप गया, उन्होंने तुरन्त मेरे लिए दूसरा गिलास मंगवाया और तब मैंने पानी छानकर पिया।

यह है आप जैनियों की पहचान, जो पाश्चात्य देशों में भी आपका सम्मान बढ़ातीहै। इसके लिए हमारे जैन बंधुओं को कहीं भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार से सम्यग्दर्शन की दृढ़ता में भी शिथिल नहीं होना चाहिए तभी आगामी भव में स्त्रीपर्याय, पशुयोनि, नरकगति आदि का छेद हो सकता है। आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है-

सम्यग्दर्शनशुद्धा, नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य नारकी, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्रीपर्याय, नीचकुल, विकृतांग, अल्पायु और दरिद्रता को नहीं प्राप्त होता है।

एक बार स्वर्ग से दो देव एक सम्यग्दृष्टि श्रावक की परीक्षा करने हेतु मध्यलोक में आये। मथुरा के राजा चंपापुर में वासुपूज्य तीर्थंकर के समवसरण का दर्शन करने हेतु रथ पर बैठकर चले। उन देवों ने रास्ते में ही उनका रथ कीलित कर दिया। काफी प्रयास करने पर भी रथ हिला तक नहीं। राजा के मंत्री, पुरोहित तथा सभी लोग बोले–अब तो घर की ओर वापस चलना चाहिए किन्तु राजा ने कहा कि मैं बिना दर्शन किए वापस घर नहीं जाऊँगा। अनेक विघ्नों का सामना करते हुए राजा ने श्रद्धापूर्वक वासुपूज्य भगवान की जय बोली और तुरंत रथ चल पड़ा। देवताओं की शक्ति राजा की श्रद्धा के समक्ष कुण्ठित हो गई। तब उन्होंने अपना असली रूप प्रकट कर राजा के सम्यक्त्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

सम्यग्दर्शन आत्मा में प्रकट करने की वस्तु है उसे किसी के भय से, लौकिक सुख प्राप्ति की इच्छाओं से, लाभ से कभी छोड़ना नहीं चाहिए। हमारे गुरु आचार्य श्री वीरसागर महाराज कहा करते थे–पत्थर बनो, तिनका मत बनो। क्योंकि तिनका तो थोड़ी ही हवा के झोंके में भी उड़ जाता है और पत्थर आंधी-तूफान आने पर भी अडिग रहता है अतः धर्म की दृढ़ता में पत्थर के समान अडिग रहना चाहिए।

मेरा कहने का अभिप्राय यही है कि पाश्चात्य संस्कृति में बहकर अपनी संस्कृति मत भूलो। वैदिक रामायण में भी टी.वी. पर देखने वालों ने मुझे बताया कि दशरथ की मृत्यु के बाद उन रानियों ने सफेद साड़ी पहनी, उन लोगों ने कोई अलंकार-गहना आदि नहीं पहना, यह थी प्राचीन वैदिक संस्कृति।

आज हमारे देश पर पश्चिमी सभ्यता की छाप पड़ती जा रही है इसीलिए अनेक विकृतियाँ, कुरीतियाँ, फैशनपरस्ती बढ़ती जा रही है। जिसका दुष्परिणाम यह निकल रहा है कि आप शाकाहारी होकर भी अनजान में मांसाहार कर रहे हैं। अपने जीवन को आधुनिकता का खिताब देकर हिंसा को बढ़ावा दे रहे हैं। यदि हमारे सभी जैन बंधु, महिलाएं अपने क्षणिक आनन्द से मुख मोड़कर शैम्पू, लिपिस्टिक, नेलपॉलिश, तरह-तरह के साबुन, मंजन आदि प्रयोग करने का त्याग कर दें तो बड़ी मात्रा में निरीह पशुओं की हिंसा बच सकती है। केवल इन छोटे-छोटे विषयों पर चिन्तन करने की आवश्यकता है। न तो इनसे आपकी लोकप्रियता में कोई फर्क पड़ता है और न ही शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा होता है, प्रत्युत् धर्म और स्वास्थ्य दोनों ही दृष्टि से इन हिंसक पदार्थों का सेवन हितकारी नहीं है।

आप स्वयं अपने खान-पान, आचार-विचार, आत्मशुद्धि से निर्णय कर सकते हैं कि आपको सम्यग्दर्शन है या नहीं। व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्थूल रूप में यही थर्मामीटर है। वास्तविक व्यवहार सम्यग्दर्शन तथा निश्चय सम्यग्दर्शन का फैसला तो केवली भगवान ही कर सकते हैं।

अष्टान्हिका, दशलक्षण आदि पर्वों में आत्मशुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिए तभी क्रमपरम्परा से सिद्ध पद की प्राप्ति हो सकती है। अनन्त गुणों के धारी सिद्ध परमेष्ठी की भक्ति से आपको मनवांछित फल प्राप्त होवे यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

महाव्रती के प्रतिसमय कर्मनिर्जरा होती है

घडियाजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमाणे संते महत्वईणं कुदो पावं।।60।।

जो महाव्रतियों के प्रतिसमय घटिका यंत्र के जल के समान असंख्यात गुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव है? अर्थात् कथमपि उनके पाप का बंध नहीं हो सकता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये ही बंध के कारण हैं न कि अणुव्रत, महाव्रत आदि। ये व्रत तो मोक्ष के कारणभूत जो रत्नत्रय उसके अन्तर्गत हैं।

प्रवचन–47

समयसार को शुक्लध्यानी महामुनि ही अपने जीवन में साकार करते हैं, श्रावक नहीं!

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं पि।।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि मेरा आत्मा– मैं एक अकेला हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन, ज्ञानमय और सदा अरूपी हूँ। आत्मा से भिन्न परमाणुमात्र कुछ भी मेरा नहीं है।

समयसार की इस वाणी को शुक्लध्यानी महामुनि ही पूर्णरूप से अपने जीवन में साकार करते हैं। श्रावक तो मात्र इस वाणी पर श्रद्धा करने के एवं भावना भाने के अधिकारी होते हैं। आप लोग तीर्थक्षेत्र के दर्शन करते हैं, दान-पूजा आदि पुण्य क्रियाओं को करते हैं। किसलिए? अपनी आत्मा को क्रम परम्परा से शुद्ध बनाने के लिए। आज ही नहीं, पहले के युग में भी मुनिसंघ तीर्थयात्रा के लिए विहार करते थे। जैसा कि कुन्दकुन्द स्वामी के विषय में भी कथन आता है–

''संघ सहित श्री कुन्दकुन्द गुरु वंदन हेतु गये गिरनार।''

अर्थात् इस पंक्ति से यह भी झलकता है कि श्री कुन्दकुन्द देव विशाल मुनिसंघ के संचालक आचार्य परमेष्ठी थे। जो लोग उन्हें एकलविहारी मानते हैं उनके लिए यह पंक्ति चुनौती देती है कि आचार्य परमेष्ठी समाधि के समय भले ही शिष्यों से अलग एकाकी रहते हों किन्तु उससे पूर्व तक तो वे कभी एकाकी नहीं रह सकते अन्यथा उनके लिए आचार्य पदवी ही शोभा नहीं देती है।

तीर्थ पर जाकर अपनी आत्मा को तीर्थस्वरूप बनाने की भावना करनी चाहिए। जिस भूमि पर महापुरुषों ने तपस्या की हो, उनके कोई कल्याणक हुए हों, जहाँ धर्म से संबंधित कोई ऐतिहासिक घटना घटी हो, उन स्थलों को तीर्थक्षेत्र कहते हैं। आप जिस भी तीर्थ पर जाएं, वहाँ के इतिहास से परिचित होना आपका कर्त्तव्य है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने जीवन में 84 पाहुड़ ग्रंथों को लिखा है। इसका मतलब यह है कि उनका अधिकांश समय लेखन में ही व्यतीत होता था क्योंकि उनकी आयु सौ वर्ष से भी कम थी। उस लेख की एकाग्रता में ही वे आत्मानुभव करते होंगे तभी ऐसी-ऐसी महत्त्वपूर्ण गाथाओं का उनके द्वारा सृजन हुआ है। यह निश्चित है कि लेखन के समय विषय की गहनता के साथ-साथ आत्मा में जब एकाग्रता विशेष आती है तो असीम आनन्द का अनुभव होता है। जैसा कि मैंने स्वयं अनुभव किया है। मैंने

ग्रंथों की रचना, अनुवाद आदि आपके लिए नहीं, अपने लिए की है क्योंकि लिखते समय मुझे असीम शांति और आनन्द की अनुभूति होती रही है।

समयसार की रचना करते समय जो आत्मानुभव का रसास्वाद आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी को प्राप्त हुआ होगा, उसका तो हम अनुमान भी नहीं लगा सकते हैं। जैनसिद्धान्त गुणों की पूजा सदा से करता आया है, उसमें जहाँ आज्ञाप्रधानी विद्वान हैं वहीं तर्कशील, न्यायविद्, भगवान को कसौटी पर कसने वाले परीक्षाप्रधानी भी हुए हैं। अष्टसहस्री ग्रंथ में आचार्यश्री विद्यानंद स्वामी ने श्री समन्तभद्राचार्य के द्वारा निन्दा-स्तुति अलंकार में की गई जिनेन्द्र स्तुति में उनकी परीक्षक नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

हे भगवन्! आपके पास देवों का आगमन होता है, आप आकाश में अधर गमन करते हैं, चमर-छत्र आदि विभूतियाँ आपके चरण चूमती हैं। मैं इससे प्रभावित होकर आपको नमस्कार नहीं कर सकता। क्यों? क्योंकि ये विभूतियाँ तो मायावी लोगों में भी हो सकती हैं। इसी प्रकार से भगवान के गुणों को कसौटी पर कसते हुए मानों वे उनसे वाद-विवाद ही करने लगते हैं किन्तु कुछ देर बाद ही असीम श्रद्धापूर्वक कहते हैं कि हे प्रभो! मैं आपको नमस्कार अवश्य करूँगा, अब कौन सी विशेष बात मैंने आपके अन्दर देखी है सो सुनो-

''दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्''

अर्थात् आपके अन्दर से राग-द्वेष आदि समस्त दोष और आवरण समाप्त हो गए हैं। दूसरी बात वे दोष अब कभी भी आपके पास आ नहीं सकते इसीलिए मैं आपको सच्चे आप्त के रूप में स्वीकार करके नमस्कार करता हूँ।

पूरे अष्टसहस्री के अनुवाद में मुझे भगवान की कृपा एवं गुरु के आशीर्वाद से कहीं कोई कठिनाई प्रतीत नहीं हुई, बल्कि उसके बाद मेरा सम्यक्त्व इतना दृढ़ हुआ है कि स्वप्न में भी उसमें शिथिलता नहीं आ सकती है।

बहुत सारे यात्री आकर कहते हैं कि माताजी! आपने कई क्षेत्रों का उद्धार कर दिया, आपने बहुत सुन्दर जम्बूद्वीप बनाया है किन्तु आप सोचें कि मात्र पिच्छी कमंडलु धारण करने वाले हम साधुगण क्या जम्बूद्वीप बना सकते हैं? क्या तीर्थक्षेत्रों का निर्माण कर सकते हैं? नहीं, यह सब तो आप लोगों ने अपने द्रव्य द्वारा बनाया है। मैंने तो मात्र शास्त्र की बात को आपके समक्ष रख दिया, जो मेरा कर्तव्य था।

इस पंचमकाल में आप लोगों को शुद्धात्मा की अनुभूति हो नहीं सकती इसलिए शुभोपयोग में अपने मन को लगाना, जितना बने उतना स्वाध्याय करना, शक्ति के अनुसार तप, त्याग, संयम की आराधना करना आज का परमोत्कृष्ट साधन है किन्तु **''अहमिक्को खलु शुद्धो''** की भावना सदैव भाते रहना चाहिए क्योंकि यही भावना

समाधि की सिद्धि में सहायक होती है।

आत्मा और शरीर की भिन्नता को उत्पन्न कराने वाला थोड़ा-सा ज्ञान भी संसार का अंत कराने वाला होता है।

एक बार राजा श्रेणिक भगवान महावीर के समवसरण में जा रहे थे। मार्ग में उन्हें वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में एक मुनिराज दिखे। श्रेणिक ने उनकी वंदना की परन्तु मुनि का मुँह कुछ विकृत देखकर समवसरण में पहुँचकर सर्वप्रथम गौतम स्वामी से उन मुनिराज के बारे में प्रश्न किया। तब गौतम स्वामी बोले– श्रेणिक! वे मुनि चंपानगरी के राजा श्वेतवाहन हैं। इन्होंने विरक्त हो अपने पुत्र विमलवाहन को राज्य देकर दीक्षा ले ली।

बहुत दिन मुनियों के साथ विहार कर ये परम तपस्वी अखंडसंयमी होकर यहाँ आये हैं। ये दशधर्म में अतिशय रुचि रखते हैं, अतः इनका ''धर्मरुचि'' यह नाम प्रसिद्ध हो गया है। एक महीने के उपवास के बाद आज ये नगर में आहारचर्या के लिए गये थे। इन्हें देखकर इनके निकट ही तीन मनुष्य चर्चा करने लगे।

एक ने कहा– अहो! इनके सर्वलक्षण तो सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार साम्राज्य पद के हैं पुनः ये भिक्षा के लिए क्यों भटक रहे हैं? मालूम पड़ता है कि निमित्तशास्त्र झूठा है।

दूसरे ने कहा– नहीं, नहीं, ये साम्राज्य को त्याग कर ऋषि हुए हैं, इन्होंने अपने लघुवयस्क पुत्र को राज्य दे दिया है अतः निमित्तशास्त्र झूठा नहीं है।

इसी बीच तीसरा बोल उठा– अरे! यह महापापी है। देखो न, अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए एक अनभिज्ञ बालक को राज्यभार दे दिया और अब मंत्रियों ने उस बालक को साँकल से बाँध रखा है।

इतना सुनते ही मुनि का हृदय स्नेह और मान से भर गया अतः वे आहार न लेकर वापस आकर वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठ गए। बाह्य कारणों के मिलने से उनके अन्तःकरण में तीव्र अनुभाग वाले क्रोध कषाय का उदय हो रहा है। उन मंत्रियों के निग्रह के लिए वे हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान में प्रविष्ट हो गए हैं। **''यदि आगे अन्तर्मुहूर्त तक ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरक आयु बंध करने के योग्य हो जावेंगे।''** इसीलिए हे श्रेणिक! तुम शीघ्र ही जाकर उन्हें समझाओ।

महाराज श्रेणिक अविलम्ब वहाँ पहुँचते हैं और मुनिराज को सम्बोधित करते हुए कहते हैं– हे साधो! शीघ्र ही यह अशुभ ध्यान छोड़ो। मोहजाल को दूर करो, क्रोधरूपी अग्नि को शांत करो। मोक्षप्राप्ति हेतु तुमने संयम धारण किया है, उस संयम में स्थिरता लाओ। स्त्री, पुत्र आदि के संबंध दुःख पहुँचाने वाले हैं, संसार को बढ़ाने वाले हैं।....इत्यादि सम्बोधन के वाक्य सुनकर मुनिराज तत्क्षण ही शुभ ध्यान में आ गए। पुनः परिणामों को शुद्ध करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके शुक्लध्यान के बल से घातिया कर्मों को समाप्त कर केवलज्ञानी हो गए। अन्तर्मुहूर्त में ही मुनिराज कहाँ से

कहाँ पहुँच गए, इन्द्रों ने आकर गंधकुटी की रचना कर दी और उसमें राजा श्रेणिक ने सभी के साथ बैठकर "धर्मरुचि" केवली की पूजा की।

देखो! परिणामों की विचित्रता को। ध्यान की एकाग्रता में भी बाह्य निमित्त बाधक बन गए, जिनसे "अहमिक्को खलु शुद्धो....." की भावना के स्थान पर आर्त्त-रौद्र ध्यानों ने अधिकार जमा लिया और जरा से सम्बोधन पर पुनः उसी "णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणु मित्तपि" का ध्यान करते हुए शुद्ध ध्यान की परिणति में आकर केवलज्ञानी बन गए। इसीलिए समयसार में कहा है कि काम, भोग, बंध की कथाएँ सुनाने वाले तो संसार में बहुत सुलभ हैं किन्तु आत्मतत्त्व का रहस्य बताने वाले गुरु और पालन करने वाले शिष्य अत्यंत दुर्लभ हैं।

आगम के अनुरूप वचनों से मुनियों को भी मौका पड़ने पर सम्बोधन प्रदान करना, उन्हें तप-संयम आदि में पुनः स्थित कर देना साधु और श्रावक दोनों का कर्तव्य है। ये सभी व्यवहारिक क्रियाएँ एक दिन निश्चय की प्राप्ति में सहायक होती हैं, इसलिए आप लोगों को समयसार पढ़ने से पूर्व श्रावकाचारों का अध्ययन करना चाहिए। इस युग में समयसार की नहीं, बल्कि आचार ग्रंथों की आवश्यकता है। उनका खूब पठन-पाठन, चिन्तन-मनन करो। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, उमास्वामी श्रावकाचार, मूलाचार आदि ग्रंथ बार-बार छपवाकर ज्ञान-दान करो, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करो, यही मेरा सबके लिए मंगल आशीर्वाद है।

आत्मा का आनंद किनको आता है?

जायंते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथा कौतुकं,
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
जीषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्म शुद्धात्मनः,
चिन्तायामपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पंचताम्।

नित्य आनन्द स्वरूप शुद्ध आत्मा का चिंतवन करने पर रस नीरस हो जाते हैं, परस्पर वार्तालाप रूप कथा का कौतूहल नष्ट हो जाता है, विषय समाप्त हो जाते हैं, शरीर के विषय में भी प्रेम नहीं रहता है, वचन भी मौन को धारण कर लेते हैं तथा मन भी दोषों के साथ मृत्यु को प्राप्त करना चाहता है अर्थात् आत्मा के अनुभव आने पर ये सब विषय स्वयं समाप्त हो जाते हैं।

यह अवस्था विशेष महामुनियों के ध्यान में ही हो सकती है। विषयों में फंसे हुए गृहस्थों के कभी संभव नहीं हो सकती।

(श्री पद्मनंदि आचार्य)

प्रवचन–48

श्रावक एवं मुनि दोनों के लिए शुभोपयोग उपादेय है

धर्मप्रेमी भव्यात्माओं!

यह संसार एक विशाल नाटक का मंच है, जहाँ जीव और अजीव ये दो शृँगार सहित पात्र के सदृश एकरूप होकर प्रतिक्षण मंचन करते रहते हैं। जैसे नाटक, सिनेमा में पात्रगण अनेकों प्रकार के नकली रूप धारण करके दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत होते हैं उसी प्रकार से जीव और अजीव ये दोनों द्रव्य भी अपने असली स्वभाव को छोड़कर नरक, तिर्यंच आदि नाना पर्यायों को धारण करते हुए संसार मंच पर प्रस्तुत होकर लोकानुरंजन करते हैं–

शरीरी प्रत्येकं भवति भुवि वेधा स्वकृतितः, विधत्ते नानाभूपवनजलवन्हिद्रुमतनुं।
त्रसो भूत्वा भूत्वा कथमपि विधायात्र कुशलं, स्वयं स्वस्मिन्नास्ते भवति कृतकृत्यः शिवमयः।।

इस संसार में समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मों के आधार पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिरूप स्थावर पर्यायों में अनेकों बार जन्म धारण करता है। किसी पुण्ययोग से त्रस पर्याय प्राप्त करके भी किसी प्रकार मनुष्य भव धारण कर अपनी आत्मा का ध्यान करके मोक्षसुख को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है किन्तु यह अवस्था तो अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि अनादिकालीन संस्कारों के कारण जीव को पंचेन्द्रिय विषय भोग ही सदैव याद रहते हैं तथा आत्मतत्त्व के प्रति उसका कभी ध्यान ही नहीं जाता।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी क्या कहते हैं–

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति।।39।।
अवरे अज्झवसाणे-सु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति।।40।।
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणहिं जो सो हवदि जीवो।।41।।

अर्थात् कोई अज्ञानी जीव आत्मतत्त्व को नहीं जानते हुए पुद्गल आदि परद्रव्यों को ही आत्मा कह देते हैं, कोई कर्म को जीव कह देते हैं, कोई नोकर्म को जीव मान लेते हैं, कोई कर्म के उदय को जीव मान लेते हैं, कोई जीव और कर्म दोनों के मिले हुए रूप को ही जीव मान लेते हैं लेकिन वास्तव में ये सभी जीव नहीं है, इनको जीव मानने वाले परात्मवादी कहलाते हैं।

अन्य सम्प्रदाय वालों को तो ये सारी बातें सत्य प्रतीत होती हैं। वास्तव में आत्मा और कर्म दोनों के संयोग संबंध से ही बंध होता है। वही आत्मा जब कर्मों से छूट जाता

है तब शुद्धात्मा–परमात्मा कहलाता है।

इसी बात को आचार्यश्री अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी आत्मख्याति टीका में स्पष्ट किया है–

''इस संसार में आत्मा के असाधारण लक्षण को न समझने के कारण असमर्थ होने से अत्यन्त मूर्ख हुए अज्ञानीजन वास्तवभूत आत्मा को न जानते हुए बहुत से हैं जो कि बहुत प्रकार से पर को भी यह आत्मा है' ऐसा बकवास करते हैं।''

यदि चिंतन करके देखा जाये तो आत्मद्रव्य मात्र एक अकेला है। जब उसका शरीर ही अपना नहीं है तब स्त्री, पुत्र, मकान आदि साक्षात् परवस्तुएं अपनी कैसे हो सकती हैं? भले ही उस शुद्धात्मा की अनुभूति हमें न होवे किन्तु उसके प्रति श्रद्धान तो यही करना चाहिए कि मेरी आत्मा निश्चयनय से सभी परद्रव्यों से पृथक् है।

देखो! जब पाँचों पांडव दिगम्बर मुनि की अवस्था में ध्यान कर रहे थे, उस समय कुर्युधर नामक दुर्योधन के भानजे ने प्रतिशोध की भावना से उन्हें लोहे के गरम-गरम कंकण, कुंडल आदि पहना दिए। ऐसे उपसर्ग के काल में उन पांडवों ने असली समयसार का चिन्तन किया था–'आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है। अग्नि से उत्पन्न दाह की वेदना मेरे शरीर को हो रही है आत्मा को नहीं। शरीर नश्वर है आत्मा अविनश्वर है। उस अविनश्वर आत्मा की प्राप्ति मुझे करना है, 'शरीर जलता है जलने दो।' ऐसी उत्कृष्ट शुद्धात्म भावना के बल पर ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन इन तीनों ने क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और निर्वाण धाम पहुँच गए। नकुल और सहदेव को किंचित् अपने भाइयों के दुःख का विकल्प हो गया अतः वे मोक्ष न प्राप्त कर सके और उपशम श्रेणी में चढ़कर मरण करके सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हो गये, वे दोनों भविष्य में मनुष्य भव धारण कर सिद्ध पद प्राप्त करेंगे। ऐसी विषम परिस्थितियों में यदि समयसार का चिन्तन मजबूती से किया जाता है तभी उसकी सार्थकता है। केवल समयसार ग्रंथ को पढ़ लेने मात्र से किसी का कल्याण नहीं हो सकता क्योंकि समयसार व्याख्यान की वस्तु नहीं है यह तो आत्मानुभव का परिचायक है।

स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य भी इसे लिखते समय व्यवहार में ही रहते थे निश्चय में तो लेखन, पठन-पाठन की क्रिया होती ही नहीं है। पंचमकाल में तो हीन संहनन के द्वारा आत्मा का निर्विकल्प ध्यान संभव नहीं है अतः स्वाध्याय, भक्ति, स्तुति आदि धर्मध्यान के साधनों द्वारा कर्म निर्जरा संभावित है।

आचार्य श्री अमृतचन्द सूरि ने एक कलशकाव्य में अत्यन्त करुणा बुद्धि से भव्यों को संबोधित करते हुए कहा है–

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं।
हृदयसरसिपुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः।।

इसका अर्थ यह है कि–

'हे वत्स! तू विरक्त हो, अन्य निष्प्रयोजनीभूत कोलाहल से तुझे क्या लाभ है? तू स्वयं भी निश्चल होकर अपने को–अपनी आत्मा को छह महीने तक देख, अनुभव कर, तब हृदयरूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेजःस्वरूप पुरुष–आत्मा की क्या उपलब्धि प्रतिभासित नहीं होगी? अर्थात् अवश्य होगी।'

प्रयत्नों के बल पर प्रत्येक कार्य संभव हो जाते हैं इसीलिए दिगम्बर मुनियों को गुरुदेव प्रेरित करते हैं कि सभी बाह्य प्रपंचों को छोड़कर आत्मा में लीन हो जाओ। यहाँ अकार्य कोलाहल से शुभ-अशुभ दोनों क्रियाओं को छोड़कर निर्विकल्प अवस्था प्राप्त करने का उपदेश है। शुभ क्रियाएँ सर्वथा अकार्यकारी या निष्प्रयोजनीभूत नहीं हैं, निर्विकल्प ध्यान की अपेक्षा से ही निष्प्रयोजनीभूत हैं।

वर्तमान युग में मुनि एवं श्रावक दोनों के लिए शुभोपयोग ही उपादेय है, शुद्धोपयोग मात्र श्रद्धा का विषय है जो आगम के अनुसार प्रत्येक मुनि एवं श्रावक को ध्यान रखने योग्य है।

परमात्मा की उपासना से आत्मा भी परमात्मा बन जाता है

सिद्धज्योतिरतीव निर्मलतरज्ञानैक मूर्ति स्फुरद्-
वर्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते योगी स्थिरं तत्पदम्।
सद्बुध्याभ विकल्पजालरहित स्तद्रूपतामापतं-
स्तादृग्जायत एव देववितुतस्त्रैलोक्यचूड़ामणिः।।1।।
यत्सूक्ष्मं च महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते,
नश्यत्येव च नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव च।
एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्तं प्रतीतिं दृढ़ां,
सिद्धंज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लक्ष्यते।।2।।

अर्थ–जिस प्रकार बत्ती दीपक की सेवा करके उस पद को प्राप्त कर लेती है अर्थात् दीपक स्वरूप परिणम जाती है, उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल ज्ञानरूप असाधारण मूर्तिस्वरूप सिद्धज्योति की आराधना करके योगी भी स्वयं उसके स्थिर पद (सिद्धपद) को प्राप्त कर लेता है अथवा वह सम्यग्ज्ञान के द्वारा विकल्पसमूह से रहित होता हुआ सिद्धस्वरूप को प्राप्त होकर ऐसा हो जाता है कि तीनों लोक के चूड़ामणि रत्न के समान उसको देव भी नमस्कार करते हैं।

जो सिद्धज्योति सूक्ष्म भी है और स्थूल भी है, शून्य भी है और परिपूर्ण भी है, उत्पाद-विनाशशाली भी है और नित्य भी है, सद्भावरूप भी है और अभावरूप भी है तथा एक भी है और अनेक भी है, ऐसी वह दृढ़ प्रतीति को प्राप्त हुई अमूर्तिक, चेतन एवं सुखस्वरूप सिद्धज्योति किसी विरले ही योगी पुरुष के द्वारा देखी जाती है।

–आचार्य श्री पद्मनंदि

प्रवचन–49

जैनधर्म कर्म सिद्धान्त पर आधारित है

जैन सिद्धान्त के अनुसार समय की परिभाषा अत्यन्त सूक्ष्म बताई है। एक आवली मात्र में असंख्यात समय माने हैं। प्रत्येक जीवात्मा में प्रतिसमय कर्म के परमाणु आते रहते हैं। गोम्मटसार कर्मकांड में आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने कहा है–

सिद्धाणंतिम भागं अभव्वसिद्धादणंत गुणमेव।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं।।

अर्थात् यह आत्मा सिद्ध जीव राशि के अनन्तवें भाग और अभव्य जीव राशि से अनन्तगुणे समयप्रबद्ध को एक समय में बांधता है परन्तु मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप योगों की विशेषता से कभी थोड़े और कभी बहुत परमाणुओं का भी बंध करता है।

सारांश यह है कि परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मन्दता होने पर आत्मा के प्रदेश अधिक या कम चलायमान होते हैं, तब कर्मपरमाणु भी ज्यादा अथवा कम बंधते हैं। जैसे अधिक चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम चिकनी दीवाल पर कम लगती है। वैसे ही राग भाव से चिकनी आत्मा अपनी कम या अधिक चिकनाई के अनुसार कर्म परमाणुओं को ग्रहण करता है।

संसार में कर्मों का मीटर प्रतिक्षण चालू रहता है। चाहे आप सो रहे हों या जागृत अवस्था में हों, कभी कर्म के चक्र से छूट नहीं सकते। कर्मों से छूटने के लिए निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करनी पड़ती है। मोक्षपाहुड़ में कहा भी है–

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तोवि।।

अर्थात् 'तीर्थंकर भगवान मोक्ष प्राप्त करेंगे' यह बात नियम से सिद्ध है निश्चित है फिर भी वे राजपाट छोड़कर दीक्षा धारण करते हैं। वे गर्भावस्था से ही मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों के धारी होते हैं एवं दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है। तथापि केवलज्ञान प्राप्त होने तक प्रत्येक तीर्थंकर मौन रहते हैं और केवलज्ञान के बाद उनकी ओंकार-रूप दिव्यध्वनि खिरती है जो कि समस्त भव्यप्राणियों के लिए हितकारी होती है।

भगवान ऋषभदेव ने एक हजार वर्षों तक तपस्या की और भगवान महावीर ने बारह वर्ष तप किया था, यह तो अपने पूर्व कर्मों पर निर्भर होता है कि कौन कितने दिन में कर्मों का क्षपण करता है।

जिन महापुरुषों ने समस्त कर्मों का नाश कर दिया उनकी हम लोग आराधना करते हैं। जैनधर्म किसी व्यक्तिविशेष को नहीं पूजता वह तो गुणों का पुजारी होता है। इसीलिए जैनधर्म प्राणिमात्र के ग्रहण करने योग्य धर्म है उसकी परिभाषा बताते हुए आचार्यों ने कहा है–

'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' अर्थात् जो कर्मशत्रुओं को जीत लेते हैं, वे जिन कहलाते हैं तथा **'जिनो देवता यस्य स जैनः'** जो जिन के उपासक हैं अथवा जिनेन्द्र भगवान ही हैं देवता जिनके, वे जैन कहलाते हैं। मानव से लेकर पशु-पक्षी तक इस धर्म को धारण कर सकते हैं। सिंह जैसे हिंसक प्राणी ने भी दिगम्बर मुनि का संबोधन प्राप्त करके जीवन का उत्थान कर लिया, मांसाहार त्याग करके उसने सल्लेखना ग्रहण कर ली, जिसके प्रभाव से कालान्तर में दशवें भव में वह भगवान महावीर बन गया।

पहले लोग कर्मों का नाश करके मोक्ष जाने वाले महापुरुषों की स्मृति में प्रतिदिन निर्वाणकाण्ड पढ़ते थे किन्तु आज का निर्वाणकांड दैनिक समाचार-पत्र बन गया है जो कि प्रातःकाल से ही प्रारंभ हो जाता है। अखबारों के मुख पृष्ठ पर ही पढ़ने को मिलता है कि कश्मीर में अनेकों हत्याएं एवं कई घायल। कैसे दिन भर का वातावरण मंगलमयी रह सकता है? आप सुबह उठते ही कम से कम 5 मिनट तक सिद्धशिला पर विराजमान सिद्ध परमात्मा का ध्यान करें, पुनः सुप्रभात स्तोत्र का पाठ करें, आपका दिवस मंगलमयी होगा एवं सब कार्यों की सिद्धि होगी।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के ही जीवन को देखिए, वनवास में भी उन्हें जहाँ-जहाँ मंदिरों एवं साधुओं का निवास मिलता था, वहाँ रुक कर दर्शन-पूजन अवश्य करते थे जैसा कि जैन रामायण (पद्मपुराण) में वर्णन आया है कि 'एक मंदिर में वरधर्मा नाम की गणिनी आर्यिका अपने संघ सहित विराजमान थीं, रामचन्द्र जी ने सीता के साथ उनकी अष्टद्रव्य से पूजा की।'

एक बार राम, लक्ष्मण, सीता, वंशस्थल वन में पहुँचते ही वहाँ सायंकाल गाँव वालें का दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। गाँव के सभी स्त्री-पुरुष अपने-अपने बच्चों को तथा घर का सामान लेकर कहीं भागे जा रहे थे। लक्ष्मण ने आगे बढ़कर उन लोगोंसे पूछा कि आप लोग कहाँ भागे जा रहे हैं? उन लोगों ने बतलाया कि यहाँ रात्रि में कोई दैत्य आकर पर्वत पर इतना भयंकर शब्द करता है कि कई लोगों की मृत्यु हो जातीहै, कितने ही लोग कानों से बहरे हो जाते हैं, गर्भवती स्त्रियों के असमय में गर्भपात हो जाते हैं। हम लोग इस राक्षस के प्रलयंकारी शब्द को सहन करने में असमर्थ हैं इसीलिए शाम को सभी लोग दूसरे गाँव में भाग जाते हैं और प्रातः यहीं वापस आ जाते हैं।

गाँव वालों से यह भयावह वार्ता सुनकर सीता राम से कहने लगी कि चलो! हमलोग भी इन्हीं लोगों के साथ उसी गाँव में चलें और सुबह इन्हीं के साथ वापस आ जायेंगे। राम ने हँसकर कहा–तुम्हें डर लगता है अतः तुम इन लोगों के साथ चली जाओ, सुबह आकर हम लोगों से मिल लेना। हम लोग तो उस दैत्य का पता लगायेंगे और गांववासियों को उसके चंगुल से मुक्त करायेंगे। सीता भला इस तरह अकेली कब जाने वाली थी? उसने कहा–'आप लोगों की तो हमेशा ही केकड़े की पकड़ के समान जिद रहती है।'

अन्ततोगत्वा तीनो ही वंशस्थल पर्वत पर चढ़ते हैं। वहाँ दो मुनिराज ध्यान में

लीन खड़े हुए थे, वहाँ पहुँचकर वे लोग मुनिवर की भक्ति करने में अपनी सुधबुध भूल जाते हैं। उस भक्ति का बड़ा रोमांचक वर्णन पद्मपुराण में है–

झरने के जल से सीता ने मुनि के चरण प्रक्षालन किए एवं मलयागिरि का चंदन घिसकर चरणों की पूजन की। राम-लक्ष्मण ने संगीत की धुन में भक्ति गीत गाए और सीता ने भावविभोर होकर नृत्य किया। यह भक्ति का कार्यक्रम चल ही रहा था कि पर्वत पर भयंकर शब्द हो गया। सीता कुछ भयभीत हुई अतः राम ने उसे दोनों मुनियों के बीच वाले स्थान में बिठा दिया और दोनों भाई दैत्य का सामना करने के लिए धनुष बाण तान कर तैयार हो गए। दैत्य जितनी जोर की गर्जना करता था, उससे अधिक गर्जना बलभद्र और नारायण के बाणों से निकलती थी। रात भर दैत्य के साथ वे दोनों युद्ध करते रहे, अंत में रात्रि के पिछले प्रहर में दैत्य स्वयं डर कर भाग गया। इस प्रकार उपसर्ग शांत हुआ और दोनों मुनियों को केवलज्ञान प्रगट हो गया, देवों ने आकर गंधकुटी की रचना कर दी। वे देशभूषण-कुलभूषण नाम के दोनों मुनि केवली बनकर गंधकुटी में विराजमान हो गए और भव्य प्राणियों को दिव्य देशना प्रदान करने लगे।

देखो! दो महापुरुषों के निमित्त से ग्रामवासियों का उपद्रव भी शांत हो गया एवं मुनिराज का उपसर्ग निवारण होते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी गंधकुटी में राम,लक्ष्मण और सीता ने भी दिव्यध्वनि का पान किया तथा उपसर्ग करने वाले दैत्य के बारें में एवं मुनियों के बारे में भी परिचय प्राप्त किया कि पूर्वभव के वैरवशात् यह दैत्य उपसर्ग कर रहा था।

यही है कर्मों की विचित्रता! जहाँ वह दैत्य मुनियों पर उपसर्ग करके अपना संसार दीर्घ कर रहा था, वहीं उपसर्ग दूर करने वाले महान पुण्य का संचय कर रहे थे तथा उपसर्ग को सहन करने वाले महामुनि उस शत्रु को भी अपना मित्र समझ रहे थे क्योंकि उसके निमित्त से उन्हें आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान हो रहा था। एक के कर्म कट रहे थे और एक के कर्म बंध रहे थे, यही अन्तर था मुनिराज और दैत्य की आत्मा में।

जैनधर्म तो कर्म सिद्धान्त पर ही टिका हुआ है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में एक गाथा आई है–

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं।।

इसका अर्थ यह है कि जीव और पुद्गल का अनादिकाल से संबंध चला आ रहा है। जैसे स्वर्ण पाषाण में मल स्वाभाविक रूप से लगा रहता है उसी प्रकार जीव के साथ कर्ममल अनादिकाल से लगे हुए हैं। उन्हें आत्मा से अलग करने के लिए स्वर्णपाषाण के समान आत्मा को तपस्या की अग्नि में तपाना पड़ेगा।

आप सभी इस कर्मसिद्धान्त के मर्म को समझकर कर्मों से छूटने हेतु दान, पूजन, स्वाध्याय आदि सत्कर्म करें तथा शक्ति के अनुसार जीवन में संयम धारण कर मोक्षमार्ग को सुगम बनावें, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–50

गुरु संगति का प्रभाव

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः।।

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने इन पंक्तियों में बड़ी सुन्दर नीति बतलाई है- ''अज्ञानी की उपासना-संगति से प्राणी अज्ञान प्राप्त करता है तथा ज्ञानी की उपासना से ज्ञान प्राप्त करता है। क्योंकि 'जिसके पास जो कुछ है वह वही वस्तु प्रदान करता है' यह सुप्रसिद्ध बात है।

आप लोग तो दिन-रात यह अनुभव करते होंगे कि आपका बच्चा यदि बुरी संगति में फंस जाता है तो उसका उन्नति मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और आप अपने बच्चे को समझा-बुझाकर, डाँट-फटकारकर उसे बुरी संगति से हटाने का प्रयास भी करते हैं। बालक की बात तो जाने दीजिए, बड़े-बड़े महापुरुष भी दुर्जनों की संगति से पथ भ्रष्ट भी होते देखे जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि आप अच्छे लोगों के साथ उठें-बैठें और दोस्ती करें ताकि कुछ ज्ञान की बातें जान सकें।

होटल के गंदे वातावरण, शराब की दुकानों, वेश्यालयों, जुआरियों और सिनेमा घरों से आज तक क्या किसी ने कोई नसीहत भी प्राप्त की है? यदि इन स्थानों पर उच्चादर्श मिल जाते तो बड़े-बड़े कॉलेज, विश्वविद्यालय खोलने की सरकार कोआवश्यकता ही न पड़ती।

तत्त्वार्थसूत्र में एक छोटा सा सूत्र है–**''द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः''** जिसका अर्थ है जो द्रव्यों के आश्रित रहते हैं वे गुण हैं। ये गुण स्वयं में निर्गुण हैं अर्थात् गुणों में गुण नहीं रहते हैं। आज कुछ विद्वान ऐसा भी अर्थ कर देते हैं। गुणी द्रव्य के आश्रय से निर्गुण द्रव्य भी गुणी बन जाता है तथा ऐसा भी कहते देखे जाते हैं कि द्रव्य–धन के आश्रय से निर्गुणी–अज्ञानी (अनपढ़) भी गुणी महान बन जाता है। क्योंकि 'बाप बड़ा न भैय्या सबसे बड़ा रूपया'' यह संसार में कहावत ही है। अनेक धनी सेठ भी ऐसे ही देखे जाते हैं–अर्थात् उन्हें कुछ ज्ञान न होते हुए भी समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि वे लखपति, करोड़पति हैं।

इसके विपरीत आप देखें कि पैसे के बिना ज्ञानी पुरुष की कोई कीमत नहीं होती है। लोग कहते हैं कि ''लक्ष्मी और सरस्वती का आपस में वैर है'' ज्ञानी–विद्वान के पास लक्ष्मी नहीं होती और धनवान के पास सरस्वती का वास–ज्ञान नहीं होता। आज हमारी समाज से विद्वानों की परम्परा समाप्त सी हो रही है, आज का श्रीमान हमारे विद्वान् का मूल्याकंन नहीं करता इसीलिए लोग प्रोफेसर बनना पंसद करते हैं शास्त्री

और आचार्य नहीं बनना चाहते। जब तक हमारे पण्डितों में धन का लालच नहीं था तब तक तो उनकी विद्वत्ता शुद्ध रहती थी अब लालच आ जाने से उस विद्वत्ता ने दिखावे का बाना पहन लिया है।

पूज्यपाद स्वामी ने बहुत सोच-समझकर ही यह श्लोक बनाया है कि जो वस्तु जिसके पास है ही नहीं, वह दूसरे को दे कैसे सकता है? कभी नहीं दे सकता है। हम साधु हैं, हमारे पास केवल पिच्छी-कमण्डलु है वही आपको दे सकते हैं लेकिन आप हमसे मांगते ही नहीं हैं। आप तो भगवान के पास जाकर मांगते हैं, क्या? 'रागादिक दोष हरीजे, परमातम निज पद दीजे' शायद आप स्वयं नहीं जानते कि मैं मांग क्या रहा हूँ? भगवान तो कुछ बोलते नहीं अतः उनसे चाहे जो चीज मांग लो। वे कथंचित् देते भी हैं क्योंकि उनकी भक्ति से समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं परन्तु अगर आप हम लोगों के सामने यह एक बार भी कह दें कि 'गुरुवर निज पद दीजे' तो हमारे पास सब कुछ तैयार हैं समझे (मंद मुस्कान), इसीलिए हम एक पिच्छी-कमण्डलु हमेशा तैयार रखते हैं।

चलो, कोई बात नहीं! कम से कम आप वैसा बनें नहीं तो भी ज्ञानियों की संगति ही आपको ज्ञानी तो बना ही देगी। गुरुओं का तो एक क्षण का सानिध्य भी संसार सागर से पार करने वाला होता है। उत्तरपुराण में एक कथानक आया है–

एक ब्राह्मण अपनी गरीबी से तंग आकर आत्महत्या करने के भाव से एक पर्वत की चोटी पर चढ़ गया। वहाँ खड़े होकर वह बार-बार नीचे देखता, डर के मारे कूद नहीं पाता। मरना कोई हँसी खेल तो है नहीं, जो आत्महत्या करने की सोचते हैं वे भी बार-बार सोचते अवश्य होंगे। वह बेचारा ब्राह्मण भी जीवन से परेशान होकर मरना तो चाहता था किन्तु पर्वत की तलहटी देखकर काँप जाता था कि कैसे चोट सहन करूँगा।

उसी पर्वत की तलहटी में एक अवधिज्ञानी मुनिराज के पास दो मुनि-शिष्य पढ़ रहे थे। वे बार-बार उस मनुष्याकार परछाई को देखकर सोचने लगे कि पर्वत पर कौन है? उन्होंने गुरु से पूछा–भगवन्! यहाँ किसी मनुष्य की परछाई दिखती है फिर लुप्त हो जाती है, आखिर इतने ऊँचे पर्वत पर कौन सा मनुष्य हो सकता है?

गुरु ने अपने दिव्य ज्ञान से बतलाया कि यह एक ब्राह्मण मनुष्य है, अपनी निर्धनता से घबड़ाकर आत्महत्या के विचार से पर्वत पर चढ़ा है लेकिन इसके हृदय में मरने का भय व्याप्त है इसलिए बार-बार नीचे देखकर पीछे हट जाता है। उन मुनिराज ने यह भी बताया कि कालांतर में यह तुम दोनों का पिता होने वाला है तुम इसके पुत्र बनोगे।

यह भविष्यवाणी सुनकर दोनों मुनियों के हृदय में धर्मप्रेम उमड़ पड़ा और वे पर्वत के ऊपर जाकर उस ब्राह्मण को समझाकर गुरु के पास ले आये। कुछ दिन गुरुचरणों

में रहने से, उनके उपदेशों से उसके हृदय में शान्ति उत्पन्न हुई और वैराग्य भाव से उसने मुनि दीक्षा धारण कर ली। घोरातिघोर तपश्चरण करके समाधिमरण से उन्होंने स्वर्ग प्राप्त किया। कालान्तर में वह ब्राह्मण का जीव वसुदेव हुआ और वे दोनों मुनियों के जीव उसके बलभद्र और नारायण श्रीकृष्ण नाम के पुत्र हुए।

यह था क्षण भर गुरु संगति का प्रभाव। कहाँ तो आत्महत्या जैसे निंद्य परिणामों के द्वारा तीव्र पाप बंध कर रहा था और कहाँ मुनि बन कर कल्याण कर लिया। आत्महत्या करने वाला तो नरक निगोदों के दुःख भोगता ही है, आत्महत्या का विचार करने वाला प्राणी भी अनेक बार गर्भ में गल-गलकर मरता है, ऐसा आगम में बतलाया है। अतः आत्मघातियों को विचार करना चाहिए कि जिस दुःख से छूटने के लिए तुम विष खाते हो, फांसी लगाते हो, विषैली दवाइयाँ खाकर अपने जीवन का अन्त करना चाहते हो, उनका अंत कहाँ हुआ, उससे भी अधिक दुःखों को तुम आमंत्रित कर रहे हो। हे भव्य प्राणियों! आत्महत्या जैसे घ्रणित शब्दों को तुम जीवन से निकाल दो, धर्म की शरण में आओ यह तुम जैसे दुखियों की रक्षा करने वाला अकारणबंधु है।

मानव एक विज्ञ प्राणी है जो आज आकाश की ऊँचाइयों को छू रहा है वह ऐसे निंद्य विचारों की ओर जाने का प्रयास क्यों करता है? ऐसी कौन सी मजबूरियाँ हैं उसके जीवन की? इन पर चिंतन करने से ज्ञात होता है कि मानव की विकृत बुद्धि का कुप्रभाव ही उसके अमूल्य जीवन को संसार के गड्ढे में धक्का दे देकर गिरा रहा है। यह जीव अनादिकाल से 14 राजू प्रमाण लोक में भ्रमण कर रहा है इन तीनों लोकों में कोई भी ऐसा स्थान नहीं बचा जिसमें उसने जन्म न लिया हो। केवल सुमेरु पर्वत की जड़ में 8 प्रदेश ऐसे हैं जहाँ हम और आप कभी नहीं गए, बाकी सब जगह घूम चुके हैं। सिद्धशिला पर भी गए किन्तु सिद्ध बनकर नहीं, सूक्ष्म निगोदिया बनकर। सिद्ध बनने के बाद तो जीव संसार में वापस आता नहीं है। गुरुणां गुरु चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज कहा करते थे-यदि तुम संसार भ्रमण से थके नहीं हो तो घूमते रहो चतुर्गति में, कोई रोकने वाला नहीं है। यदि भव भ्रमण से थकान आ गई हो, तो संयम ग्रहण करो, अणुव्रती बनो तभी चतुर्गति यात्रा समाप्त हो सकती है।

चार विध दान का फल

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद् भवेत्।।

अर्थ–मनुष्य ज्ञानदान से अर्थात् शास्त्रों के दान से या विद्या के दान से ज्ञानवान् होता है। अभयदान देने से निर्भय हो जाता है। आहारदान देने से हमेशा सुखी होता है और औषधिदान के देने से हमेशा निरोग रहता है।

प्रवचन–51

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा एक आध्यात्मिक प्रवचन

(पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने 9 जनवरी 2005 को एशिया के प्रथम पंक्ति के विश्वविद्यालयों में से मुख्य विश्वप्रसिद्ध बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के मालवीय भवन में विश्वविद्यालय परिवार एवं जैन समाज के सैकड़ों प्रबुद्धजनों को आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी रचित समयसार एवं जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का जो अध्यात्म-पीयूष पिलाया, वह सभी के मन-मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ गया। पूज्य माताजी के मुखारविंद से प्रवाहित होती हुई धर्मामृत की अविरल धारा अपने आप में अत्यन्त अनुपम थी एवं सभी के ऊपर उसका विलक्षण प्रभाव दृष्टव्य हुआ। मालवीय भवन में रविवासरीय गीता प्रवचन के अंतर्गत पूज्य माताजी ने समयसार की दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक आध्यात्मिक प्रवचन प्रस्तुत किया।)

भव्यात्माओं! हमारी और आपकी आत्मा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी है परन्तु कर्मरूपी रज से आच्छादित होने के कारण यह सब कुछ जानने में समर्थ नहीं हो पा रही है। जिस प्रकार बादलों से ढ़ककर सूर्य का अस्तित्व धूमिल हो जाता है, उसी प्रकार कर्मरूपी बादल आत्मा के सर्वज्ञ स्वरूप को धूमिल कर देते हैं। सारी उपासना का एकमात्र सार यही है कि हम अपने उस सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वरूप को उपलब्ध कर लें। जिन महान आत्माओं ने अपने समस्त कर्ममल को विनष्ट कर दिया, वे ही चिच्चैतन्यमयी सिद्ध-आत्मा के रूप में सदैव के लिए सिद्धशिला पर जाकर विराजमान हो गये। हम जैसे समस्त संसारी प्राणियों का भी एकमात्र वही शाश्वत लक्ष्य होना चाहिए।

सभी महान आचार्यों ने जो 'सारों में भी सार' बताया है, वह है ध्यान अर्थात् योग अर्थात् समाधि क्योंकि ध्यान के बल पर ही हम अपने ज्ञान को परिपूर्ण केवलज्ञान बना सकते हैं। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि आत्मा एक है, शाश्वत है एवं ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला है। ज्ञान-दर्शन जिसमें घटित होता है वही जीव कहलाता है और जिसमें घटित नहीं होता है, उसे अजीव कहते हैं। समय का अर्थ है आत्मा और आत्मा का सार है-पूर्ण ज्ञान की अवस्था।

देह अर्थात् शरीर को अपना मानना अथवा 'शरीर ही मैं हूँ' ऐसा मानना अथवा शरीर के जन्म और मरण के साथ अपना जन्म और मरण मानना, यही संसार के मूल

कारण हैं। अर्थात् **शरीर को आत्मा मान लेना ही सांसारिक परिभ्रमण का आधारभूत कारण है,** जिसे बहिरात्मपने की संज्ञा भी दी जाती है। यदि हम अपनी आत्म शक्ति को अनुभव कर लें तो बाह्य संसार की कोई भी शक्ति हमें प्रभावित नहीं कर सकती। साधुगण शरीर से मोह छोड़ने के लिए कठोर साधना करते हैं ताकि वे चैतन्य धातु से निर्मित अशरीरी बन जावें। जीव अर्थात् आत्मा में वर्ण, गंध, रस, रूप, संस्थान, संहनन इत्यादि कुछ भी नहीं है, वास्तव में ये सभी पुद्गल शरीर के ही गुण विशेष हैं। आत्मा शक्तिरूप में सदाशिव है एवं कर्ममल से अस्पृष्ट होने पर इसका यह स्वरूप प्रकट हो जाता है।

संसार में मोह एवं अज्ञान ही सबसे बड़ा अंधकार है, जिसके वशीभूत होकर जीव वस्तु-स्वरूप को न समझते हुए चतुर्गति परिभ्रमण किया करता है।

धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग, जाति इत्यादि सब भिन्न-भिन्न अवयव हैं। इनमें से धर्म का स्थान सबसे ऊँचा हैं। धर्म और सम्प्रदाय कभी एक नहीं हो सकते हैं। धर्म सदैव सम्प्रदायातीत है। **वास्तव में जो उत्तम सुख में धरे, वही धर्म है।** धर्म शाश्वत है जबकि सम्प्रदाय क्षणिक है। धर्म अभेद को उत्पन्न करके सबको जोड़ता है जबकि सम्प्रदाय आपस में बांटने का कार्य करता है अतः जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों को समझते हुए सम्प्रदाय से ऊपर उठकर धर्म को ग्रहण करना चाहिए।

जैन शासन को 'शम-दम' शासन कहा गया है क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभरूपी कषायों से स्वयं को क्रमशः पृथक् कर देने (शम) एवं इन्द्रियों के निरोध (दम) का उपदेश तीर्थंकर भगवन्तों ने विशेषरूप से दिया है।

क्रोधरूपी कषाय को क्षमारूपी जल से शांत करने हेतु संसार में सबसे बड़ा उदाहरण है भगवान पार्श्वनाथ का, जो 2880 वर्ष पूर्व इसी वाराणसी नगर में जन्मे थे। दश भवों तक कमठ के जीव ने भगवान पार्श्वनाथ के जीव पर हर संभव उपसर्ग किया परन्तु क्षमा एवं सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति भगवान पार्श्वनाथ के जीव ने सदैव ही इसे अपने कर्मों का ही प्रतिफल जानते हुए पूर्ण शांति को धारण किए रखा और इस प्रकार एक हाथ से ताली बजने एवं एकतरफा वैर का यह उदाहरण दृष्टव्य हुआ। वस्तुतः सच्चे तापसी अपनी तपस्या द्वारा कषायरूपी परम शत्रुओं को ही तपाकर वास्तविक अर्थ की सिद्धि किया करते हैं। कषाय और तपस्या का पूर्णतः अन्तर्विरोध रहता है।

हमारी भारतीय संस्कृति में नारी के सतीत्व की अनेकों गौरव गाथाएँ भरी पड़ी हैं। शील नारी का सबसे बड़ा आभूषण हैं और **शीलहरण संसार में सबसे बड़ा पाप है।** सीता के मन में रावण के प्रति अणुमात्र भी राग नहीं था, एकमात्र रावण के मन में ही सीता के प्रति रागयुक्त आसक्ति थी। यद्यपि सीता की इच्छा के विरुद्ध रावण ने उनका शीलहरण नहीं किया तथापि गलत भावना मात्र से ही आज तक संसार में रावण का

पुतला जलाया जाता है एवं कोई भी अपने बालक का नाम रावण नहीं रखता। एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत अर्थात् शीलव्रत अर्थात् अपने पति/पत्नी में पूर्ण संतोष रखना अथवा पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत भारतीय संस्कृति का ठोस आधार है।

स्वप्न में भी बदला लेने की भावना नहीं रखना जैन चर्या का मूलभूत सिद्धान्त है। आत्मा के कल्याण के अभिलाषी पुरुष किसी अन्य द्वारा उपसर्ग किए जाने पर यही विचार करते हैं कि यह मेरा परम उपकारी है जो कि मुझे मेरे कटु कर्म से मुक्ति दिलाने में निमित्त बन रहा है। मेरे अपने कर्मफल के अतिरिक्त किसी में भी मेरा घात करने की क्षमता नहीं है। आत्मकल्याणरूपी धर्म की रक्षा करते हुए भले ही शरीर छूट जाए परन्तु वैर भाव करना उचित नहीं है। यदि बदला लेने की भावना हृदय में है तो इसका अर्थ है कि साधक की दृष्टि अभी समीचीन नहीं हो पाई है। क्रूरता, क्रोध, दोष, विकृतियाँ इत्यादि आत्मा की सच्ची विभूति नहीं हैं, इनके माध्यम से तो हम अपना ही घात करते हैं। **अंगारा पहले फेंकने वाले के हाथ को जलाता है,** पुनः ही दूसरे का घात कर सकता है अथवा नहीं भी। यदि सामने वाले का पुण्य क्षीण होगा तो ही उसकी हानि होगी अथवा नहीं परन्तु अंगारा फेंकने वाला तो निश्चितरूप से जल ही जायेगा।

निश्चय हमको करना है कि हमें क्या बनना है– भगवान पार्श्वनाथ अथवा कमठ। भगवान पार्श्वनाथ जिन्होंने क्षमा एवं सहनशीलता का आश्रय लेकर स्वयं को तीर्थंकर बना लिया अथवा कमठ जिसने हर भव में वैर, बदला लेने की भावना, हिंसा आदि के आश्रय से स्वयं को नरक एवं पशुगति के अपार दुःखों में डाला। हमारे एक हाथ में चिंतामणि रत्न हैं और दूसरे हाथ में खली का टुकड़ा है, अब हमारे ऊपर निर्भर है कि हम किसे अपनाते हैं। मनुष्य पर्याय और शाश्वत धर्म की धारा चिंतामणि रत्न हैं जबकि विषयासक्ति, क्रोध-मान-माया-लोभ इत्यादि कषाय खली के टुकड़े हैं। यदि इस कलिकाल में भी हमको धर्मरूपी रत्न की प्राप्ति हो गई है तो हमारे लिए यह काल भी अत्यन्त उत्तम है। **हमें इस उत्तमता पर महान गौरव होना चाहिए कि हमको मनुष्य भव एवं धर्म के रूप में महान निधि अथवा सबकुछ मिल गया है।**

जो आत्मा जन्म और मरण के चक्र में उलझा हुआ है, वही अहिंसारूपी परम धर्म को अपनाकर भगवान आत्मा बन सकता है। जब पाषाण में संस्कारों को आरोपित करके उसे भगवान की प्रतिमा के रूप में पूज्य बना दिया जाता है, तब तो चैतन्य आत्मा पर संस्कार डालते रहने से वह भगवान-आत्मा क्यों नहीं बन जायेगा।

इस विश्वप्रसिद्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थीगण यहाँ से इस प्रकार के संस्कार लेकर समाज में आगे आएं कि जिससे भारतीय संस्कृति का गौरव सम्पूर्ण विश्व को आश्चर्यचकित कर सके, यही मेरी मंगल भावना है।

प्रवचन–52

भगवान पार्श्वनाथ तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव

(उद्घाटन सभा में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का मंगल प्रवचनांश)

भव्यात्माओं! "जिस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ के जन्म के समय वाराणसी की यह धरती स्वर्गों से पधारे इन्द्रों एवं वाराणसीवासियों द्वारा मनाए गए महान जन्मोत्सव से धन्य हुई थी, आज पुनः 2880 वर्ष के पश्चात् एक बार वही खुशी एवं उत्साह की लहर यहाँ दृष्टिगत हो रही है। काशी नरेश अश्वसेन के काल में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जन्म के समय यहाँ 15 महीने तक जो रत्नों की वर्षा हुई थी उसे महाराज अश्वसेन ने समस्त प्रजाजनों को वितरित करके सभी को सुखी एवं समृद्ध कर दिया था। ठीक ही है, तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमियों का माहात्म्य एवं पवित्रता अद्भुत ही रहती है। आज 8वें तीर्थंकर भगवान चन्द्रप्रभ का भी जन्म एवं दीक्षाकल्याणक है और उन्हीं की जन्मभूमि-चन्द्रपुरी के निकट ही हम लोग उनके साथ-साथ उनकी परम्परा के 23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जन्मकल्याणक महोत्सव मना रहे हैं। तीर्थंकर भगवन्तों के कल्याणकों को मनाना हम सभी संसारी प्राणियों के लिए भव-समुद्र से पार होने के लिए महान अवलम्बन है।

इस अवसर पर उपस्थित शासन के प्रतिनिधियों हेतु मेरा यही कहना है कि धर्मनीति व राजनीति का बहुत बड़ा सम्बन्ध है यदि राजनीति से धर्मनीति निकल गई तो सर्वत्र अनीति-अनाचार का शासन होगा एवं सामाजिक संतुलन का पूरी तरह अभाव हो जायेगा। देश की बागडोर को संभालने वाले देश की संस्कृति को बचाने में तत्पर एवं सक्षम होंगे तभी समाज में शांति एवं सुभिक्ष की कल्पना की जा सकती है क्योंकि धर्मनीति ही ऐसी है जो सर्वोदयी शाश्वत सिद्धान्तों का मार्ग दिखाकर न्यायोचित शासन एवं राजनीति को स्थापित कर सकती है। धार्मिक आयोजनों में नेताओं द्वारा भाग लेने से उन्हें भी निर्व्यसनी, शाकाहारी एवं पवित्र जीवन जीने की शिक्षा प्राप्त होती है जिससे समाज में फैले आतंक, अन्याय, अत्याचार को दूर करने हेतु उनकी दृष्टि सुदृढ़ होती है। देश के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, प्रदेश मुख्यमंत्री सहित अन्य सभी शासन-प्रशासन में निरत महानुभावों एवं देश की रक्षा करने वाले सैनिक वर्ग के लिए भी मेरा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है कि वे भी अपने जीवन में महापुरुषों के बताए मार्ग का अनुसरण करने का प्रयास करें।

आज भारतवर्षीय तीर्थक्षेत्र कमेटी के नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्रीयुत एन.के. सेठी यहाँ पधारे हैं, उनसे मुझे यही कहना है कि तीर्थक्षेत्र कमेटी के ऊपर भारतवर्ष की सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज ने दिगम्बर जैन तीर्थों के संरक्षण का जो दायित्व सौंपा है वह अपूर्व है। तीर्थों के संरक्षण का कार्य होने से यह संस्था अन्य सभी संस्थाओं में विशेष है और इसके ऊपर बहुत ही बड़ा दायित्व है क्योंकि अपने तीर्थों के संरक्षण में ही अपनी शाश्वत संस्कृति का संरक्षण निहित है। परन्तु एक बात आप से यह भी कहना है कि **तीर्थक्षेत्र कमेटी को तीर्थों को बदलने का कोई अधिकार नहीं है,** उसको संरक्षण-संवर्धन का अधिकार तो अवश्य दिया गया है परन्तु तीर्थों के परिवर्तन का नहीं और यदि कभी ऐसे प्रसंग आते भी हैं तो पूरे दिगम्बर जैन समाज के प्रतिनिधियों की मीटिंग बुलाकर और समस्त साधुवर्ग से आशीर्वाद प्राप्त करके ही ऐसा होना चाहिए, मात्र अपने आधारपर किसी भी तीर्थ को बदलना तीर्थक्षेत्र कमेटी के लिए कथमपि उचित नहीं है।

भगवान ऋषभदेव जन्मभूमि-अयोध्या में चैत्र कृष्णा नवमी, 3 अप्रैल 2005 को भगवान ऋषभदेव महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होना है, उस समय मेरा भी संघ सहित वहाँ प्रवास रहेगा। मेरी प्रेरणा है कि तीर्थक्षेत्र कमेटी इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन में पूर्ण सहयोग करे एवं उसी समय वहाँ पर तीर्थक्षेत्र कमेटी का अधिवेशन भी सम्पन्न किया जाये। मेरा तो मानना है कि साधुओं की आज्ञा पालन करने का संकल्प लेने से तीर्थक्षेत्र कमेटी द्वारा तीर्थों के संरक्षण-संवर्धन के कार्य में चतुर्मुखी प्रगति होगी।

तीर्थों को हमें अपनी महान धरोहर एवं महान निधि समझना है। **ये तीर्थ ही हमारे सर्वस्व हैं, ये ही हमारे जीवन हैं क्योंकि इन्हीं पर हमारी संस्कृति अवलम्बित है** और उसी संस्कृति से हमें इस पंचम काल में भी मोक्ष का मार्ग प्राप्त हो रहा है।

आपको यह सूचना देते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष है कि आज पार्श्वनाथ जयंती के पावन दिन ही प्रातःकाल भगवान श्रेयांसनाथ की जन्मभूमि-सिंहपुरी (सारनाथ) में भगवान की 11 फुट उत्तुंग विशाल पद्मासन प्रतिमा विराजमान हुई हैं, ये भगवान श्रेयांसनाथ एवं उनकी जन्मभूमि हम सभी के लिए श्रेयवर्द्धक सिद्ध हो, यही मंगल कामना है।

एक वर्ष तक मनाए जाने वाले भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव का उद्घाटन करने में मूलरूप से यही उद्देश्य है कि उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त करके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सहिष्णुता, क्षमा, प्रसन्नता के विकास के साथ-साथ वैर-विरोध-प्रतिशोध की भावनाओं का समापन हो सके, ताकि सम्पूर्ण राष्ट्र एवं विश्व में चहुँओर शांति का वातावरण हो, आपस की कटुताएं दूर हों और जिनभगवंतों के नाम-स्मरण से जन्मों-जन्मों के संचित पाप नष्ट होकर सभी के कार्य सिद्ध हों। सम्पूर्ण विश्व में भगवान पार्श्वनाथ का नाम गुंजायमान हो, सम्पूर्ण भारत पार्श्वनाथमयी बने एवं समस्त विश्व में **'अहिंसापरमोधर्मः'** का नारा व्याप्त हो, यही मंगल भावना है।''

प्रवचन–53

मोह का नाश कैसे हो?

भव्यात्माओं! मोह का नाश करने के लिए कारणभूत जिनेन्द्रदेव का उपदेश है उस उपदेश को अर्थात् जिनेन्द्रदेव की वाणी को प्राप्त करके भी पुरुषार्थ ही अर्थक्रियाकारी है। बिना पुरुषार्थ के मोह का नाश नहीं किया जा सकता है। प्रवचनसार में कहा है कि–

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।।88।।

अर्थात् जो जिनेन्द्रदेव के उपदेश को प्राप्त करके मोह, राग-द्वेष का हनन करता है वह अल्पकाल में सर्वदुःखों से छुटकारा पा लेता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं–

वास्तव में इस दीर्घ संसार में जैसे-तैसे बहुत ही मुश्किल से श्री जिनेश्वर का उपदेश मिलता है, जो कि तीक्ष्ण तलवार की धार के समान है, जो महापुरुष इस उपदेशरूपी अतीक्ष्ण तलवार से मोह, राग और द्वेषरूपी अपने अंतरंग शत्रुओं का सफाया कर देते हैं वही जीव संसार के दुःखों से छूट जाते हैं। चूँकि हाथ में तलवार रहते हुए उसका फल यही है कि शत्रु पर प्रहार करना, यदि हाथ में तलवार रहते हुए भी कोई अपने शत्रु का वार सहता रहे और उसका सामना न कर सके या उसे न मार सके तो उसके हाथ में रखी हुई तलवार का क्या उपयोग हुआ? आचार्य कहते हैं कि **'अतएव सर्वारंभेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि।'** इसलिए संपूर्ण प्रयत्नपूर्वक मोक्ष का क्षपण करने के लिए पुरुषार्थ में सन्नद्ध होता हूँ।

इसी गाथा की टीका करते हुए श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि–

यह जिनेन्द्रदेव का उपदेश इस संसार में अत्यन्त दुर्लभ है। एकेन्द्रिय से दो इन्द्रिय पर्याय पाना दुर्लभ है, दो इन्द्रिय से तीन इंद्रिय पर्याय को प्राप्त करना दुर्लभ है और तीन इंद्रिय से चार इन्द्रिय होना दुर्लभ है पुनः पंचेन्द्रिय होना अत्यंत दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय पर्याय भी मनुष्य पर्याय पाना तो बहुत ही कठिन है, मनुष्य पर्याय पाकर भी जिनेन्द्रदेव का उपदेश प्राप्त करना तो अत्यंत ही दुर्लभ है, जैसे-तैसे बड़ी कठिनता से परम्परा से दुर्लभ ऐसे जिन उपदेश को प्राप्त करके भी जो भव्यजीव निज शुद्धात्मा की निश्चल अनुभूति लक्षण निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञान इन दोनों के साथ अविनाभूत संबंध रखने वाले ऐसे वीतरागचारित्र नामक पैनी खड्ग को पा लेता है और इस तीक्ष्ण खड्ग से मोह राग-द्वेषरूपी शत्रुओं का नाश कर देता है। वही जीव अपने सम्पूर्ण दुःखों का क्षय कर देता है।

इस गाथा में भगवान कुंदकुंददेव शिष्यों को चरित्ररूप पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दे रहे हैं। टीकाकारों ने इसी भाव को स्पष्ट किया हुआ है। श्री अमृतचन्द्र सूरि ने जिनदेव की वाणी को ही पैनी तलवार की धार बताया है और मोहादि शत्रुओं के ऊपर उस शस्त्र का प्रहार करना ही चारित्र है अतः चारित्र को पालन करने की प्रेरणा दी है और स्वयं

भी कहा है कि मैं मोह का क्षपण करने के लिए सर्वप्रयत्न से पुरुषार्थ में लगता हूँ।

श्री जयसेन स्वामी ने वीतराग चारित्र को पैनी तलवार बताया है चूँकि साक्षात् रूप में उसी से मोह राग-द्वेष का निर्मूल नाश होता है। अब सोचना यह है कि जब तक हमें वीतराग चारित्र की प्राप्ति न हो तब तक क्या करना चाहिए? तब तक सराग चारित्र में प्रवृत्ति करनी चाहिए क्योंकि वह सराग चारित्र ही वीतराग चारित्र को प्राप्त कराने वाला है।

अब आपको यह जानना है कि सराग चारित्र क्या है?

अट्ठाईस मूलगुणरूप चारित्र जिसका कि मुनिजन पालन करते हैं वही सराग चारित्र है। यदि हम सराग चारित्र भी ग्रहण न कर सकें तो क्या करना चाहिए?

तो सराग चारित्र धारण करने की भावना भाते हुए एकदेशरूप पाँच अणुव्रतों को अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए? क्योंकि मुनि तो शुद्धोपयोग में स्थित होने की भावना करते हैं और श्रावक मुनि बनने की भावना करते हैं किन्तु अणुव्रत तो ग्रहण अवश्य ही करते हैं और वे ही श्रावक कहलाने के अधिकारी होते हैं।

"मुनियों के मूलगुण तो बंध के ही कारण हैं अतः उनकी भावना कैसे करना? क्योंकि यह व्यवहार चारित्र भी हेय ही है।

इन मूलगुणों से कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा मूलगुणों को धारण किये बिना, इस सराग चारित्र का आश्रय लिये बिना आज तक किसी ने भी वीतराग चारित्र को प्राप्त नहीं किया है अतः यह व्यवहार चारित्र सर्वथा हेय नहीं है अन्यथा तीर्थंकर भगवान् स्वयं इस सराग चारित्र को क्यों ग्रहण करते और इस भेद रत्नत्रय को पालन करने का उपदेश भी क्यों देते? अतः जो चारित्र तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट है वह हेय नहीं कहा जा सकता है। हाँ इतना अवश्य है कि वीतराग चारित्र की अपेक्षा सराग चारित्र हेय है किन्तु वीतराग चारित्र को प्राप्त करने का यह मार्ग होने से यह उपादेय भी है।

"जो अन्त में छोड़ने योग्य है ऐसा व्यवहार चारित्र क्यों ग्रहण करना? वास्तव में तो मोक्ष की भावना करना ही सर्वोत्तम है।

देखो! भावना तो आप भगवान बनने की ही करिए। किन्तु यहाँ पर शरीर के साथ रहते हुए कम से कम इंसान तो बने रहिए और यह व्यवहार चारित्र ही आपको इंसान बनाता है अन्यथा आप क्या करेंगे? व्यवहार चारित्र अर्थात् पाँच अणुव्रत और पाँच महाव्रतों को हेय समझकर क्या पाँच पापों का सेवन करते रहेंगे, आखिर करेंगे क्या? व्रत नहीं तो अव्रतरूप ही तो प्रवृत्ति होगी।

अतः सम्यग्दृष्टि बनकर मोक्ष की प्राप्ति ध्येय रखना चाहिए। किन्तु यदि श्रावक है तो मुनि होने की भावना भानी चाहिए और मुनि है तो शुद्धोपयोग को प्राप्त करने की सतत भावना रहनी चाहिए। यह भावना दोषास्पद नहीं प्रत्युत् कर्म निर्जरा के लिए भी कारणभूत है क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के लिए कारणभूत सामग्री की उपेक्षा करने से और मात्र मोक्ष को प्राप्त करने की भावना करते रहने से मोक्ष की प्राप्ति असंभव ही है।

प्रवचन—54

भक्ति और वैराग्य मानव जीवन के दो सूत्र हैं!

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः, सिद्धाः कुर्युश्च मंगलम्।
आचार्याः पाठकाश्चापि, साधवो तव मंगलम्।।

संसार में दो प्रकार के मार्ग बताये गये हैं-पहला भक्तिमार्ग और दूसरा वैराग्यमार्ग।

विचार करके देखा जाये तो चतुर्थकाल में भक्ति और निवृत्ति में भरत-बाहुबली ने सर्वोत्कृष्ट पथ का अनुसरण किया था। क्या उन बाहुबली के वैराग्य की समानता कोई कर सकता है जो एक वर्ष तक बिना आहार पानी के ध्यान में लीन रहे। गर्मी, सर्दी, बरसात तीनों ऋतुओं को दिगम्बर शरीर पर झेलते रहे। उनके प्रभाव से जन्मजात वैरी प्राणी आपसी वैर को छोड़कर शान्त हो गये थे। सर्पों ने उनके शरीर में वामी बना लीं, चिड़ियों ने घोंसले बना लिए, जंगल की वनस्पतियों ने शरीर पर बेलें चढ़ा दीं किन्तु बाहुबली अपने ध्यान से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए क्योंकि वे तो एक अलौकिक महामना मानव थे। एक वर्ष पूर्ण होने ही वाला था, वे शुक्लध्यान प्राप्ति के सम्मुख ही थे कि तभी भरत के द्वारा स्तुति करते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवों ने गंधकुटी की रचना कर दी जिसमें बाहुबली अर्हंत अवस्था में विराजमान होकर समस्त भव्य प्राणियों को दिव्यध्वनि का पान कराने लगे।

यहाँ एक बात मैं यह बताना चाहूँगी कि भगवान बाहुबली के बारे में आज यह किंवदन्ती चल गई है कि 'उन्हें यह शल्य थी कि मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ' इसीलिए उन्हें एक वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ एवं भरत के आते ही बाहुबली के हृदय से यह शल्य निकल गई और उन्हें तुरंत केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। किन्तु सिद्धांत की दृष्टि से यह बात बिल्कुल असत्य ठहरती है क्योंकि शल्य के तीन भेद माने हैं-माया, मिथ्यात्व और निदान। ये तीनों शल्य तो पंचम गुणस्थानवर्ती के ही नहीं होती हैं तो बाहुबली सरीखे उत्कृष्ट जिनकल्पी महाव्रती में इन शल्यों के होने का प्रसंग ही नहीं उठता। शल्य के रहते हुए उन्हें अनेक ऋद्धियाँ कैसे प्राप्त हो सकती थीं? जबकि बाहुबली भगवान को ध्यानावस्था में बहुत सारी ऋद्धियाँ प्रगट हो गई थीं। यह शल्य वाली किंवदन्ती कहाँ से चल गई है समझ में नहीं आता। आदिपुराण में तो कथन आया है कि 'बाहुबली के हृदय में यह विकल्प कभी-कभी आ जाता था कि भरत को मेरे द्वारा कुछ क्लेश हो गया है इसीलिए उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न होने में इतना समय लगा। मैंने अपने द्वारा रचित बाहुबली पूजन में आदिपुराण के ही आधार से जयमाला में पंक्तियाँ रखी हैं-

होता विकल्प यह कभी-कभी, मुझसे चक्री को क्लेश हुआ।
अतएव अपेक्षा उनकी थी, आते ही केवलज्ञान हुआ।।

इसी प्रकार से मैंने कामदेव बाहुबली, योग चक्रेश्वर एवं बाहुबली नाटक आदि पुस्तकों में भी आगम आधार से सिद्ध किया है कि भगवान बाहुबली को शल्य नहीं थी। शल्य सहित के मनःपर्यय ज्ञान भी नहीं हो सकता है। जबकि आदिपुराण में बाहुबली के मनःपर्ययज्ञान और अनेक ऋद्धियाँ मानी हैं।

यह था उत्कट वैराग्य का उदाहरण, जिन्होंने सब कुछ जीतकर भी उसे छोड़ दिया और छोड़ा भी इस तरह से कि वापस उधर मुड़कर भी कभी न देखा। आज जब घरों में भाई-भाई का पारस्परिक झगड़ा होता है तब लोग भरत-बाहुबली का उदाहरण देकर कहने लगते हैं कि उन जैसे महापुरुषों को भी तो धन-सम्पत्ति के लिए युद्ध करना पड़ा था किन्तु कोई यह नहीं सोचता कि जीतने के बाद भी बाहुबली ने जीर्ण तृण के समान उस वैभव को छोड़कर कैसा घोर तपश्चरण किया था। भरत-बाहुबली का यह युद्ध तो हुण्डावसर्पिणी काल का एक दोष ही था जो कि एक चक्रवर्ती का पराभव– अपमान अपने ही भाई द्वारा किया गया अन्यथा चक्रवर्ती का पराभव कभी किसी के द्वारानहीं हो सकता है। हुण्डावसर्पिणी के ही दोष से ऋषभदेव तीर्थंकर ने तृतीयकाल के अंत में ही जन्म लिया और मोक्ष भी चले गये। भगवान बाहुबली को उनसे भी पहले निर्वाण प्राप्त हो गया था। इसके पश्चात् चतुर्थकाल के आदि से अन्त तक शेष 23 तीर्थंकर हुए हैं।

इसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र में भरत चक्रवर्ती का उदाहरण है, जिन्होंने एक नहीं सैकड़ों बार भगवान की पूजा कर-करके अपने कर्मों को इतना शिथिल कर लिया था कि दीक्षा धारण करते ही अन्तर्मुहूर्त में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया था। कल्याणमंदिर स्तोत्र में श्री कुमुदचन्द्राचार्य ने कहा है–

हृद्वर्तिनित्वयि विभो! शिथिलीभवन्ति, जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबंधाः।
सद्योभुजंगममया इव मध्यभाग-मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य।।

अर्थात् जैसे जंगल में चंदन के वृक्षों में सुगंधि के कारण लिपटे हुए महाविषधर सर्प भी मोर की आवाज सुनते ही शिथिल पड़ जाते हैं क्योंकि सर्प और मयूर का जन्मजात पारस्परिक वैर है, मयूर उसके टुकड़े-टुकड़े करके मार डालता है इसीलिए साँप उसकी आवाज मात्र से डरकर अपने बंधन ढीले कर देता है। उसी प्रकार प्राणियों के हृदय में आपकी नामरूपी मयूर वाणी का जब प्रवेश हो जाता है तो कर्मरूपी सर्पों के बंधन स्वयमेव ढ़ीले हो जाते हैं अर्थात् नष्ट होने लगते हैं। चक्रवर्ती भरत ने भी इसी प्रकार की भक्ति करके अपने कर्मबंधन ढ़ीले कर लिए थे।

आज पंचमकाल है अतः इस भव से तो मोक्ष नहीं है किन्तु भक्ति के और त्याग के बल पर एक भवावतारी बनने का पुण्य अर्जित किया जा सकता है। भावसंग्रह में श्री देवसेनाचार्य ने भव्यात्माओं के लिए बड़ा सुन्दर संबोधन प्रदान किया है–

वरिससहस्सेणपुरा, जं कम्मं हणइ तेण काएण।
तं कम्मं वरिसेण हु, णिज्जरयइ हीणसंहणणे।।

अर्थात् जितने कर्मों को चतुर्थकाल में एक हजार वर्ष की तपस्या से नष्ट किया जाता था आज उतने कर्मों को एक वर्ष में नष्ट किया जा सकता है इसका कारण यही बताया है कि पंचमकाल में हीन संहनन है, शारीरिक शक्ति कमजोर है, चित्त चंचल है, शरीर अन्न का कीड़ा है फिर भी आश्चर्य की बात है कि जिनलिंग को धारण करने वाले महापुरुष आज भी इस पृथ्वी तल पर विहार कर रहे हैं।

इसी प्रकार पहले जिस भक्ति के बल पर इन्द्र, चक्रवर्ती आदि महान् पुण्य अर्जित करते थे वैसे ही आज भी भगवान के श्रीचरणों की पूजा से आप लोग भी असीम पुण्य संचित कर सकते हैं। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि जिस समय मैं बड़े-बड़े विधानों की पूजाओं को लिखा करती थी उस समय इतनी तन्मयता हो जाती कि कोई भी दर्शन के लिए आता जाता किन्तु मुझे कुछ पता नहीं चलता। बाद में लोगों की शिकायतें सुनकर ज्ञात होता कि वे लोग दर्शन करने आये थे किन्तु उपयोग की एकाग्रता के कारण मैं आशीर्वाद भी न दे सकी।

भक्ति की एकाग्रता वास्तव में मात्र अनुभवगम्य ही आनंद है, उसे वचनों के द्वारा किसी के समक्ष प्रगट नहीं किया जा सकता। भक्तों का नमस्कार स्वीकार करना, उन्हें आशीर्वाद देना तो दूर की बात है, विधानों के रचनाकाल में तो मुझे ऐसी अनुभूति होती थी कि मैं साक्षात् ही अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना कर रही हूँ। अपनी शारीरिक अस्वस्थता में अभी भी मुझे वही भक्ति संबल प्रदान करती है।

भक्ति ही एक दिन निवृत्ति का रूप धारण कर लेती है। मोक्षमार्ग के इन दोनों सूत्रों से गृहस्थधर्म और मुनिधर्म परिलक्षित होता है। अनादिकाल से ये दोनों ही धर्म चले आये हैं। मुनियों को छठे-सातवें गुणस्थान तक पंचपरमेष्ठी की भक्ति करने हेतु आचार्यों ने निर्देश दिये हैं जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भी अपनाया था।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि दिगम्बर साधुओं को भगवान के दर्शन की क्या आवश्यकता है? वे तो स्वयं भगवान की प्रतिकृति होते हैं किन्तु यह उनकी मान्यता गलत है। मूलाचार आदि ग्रंथों में भी स्थविरकल्पी मुनियों के लिए जिनेन्द्रभक्ति का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है, भगवान का अभिषेक देखते समय अभिषेक वंदना, नाम की क्रिया में सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु, शांतिभक्ति पढ़ने की विधि बताई है, तीनों काल की सामायिक भी मंदिर में जिनप्रतिमा के समक्ष ही करने के लिए कहा है।

आहार के लिए उठते समय भी आप देखते हैं कि भगवान के दर्शन करके ही आचार्य अथवा साधुगण मंदिर से चर्या को निकलते हैं। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने कभी भी भगवान के दर्शन किये बिना आहार नहीं किया। उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए हम लोग भी सदैव जिनप्रतिमा के दर्शन करके ही आहार को उठते हैं।

जब तक आप निवृत्ति– पूर्णत्याग रूप मुनिधर्म को धारण नहीं कर सकते तब तक देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति को जीवन में प्रधानता से पालन करें तभी कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। पंचमकाल के अंत तक भक्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग अविच्छिन्न रूप से चलेंगे यह श्रद्धान रखते हुए पदानुसार कर्तव्य का पालन करो यही मेरा कहना है।

प्रवचन–55

सद्गृहस्थ

भव्यात्माओं! आगम ग्रंथों में पाक्षिक श्रावक का विशेष लक्षण बताते हुए आचार्यों ने कहा है कि जो श्रावक जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से निरन्तर ही विषयों को छोड़ने योग्य समझता हुआ भी मोह के निमित्त से उन्हें छोड़ने के लिए असमर्थ है। उस गृहस्थ के लिए ही गृहस्थ धर्म पालने की अनुमति है। उस गृहस्थ धर्म में सबसे प्रथम वह गृहस्थ जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ हिंसा को छोड़ने के लिए मद्य, मांस, मधु और पाँच उदंबर फलों का त्याग कर ही देवे।

मद्य–शराब के एक बिंदु में इतने जीव हैं कि वे संचार करें तो तीन लोक को भी पूरित कर सकते हैं और उसके पीने से जीवों के इस लोक-परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए इस मदिरा को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। मांस का भक्षण तो स्पष्ट में ही बुरा है। यहाँ तक कि विवेकी सभ्यजन मांस के नाम को सुनकर भोजन करते हुए भी छोड़ देते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जैसे मांस प्राणी का अंग है वैसे ही अन्न भी पंचेन्द्रिय प्राणी का अंग है पुनः अन्न, वनस्पति आदि का भक्षण करना भी मांस दोष के समान है?

तो ऐसा नहीं है, देखो अन्न और मांस दोनों ही यद्यपि प्राणी के अंग समान रूप से हैं फिर भी अन्तर है क्योंकि अन्न खाने योग्य है और मांस खाने योग्य नहीं है। जैसे स्त्री और माता दोनों ही स्त्रीपने से समान हैं किन्तु स्त्री ही भोग्य है माता नहीं। अथवा यो समझिए कि मांस जीव का शरीर है किन्तु जो-जो जीव के शरीर हैं वे सभी मांस नहीं है। जैसे कि नीम तो वृक्ष है किन्तु जितने वृक्ष हैं वे सभी नीम नहीं है। अथवा गाय से उत्पन्न होकर भी दूध ग्राह्य है किन्तु गोमांस ग्राह्य नहीं है। सर्प से मणि उत्पन्न होती है वह तो विषनाशक है किन्तु सर्प का डस लेना विषकारक है। इसलिए एकेन्द्रिय जीवों के कलेवर अन्न, वनस्पति आदि को मांस संज्ञा नहीं है किन्तु दो इंद्रिय से लेकर सभी जीवों के कलेवर मांस कहलाते हैं और वे त्याज्य हैं।

मधु–शहद की एक बिंदु मात्र के भक्षण से सात ग्राम के जलाने जितना पाप लगता है इसलिए यह भी महा निंद्य पदार्थ है। इसी प्रकार से नवनीत–मक्खन को भी दो मुहूर्त से बाद में नहीं खाना चाहिए उसमें भी बहुत जीव जन्म ले लेते हैं। उसी प्रकार पीपल, उदुम्बर, पाकर, बड़ और अंजीर इन फलों को सुखाकर भी नहीं खाना चाहिए। अष्टमूलगुण धारी श्रावक का कर्तव्य है कि वह रात्रि भोजन और अनछना पानी भी कभी नहीं पीवे क्योंकि ये स्वाध्याय और धर्म दोनों की हानि करने वाले हैं। यह पाक्षिक श्रावक पांच अणुव्रतों को भी अभ्यासरूप से पालता है और सप्त व्यसनों का भी त्याग कर देता है।

दूसरी प्रकार से अष्टमूल गुणों का वर्णन इस प्रकार है–मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन और पांच उदुम्बर फल इनका त्याग करना तथा पंचपरमेष्ठी की वंदना करना, जीव दया पालना और पानी छानकर पीना। जो भव्य जीव जीवन भर के लिए इन महापापों को छोड़ देता है और जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका है ऐसा शुद्ध बुद्धि वाला जीव ही जिनधर्म को सुनने के लिए योग्य होता है। इसी बात को श्री अमृतचंद्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्धिउपाय में कहा है–

अष्टावनिष्ट दुस्तर दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्म देशनायाः भवंति पात्राणि शुद्धधियः।।

अर्थात् 'अनिष्ट, दुस्तर और पापों के घर ऐसे इन आठों को छोड़कर शुद्ध बुद्धि वाले प्राणी जिन धर्म की देशना के पात्र होते हैं।'

ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रावक हमेशा जिनेन्द्रदेव की पूजा किया करता है।

पूजा को इज्या भी कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं–नित्यमह, आष्टान्हिक, इन्द्रध्वज, चतुर्मुख और कल्पद्रुम।

नित्यमह–अपने घर पर स्नान करके शुद्ध धुले हुए वस्त्र पहनकर घर से जल चंदन आदि सामग्री ले जाकर मंदिर में जिनेन्द्रदेव की पूजा करना नित्यमह कहलाती है। अपनी शक्ति के अनुसार जिनप्रतिमा, जिनमंदिर आदि का निर्माण कराना, मंदिर को पूजा व्यवस्था के लिए जमीन, धन आदि मंदिर में दान देना, त्रिकाल में जिनदेव की आराधना करना, अपने घर के चैत्यालय में पूजा करना और भक्तिपूर्वक प्रतिदिन मुनियों को दान देना यह सब नित्यमह पूजा है।

आष्टान्हिक–नंदीश्वर पर्व में जो पूजा की जाती है वह आष्टान्हिक पूजा है।

इन्द्रध्वज–जो पूजा इन्द्र आदिकों के द्वारा विशेषरूप से की जाती है वह इन्द्रध्वज कहलाती है।

चतुर्मुख–जो जिन पूजा मुकुटबद्ध मंडलेश्वर राजाओं द्वारा की जाती है वह सर्वतोभद्र–महामह या चतुर्मुख कहलाती है। यह सब जीवों को हितकर होने से सर्वतोभद्र, चतुर्मुख जिनबिंब विराजमान करके चारों दिशाओं में पूजा करने से चतुर्मुख और सबसे बड़ी महान होने से महामह कहलाती है।

कल्पद्रुम–इस पूजा में चक्रवर्ती किमिच्छक दान देकर सभी की इच्छा पूर्ण कर देते हैं अर्थात् तुम्हें क्या इच्छा है, तुम्हें क्या इच्छा है ऐसा सभी की इच्छा को पूर्ण करते हुए दान देकर जो जिनेन्द्रदेव की महान पूजा करते हैं वह कल्पद्रुम इस अपने सार्थक नाम वाली पांचवीं पूजा कहलाती है।

जो गृहस्थ अभिषेक, पूजन, गीत, नृत्य आदि द्वारा पूजन करते हैं वे महान पुण्य का बंध कर लेते हैं।

अष्टद्रव्य से पूजन का महान फल है। अर्हंत देव के चरणों में जलधारा देने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मरूपी रज शांत हो जाती है। चंदन से पूजा करने से सुगंधित शरीर प्राप्त होता है। अक्षत से पूजा वैभव को अखंडित करने वाली है। पुष्प से पूजा करने वाले स्वर्ग में मंदार माला को प्राप्त करते हैं। नैवेद्य से पूजा करने से लक्ष्मी के स्वामी होते हैं। दीप से पूजा करने वाले कांति को विस्तृत करते हैं। धूप से पूजन करके उत्कृष्ट सौभाग्य को प्राप्त होते हैं। फल से पूजा करके इच्छित फल को प्राप्त कर लेते हैं और अर्घ से पूजा करके अभिमत वस्तुओं को प्राप्त कर लेते हैं। इसके सिवाय जिन पूजा का फल तो अचिन्त्य है। सम्यग्दृष्टि पूजक को 'मैं पहले, मैं पहले' कहते हुए सभी सुख संपत्तियाँ आकर घेर लेती हैं।

निर्विघ्नता से पूजा, बड़े-बड़े विधान आदि करने के लिए तथा योग्यदान, मान आदि सत्कारों से विधर्मियों को भी अपने अनुकूल करके और सहधर्मियों को भी अपने आधीन करके पूजा करना चाहिए। जो श्रावक स्त्री संसर्ग, आरंभ आदि सहित हैं वे विधिवत् स्नान आदि करके शुचि होकर ही जिनपूजा करें।

कभी-कभी कोई श्रावक यह प्रश्न करते हैं कि मंदिर बनवाने से तो महान आरंभ होता है? लेकिन ऐसी बात नहीं है, जिन प्रतिमा, जिनमंदिर, वसतिका और स्वाध्याय भवन आदि बनवाने वालों को महान् सातिशय पुण्य का बंध होता है और परम्परा से वे लोग इस पुण्य के बल से कर्मों का भी नाश कर लेते हैं। क्योंकि गृहस्थ तो हमेशा पाप क्रिया में आरंभ, व्यापार, मकान बनवाने आदि में ही प्रवृत्त रहते हैं। यद्यपि मंदिर बनवाने आदि के आरंभ में हिंसा है तो भी उसके महान पुण्य में वह समुद्र के जल में एक कण विष के समान क्या कर सकता है और तो क्या-"मुक्ति प्रासाद सोपान माप्तैरुक्तो जिनालयः" शास्त्र में ऐसा कहा है कि जिनेन्द्रदेव ने मंदिर को मुक्तिमहल की सीढ़ी बताया है।

ग्रंथकार कहते हैं कि इस दुःषमाकाल रूपी रात्रि को धिक्कार हो कि जहाँ पर बड़े-बड़े शास्त्र के विद्वान भी जिनबिंब दर्शन के बिना प्रायः करके भगवान की भक्ति करने में प्रवृत्त नहीं होते हैं। इसलिए प्रत्येक स्थान पर जिनमंदिर की परम आवश्यकता है। अहो! इस पंचमकाल में गृहत्यागी मुनियों का मन भी रागादि परिणति से चंचल होकर धर्म कर्म में प्रवृत्ति नहीं कर पाता है इसलिए जिनमंदिर की बहुत ही आवश्यकता है अर्थात् मुनिगण भी मंदिर और जिनप्रतिमाओं के आश्रय से अपनी प्रवृत्तियों को नियमित कर पाते हैं उन्हें भी आज इनकी पूरी आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार सरल प्रवृत्ति से जिनपूजा करने वालों के सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं और दशों दिशाएं उनके मनोरथों को पूर्ण करती हैं।

प्रवचन–56

धर्म की महिमा

सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते,
संपद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते वपुः।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किं वा बहु ब्रूमहे,
धर्मो यस्य नभोऽपि तस्य सततं रत्नैः परैर्वर्षति।।

धर्मात्मा प्राणी के लिए विषैला सर्प हार बन जाता है, तलवार सुन्दर फूलों की माला हो जाती है, विष भी उत्तम औषधि हो जाता है, शत्रु भी मित्र बन जाता है तथा देव प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा का पालन करने लगते हैं और अधिक तो क्या कहा जाये? आचार्य पद्मनंदि स्वामी कहते हैं कि जिसके पास धर्म है उसके ऊपर आकाश भी निरन्तर रत्नों की वर्षा करता है।

भव्य जीवों! जिस प्रकार अमृत का पान करने से पथिक के मार्ग की थकावट दूर हो जाती है और उसे अतिशय आनंद प्राप्त होता है उसी प्रकार इस धर्मोपदेश के सुनने से भव्य जीवों के संसार परिभ्रमण का दुख दूर हो जाता है तथा उन्हें अनंत सुख का लाभ होता है। जैसे अमृत दुर्लभता से प्राप्त होता है उसी प्रकार धर्म का उपदेश भी अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त होता है। कुंदकुंददेव ने भी समयसार में कहा है–

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।

अर्थात् अनादिकाल से श्रुत, परिचित और अनुभूत पंचेन्द्रियों के विषयभूत काम, भोग, बंध की कथाओं में ही यह जीव आनंदानुभूति कर रहा है किन्तु आत्मतत्व जिसकी प्राप्ति आज तक नहीं हुई है उससे जीव दूर भागता है। आज के युग में प्रथम तो कोई समीचीन धर्म का उपदेश करने वाले धर्माचार्य ही बड़ी कठिनाई से मिलते हैं और यदि कहीं से उन सच्चे गुरुओं का मार्गदर्शन मिल भी जावे तो उसको ग्रहण करने वाले और भी अधिक दुर्लभ हैं।

जैसे शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहरता है उसी प्रकार सच्चा धर्म मिथ्यात्व रहित शुद्ध सम्यग्दृष्टि के हृदय में ही टिकता है।

आप दुखहरण स्तुति में सती सोमा का नाम पढ़ते हैं–

सोमा से कहा जो तू सती शील विशाला।
तो कुंभ तें निकाल भला नाग ही काला।।
उस वक्त तुम्हें ध्याके सती हाथ जु डाला।
तत्काल ही यह नाग हुआ फूल की माला।।

वह सोमा सती रात्रि में भोजन नहीं करती थी किन्तु उसकी सास ने जबर्दस्ती उसे अपने नियम से डिगाना चाहा। जब सोमा अपने धर्म में दृढ़ रही तब सास ने एक घड़े में काला सर्प रखवाकर उस सती की परीक्षा करनी चाही।

बंधुओं! एक छोटा सा नियम भी यदि दृढ़तापूर्वक पालन किया जाता है तो देवता तक उसकी रक्षा करते हैं और सोमा सती के साथ भी वही हुआ। उसने धर्म पर विश्वास करके जिनेन्द्र भगवान का स्मरण कर घड़े में हाथ डाल दिया। परन्तु आश्चर्य हो गया उसकी सास एवं पूरे परिवार को, वह काला नाग तो सुन्दर फूलों की माला बनकर सोमा के हाथों में आ गया।

आप लोग ऐसा मत सोचना कि सोमा का जमाना और था और हमारा जमाना बदल गया है। मैं कहती हूँ आप भी दृढ़तापूर्वक नियम का पालन करें और फिर देखें कि आपकी भी देवता रक्षा करते हैं या नहीं?

धर्म के बारे में कविर भूधरदास जी ने कहा है–

जाचें सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन।
बिन जाचें बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन।।

कल्पवृक्ष तो याचना करने से फल देता है और चिंतामणि रत्न भी मन में चिंतन करने से इच्छित वस्तु देता है परन्तु धर्म तो एक ऐसा वृक्ष है जो बिना याचना के ही अचिन्त्य फल को प्राप्त कराता है।

आपने अभी मंगलाचरण में सुना ''सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते'' अर्थात् सर्प का हार तो सोमा ने बनाया और वारिषेण राजकुमार ने तलवार के प्रहार को पुष्पमाल बना दिया था।

जानते हो कैसे थे वारिषेण?

राजगृही नगरी के सम्राट् राजा श्रेणिक के पुत्र वारिषेण प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को श्मशान में जाकर नग्न होकर ध्यान किया करते थे। एक दिन वे इसी रूप में वहाँ ध्यान में लीन थे और इधर विद्युतचोर नाम का एक वेश्यागामी चोर रात्रि में नगरसेठ के गले का वेशकीमती हार चुराकर भागा जा रहा था किन्तु हार की दिव्य चमक को वह छिपा न सका तो भागते हुए उसे सिपाहियों ने देख लिया। वे उसे पकड़ने को दौड़े। विद्युतचोर भागता हुआ श्मशान की ओर निकल आया। उसने वारिषेण को ध्यान में खड़े देखा और सिपाहियों के पंजे से छूटने के लिए उस हार को वारिषेण के सामने पटक कर वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

इतने में सिपाही भी वहीं आ पहुँचे। वे वारिषेण को हार के पास खड़ा देखकर भौचक्के रह गये। वे राजपुत्र को इस अवस्था में देखकर हँसे और बोले–अच्छा ढोंग रचा है तूने, चोरी करके योगी बनकर खड़ा है। यह कहकर वे वारिषेण को बांधकर

राजा श्रेणिक के पास ले गये और बोले–महाराज! इन्होंने हार की चोरी की है।

सुनते ही श्रेणिक का चेहरा क्रोध के मारे लाल हो गया, उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन करते हुए आज्ञा दे दी–

''इस दुष्ट को श्मशान में ले जाकर मार डालो।''

अपने खास पुत्र के लिए महाराज की ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सबके सब सन्न रह गये। किन्तु राजाज्ञा के समक्ष बोलने की हिम्मत कौन करता? जल्लाद लोग उसी समय वारिषेण को श्मशान में ले गये और उनकी गर्दन पर जैसे ही तलवार का प्रहार किया कि वारिषेण के ऊपर पुष्पवृष्टि होने लगी और तलवार का उस पर कोई असर नहीं हुआ। वारिषेण के पुण्य ने उसकी रक्षा की।

सत्य आखिर कहाँ छिपता। वारिषेण की यह हालत देखकर सब उसकी जय-जयकार करने लगे। देवों ने प्रसन्न होकर उस पर सुगंधित फूलों की वर्षा की।जब राजा श्रेणिक को यह समाचार ज्ञात हुआ तब उन्होंने स्वयं जाकर बेटे से क्षमा याचना की किन्तु वारिषेण को तो संसार से वैराग्य हो गया था अतः उसने दैगंबरी दीक्षा धारण करली।

इस प्रकार से आगम में तो न जाने कितने उदाहरण भरे पड़े हैं यदि पुण्य का उदय होता है तो विष भी अमृत बन जाता है और पाप कर्म का उदय होता है तो अमृत भी विष का काम कर जाता है। आज अधर्म और पाप के वशीभूत होकर मनुष्य कितने पाप और अत्याचार कर डालते हैं तथा कई बार ऐसा देखने में आ जाता है कि स्वयं अधर्म के मार्ग पर जाते हुए दूसरे धार्मिक सत्पुरुषों को व्यर्थ ही लांछित करने का दुःप्रयास तक कर डालते हैं। यहाँ तक कि उस झूठ को सत्य साबित करने के लिए अनेकों और झूठे तथ्यों द्वारा वकीलों और जजों को भी गुमराह करने का प्रयास करना पड़ता है। लेकिन यह निश्चत है कि धर्म की जड़ पाताल में भी है। समझ में आई बात, यह सारी बातें अपने संसार को बढ़ाने वाली हैं। भगवान शांतिनाथ की जन्मस्थली हस्तिनापुर की पवन भूमि पर आकर आप सबको अपने सम्यग्दर्शन को मजबूत बनाने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिए।

धर्म तो आत्मा की वह पवित्र वस्तु है जो कि धर्मात्मा सत्पुरुषों के समक्ष हृदय से वात्सल्य एवं स्नेह भावों को प्रगट करता है। मेरी भावना में आप क्या पढ़ते हैं?–

मैत्री भाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे।
दीन दुखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे।।
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे।
साम्यभाव रखूँ मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे।।

यदि इस प्रकार की दृष्टि बन गई तो समझो कि हम जीवन में अपना और पर का कुछ कल्याण कर लेंगे वर्ना सैकड़ों बार पहले भी ऐसी कई योनियों में भटकते रहे हैं और आगे भी भटकते रहेंगे। सम्यग्दर्शन और धर्म का अविनाभाव संबंध है। कोई बहुत

धर्मात्मा होकर भी यदि किसी दूसरे धर्मात्मा पुरुष के दोषों को उघाड़ता है तो वह कभी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता भले ही सैकड़ों बार समयसार आदि ग्रंथों को क्यों न पढ़ लेव

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने सीधी सी बात बताई है–

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मंत्रोक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्।।

अर्थात् जिस प्रकार एक अक्षर से न्यून मंत्र कभी विषवेदना को दूर नहीं कर सकता उसी प्रकार एक अंग से हीन भी सम्यग्दर्शन कभी संसार परम्परा का नाश नहीं कर सकता।

धनंजय कवि कोई बड़े भारी महात्मा नहीं थे। मात्र एक भक्त के रूप में भगवान की पूजा कर रहे थे। उनके पुत्र को सांप ने काट लिया। पत्नी ने मंदिर में समाचार भेजा किन्तु वे पूजा में लीन रहे। बेटे के ऊपर तेज विष चढ़ता चला गया लेकिन धनंजय ने कुछ परवाह नहीं की। आखिर पत्नी को गुस्सा आया कि इधर तो बेटा मरा जा रहा है और इनका मंदिर नहीं छूटता। उसने गुस्से में बालक को ले जाकर मंदिर में ही पति के सामने पटक दिया। धनंजय कवि उस समय भी अचल मूर्तिवत् बैठे हुए भगवान की भक्ति करते रहे। उन्होंने जैसे ही विषापहार स्तोत्र पढ़ना शुरू किया। क्या कहा उन्होंने उस स्तोत्र में, वे भगवान के सामने कहते हैं–

विषापहारं मणिमौषधानि, मंत्रं सुमुद्दिश्य रसायनं च।
भ्रामन्त्यहो न त्वमिति स्मरंति, पर्यायनामानि तवैव तानि।।

हे भगवन्! आपका नाम ही सबसे बड़ा विषापहार मंत्र है, मणि है, औषधि है महारसायन है जो ऐसा श्रद्धान नहीं करते हैं वे ही तो संसार में भ्रमण करते हैं और इस प्रकार से स्तोत्र पढ़ते-पढ़ते बेटे का विष दूर हो गया।

कोई दिगम्बर महामुनि घोरातिघोर तपश्चर्या करके अनेक ऋद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं। उन ऋद्धियों में "अमृतस्रावी" नाम की एक ऋद्धि है जो विष को भी अमृतरूप में परिवर्तित कर देती है। वैसे मुनिराज को अपनी ऋद्धियों से कोई प्रयोजन नहीं होता है और न अपने लाभ के लिए वे तपस्या ही करते हैं किन्तु उस ऋद्धि का प्रभाव ही ऐसा होता है कि उन अमृतस्रावी ऋद्धिधारी मुनिराज को कोई कभी दुर्भावनावश आहार में विष भी देवे तो वह उनके हाथ में जाते ही अमृत रूप परिणत हो जाता है और उन मुनियों के वचन भी किसी विष से मूर्च्छित जीव के सामने निकलते हैं तो उसका विष दूर हो जाता है। ऐसे-ऐसे मुनियों के वचन सभी प्राणियों के लिए अमृत का कार्य करते हैं धर्म की ऐसी ही महिमा है। कहा भी है–

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।
धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यंच समान।।

मोक्ष सुक्ष को प्राप्त कराने वाला धर्म सबके लिए आश्रयणीय है। देखो! रावण के भाई विभीषण रामचंद्र के शत्रु पक्ष के थे किन्तु राम के पुण्य से विभीषण भी उनके मित्र बन गये और उन्होंने भी धर्म का पक्ष लेकर अधर्म का परिहार किया तो लंका के अधिपति बन गये।

अरे भाई! जिसके मन में धर्म है देवता भी उसके वश में हो जाते हैं। रामचन्द्र की वन में भी सदा देवों ने रक्षा की और उनके दास बनकर रहे।

मुख्य बात तो यह है कि आप गृहस्थ में रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का पालन करें तो समस्त मनोरथ सिद्ध हो सकते हैं। आज भी जिनेन्द्र पूजा और गुरुभक्ति करने वाले कितने ही श्रावक ऐसे कहते देखे जाते हैं कि माताजी! हमारे यहाँ तो आप लोगों के आशीर्वाद से सदा लक्ष्मी का बसेरा रहता है। धर्म में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनको पालन करने वाले कभी गरीब, भिखमंगे आदि नहीं होते।

तीर्थंकरों के गर्भ,जन्म आदि कल्याणकों में इन्द्रों का आना यह सब क्या है? पूर्वभवों में उन्होंने धर्म क्रियाएं कर-करके इतना पुण्य बंध किया कि तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो गया जिसके प्रभाव से गर्भ में आने के 6 महीने पूर्व से ही उनकी माता के आंगन में कुबेर रत्नों की वृष्टि करने लगा। महामुनियों को आहार दान देने पर भी दातार के आंगन में देवगण रत्न बरसाते हैं ऐसा शास्त्रों में हम पढ़ते हैं यह सब धर्म की महिमा है। इसीलिए हमारे ऋषियों ने धर्म को नमस्कार करते हुए कहा है–

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते,
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः।।

ऐसे उस मोक्षसुख को प्राप्त कराने वाले धर्म को मेरा बारम्बार नमस्कार होवे।

पाप बंध किनके नहीं है

पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियाइ जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदार उग्घादेंतो कड सदोसो।।50।।
घडियाजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं।।60।।

जीव में पापास्रव द्वार अनादिकाल से स्थित हैं उनके रहते हुए जो जीव शुभास्रव के द्वार का उद्घाटन करता है अर्थात् शुभास्रव के कारणभूत कामों को करता है वह सदोष कैसे हो सकता है? अर्थात् वह निर्दोष है।

जब महाव्रतियों के प्रतिसमय घटिकायंत्र के जल के समान असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव है? अर्थात् मुनियों के पाप का आस्रव नहीं होता है।

–जयधवला-श्री वीरसेन स्वामी

प्रवचन–57

महिलाओं के कर्तव्य

भव्यात्माओं! संसार की सृष्टि में स्त्री और पुरुष दो अंग हैं। जैसे कुंभकार के बिना चाक से बर्तन नहीं बन सकते हैं अथवा कृषक के बिना पृथ्वी से धान्य की फसल नहीं हो सकती है उसी प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों के संयोग के बिना सृष्टि की परम्परा नहीं चल सकती है। इतना सब कुछ होते हुए भी महिलाओं का दायित्व कुछ विशेष ही है वह क्या है? उसे मैं आपको बताऊँ–

आज जब घर में कन्या का जन्म होता है तब घर वाले ही क्या अड़ोस-पड़ोस के लोग भी यही सोचने लगते हैं कि यह क्या बला आ गई? इसका मूल कारण है 'दहेज'। इस दहेज प्रथा ने कितने अनर्थों को जन्म दिया है, यह सब प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। एक समय था जब कन्या को सबसे श्रेष्ठ रत्न और उनके माता-पिता को सबसे श्रेष्ठ रत्नाकर माना जाता था। आदिपुराण में बताया है– **''कन्यारत्नात्परं नान्यद्''।** अर्थात् कन्यारत्न से बढ़कर अन्य कोई रत्न नहीं है। तथा– **'रत्नाकरत्वदुर्मर्वमम्बुधिः श्रयते बृथा। कन्यारत्नमिदं यत्र तयोरेतद् विराजते।।**

यह समुद्र अपने 'रत्नाकरत्व' नाम के खोटे अभिमान को व्यर्थ ही धारण कर रहा है। क्योंकि जहाँ इस कन्यारत्न ने जन्म लिया है ऐसे उसके माता-पिता में ही रत्नाकरपना शोभित होता है अर्थात् कन्यारत्न के जन्मदाता माता-पिता ही सच्चे रत्नाकर (रत्नों की खान) होते हैं।

यह बात सुलोचना के स्वयंवर के प्रसंग पर श्री गुणभद्राचार्य ने कही है। वास्तव में जहाँ एक कन्या के स्वयंवर के समय करोड़ों राजा-महाराजा आकर उपस्थित होते थे और सबके मन में यही आशा रहती थी कि यह कन्या मेरे गले में वरमाला डाले। इस विषय में सुलोचना, सीता, द्रौपदी आदि के प्रत्यक्ष उदाहरण आबाल-गोपाल में प्रसिद्ध ही हैं। लेकिन आज सर्वथा इसके विपरीत स्थिति देखने को मिलती है। कन्याओं के जन्म को हीन दृष्टि से देखने का मूल कारण जो दहेज है उसका कैसे निर्मूलन किया जाये? इस पर महिलाओं को सक्रिय कदम उठाना चाहिए। महिलाएं ही महापुरुषों की जननी हैं तीर्थंकर जैसे नररत्नों को भी जन्म देने का सौभाग्य महिलाओं ने ही प्राप्त किया है यही कारण है कि महामुनियों ने भी उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है। श्रीमानतुंगाचार्य के शब्द स्पष्ट हैं–

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्, नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं, प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्।।

सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों ही पुत्रों को जन्म देती हैं किन्तु हे भगवन्! आप जैसे पुत्र

को जन्म देने वाली माता विरले ही होती हैं। सो ठीक ही है क्योंकि सभी दिशाएं नक्षत्रों को तो जन्म दे सकती हैं किन्तु हजारों किरणों से देदीप्यमान ऐसे सूर्य को एक पूर्व दिशा ही जन्म देती है।

पातिव्रत्य धर्म में सीता और मैना सुन्दरी के उदाहरण प्रसिद्ध ही हैं। साथ ही पति को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने के लिए रानी चेलना का पुरुषार्थ आज भी महिलाओं के लिए एक प्रेरणास्पद उदाहरण है।

प्रायः आज की महिलाएं पति को प्रसन्न रखने के लिए उनके साथ क्लबों में घूमना व स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना ही अपना कर्तव्य समझ लेती हैं। कोई-कोई महिलाएं तो पति के साथ रात्रि भोजन ही क्या मदिरापान आदि भी करने लगती हैं। भोगों में ही सुख मानने वाली कुछ महिलाएं तो पति को दुर्व्यसनों से नहीं रोक पाती हैं किन्तु धर्म कार्य से, गुरुओं के पास जाने से अवश्य रोक देती हैं। आज कितने ही ऐसे उदाहरण देखने में आते रहते हैं।

सचमुच में ऐसी महिलाओं को ही आचार्यों ने दुर्गति का द्वार बतलाया है। आत्मानुशासन में कहा है–

'शरणमशरणं वो बंधवो बंधमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।।

'जिस घर को शरण समझते हैं वह अशरण हैं, बंधु वर्ग बंधन के मूल कारण हैं और चिरकाल से परिचित भी स्त्रियाँ आपत्ति के घर का द्वार हैं। ये वाक्य श्री गुणभद्रसूरि के हैं किन्तु शीलवती महिलाएं इससे विपरीत सन्मार्गदर्शिका भी देखी जाती हैं।

महिलाओं का अपनी संतान के प्रति भी क्या कर्तव्य है? वास्तव में जो महिलाएं सुशिक्षित हैं वे अपनी संतान को सुयोग्य साँचे में ढाल सकती हैं क्योंकि माताओं की गोद ही बच्चों के लिए प्रारंभिक पाठशाला है। माताएं बच्चों को प्रारंभ से ही लाड़ प्यार के साथ धर्म की घूंटी पिला-पिलाकर सुसंस्कारों से हृष्ट-पुष्ट बना सकती हैं। जब बच्चे कुछ समझने और बोलने लग जायें तब उन्हें महामंत्र सिखाना, अच्छे-अच्छे धार्मिक भजनों की पंक्तियाँ रटाना, जैसे-तैसे वे 3-4 वर्ष के होते जायें उन्हें छोटी-छोटी शिक्षास्पद कथाएं सुनाना, धार्मिक पाठशालाओं में कुछ न कुछ धर्म शिक्षा दिलाते रहना ही बच्चों को सुसंस्कारित करना है। किशोरावस्था में उन्हें कुसंगति से बचाना, मंदिरों में जाने की प्रेरणा देते रहना, गुरुओं के पास ले जाना, तीर्थयात्राओं की वंदना कराते रहना उनके जीवन में सद्विचारों के बीजारोपण करना है। खासकर ग्रीष्मावकाश में बालक-बालिकाओं को गुरुओं के पास धर्म शिक्षा दिलाना, धार्मिक पढ़ाई में शिक्षण शिविरों में भाग दिलाना, छुट्टी के दिनों का बहुत बड़ा सदुपयोग है।

युवकों को धर्मकथाओं के माध्यम से चारित्रवान बनाना चाहिए। मर्यादा पुरुषोत्तम

रामचन्द्र, जम्बू कुमार, अकलंक-निकलंक आदि महापुरुषों के आदर्श बालकों के समक्ष पुनः-पुनः कहते रहने से उनमें वैसे बनने के संस्कार सहज ही हो सकते हैं।

कन्याओं के शील की सुरक्षा कैसे रहे? इस पर भी उनके माता-पिता को सावधान रहना चाहिए। छोटी-छोटी बालिकाओं को कुसंगति से बचाना, युवक नौकरों को घर में न रखना, एक साथ लड़के-लड़कियों को न पढ़ाना, युवक अध्यापक से न पढ़ाना, अश्लील उपन्यास पढ़ने से, अश्लील सिनेमा आदि देखने से दूर रखना आदि। प्राचीनकाल में भी राजघरानों में तथा सभ्य घरानों में वृद्ध कंचुकी नौकर रहते थे। जिससे कन्याओं को ही नहीं बल्कि युवती महिलाओं के भी शील की सुरक्षा बनी रहती थी। सहशिक्षा की प्रणाली कथमपि श्रेयस्कर नहीं है। फलस्वरूप कुछ न कुछ अघटित घटनाएं होती ही रहती हैं। किशोरावस्था की बालिकाओं को यदि युवक अध्यापक पढ़ाते हैं तो प्रायः उनके शील का अपहरण हो जाया करता है। अश्लील कहानियों और चलचित्रों का कुप्रभाव, कोमल और सरल मस्तिष्क को विकृत बनाये बगैर नहीं रहता है।

कन्या विवाह के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर माता बनती है। जिस प्रकार कोयले की खान से कोयला और हीरे की खान से हीरा निकलता है उसी प्रकार अच्छे संस्कारों से संस्कारित शीलवती माता से अच्छे-अच्छे नवरत्न और कन्यारत्नों का जन्म होता है। दुराचारिणी माता की संतान कभी भी अच्छी नहीं मानी जा सकती है। कुछ प्राकृतिक सृष्टि की व्यवस्था ही ऐसी है। चक्रवर्ती, अर्धचक्री आदि महापुरुषों के अनेक रानियाँ होती हैं। उन सब रानियों की संतान एक पिता की ही होती है किन्तु यदि कोई महिला अनेक पुरुष से समागम करती हो तो वह स्वयं यह निर्णय नहीं दे सकती है कि इस मेरे पुत्र का पिता कौन है? यही कारण है कि अपने यहाँ भारतीय संस्कृति में महिलाओं के लिए एक पति ही माना गया है। वैसे यह विषय अति सूक्ष्म है। विशेष जिज्ञासु महिलाओं को अपने धर्मगुरु व गुर्वानियों के पास में इस विषय को समझना चाहिए। इसीलिए पुनर्विवाह, विधवा विवाह, विजातीय विवाह आदि परम्पराएं आर्यसंस्कृति से बाह्य हैं।

शीलवती महिलाएं मनुष्यों से ही नहीं देवों से भी पूज्यता प्राप्त कर लेती हैं। शील के प्रभाव से अग्नि का जल हो जाना, सर्प का हार हो जाना, वज्र के फाटक खुल जाना आदि उदाहरण मात्र कल्पनाएं ही नहीं है। आज भी यदि कोई महिला अपने शील को सुरक्षित रखकर अग्नि को जल बनाना चाहे तो सहज सफल हो सकती है। आत्मविश्वास बहुत बड़ी चीज है। यह नियम है कि पंचमकाल के अंत तक भी शीलव्रती महिलाएं रहेंगी और आगे के छठे काल में भी उनकी परम्परा चल सकेगी। पुनरपि आने वाले चतुर्थकाल में उन्हीं शीलवती महिलाओं के वंश में तीर्थंकर आदि महापुरुष जन्म लेवेंगे।

यह तो सब एकदेश ब्रह्मचर्य अणुव्रत की महत्ता है। ऐसी ब्रह्मचर्याणुव्रत पालन करने वाली महिलाएं गृहस्थाश्रम में रहकर देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय आदि करते हुए धर्म की परम्परा को अक्षुण्ण रखती हैं। अनंतर सल्लेखना से मरण करके सम्यक्त्व और अणुव्रत के प्रभाव से स्त्रीलिंग का छेदकर सौधर्म आदि स्वर्गों में देव हो जाती हैं। कालान्तर में पुरुष लिंग प्राप्तकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।

जो महिलाएं पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत पालन करती हैं, व्रत प्रतिमा आदि व्रतों से अपने शरीर को अलंकृत करती हैं, क्षुल्लिका अथवा आर्यिका बन जाती हैं, वे महिलाएं ब्राह्मी-सुन्दरी के समान सर्वजनों में पूज्य हो जाती हैं। चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महापुरुष भी उनकी पूजा करते हैं, उन्हें आहारदान आदि देकर अपने को धन्य मानते हैं। इन्द्र भी उनके चरणों की वंदना करते हैं। इस प्रकार से वे स्त्रियाँ सर्वश्रेष्ठ आर्यिका पद में तीनों लोकों में वंद्य हो जाती हैं।

आज भी चन्दनबाला अनंतमती जैसी कन्याएं हैं। सीता, मैना, मनोरमा जैसी पतिव्रता हैं, चेलना जैसी कर्तव्यपरायण हैं और ब्राह्मी-सुन्दरी के पदचिन्हों पर चलने वाली आर्यिकाएं हैं। हमारी बहनों को उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। प्रतिवर्ष एक माह नहीं तो कम से कम एक सप्ताह उनके सानिध्य में जाकर उनसे कुछ सीखना चाहिए और स्त्री समाज में बढ़ती हुई दहेज प्रथा, सहशिक्षा आदि कुरीतियों को दूर करने में अपने समय को, शक्ति को और धन को लगाना चाहिए, यही महिलाओं का कर्तव्य है।

व्रत और तप सर्वथा कार्यकारी ही हैं

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तह वि झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं।।
अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि।
वरवयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरु भेयं।।

तप से स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं, पर जो ध्यान से स्वर्ग प्राप्त करता है उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है, ऐसा जीव परभव शाश्वत–मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार अत्यन्त शुभ सामग्री से–शोधन सामग्री से अथवा सुहागा से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार काल आदि लब्धियों से आत्मा परमात्मा हो जाता है। व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग का प्राप्त होना अच्छा है किन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त होना अच्छा नहीं है क्योंकि छाया और घाम में बैठ कर इष्ट स्थान की प्रतीक्षा करने वालों में बहुत ही अंतर है।

–आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव-मोक्षपाहुड़

प्रवचन–58

सम्यग्ज्ञान कैसे प्राप्त होता है?

महानुभावों! आज मैं आपको बताऊंगी कि-सम्यग्ज्ञान कैसे प्राप्त होता है?

यह सम्यग्ज्ञान स्वाध्याय से और गुरूओं के प्रसाद से प्राप्त होता है। स्वाध्याय के पांच भेद हैं–

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।।25।।

निर्दोष ग्रंथ और उसके अर्थ का पढ़ना-पढ़ाना वाचना है।संशय को दूर करने के लिए और समझे हुए में दृढ़ता लाने के लिए गुरु आदि से पूछना पृच्छना है। पढ़े हुए श्लोक आदि के अर्थ का मन में बार-बार चिन्तन-अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। पढ़ेहुए को शुद्ध उच्चारणपूर्वक बार-बार रटना आम्नाय है और धर्मकथा आदि को सुनाना धर्मोपदेश है। ये पांचो प्रकार के स्वाध्याय ज्ञान की वृद्धि तथा चारित्र को प्राप्त कराने वाले हैं।

स्वाध्याय को छह प्रकार के अंतरंग तप में लिया है और इसकी बहुत ही महिमा बताई है। यथा–

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंपुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ।।78।।

विनय सहित स्वाध्याय करते हुए मुनि के पांचों इंद्रियों की प्रवृत्ति रूक जाती है और मन, वचन, काय भी वश में हो जाते हैं तथा मन एकदम एकाग्र हो जाता है।

वारस विधह्मि य तवे सब्भतर बाहिरे कुसलदिट्ठे ।
णवि अत्थि ण विय होहदि सज्झायसम तवो कम्मं ।।79।।

तीर्थंकर गणधर देव आदि द्वारा कहे गये अंतरंग और बहिरंग ऐसे बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान तप न अन्य कोई हुआ है और न होगा ही।

सूई जहा ससुत्ता ण, णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण ।।80।।

जिस प्रकार सूत्र–डोरे से सहित सुई यदि प्रमाद से कहीं गिर भी जाए तो भी मिल जाती है, उसी प्रकार सूत्र-शास्त्र के ज्ञान से युक्त पुरूष यदि प्रमाद दोष के युक्त भी है, अनशन आदि तपश्चरण से रहित है फिर भी संसार में नहीं डूबता है अपना हित अवश्य कर लेता है।

इसी मूलाचार में कहा है–

विणएण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होइ विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आहवदि।।

जिसने विनयपूर्वक श्रुत को पढ़ा है यदि कदाचित वह प्रमाद से भूल भी जाता है

तो भी वह पढ़ा हुआ श्रुतज्ञान अगले भव में ज्यों की त्यों उपलब्ध हो जाता है तथा केवलज्ञान तक प्राप्त करा देता है।

अनगार धर्मामृत में स्वाध्याय को ध्यान के बराबर महत्वशाली बतलाया गया है–

मनो बोधाधीन विनयविनियुक्तं निजवपुः ।
वचः पाठयत्तं करणगणमाधाय नियतम् ।।
दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने ।
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यंतरमिदम् ।।

जिनेन्द्रदेव के वचनों के अध्ययन में जिसकी परिणति हो रही है ऐसा मनुष्य जब स्वाध्याय करता है उस समय उसका मन उस पढ़ते हुए पंक्तियो के अर्थ के आश्रित हो जाता है अर्थात् उस ज्ञान में तन्मय हो जाता है। शरीर विनय से युक्त अचल रहता है। वचन भी उस पाठ के आधीन हो जाते हैं अर्थात् उस पाठ को पढ़ने में लग जाने से अन्य कुछ नहीं बोलते हैं और सभी इंद्रियाँ भी अपने विषयों की प्रवृत्ति छोड़कर उसी में तन्मय हो जाती हैं। इस प्रकार जो स्वाध्याय करता है उसके भी कर्मों का क्षय (निर्जरा) होता है। अतएव यह स्वाध्याय एक ध्यान ही है ऐसा समझना चाहिए।

स्वाध्याय से असंख्यात गुणश्रेणी कर्मों की निर्जरा होती है। यथा–

''सुत्त पुण समयं पडि असंखेज्जगुणसेढीए पावं।
गलिय पच्छा सत्वकम्मक्खयकारणमिदि।।

सूत्र प्रतिसमय असंख्यात गुणित–श्रेणी रूप से पापों का नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मों के क्षय का कारण होता है।

अर्थात् जिस समय सूत्र ग्रंथों का स्वाध्याय करते हैं उस समय असंख्यातगुणित श्रेणी रूप कर्मों का नाश होता है और सूत्र के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का कारण ऐसा शुक्लध्यान भी प्रकट हो जाता है क्योंकि ज्ञान ही निश्चल अवस्था को प्राप्त हो जाने पर ध्यान कहलाता है जैसे कि न हिलती हुई अग्नि की शिखा निश्चल दिखती है। यही बात पूज्यपाद स्वामी ने कही है कि–

''ज्ञानमेवापरिस्पंदमानमपरिस्पंदाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति।

मैं आपको सम्यग्ज्ञान की महिमा के एक-दो उदाहरण सुनाती हूँ–

पुंड्रवर्धन देश के कीटापुर नगर के राजा पद्मरथ के समय वहां पर सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था, इसकी भार्या का नाम श्रीदेवी था। इनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम ''भद्रबाहु'' रखा। एक समय अनेक बालकों के साथ वह बालक गोली खेल रहा था। तभी उसनेअपनी चतुराई से एक पर एक उस एक ऐसी चौदह गोलियां चढ़ा दीं। उसी समय श्री गोवर्धनाचार्य महामुनि गिरनार की यात्रा को जाते हुए इधर से निकले, उन्होंने भद्रबाहु के इसखेल की चतुराई को देखकर अपने निमित्त ज्ञान से यह जान लिया कि ''यह बालक चौदहमहापूर्वों

का ज्ञाता श्रुतकेवली होने वाला है'' अतः वे उस बालक को साथ लेकर उसके पिता के घर गये। उससे बोले– तुम हमें अपना यह बालक विद्याध्ययन कराने के लिए दे दो, इसकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण है। सोमशर्मा ने बड़ी खुशी से अपना बालक गुरू के सुपुर्दकर दिया। आचार्यदेव ने बालक को सर्वविद्याओं में निष्णात बना दिया पुनः उसे वापस घर भेज दिया। परन्तु भद्रबाहु ने जो गुरू रूपी सूर्य से सम्यग्ज्ञान रूपी ज्योति को पाया था उससेउसका मोहरूपी अंधकार नष्ट हो चुका था अतः वह घर में आकर जैसे-तैसे माता-पिता की अनुमति लेकर पुनः गुरू के चरण सान्निध्य में आ गया और गुरू से दैगम्बरी दीक्षाले ली। कालांतर में ये महामुनि ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता अंतिम श्रुतकेवली हुए हैं। यह है गुरूमुख से अध्ययन करने का माहात्म्य।

मैनासुन्दरी का उदाहरण जगत्प्रसिद्ध है। उज्जयिनी के राजा की दो पुत्रियां थीं। इनमें से बड़ी सुरसुन्दरी ने अन्य उपाध्याय के पास पढ़ा था और मदनसुन्दरी-मैनासुन्दरीने मुनिश्री समाधिगुप्त के पास विद्याध्ययन किया था। फलस्वरूप कर्मसिद्धांत परअटल रहने से उसके पिता ने क्रुद्ध होकर उसका विवाह कोढ़ी राजकुमार श्रीपाल के साथ कर दिया तब भी मैनासुन्दरी ने धैर्य नहीं छोड़ा और कर्म सिद्धांत पर अडिग रही। मुनिराज के पास पहुँचकर रोग शांति का उपाय पूछा और मुनि ने सिद्धचक्र विधान के अनुष्ठान का उपदेश दिया। मैना ने विधिवत् सिद्धचक्र का अनुष्ठान किया और भगवान का गन्धोदकलाकर पति के शरीर पर छिड़का तथा अन्य और पास सौ कुष्ठी योद्धाओं के शरीर पर छिड़का जिससे सभी का कुष्ठ रोग दूर हो गया तथा धर्म की बहुत ही प्रभावना हुई। आजभी सिद्धचक्र के पाठ के अनंतर प्रतिदिन भक्त लोग मैनासुन्दरी का नाम बड़े आदर सेलेते हैं–

श्री सिद्धचक्र का पाठ करो दिन आठ ठाठ से प्राणी।
फल पायो मैना रानी ।।1।।

भव्यात्माओं! स्वाध्याय और धर्म ग्रंथों के पठन से प्रगट हुआ ज्ञान संपूर्ण पदार्थों की जानकारी करा देता है क्योंकि मति और श्रुतज्ञानरूपी तथा अरूपी सभी पदार्थोंको और उनकी कुछ पर्यायों को जानने में सक्षम है किन्तु अवधि और मनःपर्ययज्ञान मात्र रूपी पदार्थों को ही जानते हैं। इसलिए श्रुतज्ञान की महिमा अपरम्पार है। कहा भी है–

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।
भेदः साक्षाद्साक्षाच्य, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ।।105।।

श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सर्वपदार्थों को प्रकाशित करने वाले हैं। इन दोनों में यदि अन्तर है तो इतना ही है कि केवलज्ञान सभी पदार्थों को साक्षात् जानता है और श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है।

इसी अभिप्राय से सरस्वती की स्तुति में कहते हैं–

नमस्तस्यै सरस्वत्यै विमलज्ञानमूर्तये।
विचित्रालोकयात्रेयं यत्प्रसादात्प्रवर्तते।।

विमलज्ञान की मूर्ति ऐसी सरस्वती देवी को नमस्कार हो जिसके प्रसाद से यह विचित्र लोक यात्रा प्रवृत्त होती है अर्थात् जिसके पढ़ने से या जिसके अनुग्रह से सारे तीन लोक का ज्ञान हो जाता है।

ज्ञान का फल क्या है?

उपेक्षाफलमाद्स्य शेषस्यादानहानधीः ।
पूर्वं वा ज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे।।102।।

केवलज्ञान का फल उपेक्षा है अर्थात् राग और मोह का अभाव है। शेष प्रमाण ज्ञानों का फल है, अपने–अपने विषय में अज्ञान का नाश हो जाना यह तो फल औत्सर्गिक है।

उपादेय– हेय पदार्थों में ग्रहण और त्याग की बुद्धि का होना तथा इस प्रकार ज्ञान का फल अज्ञान का अभाव होना तो है ही है साथ ही प्रीति–आनंद का हो जाना भी फल कहा गया है यही कारण है कि ज्ञान के साथ सुख का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। यथा–

अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात्। ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालंबलादर्थ-निश्चये प्रीतिरूप जायते सा फलमित्युच्यते।

अर्थ का बोध हो जाने पर प्रीति देखी जाती है। यद्यपि यह आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला है फिर भी कर्म के मल से मलिन होने से इंद्रियों के अवलंबन से अर्थ का निश्चय करता है तब इसे प्रीति-हर्ष, आनंद उत्पन्न होता है यह प्रीति ही प्रमाण-ज्ञान का फल है ऐसा कहा गया है।

स्वाध्याय में गुरूपरम्परा का बहुत ही महत्व है बिना गुरू परम्परा के किया गया अध्ययन प्रायः अर्थ का अनर्थ कर देता है। कहा भी है–

शास्त्राग्नौ मणिवद् भव्यः विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अंगारवत्खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ।।

शास्त्र एक अग्नि है उसमें भव्य जीव मणी के समान शुद्ध होकर चमकने लगता है और खल-दुष्ट जीव उस अग्नि में अंगारे के समान जलता है वह या तो मलिन कोयला हो जाता है या भस्म-राख हो जाता है। इनके उदाहरण 'अजैर्यष्टव्यं' जैसे सूत्रों का गलत अर्थ करने वाले 'पर्वत' जैसे पापात्मा प्रसिद्ध हैं।

इसीलिये गुरू परम्परा से पढ़ने का और उसी अनुरूप अर्थ करने का बहुत ही बड़ा महत्व है। कहा भी है–

ग्रंथार्थतो गुरू परम्परया यथावत् ।
श्रुत्वावधार्य भवभीरूतया विनेयान् ।।
ये ग्राह्ययन्युभयनीति बलेन सूत्र।
रत्नत्रयप्रणयिनो गणितः स्तुमस्तान् ।।4।।

जो गुरू परम्परा से ग्रंथ अर्थ और उभयरूप सूत्र को यथावत् सुनकर उसे

अवधारण करके स्वयं संसार से भयभीत होकर शिष्यों को उभय नीति-निश्चय व्यवहारनय की पद्धति के बल से सूत्रों को पढ़ाते हैं उन रत्नत्रय धारक आचार्यों की स्तुति करते हैं।

जितने भी आचार्य ग्रंथों की रचना करने वाले हुए हैं उन सबने गुरू परम्परा से ही ज्ञान प्राप्त कर शिष्यों को पढ़ाया है तथा ग्रंथ रचना की है। श्री कुंदकुंददेव का ही उदाहरण देखिये–

एव द्विविधोद्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् ।
गुरूपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धांतः कुण्डकुंदपुरे ।।160।।
श्रीपद्मनंदि मुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः
ग्रंथपरिकर्मकर्त्रां षट्खंडाद्यत्रिखंडस्य ।।161।।

कर्मप्राभृत (षट्खंडागम) और कषाय प्राभृत इन दोनों सिद्धांतों का ज्ञान गुरूपरिपाटी से कुन्दकुन्दपुर के "पद्मनंदि' मुनि को प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नाम की टीका रची है।

इनके पहले धरसेनाचार्य तक श्रुतज्ञान गुरू परम्परा से ही चला आता रहा है। श्रीधरसेनाचार्य ने भी अपना ज्ञान पुष्पदन्त और भूतबलि मुनियों को दिया था। उन्होंने ही षट्खंडागम सूत्र ग्रंथ रचे हैं। उसकी बहुत ही सुन्दर कथा है कि–

"सौराष्ट्र देश (गुजरात) के गिरिनगर की चंद्रगुफा में श्रीधरसेनाचार्य रहते थे। इन्हें सभी अंग और पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ था, ये अष्टांग महानिमित्त के पारगामी, प्रवचनवत्सल थे। एक समय उन्हें अपने निमित्त से "अपनी उमर थोड़ी रह गई है" ऐसा ज्ञात हुआ, तभी उन्हें श्रुत की परम्परा को अविच्छिन्न रखने की चिन्ता जाग्रत हुई। उस समय महामहिमा अर्थात् पंचवर्षीय साधु सम्मेलन में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के निवासी आचार्यों के पास एक लेख भेजा। उसमें अभिप्राय था कि–

भगवान् महावीर का शासन अचल रहे, उसका सब देशों में प्रचार हो। यद्यपि इस कलियुग में अंगादि का ज्ञान नहीं रहेगा तथापि शास्त्र ज्ञान की रक्षा हो, इसलिये कृपाकर आप ऐसे दो मुनियों को हमारे पास भेजें जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण हो, स्थिर हों, सहनशील हों और जैन सिद्धांत का उद्धार कर सकें।

ऐसा पत्र एक ब्रह्मचारी के हाथ से वहां भेजा। यह साधु सम्मेलन आन्ध्रप्रदेश में वेणानदी के तट पर हुआ। ब्रह्मचारी द्वारा पत्र प्राप्त कर अभिप्राय ज्ञातकर आचार्यों ने उत्तम देश, कुल और जाति में जन्में ऐसे दो मुनियों को गुजरात भेज दिया। ये दोनों मुनि जिस दिन गुरू के पास पहुंचने वाले थे, उसी दिन रात्रि के पिछले प्रहर में श्रीधरसेनसूरि ने स्वप्न देखा कि दो श्वेत, सुन्दर, सपुष्ट बैल हमारी तीन प्रदक्षिणा देकर चरणों में नमस्कार कर रहे हैं। अनंतर उठते ही "जयउ सुददेवदा"– श्रुतदेवता जयवंत हों, ऐसा उच्चारण किया।

उसी दिन वे दोनों मुनि वहां आ गये। धरसेनाचार्य के चरणों की कृतिकर्मपूर्वक वंदना

करके दो दिन बिताकर तृतीय दिवस अपने आने का कारण निवेदित किया। गुरू ने कहा- "अच्छा, कल्याण हो" ऐसा कहकर उन्हें आश्वासन देकर गुरू ने विचार किया कि– "जो मुनि अयोग्य शिष्यों को मोह से श्रुत का व्याख्यान करता है वह रत्नत्रय की प्राप्ति से भ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है। ऐसा सोचकर यद्यपि उत्तम स्वप्न देखने से ये योग्य हैं ऐसा समझ लिया फिर भी उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया। तब गुरू ने दोनों मुनियों को एक-एक विद्यायें दीं और बेला करके इन्हें सिद्ध करो, गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ की निर्वाण भूमि पर जाकर विद्या सिद्ध करो, ऐसा आदेश दिया।

गुरू की आज्ञानुसार इन्होंने विद्यायें सिद्ध कीं। विद्यायें सिद्ध होते ही विद्या की अधिष्ठात्री दो देवता वहां आईं। एक के दांत बाहर निकले थे, दूसरी कानी थी। मुनियों ने सोचा–

देवियों का ऐसा विकृत रूप नहीं होता है अतः मंत्र संबंधी व्याकरण शास्त्र में कुशल दोनों मुनियों ने अपने-अपने मंत्र शुद्ध किए। एक मंत्र में अक्षर अधिक था उसे निकाला और दूसरे मंत्र में अक्षर कम था उसे मिलाया फिर सिद्ध करना प्रारंभ किया। पुनः वे देवता अच्छे सुन्दर रूप में प्रगट हुई। अनंतर इन दोनों मुनियों ने गुरु के पास आकर सारा वृत्तान्त सुनाया। गुरु प्रसन्न हुए और बोले-"बहुत अच्छा किया" अनंतर शुभ मुहूर्त में धरसेन भगवान ने उन दोनों का ग्रंथ पढ़ाना प्रारंभ किया। आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन पूर्वाण्ह काल में ग्रंथ पूर्ण किया। तब संतुष्ट हुए व्यंतर देवों ने गाजे-बाजे के साथ पुष्पादि सामग्री से उन दोनों मुनियों के चरणों की पूजा की। यह देखकर धरसेनाचार्य गुरु ने जिनकी भूत जाति के देवों ने पूजा की थी उनका भूतबली और जिनके अस्त-व्यस्त दंतपंक्तियों को ठीक कर दांत समान कर दिये थे उनका "पुष्पदंत" ऐसा नाम रखा।

इसके बाद उसी दिन गुरु की आज्ञा से भेजे गये वे दोनों मुनि वहाँ से विहार कर अंकलेश्वर आ गये वहाँ वर्षायोग बिताया। अनंतर वहाँ से विहार कर पुष्पदंत मुनि जिनपालित (अपने भानजे) को साथ लेकर वनवासी देश चले गये और भूतबलि भट्टारक तमिल देश चले गये। पुष्पदंत भट्टारक ने जिनपालित को दीक्षा देकर बीस प्ररूपणा सत्प्ररूपणा के सूत्र बनाकर और जिनपालित को पढ़ाकर अनंतर उन्हें भूतबलि आचार्य के पास भेजा तथा यह भी कहलाया कि मेरी आयु अल्प ही शेष है अतः आगे का कार्य आपको करना है। जिनपालित मुनि से सारी बात समझकर भगवान भूतबलि ने महाकाल प्रकृति प्राभृत का विच्छेद न हो जाये इस अभिप्राय से द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर ग्रंथ रचना की है। अतः इस षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ के कर्ता आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि हैं। जिस दिन ग्रंथ पूर्ण हुआ था उस दिन चतुर्विध संघ ने मिलकर ग्रंथ की महापूजा की थी। उस दिन ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी थी। अतः तभी से लेकर आज तक भी उसे श्रुतपंचमी कहते हैं और श्रुतपूजा की परम्परा चालू है।

इसलिए सम्यग्ज्ञान की महिमा को जानकर स्वाध्याय और गुरुओं के प्रसाद से उन्हें प्राप्त कर मनुष्य पर्याय को सफल करें यही मंगल आशीर्वाद है।

प्रवचन–59

सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है

भव्यात्माओं! जिस प्रकार से मकान का मूल आधार नींव है और वृक्ष का मूल आधार पाताल तक गई हुई उसकी जड़े हैं उसी प्रकार से धर्म का मूल आधार सम्यग्दर्शन है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना धर्मरूपी मकान अथवा धर्मरूपी वृक्ष ठहर नहीं सकता है। जीवरक्षारूप आत्मा का परिणाम दया है, वह दया ही धर्म का लक्षण है। तीर्थंकर देव ने तथा अन्य केवलज्ञानियों ने अपने गणधर चक्रवर्ती, इन्द्र आदि शिष्यों को यही उपदेशा है। इसे अपने कानों से सुनकर सम्यग्दर्शन से हीन मनुष्य को नमस्कार नहीं करना चाहिए क्योंकि धर्म की जड़स्वरूप सम्यग्दर्शन जिसके पास नहीं है वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है और जो धर्मात्मा नहीं है वह वंदना या नमस्कार का पात्र कैसे हो सकता है। सम्यग्दर्शन शून्य मनुष्य को तो आहार दान आदि भी नहीं देना चाहिए। क्योंकि कहा भी है.....''मिथ्यादृग्भ्यो दददानं दाता मिथ्यात्ववर्धकः।'' मिथ्यदृष्टियों को दान देने वाला दाता मिथ्यात्व को बढ़ाने वाला है।

अब प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य कौन है? उसका उत्तर यह है कि जो तीर्थंकर परमदेव की प्रतिमा को नहीं मानते हैं, पुष्पादि सामग्री से उनकी पूजा नहीं करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। जो कहते हैं कि पंचमकाल में मुनि नहीं होते हैं, व्रतों से क्या प्रयोजन है? आत्मा का ही पोषण करना चाहिए उसे दुःख नहीं देना चाहिए। मयूर पंख की बनी पिच्छी सुन्दर नहीं होती है सूत की पिच्छिका ही ग्राह्य है मयूर पंख की पिच्छिका से तो हिंसा होती है। शासन देवता पूजनीय नहीं है। आत्मा ही देव है अन्य कोई देव नहीं है। भगवान महावीर के बाद आठ केवली हुए हैं न कि तीन। महापुराण आदि विकथाएं हैं। इत्यादि प्रकार से जो उत्सूत्र कथन करने वाले हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि जिनागम में जिनप्रतिमाओं के दर्शन, वंदन, नमस्कार आदि की बहुत ही महिमा बताई गई है। आचार्यों ने कहा है कि जिस प्रकार चिंतामणि आदि रत्न अचेतन होकर भी फलदायी हैं वैसे ही जिनेन्द्रदेव की कृत्रिम व अकृत्रिम प्रतिमाओं के दर्शन, पूजन से अनंत संसार में संचित पाप समूह नष्ट हो जाता है। जिनबिंब के दर्शन से निकाचित मिथ्यात्व आदि कर्मों के सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं तथा उनकी पूजा में अष्टद्रव्य सामग्री में पुष्प, चंदन, नैवेद्य, दीप, धूप, फल आदि का स्पष्ट कथन है। रामचंद्र आदि महापुरुषों ने पुष्पादि से जिनप्रतिमाओं की पूजा की है जिनपूजा का फल अचिन्त्य है। इसके लिए मेंढक का उदाहरण सर्वजन सुप्रसिद्ध ही है।

उसी प्रकार से इस पंचमकाल में मुनि हैं, होते हैं और होंगे ही। श्री गुणभद्र सूरि ने भी कहा है कि जो स्वयं मोह को छोड़कर कुलपर्वतों के समान पृथ्वी का उद्धार करने

वाले हैं, समुद्र के समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों के स्वामी हैं, आकाश के समान व्यापक होने से किन्हीं के द्वारा स्पष्ट न होकर विश्व की विश्रांति के कारण हैं, ऐसे अपूर्व गुणों के धारक प्राचीन मुनियों के निकट में रहने वाले कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं। श्री सोमदेव सूरि ने भी कहा है कि–

'कलौ काले चले चित्ते देहे चान्नादि कीटके।'
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः।

यह कलिकाल है, मनुष्यों का चित्त अत्यंत चंचल है और शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। बड़े आश्चर्य की बात है कि आज भी जिनमुद्रा के धारक दिगम्बर साधु दिख रहे हैं। श्री कुन्दकुन्ददेव ने भी मोक्षपाहुड़ में कहा है कि–

भरहे दुस्सम काले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।

भरत क्षेत्र में इस दुःषम काल में साधुओं को धर्मध्यान होता है, वे आत्मा के स्वभाव में स्थित होते हैं किन्तु ऐसा जो नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं।

उसी प्रकार से श्री कुंदकुंद ने व्रतों के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा है कि– व्रतों से स्वर्ग को प्राप्त करना अच्छा है किन्तु अव्रती रहकर नरक जाना अच्छा नहीं है। दूसरी बात यह है कि व्रती नियम से स्वर्ग ही जाता है अन्य तीन गतियों में नहीं जाता है। कहा भी है–

अणुव्रत और महाव्रत को प्राप्त करने वाला जीव देवायु का ही बंध करता है अन्य तीन आयु का नहीं। हाँ, महाव्रती तो कदाचित द्रव्यादि सामग्री के अनुकूल होने से मोक्ष प्राप्त कर लेता है लेकिन आज इस काल में मोक्ष संभव नहीं है। उसी प्रकार से कायक्लेश आदि तप के द्वारा आत्मा को क्लेश पहुँचाने का भी जैन शासन में कथन है। प्रकारान्तर से देखा जाये तो सम्यग्दृष्टि शरीर से भिन्न आत्मा की श्रद्धा करने वाले हैं। अतः शरीर आदि के क्लेश में आत्मा को दुःखी नहीं मानते हैं तभी तो वे केशलोंच, उपवास आदि से शरीर के शोषण में लगे रहते हैं। इसी प्रकार से श्री कुंदकुंददेव ने मूलाचार में मयूरपिच्छी के पाँच गुण बतलाए हैं और मुनियों को उसी के लेने का विधान किया है सूतादि की पिच्छी नहीं मानी है। यथा–धूलि और पसीना को ग्रहण नहीं करना, मृदु होना, सुकुमार होना, लघु-वचन में हल्की होना जिसमें ये पाँच गुण होते हैं ऐसी मयूर पंखों की पिच्छी जीव दया का साधन होने से संयम का उपकरण है।

जैनाचार्यों ने शासन देवता को भी उनके योग्य अर्घ आदि देकर पूजन का विधान किया है। हाँ, जिनेन्द्रदेव सदृश वे उपासनीय नहीं हैं। उसी प्रकार से जब तक आत्मा शुद्धोपयोग में स्थिर होने में असमर्थ है तब तक के लिए पंच परमेष्ठी परमदेव माने गये हैं उनकी वंदना, ध्यान करना आदि का महामुनियों के लिए भी विधान है। श्री गौतम

स्वामी ने स्वयं ही चैत्यभक्ति में पंचपरमेष्ठी, कृत्रिम, अकृत्रिम प्रतिमाओं की विशेष भक्ति वंदना की है। भगवान महावीर के बाद गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी ये तीन ही अनुबद्ध केवली हुए हैं। महापुराण आदि कथाएं प्रथमानुयोग के अन्तर्गत होने से विकथाएं नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यही हुआ कि जो ज्ञान के मद में मदांध होकर उत्सूत्र प्ररूपणा करने लगते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, मान्य नहीं हैं उनके वचन सुनना भी नहीं चाहिए पुनः नमस्कार की बात तो बहुत ही दूर है। जैन शासन के ज्ञाता को यथाशक्य उनका प्रतिकार करते हुए जिनागम के अनुसार निर्दोष कथन करना चाहिए।

दर्शन प्राभृत में कहा है कि–जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट कहे जाते हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीवों को निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता है। चारित्र से भ्रष्ट तो सिद्ध हो सकते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट सिद्ध नहीं हो सकते हैं।''

इसमें श्री कुंदकुंददेव सम्यग्दर्शन की महत्ता को बतलाते हुए ही ऐसा कह रहे हैं। उसके सही अभिप्राय को समझना आवश्यक है।

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से च्युत हो जाते हैं वे कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक संसार में परिभ्रमण कर सकते हैं जो अनंतकाल के सदृश बहुत ही बड़ा माना गया है। जैसे कि मरीचिकुमार सम्यक्त्व से च्युत होकर असंख्यातों भवों तक एकेन्द्रियादि दुर्गतियों में भटकता रहा है। यही कारण है कि आचार्यदेव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को दीर्घसंसारी मान रहे हैं। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि तो है कारणवश चारित्र से भ्रष्ट है अर्थात् या तो उन्होंने अणुव्रत-महाव्रत लिया ही नहीं है इसलिए चारित्र से शून्य हैं तो भी वे सम्यग्दृष्टि होने के नाते संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहते हैं इसलिए किसी न किसी दिन वे चारित्र ग्रहण कर मोक्ष को प्राप्त कर ही लेंगे क्योंकि सम्यग्दृष्टि यदि चारित्रमोह के तीव्रोदय से चारित्र ग्रहण नहीं कर पाते हैं तो भी वे चारित्रधारी साधुओं की, व्रतिकों की निंदा कथमपि नहीं करते हैं और जो चारित्रधारियों की निंदा या उपेक्षा करते हैं वे सम्यग्दृष्टि ही नहीं हैं ऐसा समझना।

अथवा यदि कदाचित् कोई सम्यग्दृष्टि अणुव्रती–महाव्रती बनकर उन व्रतों में दोष लगा देता है या कदाचित् उन व्रतों को भंग कर देता है तो भी वह कालांतर में गुरु से प्रायश्चित्त लेकर या पुनर्व्रत ग्रहण कर पुनर्दीक्षा आदि लेकर शुद्ध हो जाता है तो उसे मोक्ष का अधिकारी माना जा सकता है न कि चारित्र भ्रष्ट में ही क्योंकि रत्नत्रय की पूर्णता ही मोक्ष का कारण है मात्र सम्यग्दर्शन अकेला नहीं है यह बात अन्यत्र ग्रंथों में वर्णित है। यहाँ समझने की बात यही है कि चारित्र से भ्रष्ट या शून्य मनुष्य सम्यक्त्व के प्रभाव से बहुत जल्दी ही अपने चारित्र को सुधार सकता है किन्तु सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाने के बाद तो यदि वह निगोद आदि पर्याय में एकेन्द्रिय आदि स्थावर योनियों में

चला गया तो उसे वहाँ समझाने वाला कौन मिलेगा? टीकाकार श्री श्रुतसागर आचार्य ने भी चारित्रभ्रष्ट में महाराज श्रेणिक आदि का उदाहरण रखा है। राजा श्रेणिक चारित्र से भ्रष्ट न होकर चारित्र से हीन थे और सम्यक्त्व से सहित थे अतः केवली के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके आगे तीर्थंकर होने वाले हैं। ऐसे ही पुष्पडाल मुनि का उदाहरण लिया जा सकता है कि जो द्रव्य से चारित्रवान होते हुए भाव से पत्नी के साथ भोगों की आकांक्षा लिए हुए थे। उनको भी वारिषेण मुनि ने स्थितिकरण करके सच्चे भावलिंगी चारित्रवान बना दिया था अथवा श्री समंतभद्र स्वामी जैसे महामुनि का ही उदाहरण लीजिए। गुरु की आज्ञा से भस्मक जैसी महाव्याधि को दूर करने के लिए ही उन्होंने अन्यवेष धारण किया था। सम्यक्त्व के प्रभाव से ही चन्द्रप्रभ भगवान की मूर्ति प्रगट कर देने की योग्यता रखने वाले श्री समंतभद्र स्वामी सम्यग्दर्शन से सहित थे। इसीलिए उन्होंने पुनः चारित्रग्रहण कर लिया था और वे मोक्ष के अधिकारी माने गये हैं इसलिए चारित्रभ्रष्ट सिद्ध हो जाते हैं। इस कथन से यहाँ पर ब्रह्मचर्य आदि से भ्रष्ट व्रती या मुनि को नहीं लेना चाहिए क्योंकि महाव्रत में भ्रष्ट हुए मुनि तो सम्यग्दृष्टि न रहकर मिथ्यादृष्टि ही हो जायेंगे। उत्कृष्ट मुनिपद में या व्रती पद में अनर्गल चेष्टा करने वाले तो महापापी ही माने जायेंगे।

भगवान आदिनाथ के समक्ष दीक्षा लेकर नग्न वेष में फल खाकर नदी का पानी पीकर अनर्गल चर्या करते हुए साधुओं को देखकर वनदेवता ने स्पष्ट निषेध किया था कि तुम इस निर्ग्रंथ दिगम्बर वेष में रहकर यह अनर्गल चेष्टा मत करो, यह तीनलोक पूज्य अर्हंत मुद्रा है। तब उन साधुओं ने तापसियों के नाना वेष बनाकर ही पाखण्ड मत चलाया था। इससे स्पष्ट है कि दिगम्बर वेष में अनर्गल चर्या कथमपि ग्राह्य नहीं है।

वास्तव में छ्यानवे हजार रानियों का भोग करने वाला चक्रवर्ती, पंचमगुण स्थानवर्ती निर्दोष श्रावक कहा जाता है और वह दान पूजादि सत्कर्म करने से पुण्यवान है। किन्तु ब्रह्मचारी के वेष में रहकर यदि कोई परस्त्री का सेवन कर लेता है तो वह पापी, व्यभिचारी, नीच कहलाता है वह व्रती श्रावक या अव्रती सम्यग्दृष्टि की कोटि में नहीं आ सकता है क्योंकि अनर्गल चेष्टा होने से वह मिथ्यादृष्टि है, धर्म से शून्य है। पद विरुद्ध क्रिया करने से सम्यग्दृष्टि संज्ञा उसे कैसे आ सकती है?

इसलिए यहाँ पर चरित्रभ्रष्ट से चरित्रहीन अर्थ लेना ही उपयोगी है और जब वह चारित्र ग्रहण कर लेता है तभी मोक्ष प्राप्त कर लेता है चारित्र बिना नहीं।

इसलिए श्रावकों के लिए दान, पूजा आदि सत्क्रियाओं का निषेध कभी नहीं करना चाहिए। सदैव अस्तिकाय भाव से सहित रहना चाहिए।

'जो सम्यक्त्वरूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी आराधना से रहित हैं अतः वे वहीं के वहीं भ्रमण करते रहते हैं।

जो मनुष्य सम्यक्त्वरूपी रत्न से शून्य होकर दान, पूजा आदि प्रशस्त कार्यों का निषेध करते हैं वे तर्क, व्याकरण, छंद, अलंकार, साहित्य और सिद्धांत आदि ग्रंथों को जानते हुए भी जिनेन्द्र भगवान के वचनों की श्रद्धारूप आराधना से शून्य होने के कारण नरक निगोद आदि दुर्गतियों में ही घूमते रहते हैं।

आराधना के चार भेद हैं–दर्शन आराधना, ज्ञान आराधना, चारित्र आराधना और तप आराधना। इनमें से जब तक सम्यग्दर्शन नहीं है तब तक पहली आराधना ही नहीं है तो पुनः आगे की आराधनाओं के न मिलने से वह मनुष्य अनंत संसार में ही भ्रमण करता रहता है। जो मनुष्य दान, पूजा आदि प्रशस्त क्रियाओं का निषेध करके अनर्गल उपदेश देते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं अतः उनके कोई भी आराधना नहीं है। वास्तव में श्रावक को निश्चय रूप आत्मधर्म की प्राप्ति हो नहीं सकती है, वह शुद्ध आत्मतत्त्व की श्रद्धा करते हुए भी शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव और ध्यान कर नहीं सकता है अतएव उसके लिए ग्यारह प्रतिमाओं की चर्यारूप व्यवहार धर्म ही उपादेय है। वह एकदेश चारित्र के बल से ही अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाता है अतः वह जब तक गृहस्थ है तब तक उसे दान, पूजा आदि क्रियाओं को करना ही है। आचार्यों ने श्रावक के पूजा, दान, शील और उपवास ये चार धर्म माने हैं। यदि कोई इन क्रियाओं का निषेध करते हैं तो वे उत्सूत्र प्ररूपणा करने से मिथ्यादृष्टि ही हैं ऐसा अर्थ फलित होता है अतः आगम के अनुकूल चर्या करते हुए उसी के अनुरूप उपदेश देकर अपने सम्यक्त्वरूपी रत्न को सुरक्षित रखना चाहिए।

'सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य अच्छी तरह उग्र-उग्र तपश्चरण करते हुए भी हजार करोड़ वर्षों में भी बोधि को नहीं प्राप्त कर पाते हैं, ऐसा दर्शनप्राभृत गाथा 5 में कहा है।'

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से पतित हैं वे भले ही कठिन से कठिन मासोपवास आदि विशिष्ट तपों का आचरण करते हों तो भी हजार करोड़ वर्षों में भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय से युक्त बोधि को नहीं प्राप्त कर पाते हैं अर्थात् सम्यक्त्व के बिना अनंतकाल पुरुषार्थ करके भी मुक्ति को नहीं प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा समझ करके निश्चय धर्म में प्रधानभूत दान, पूजा आदि व्यवहार धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। तात्पर्य यही है कि निश्चय धर्म को प्राप्त कराने के लिए कारणभूत ऐसा व्यवहार धर्म सर्वथा उपादेय है क्योंकि मुनियों के लिए तो निश्चय धर्म की प्राप्ति तक ही वह साधन माना गया है लेकिन श्रावकों के लिए तो पंचसूना के पाप को हल्का करने के लिए दान, पूजादि क्रियाएं अवश्य करने योग्य ही हैं। यदि कोई श्रावक पद में रहकर भी दान, पूजा को छोड़कर अपने आपको गुरु कहलाकर पूजा कराने लगता है या दान पूजादि को हेय कहकर छोड़ने का उपदेश देने लगता है तो वह आचार्यों के कथनानुसार सम्यग्दृष्टि नहीं है।

जो भव्यजीव सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य को वृद्धिंगत करते हुए कलिकाल के कलुषित पाप से रहित होते हैं वे सभी महापुरुष शीघ्र ही उत्कृष्ट ज्ञानी हो जाते हैं।

जिन वचन में श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है, जिनागम का पठन-पाठन आदि करना ज्ञान है, पदार्थ की सामान्य सत्ता का अवलोकन होना दर्शन है, अपनी शारीरिक शक्ति को नहीं छिपाना बल है और आत्मा की शक्ति का नाम वीर्य है। जिनके ये गुण वृद्धिंगत हो रहे हैं वे भव्यजीव हैं वे ही कलिकाल में प्रगट हुए नाना प्रकार से मिथ्यात्वरूप पाप से बच सकते हैं।

टीकाकार का कहना है कि 'इस पंचमकाल में जो शौच धर्म से रहित हैं–मलिन हैं, वर्णव्यवस्था का लोप करके चाहे जहाँ भिक्षा से भोजन ग्रहण कर लेते हैं, मांसाहारी लोगों के यहाँ भी प्रासुक अन्न ले लेते हैं, म्लेच्छ और श्मशानवासी लोगों के यहाँ भी भोजन कर लेते हैं वे धर्म से शून्य हैं, पापी हैं और जो देव, शास्त्र, गुरु की पूजा निषेध करने वाले हैं वे सम्यग्दर्शन से रहित होने से मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। इससे विपरीत शौच धर्म को धारण करने वाले, वर्ण संकर, जाति संकर, सूतक-पातक आदि दोषों से रहित श्रावक के यहाँ निर्दोष प्रासुक आहार लेने वाले मुनि ही मोक्षमार्गी हैं।

जिसके हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह निरंतर प्रवाहित रहता है उसका कर्मरूपी बालू का बांध बद्ध होने पर भी नष्ट हो जाता है।

संसाररूपी संताप का निवारण करने वाला होने से तथा पापरूपी कलंक का प्रक्षालन करने वाला होने से सम्यग्दर्शन, निर्मल शीतल और स्वादिष्ट पानी के समान है। जिस मनुष्य के हृदय में जलपूर के समान सम्यग्दर्शन सदा प्रवाहित रहता है, उसके चिरकाल से संचित भी पापकर्म रूपी बालू का बांध नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कोरे घड़े पर स्थित धूलि चिपकती नहीं है उसी प्रकार से सम्यग्दृष्टि से लगा हुआ पापकर्म बंध को प्राप्त नहीं होता है। यह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है अतः परदेव को नमस्कार करना भी पाप है क्योंकि हिंसादि पाँचों पापों की अपेक्षा मिथ्यात्वी देव को नमस्कार करना महापाप है। तात्पर्य यही है कि जो समीचीन मार्ग पर चलकर सच्चे सुख को प्राप्त कर चुके हैं वे ही सच्चे देव हैं किन्तु स्त्री, भोजन और युद्ध आदि में आसक्त हुए प्राणी 'देव, भगवान' संज्ञा को नहीं प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि असमीचीन प्राणी को 'देव' मानकर नमस्कार करना मिथ्यात्व है, महापाप है।

'जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट हैं और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हैं अर्थात् इन तीनों से शून्य हैं वे भ्रष्टों में भी विशिष्ट भ्रष्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं।

सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा अथवा निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद हैं। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा तीन भेद हैं।

आज्ञा सम्यक्त्व, मार्ग सम्यक्त्व आदि की अपेक्षा दश भेद हैं। ज्ञान के शब्द शुद्धि, अर्थ शुद्धि, उभय शुद्धि, कालशुद्धि, उपधान शुद्धि, विनयशुद्धि, अनिन्हव शुद्धि और बहुमान शुद्धि की अपेक्षा से आठ भेद हैं। चारित्र के पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप से तेरह भेद होते हैं। जो इन रत्नत्रय से भ्रष्ट हैं वे अन्य लोगों को भी भ्रष्ट कर देते हैं अथवा यदि श्रावकों के लिए कहा जाये तो जो श्रावक सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत से बारहव्रत रूप एकदेश चारित्र से भ्रष्ट हैं वे अन्य अपने आश्रित को भी उन्मार्गगामी ही बनायेंगे।

जो मनुष्य धर्म के अभ्यासी, संयम, तप, नियम, योग और उत्तरगुणों के धारी महामुनियों के दोष कहते हैं– उनमें मिथ्या दोषों का आरोप करते हैं वे स्वयं तो चारित्र से पतित हैं हीं, दूसरों को भी चारित्र से पतित कर देते हैं।

धर्म का लक्षण कहते हुए यह गाथा स्मरणीय है–

वत्थुसहावो धम्मो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

वस्तु का स्वभाव धर्म है इस लक्षण के अनुसार आत्मा की वीतराग परिणति ही धर्म है जो शुद्धोपयोगी महामुनि के अनुभव में ही आती है अथवा उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण रूप धर्म है अथवा चारित्र ही धर्म है इस लक्षण के अनुसार भी सामायिक आदि पाँच प्रकार का चारित्र धर्म है या पाँच महाव्रत आदि रूप तेरह प्रकार का चारित्रधर्म है। गृहस्थ का विकल चारित्र तो एक देशधर्म है जो कि व्यवहार चारित्र ही है। प्रवचनसार के अनुसार तो मोह, क्षोभ से रहित आत्मा की शुद्ध परिणति ही धर्म है जो कि शुक्लध्यान में ही संभव है अथवा जीवों की रक्षा करना धर्म है। यह जीव दया लक्षण धर्म ही आजकल के श्रावक और मुनियों में पाया जाता है। बाकी के धर्म तो कुछ– कुछ रूप में ही पाये जाते हैं।

पाँच स्थावर और एक त्रस ऐसे षट्काय के जीवों की रक्षा करना और पाँच इन्द्रिय तथा मन को वश में रखना ये संयम कहलाता है।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यंतर तप हैं।

किसी वस्तु का किसी निश्चित समय तक के लिए त्याग करना नियम कहलाता है अथवा षट् आवश्यक क्रियाओं को नियमित समय पर करना नियम है।

वर्षाकाल में एक जगह रहना योग है अथवा अध्यात्मध्यान को योग कहते हैं।

पद्मनंदि आचार्य ने कहा भी है–

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः।।

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त का निरोध और शुद्धोपयोग ये सब एक अर्थ को कहने वाले शब्द हैं अर्थात् इन सबका एक ही अर्थ होता है जो कि निर्विकल्पध्यान में महामुनियों के शुक्लध्यान रूप से विवक्षित है।

जो मुनि उपर्युक्त प्रकार से धर्म, संयम आदि से सहित हैं अथवा आज के युग में जो मुनि अपने अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं, नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारी हैं, ऐसे मुनियों की जो निंदा करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंगी, मिथ्यात्वी कहते हैं। उनकी पूजा करने का, उन्हें आहार देने का विरोध करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, रत्नत्रय से शून्य हैं और दूसरों को भी रत्नत्रय से वंचित करने वाले हैं जो स्वयं अव्रती होकर भी अपने को सद्गुरु कहलाते हैं, अपने पैर पुजवाते हैं और दिगम्बर मुनियों की आलोचना करते हैं वे रत्नत्रय से रहित हैं और उनके अनुयायी भी रत्नत्रय तो क्या सम्यग्दर्शन से भी शून्य ही हैं ऐसा समझना।

जिस प्रकार मूल जड़ के नष्ट हो जाने से वृक्ष की शाखा आदि परिवार की वृद्धि नहीं होती है उसी प्रकार जो जिनदर्शन अर्थात् जिनेन्द्रदेव के मत से अथवा सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं रहित हैं वे मूल से ही रहित हैं वे सिद्ध नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार मूल अर्थात् जड़ के होने से वृक्ष के स्कंध, शाखा आदि परिवार का बहुत रूप से विस्तार फैलता चला जाता है उसी प्रकार से अर्हंत भगवान का मत अथवा सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का मूल कहा गया है।

जिस प्रकार मूल से ही वृक्ष का तना वृद्धि को प्राप्त होता है और मूल से ही वृक्ष की शाखाओं और उपशाखाओं का समूह पत्ते पुष्प आदि से युक्त होता है उसी प्रकार जिनदर्शन ही रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को फलित करने वाला है।

जो स्वयं तो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट– रहित हैं और सम्यग्दृष्टियों को– सम्यक्त्व सहित मुनियों को नमस्कार नहीं करते हैं वे अव्यक्तभाषी अथवा गूंगे होते हैं तथा उनके लिए रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है।'

सम्यग्दर्शन के निसर्गज, अधिगमज की अपेक्षा दो भेद हैं। औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा तीन भेद हैं। आज्ञा समुद्भव, मार्गसमुद्भव, सूत्र समुद्भव, बीज-समुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तार समुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ़ और परमावगाढ़ इनकी अपेक्षा दश भेद हैं।

इन सम्यक्त्वों से जो भ्रष्ट हैं– रहित हैं, मयूरपिच्छिका, कमण्डलु और जिनशास्त्र इन संयम शौच और ज्ञान के उपकरणों से रहित हैं, गृहस्थ वेष के धारी हैं अर्थात् स्वंय अव्रती हैं और संयमी सम्यग्दृष्टि मुनियों के चरण युगलों में नहीं झुकते हैं उन्हें 'नमोस्तु' कहकर नमस्कार नहीं करते हैं, अभिमान से खड़े रहते हैं वे अस्पष्टभाषी गूंगे हो जाते हैं पुनः उन्हें लाखों जन्म में बोधि रत्नत्रय की प्राप्ति होना कठिन हो जाता है।

जो जानते हैं कि ये सम्यग्दर्शन से रहित हैं, जिनमुद्रा स्वरूप नग्नत्व, मयूर पिच्छिका, कमण्डलु और जैन शास्त्र के ग्रहण से रहित कुलिंगी हैं, गृहस्थ जैसे वस्त्र आदि वेष को धारण करने वाले हैं, साधु होने पर भी वीतराग निर्ग्रंथ मुद्रा से रहित हैं अतः नमस्कार के योग्य नहीं हैं ऐसा जान करके भी यदि लज्जा से, गर्व से या भय से 'यह राजमान्य है, नमस्कार न करने पर कुछ उपद्रव आदि कर देगा' इत्यादि भय से नमस्कार करते हैं। वे उनके उस पाप की अनुमोदना करने वाले हैं अतः उनके रत्नत्रय की प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है।

जो मुनि दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं, तीनों योगों पर संयम रखते हैं अर्थात् मन, वचन, काय की प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखते हैं, इंद्रियों के वशीभूत हो ज्ञान को मलिन नहीं करते और खड़े होकर भोजन करते हैं उन्हीं के सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थों की उपलब्धि अर्थात् जानकारी हो जाने से यह जीव कल्याण तथा अकल्याण को विशेषरूप से जानता है। हित और अहित को जानने वाला मनुष्य दुष्ट स्वभाव को उन्मूलित करता है तथा उत्तम शील, श्रेष्ठ स्वभाव से युक्त होता हुआ शील के फलस्वरूप सांसारिक सुख को प्राप्त होता है और उसके बाद मोक्ष प्राप्त करता है।

जिसने श्रेय – सम्यक्त्व और अश्रेय – मिथ्यात्व को समझ लिया है वह दुःशील – दुष्ट स्वभाव विषय कषाय आदि रूप परिणति को उखाड़कर दूर कर देता है, शील से – आत्मपरिणति से युक्त मनुष्य शील के फलस्वरूप पहले तो अभ्युदय – देव तथा चक्रवर्ती आदि के सांसारिक सुख को प्राप्त होता है और उसके बाद निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

पुनरपि श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं –

'जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।

ये जिनेन्द्रदेव के वचन महौषधि हैं, विषय सुखों का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतरूप हैं, जरा और मरणरूप व्याधि को हरण करने वाले हैं तथा सर्वदुःखों का क्षय करने वाले हैं।

श्री कुंदकुंददेव ने वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी को औषधि की उपमा दी है। जैसे उत्तम औषधि शरीर के भीतर रुके हुए मल का विरेचन कर व्याधि को दूर करती है, मनुष्य के अकालमरण को दूर कर उसके नाना प्रकार के रोगों का क्षय कर देती है तथा मनुष्य को स्वस्थता प्रदान कर तरुण के समान स्फूर्तिमान बना देती है। उसी प्रकार जिनवाणी रूपी औषधि मनुष्य की आत्मा में विद्यमान पंचेन्द्रियों के विषय सुखों से अरुचि कराकर उनका त्याग करा देने से विषय सुखों का विरेचन कराने वाली है।

अमृतरूप है, बुढ़ापा और मरणरूपी जो महारोग हैं उनको भी नष्ट करने वाली है तथा शारीरिक, मानसिक और आगंतुक समस्त दुखों का क्षय करने वाली है।

जो भव्यजीव जिनेन्द्र भगवान के वचनों को पढ़कर या सुनकर हृदय में अवधारण करते हैं, पुनः उन वचनों के अनुसार अणुव्रत, महाव्रत आदि चारित्र को धारण कर लेते हैं वे संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर विषय सुखों को सर्वथा छोड़ देते हैं पुनः चारित्र और तपश्चरण के बल से स्वर्ग सुखों को भोगकर परम्परा से जन्म मरण को नाश कर मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेते हैं। आज तक जितने भी जीव सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं, होते हैं और आगे होंगे, वह सब जिनवचन रूपी औषधि का ही प्रभाव है, बिना जिनवचन के न किसी की सिद्धि हुई है और न होगी ही ऐसा विश्वास करके हमेशा जिनवचन का स्वाध्याय करते रहना चाहिए। जैनाचार्यों का कहना है कि यह स्वाध्याय अभ्यंतर तप के अंतर्गत होने से 'स्वाध्यायः परमं तपः' परम श्रेष्ठ तप है। इस काल में केवली भगवान अर्हंतदेव के दर्शन नहीं हो सकते हैं किन्तु उनकी वाणी का दर्शन, पठन, श्रवण हो सकने से भव्यजीव अपने को पुण्यशाली ही समझते हैं क्योंकि ये जिनवचन भी बड़े सौभाग्य से ही जीवों को उपलब्ध होते हैं। इस जिनवाणी को प्राप्त करके उस पर श्रद्धान करना अपना परम कर्तव्य हो जाता है। वर्तमान के उपलब्ध षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ उनकी धवला आदि टीका में, महाशास्त्र तत्वार्थसूत्र उनकी सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि टीकाएं और समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि अध्यात्मग्रंथ तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार, दर्शन पाहुड़, चारित्रपाहुड़ आदि सभी ग्रंथों को भगवान जिनेन्द्रदेव की वाणी का ही अंश मानकर उन पर दृढ़ श्रद्धान करके उनके अनुसार अपनी चर्या को समीचीन बनाना ही श्रावकों का परम कर्तव्य है।

एक जिनेन्द्र भगवान का नग्नरूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का रूप और तीसरा आर्यिकाओं का रूप इस प्रकार जिनशासन में तीन लिंग कहे गये हैं। चौथा लिंग जिनशासन में नहीं है।

सकल-विकल के भेद से चारित्र के दो भेद हैं। इनमें से मुनियों के सकल चारित्र होता है। उनका लिंग अर्थात् वेष नग्न दिगम्बर मुद्रा है। परिग्रहत्याग महाव्रत और आचेलक्य मूलगुण के धारक होने से उनके शरीर पर तिल, तुषमात्र भी परिग्रह नहीं रहता है। संयम का उपकरण पिच्छी, शौच का उपकरण कमंडलु और ज्ञान का उपकरण शास्त्र इनको वे अपने पास रखते हैं। पिच्छी कमंडलु तो वे प्रतिक्षण अपने पास में रखते ही हैं। विकलचारित्र के धारकों में जो उत्कृष्ट श्रावक हैं वे ग्यारह प्रतिमाधारी ऐलक या क्षुल्लक के वेष में रहते हैं। ग्यारह प्रतिमा धारकों के दार्शनिक, व्रतिक, सामायिक, प्रोषधोपवासी, सचित्तत्यागी, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरंभविरत, परिग्रहविरत,

अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये भेद होते हैं। इनमें से प्रारंभ के 6 प्रतिमाधारकों तक जघन्य श्रावक संज्ञा है, उसके बाद सप्तम, अष्टम और नवमीं प्रतिमाधारक मध्यम श्रावक हैं। इसके ऊपर दशमी प्रतिमाधारी और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक, क्षुल्लक या ऐलक के वेष में रहते हैं। ऐलक कौपीन पिच्छी और कमंडलु रखते हैं तथा क्षुल्लक एक छोटी चादर भी रखते हैं। ये गुरु के पास निवास करते हैं। श्रावकों के यहाँ बिना बुलाये अतिथि के समान चर्यावृत्ति से जाकर भोजन करते हैं। दिन में एक बार ही भोजन करते हैं इस प्रकार से जिनागम में यह दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावक का बतलाया गया है।

आर्यिकाएं उपचार से सकल चारित्र की धारक कहलाती हैं। ये एक सफेद धोती पहनती हैं और पिच्छी-कमंडलु रखती हैं। इनकी सारी चर्या मुनि के समान रहती है। एक धोती पहनना और बैठकर करपात्र में आहार लेना, इतना मात्र ही अन्तर रहता है। इसलिए ग्यारह प्रतिमाओं से ऊपर मुनियों के मूलगुण ही इनके लिए माने गये हैं। इस प्रकार जिनागम में यह तीसरा लिंग है। यहाँ पर इन तीनों लिंगों में पूज्यता का क्रम विवक्षित नहीं है। सर्वोत्कृष्ट और सर्वपूज्य तो मुनि लिंग है ही है। उसके बाद पूज्यता में आर्यिका लिंग है क्योंकि आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रती कहा गया है और ऐलक को जबकि उनके पास लंगोटी मात्र परिग्रह है फिर भी अणुव्रती श्रावक कहा गया है। कारण यही है कि ऐलक उतने मात्र भी परिग्रह को छोड़ सकता है किन्तु आर्यिका 16 हाथ की साड़ी के परिग्रह को छोड़ने में असमर्थ है इसलिए आर्यिकाएं ऐलक के द्वारा वंद्य हैं। जबकि मुनि एक घंटे का भी यदि दीक्षित है और आर्यिका 50 वर्ष की भी दीक्षित हैं तो भी मुनि को वे नमस्कार करती हैं। अतः पूज्यता की दृष्टि से पहले मुनिलिंग है बाद में आर्यिका लिंग है। अनंतर उत्कृष्ट श्रावक का ऐलक क्षुल्लक लिंग है। कहा भी है–

कौपीनेपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेप्यार्यिकार्हति।।36।।

अहो! आश्चर्य है कि ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक लंगोटी में ममत्व सहित होने से उपचार से भी महाव्रत के योग्य नहीं है परन्तु आर्यिका एक साड़ी धारण करने पर भी ममत्वरहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य है अर्थात् ऐलक उपचार से भी महाव्रती नहीं है किन्तु आर्यिका उपचार से महाव्रती होने से ऐलक से वंद्य है।

उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक के सदृश क्षुल्लिका का वेष है जो कि तृतीय लिंग में ही है।

छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्व कहे गये हैं। उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए। जो तीनों कालों में अपने गुण

पर्यायों को प्राप्त करते थे, करते हैं और करेंगे, उन्हें द्रव्य कहते हैं। वे छह होते हैं– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ कहलाते हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशस्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय हैं, काल अस्तिकाय नहीं है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व माने गये हैं।

इन द्रव्यों में जीव सचेतन है बाकी पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अचेतन हैं। उपयोग यह जीव का लक्षण है। इस उपयोग के ज्ञान और दर्शन ऐसे दो भेद होते हैं। इनमें से ज्ञान के भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे पाँच भेद होते हैं। इनमें से भी प्रत्येक के असंख्यात भेद हो जाते हैं तथा मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्व के निमित्त से विपरीत–कुमति, कुश्रुत और कुअवधिरूप भी हो जाते हैं। आजकल प्रायः मनुष्यों में जितना भी ज्ञान का अधिक विस्तार देखा जाता है वह सब कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान के अंतर्गत ही है। हाँ, जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वही ज्ञान मति, श्रुत के रूप में परिणत हो जाता है। दर्शनोपयोग के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद होते हैं। ऐसे सभी उपयोग मिलाकर बारह भेदस्थ हो जाते हैं।

पुद्गल के अणु और स्कंध की अपेक्षा दो भेद हैं। स्कंधों में द्वयणुक से लेकर महास्कंध पर्यंत असंख्यातों भेद होते हैं। जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श पाया जाता है वह पुद्गल है। हम और आप को जो भी दिख रहा है वह सब पुद्गल ही है। यहाँ तक कि हमारे शरीर, आयु, श्वासोच्छ्वास आदि भी सब पुद्गल से ही बने हुए हैं।

जीव पुद्गल को गमन में सहकारी अमूर्तिक, असंख्यात प्रदेशी ऐसा धर्म द्रव्य है। ऐसे ही जीव पुद्गल को ठहरने में सहकारी अमूर्तिक, असंख्यात प्रदेशी अधर्मद्रव्य है। जीव, पुद्गल आदि सभी द्रव्यों का अवकाश दान देने में समर्थ आकाश द्रव्य है और सभी द्रव्यों में परिणमन करने में सहायक काल द्रव्य है।

ऐसे ही सात तत्त्वों में जीव चेतना लक्षण वाला है। अजीव अचेतन है। जीव के रागादि परिणामों को निमित्त करके पौद्गलिक कर्मों का आना आस्रव है।

जीव और कर्मों का परस्पर में एक क्षेत्रावगाह संबंध होना बंध है। कर्मों का आना रुक जाना संवर है, कर्मों का एकदेश निर्जीण होना निर्जरा है और सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाना मोक्ष है। इन सभी द्रव्य, पदार्थ, तत्व और अस्तिकायों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। नयों की विवक्षा से जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना व्यवहार नय से सम्यक्त्व है और निश्चयनय से आत्मा का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है अर्थात् जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है और अपनी आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व है।

दर्शन पाहुड़ की गाथा 20 में कहा है–

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स।।31।।

इस प्रकार से जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को हे भव्य जीवों! तुम भावपूर्वक धारण करो। यह सम्यग्दर्शनरूपीरत्न उत्तम क्षमा आदि गुणों तथा सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्नों में सर्वश्रेष्ठ रत्न है और मोक्षरूपी महल में चढ़ने के लिए पहली सीढ़ी है।

पुनरपि आचार्यदेव कहते हैं–

जं सक्कइ तं कीरइ जंच ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।।22।।

जो करना शक्य है उसे तो करना चाहिए और जो करना शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करने वाले के ही सम्यक्त्व कहा है।

अर्थात् जो ज्ञानाचार, चारित्राचार और तप आचार करने के लिए दुर्धर है, अपनी शक्ति से बाहर है अर्थात् शारीरिक संहनन की हीनता आदि से वर्तमान में करना कठिन प्रतीत हो रहा है उनका श्रद्धान ही करना चाहिए और जो चारित्र पालन करना शक्य है, अणुव्रत आदि रूप से जो पाला जा सकता है उसको अवश्य पालना चाहिए, शक्ति नहीं छिपाना चाहिए।

आजकल कुछ लोग चारित्र पालन करने में स्वयं प्रमादी होते हुए चारित्र को ढोंग या पाखंड अथवा यह व्यवहार चारित्र हेय है ऐसा कहकर उपेक्षा कर देते हैं और चारित्र के धारकों की निंदा, अवहेलना आदि करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंगी, पाखंडी, मिथ्यादृष्टि आदि कहते हैं। उनके प्रति ही भगवान कुंदकुंददेव का यह उपदेश है कि जितना शक्य हो उतना करो, जो कुछ शक्य न हो उस पर श्रद्धान करो यही सम्यक्त्व है क्योंकि मोक्षमार्ग में अपनी शक्ति को छिपाना भी आत्म वंचना है। इसीलिए प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि मोक्षमार्ग में अपने आत्म गुणों को वृद्धिंगत करने का ही सतत पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। प्रमाद को छोड़कर संसार के दुःख से छुड़ाने वाली देवपूजा, गुरुपास्ति आदि आवश्यक क्रियाओं को शक्ति से बाहर न समझकर यथायोग्य करते ही रहना चाहिए और चारित्रधारी संयमी या देशव्रती श्रावकों की निंदा न करके उनके गुणों में अनुरक्त होते हुए उनकी प्रशंसा करनी चाहिए यही गृहस्थ का कर्तव्य है।

प्रवचन–60

पंचमेरु की महिमा

यावन्ति जिनचैत्यानि, विद्यंते भुवनत्रये।
तावंति सततं भक्त्या, त्रिःपरीत्य नमाम्यहं।

महानुभावों!

असंख्यात द्वीप समुद्रों में सर्वप्रथम द्वीप है जम्बूद्वीप। इसके भी ठीक बीचोंबीच में सुमेरुपर्वत है। यह विश्व में ही नहीं अपितु तीनों लोकों में सबसे ऊँचा पर्वत है, इससे ऊँचा कोई पर्वत नहीं है। यह धरती से 99 हजार 40 योजन ऊँचा है और एक हजार योजन की इसकी नींव है। इसलिए यह एक लाख 40 योजन का माना जाता है। यह पर्वत अति सुन्दर है। पृथ्वीतल पर सर्वप्रथम भद्रशाल वन है, भद्रसाल वन के पास में इस मेरु का विस्तार 10 हजार योजन है और ऊपर बढ़ें तो 500 योजन पर जाकर नन्दनवन है। नन्दनवन के ऊपर सौमनस वन साढ़े 62 हजार योजन ऊपर है फिर 36 हजार योजन ऊपर पांडुकवन है और पांडुकवन के ऊपर ठीक बीचोंबीच 40 योजन ऊँची चूलिका है। यह पर्वत क्रमशः घटता गया है। शुरू-शुरू में इसमें सब जगह कुछ दूरी तक नहीं घटा है फिर आगे-आगे घटता गया है अणु-अणु से एक-एक सूत के समान, जैसा कि हस्तिनापुर में दिखाया गया है वैसा ही चिकना है। यह ऊबड़-खाबड़ पर्वत के आकार का नहीं है, सर्वत्र एकदम बहुत सुन्दर घटता गया है। नंदनवन की कटनी भी अंदर 500 योजन है। यह 500 योजन बड़ा योजन है।

जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र 526 योजन का है और भरतक्षेत्र में 6 खण्ड में आर्यखण्ड छठवें भाग में है किन्तु यह कटनी 500 योजन की है इसलिए यह समझ लो कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के बराबर तो यह कटनी बहुत बड़ी बहुत विस्तृत है। इसमें नीचे भद्रसाल वन में चार विशाल मंदिर 100 योजन (छोटे) लम्बे अर्थात् 800 मील अर्थात् 1200 किमी. लम्बे, 50 योजन चौड़े और 75 योजन ऊँचे हैं। यह मंदिर लघु योजन से हैं और आधे विस्तृत और ऊँचाई पौन है इतना ही विस्तार नन्दनवन के मंदिरों का है। ये मंदिर 4 भद्रसाल वन में, 4 नन्दनवन में, 4 सौमनसवन में और 4 पांडुकवन में हैं। सौमनस वन के मंदिर आधे प्रमाण वाले अर्थात् 50 योजन लम्बे और 25 योजन चौड़े हैं। पांडुकवन के मंदिर 25 योजन लम्बे और साढ़े 12 योजन चौड़े हैं। प्रत्येक मंदिर में 108 वेदियाँ हैं और एक-एक वेदी में एक-एक प्रतिमाएं हैं जो 500 धनुष अर्थात् 2000 हाथ ऊँची, पद्मासन, नासाग्र दृष्टि, सौम्य छवि, वीतराग प्रतिमाएं हैं जैसे कि आप यहाँ के मंदिर में प्रतिमाओं के दर्शन करते हैं ठीक वैसी ही प्रतिमाओं के दर्शन करके मन

प्रसन्न हो जाता है। कहा भी है–

वीतराग मुखं दृष्ट्वा, पद्मराग समप्रभं।
नैक जन्म कृतं पापं, दर्शनेन विनश्यति।।

वीतराग भगवान का अवलोकन करते ही यह श्लोक बोलें–

श्री मुखालोकनादेव, श्रीमुखालोकनं भवेत्।
आलोकन विहीनस्य, तत्सुखावाप्तयः कुतः।

ऐसी जिनेन्द्रदेव की महिमा है।

उन जिनेन्द्र प्रतिमाओं से समन्वित सुमेरु पर्वत का वर्ण 61 हजार योजन ऊंचाई तक पंचवर्णी है पुनः ऊपर पांडुकवन तक स्वर्णमयी एकदम सोने जैसा दिव्य है। चूलिका वैडूर्यमणी–नीलमणी की है ऐसा सुन्दर यह सुमेरुपर्वत है।

सुमेरुपर्वत के पश्चात् धातकीखण्ड में दक्षिण और उत्तर में एक-एक इष्वाकार पर्वत हैं अतः धातकीखण्ड के पूर्व धातकीखण्ड एवं पश्चिम धातकीखण्ड ऐसे दो भेद हो गये हैं पुनः पूर्व धातकीखण्ड में विदेहक्षेत्र के बीच में विजय मेरु है जो आपको शीघ्र ही यहाँ दिखेगा। यह 84 हजार योजन ऊँचा है, यह सुमेरु पर्वत से कम ऊँचा है। 500 योजन के ऊपर नन्दनवन, साढ़े 55 हजार योजन ऊपर सौमनस वन और 28 हजार योजन की ऊँचाई पर पांडुकवन है पुनः सुमेरु के समान 40 योजन ऊँची चूलिका है। शेष सारी व्यवस्था पूर्ववत् है। भद्रसाल आदि में 4-4 जिनमदिंर हैं मंदिर में 108-108 प्रतिमाएं हैं। पश्चिम धातकीखण्ड में भी अचलमेरु ठीक इसी समान है। पुष्करार्ध द्वीप में मंदर मेरु और पश्चिम पुष्करार्ध में विद्युन्माली मेरु है। ये चारों मेरु 84 हजार योजन ऊँचे हैं। नन्दनवन 500 योजन की ऊंचाई पर, सौमनसवन साढ़े 55 हजार योजन की ऊँचाई पर, पांडुकवन 28 हजार येाजन की ऊँचाई पर है और 40 योजन की चूलिका है। पाँचों मेरु में चार-चार वन पहले भद्रसाल फिर पहली कटनी पर नन्दनवन, दूसरी पर सौमनसवन और फिर पांडुकवन। ये वन नाम से कहलाते हैं परन्तु बहुत सुन्दर उद्यान, तमाम सुन्दर-सुन्दर बगीचे, बावड़ियाँ, छोटे-छोटे कूट, भवन आदि संख्यातों बने हैं, बहुत ही विस्तृत रचना है जिसका तिलोयपण्णत्ति आदि में बहुत सुन्दर वर्णन है। इन पाँचों मेरुओं में 16-16 मंदिर हैं ऐसे 5 मेरु के 80 अकृत्रिम जिनमंदिर हो गये और प्रत्येक मंदिर में 108-108 जिनप्रतिमाएं हैं। मन से पाँचों मेरुओं की वंदना से महान पुण्य का संचय होता है। महासती सीता के समय सिद्धार्थ क्षुल्लक प्रतिदिन तीनों समय पूर्वाण्ह, मध्यान्ह और अपरान्ह में आकाशगामी विद्या के बल से पाँचों मेरुओं की वंदना करके आते थे।

पांचों मेरु पर पांडुकवन में ईशान दिशा में पांडुक शिला, आग्नेय दिशा में पांडुकम्बला, नैऋत्य दिशा में रक्ता शिला और वायव्य दिशा में रक्तकम्बला शिला हैं।

ये प्रत्येक मेरु के पांडुकवन में हैं। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में जन्में तीर्थंकरों का अभिषेक पाण्डुकशिला पर होता है, पश्चिम विदेह में जन्में तीर्थंकरों का पाण्डुकम्बला पर अभिषेक, ऐरावत क्षेत्र में जन्में तीर्थंकरों का रक्ता शिला पर अभिषेक और पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का रक्तकम्बला शिला पर जन्माभिषेक होता है यह व्यवस्था अनादिकालीन है। यदि एक साथ तीर्थंकरों का अभिषेक हो, एक साथ तीर्थंकर जन्म लें तो बीस तीर्थंकर एक साथ जन्म लेंगे और उनका अभिषेक एक साथ सौधर्म इन्द्र कर सकता है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र, देव व इन्द्राणी अपने मूल शरीर से कहीं नहीं जाते हैं, उनका मूल शरीर वहीं स्वर्ग में रहता है तथा उत्तर शरीर अर्थात् विक्रिया से दूसरा शरीर बनाकर वे कहीं भी जाते हैं और दूसरा शरीर चाहे जहाँ भ्रमण करे मूल शरीर से उसके प्रदेशों का संपर्क जुड़ा रहता है, तांता लगा रहता है, टूटता नहीं है और मूल शरीर वाले को भी आनंद आता है। ऐसे एक साथ यदि तीर्थंकरों का जन्माभिषेक मनाया जाये तो 20 तीर्थंकरों का जन्माभिषेक एक साथ मनाया जा सकता है।

इन पाण्डुकशिला आदि पर जन्माभिषेक प्राप्त तीर्थंकरों का दर्शन, वंदन, महानपुण्य को प्रदान करने वाला और सम्पूर्ण पापों का संहारक है। उनका वंदन, दर्शन, ध्यान कर आप अपने पंच परावर्तन को समाप्त करने में समर्थ हों, यही शुभाशीर्वाद है।

तीर्थंकर भगवान दान पूजा का उपदेश देते हैं

तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्यफलो।
वयणं च दाणपूजारंमयरं तं ण लेवेइ।।54।।

तीर्थंकर का विहार संसार के लिए सुखकर है परन्तु उससे तीर्थंकर को पुण्यरूप फल प्राप्त होता है ऐसा नहीं है तथा दान और पूजा आदि आरंभ के करने वाले वचन उन्हें कर्मबंध से लिप्त नहीं करते हैं। अर्थात् वे दान पूजा आदि आरंभों का जो उपदेश देते हैं उससे भी उन्हें कर्मबंध नहीं होता है।

श्रावकों को दान-पूजा आदि पुण्य कार्य करते ही रहना चाहिए।

पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियाइ जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदारं उग्घादेंतो कउ सदोसो।।57।।

जीवों में पापास्रव के द्वार अनादिकाल से खुले हुए हैं। उनके रहते हुए जो जीव शुभास्रव के द्वार को खोलता है अर्थात् शुभ-पुण्य आस्रव के कारणभूत कार्यों को करता है वह सदोष कैसे हो सकता है?

–जयधवला, पुस्तक 1, पृ. 105-106

दूसरा है धातकीखण्ड द्वीप, तीसरा-पुष्करवरद्वीप, चौथा-वारुणीवर द्वीप है, पाँचवा द्वीप है-क्षीरवर द्वीप, इस द्वीप को घेरे हुए क्षीरवर नाम से समुद्र है जिसका जल क्षीर अर्थात् दूध के समान है, प्रत्येक तीर्थंकर भगवान के जन्म के समय इसी समुद्र का जल लाकर इन्द्र एवं देवगण भगवान का जन्माभिषेक करते हैं। वहाँ मनुष्य नहीं जा सकते हैं, कोई भी कितने भी शक्तिशाली ऋद्धिसम्पन्न मनुष्य या विद्याधर क्यों न हों वहाँ नहीं पहुँच सकते हैं। छठा द्वीप है-घृतवर द्वीप, सातवाँ द्वीप है-क्षौद्रवर द्वीप, आठवाँ द्वीप है-नंदीश्वर द्वीप, इस आठवें द्वीप में अकृत्रिम चैत्यालय हैं जिनकी हम और आप आष्टान्हिक पर्व में पूजन, जाप्यादि करते हैं। नवमां द्वीप है-अरुणवर द्वीप, दशवाँ है-अरुणाभास द्वीप, ग्यारहवाँ-कुण्डलवर द्वीप, बारहवाँ-शंखवर द्वीप तथा तेरहवाँ-रुचकवर द्वीप है। इन सभी द्वीपों के बाद जो-जो समुद्र हैं उसमें प्रथम लवण समुद्र एवं दूसरे कालोदधि समुद्र को छोड़कर शेष सभी द्वीप के ही नाम वाले हैं जैसे पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर समुद्र आदि।

चूँकि पुष्करद्वीप के मानुषोत्तर पर्वत से दो भाग हो गये– इसीलिए मानुषोत्तर पर्वत से पहले का भाग पुष्करार्ध द्वीप कहलाता है, यह आधा द्वीप माना जाता है। पुनः इस पुष्करार्ध द्वीप के उत्तर-दक्षिण में दो इष्वाकार पर्वत होने से पुष्करार्ध द्वीप के दो भेद हो गये-पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध। यहाँ तक ही मनुष्यों का अस्तित्व है इसके आगे नहीं। द्वीपों में भी वैसे तो असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं परन्तु जम्बूद्वीप से लेकर तेरहवें रुचकवर द्वीप तक ही अकृत्रिम, अनादिनिधन अकृत्रिम जिनमंदिर हैं, उसके आगे नहीं हैं। इन सब मंदिरों की संख्या 458 है।

अब जानना है कि तेरहद्वीप रचना में वे अकृत्रिम जिनमंदिर कहाँ-कहाँ हैं? मध्यलोक के 458 जिनमंदिरों की पूजा की जाती है? ये अकृत्रिम, शाश्वत, अनादिनिधन जिनमंदिर हैं इसमें जम्बूद्वीप में 78 जिनमंदिर हैं, धातकीखण्ड में इनके दूने 156, पुनः 4 इष्वाकार एवं 4 मानुषोत्तर के मिलाकर 78+156+ 156+4+4=398। पुष्करार्ध द्वीप में 156, ऐसे 398 जिनमंदिर हुए, चौथे, पाँचवे, छठें, सातवें द्वीप में जिनमंदिर नहीं हैं यद्यपि इसमें देवों के भवन हैं और उन देवभवनों में जिनमंदिर हैं, परन्तु उनकी गणना यहाँ नहीं ली गई है। आठवें नंदीश्वर द्वीप में 52 जिनमंदिर हैं, नवमें, दशमें एवं बारहवें द्वीप में भी अकृत्रिम जिनमंदिर नहीं हैं, ग्यारहवें एवं तेरहवें द्वीप में 4-4 जिनमंदिर हैं। इस प्रकार कुल 458 जिनमंदिर हैं। उन्हीं तेरहद्वीपों को यहाँ जम्बूद्वीप स्थल के परिसर में एक बड़े हॉल के अंदर (तेरहद्वीप जिनालय) में दर्शाया गया है, यह रचना अद्वितीय और बहुत सुन्दर बन रही है, उसमें जो विशेष जिनमंदिर हैं वही यहाँ दिखाए जा रहे हैं। इसमें ढ़ाई द्वीपों में पाँच मेरू हैं– सुदर्शन मेरु, विजयमेरु, अचल मेरु, मंदर मेरु और विद्युन्माली मेरु।

प्रवचन–61

तेरहद्वीप रचना की महिमा

श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्वषे।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते।।

महानुभावों! आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने द्रव्य संग्रह में जीवद्रव्य के नौ अधिकारों का वर्णन करते हुए कहा है कि जीव संसारी है–

पुढविजलतेउवाऊ, वणफ्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा, तसजीवाहोंतिसंखादी।।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय जीव होते हैं। यहाँ स्थावर जीव का अर्थ स्थिर होना नहीं है। इन एकेन्द्रिय जीवों के केवल एक इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण हैं जिनसे ये जीते हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये त्रस जीव हैं इसमें दो इन्द्रिय में शंख आदि, तीन इन्द्रिय में चींटी आदि, चार इन्द्रिय में भौंरा, मक्खी आदि तथा पाँच इन्द्रिय में मनुष्य आदि आते हैं।

जैन भूगोल के अनुसार हमें यह जानना है कि ये जीव रहते कहाँ हैं, इनके स्थान कहाँ हैं? तो तीन लोक में अधोलोक में तो एकेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीव हैं, ऊर्ध्वलोक में एकेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीव हैं और मध्यलोक में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीव पाए जाते हैं। इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं जिसमें सबसे पहला द्वीप जम्बूद्वीप है जिसकी प्रतिकृति हस्तिनापुर में बनी है और इसी के साथ ही यहाँ तेरहद्वीप की रचना भी बन रही है। ये तेरहद्वीप क्या हैं? कहाँ हैं? मैं आपको संक्षेप में बताऊँ-मध्यलोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों में प्रथम द्वीप जम्बूद्वीप है, उसको घेरकर लवण समुद्र है, इसमें जम्बूद्वीप 1 लाख योजन प्रमाण है तथा लवण समुद्र उससे दूना अर्थात् 2 लाख योजन प्रमाण है। लवण समुद्र को घेरकर चार लाख योजन विस्तृत धातकीखण्ड द्वीप है इसे घेरकर आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। इसको घेरकर सोलह लाख योजन विस्तृत पुष्करवर द्वीप है और इसके बाद 32 लाख योजन वाला पुष्करवर समुद्र है। पुष्करद्वीप के ठीक बीच में चूड़ी के समान आकार वाला एक मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत तक ही मनुष्य लोक की सीमा है। इसके आगे भी इसी प्रकार क्रम से एक द्वीप और एक समुद्र करके असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं जिनका विस्तार क्रम से दूना-दूना होता चला गया है।

सर्वप्रथम हमें इन तेरह द्वीपों के नाम जानना है। सबसे पहला द्वीप है-जम्बूद्वीप,

ये पाँचों मेरु ढ़ाई द्वीप के अन्दर ही हैं बाहर नहीं। जम्बूद्वीप में षट् कुलाचल पर्वत हैं हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी, इन षट् कुलाचलों पर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छः देवियाँ निवास करती हैं। इन जम्बूद्वीप के सरोवरों पर रहने वाली ये छहों देवियाँ सम्यग्दृष्टि होती हैं और भगवान के गर्भावतरण कल्याणक में तीर्थंकर माता की सेवा करने के लिए यह मध्यलोक में आती हैं। एक बात यहाँ विशेष ध्यान रखनी है कि जम्बूद्वीप में जन्में तीर्थंकरों का जन्माभिषेक सुमेरु पर्वत की पांडुक आदि शिलाओं पर होता है और यहीं के षट्कुलाचल की देवियाँ माता की सेवा करती हैं। धातकीखण्ड के दो भाग-पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड हैं। इसमें पूर्व धातकीखण्ड में विजयमेरु है जिसके ऊपर वहाँ जन्में तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है। इस पूर्व धातकीखण्ड द्वीप में भी जम्बूद्वीप जैसी ही व्यवस्था है, षट्कुलाचल आदि हैं, वहाँ की श्री, ह्री आदि देवियाँ वहाँ जन्मे तीर्थंकरों की माता की सेवा के लिए जाती हैं। अचल मेरु पश्चिम धातकीखण्ड में है, वहाँ जन्म लेने वाले तीर्थंकरों का जन्माभिषेक अचलमेरु की पाण्डुक आदि शिलाओं पर होता है और वहाँ की देवियाँ माता की सेवा हेतु जाती हैं, ठीक इसी प्रकार पूर्व पुष्करार्ध में मंदरमेरु और पश्चिम पुष्करार्ध में विद्युन्माली मेरु हैं वहाँ-वहाँ जन्में तीर्थंकरों का अभिषेक वहाँ-वहाँ के मेरु पर्वतों की पाण्डुक आदि शिलाओं पर होता है।

इन षट्कुलाचलों पर जो श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी देवियाँ कमलों में निवास करती हैं। ये कमल पृथ्वीकायिक हैं, अकृत्रिम हैं। प्रत्येक देवियों के कमल में महल और महल में जिनमंदिर हैं। श्री देवी के परिवार कमल की संख्या 1 लाख 40 हजार 115 हैं। इन सबमें जिनमंदिर हैं और उन जिनमंदिरों में जिनप्रतिमाएं हैं। इन सबका वर्णन सुनने मात्र से महान पुण्य का संचय होता है और वही पुण्य अकृत्रिम जिनमंदिरों के दर्शन में काम आयेगा इसीलिए इसे रुचिपूर्वक सुनकर, पढ़कर और हस्तिनापुर में पधारकर इस रचना के दर्शन करके अपनी आत्मा को समुन्नत बनावें यही मंगल आशीर्वाद है।

सात क्षेत्र में धन का सदुपयोग

चैत्ये चैत्यालये शास्त्रे चतुःसंघेषु सप्तसु।
सुक्षेत्रेषु व्ययः कार्यो नो चेल्लक्ष्मीर्निरर्थिका।।

अर्थ-जिन प्रतिमा के बनवाने में, जिनमंदिर के निर्माण कराने में, शास्त्रों के लिखवाने या जीर्णोद्धार कराने में तथा मुनि, आर्यिका और श्रावक-श्राविका इन चतुर्विध संघ में दान देने में इन सात स्थानों में श्रावकगण अपनी लक्ष्मी का व्यय करें। वरना उनकी लक्ष्मी व्यर्थ है, निरर्थक है।

प्रवचन–62

''विद्यमान बीस तीर्थंकर कहाँ-कहाँ?''

(गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से एक शास्त्रीय वार्ता)

चन्दनामती माताजी– पूज्य माताजी! वन्दामि, मैं आपसे बीस विद्यमान तीर्थंकरों के बारे में कुछ प्रश्न पूछना चाहती हूँ। जनसामान्य के ज्ञान हेतु उत्तर देने की कृपा करें।

श्री ज्ञानमती माताजी– विषय तो बहुत अच्छा है, पूछो।

चन्दनामती– मंदिरों में प्रायः प्रतिदिन पूजा करने वाले स्त्री-पुरुष बीस तीर्थंकरों की पूजा करते अथवा अर्घ्य चढ़ाते देखे जाते हैं। ये तीर्थंकर आज इस पृथ्वीतल पर तो दिखते नहीं हैं फिर भी इनके साथ ''विद्यमान'' शब्द क्यों लगा रहता है?

श्री ज्ञानमती माताजी– इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में इस समय पंचमकाल चल रहा है अतः वर्तमान में यहाँ कोई तीर्थंकर नहीं हैं किन्तु विदेहक्षेत्रों में सदैव चतुर्थकाल ही रहता है, वहाँ तीर्थंकर हमेशा विद्यमान रहते हैं इसीलिए विद्यमान बीस तीर्थंकरों की पूजा की जाती है। आज भी विदेहक्षेत्र में तीर्थंकर हो रहे हैं।

चन्दनामती– उन तीर्थंकरों की संख्या बीस ही निश्चित क्यों है? या तो भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों के समान 24 होनी चाहिए अथवा 32 विदेह क्षेत्रों के हिसाब से 32 होनी चाहिए?

श्री ज्ञानमती माताजी– भरतक्षेत्र और विदेहक्षेत्र की सभी व्यवस्थाओं में समानता नहीं है। भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता है अतः वहाँ मात्र चतुर्थकाल में हमेशा 24 तीर्थंकर होते हैं। वहाँ की यह संख्या निश्चित है इसलिए भूतकाल में वहाँ अनन्त चौबीसी तो हो चुकी हैं आगे भी अनन्तों चौबीसी होती रहेंगी। विदेह क्षेत्र में ऐसा कोई क्रम नहीं है। वहाँ की व्यवस्था मैं बतलाती हूँ कि बीस तीर्थंकर कहाँ-कहाँ रहते हैं–

ढाई द्वीप के पाँच मेरु संबंधी पाँच महाविदेहों में ये बीस तीर्थंकर सतत विहार करते रहते हैं अतः इन्हें ''विहरमाण बीस तीर्थंकर'' भी कहते हैं।

चन्दनामती– तो क्या इन तीर्थंकरों की आयु कभी समाप्त ही नहीं होती है अथवा उन्हीं के स्थान पर उसी नाम वाले दूसरे तीर्थंकर हुआ करते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– आयु तो सभी जीवों की एक न एक दिन समाप्त होती ही है विदेह क्षेत्र में उत्कृष्ट आयु एक कोटि वर्ष पूर्व की है। अतः वे तीर्थंकर भी अपनी आयु पूरी करके जब मोक्ष चले जाते हैं तब वहीं विदेह क्षेत्र में दूसरे तीर्थंकर का जन्म होता है। हाँ, नाम वे ही होने से यही अनुमान लगता है कि इन तीर्थंकरों के जो नाम निश्चित

हैं वे ही हमेशा रहते हैं इस विषय में कोई विशेष खुलासा नहीं मिलता है।

चन्दनामती–आपने बताया कि पाँच महाविदेहों में ये बीसों तीर्थंकर होते हैं, सो इनका क्रम किस प्रकार है?

श्री ज्ञानमती माताजी–प्रत्येक विदेह क्षेत्रों में भी भरतक्षेत्र के समान 6-6 खण्ड होते हैं। उनमें भी आर्यखण्डों में ही तीर्थंकरों का जन्म होता है। सर्वप्रथम जम्बूद्वीप में ही सुमेरुपर्वत के पूर्व पश्चिम में सीता-सीतोदा नदी के द्वारा विदेह क्षेत्र के 4 भेद हो जाते हैं। उनमें से पूर्व विदेह में सीता नदी के उत्तर तट पर ''पुंडरीकिणी'' नगरी में ''सीमन्धर'' नाम के तीर्थंकर हैं एवं दक्षिण तट पर विजया नगरी में 'युगमन्धर' तीर्थंकर हैं। इसी प्रकार पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के उत्तर तट की अयोध्या नगरी में 'बाहु' जिनेन्द्र हैं तथा दक्षिण तट पर स्थित सुसीमा नाम की नगरी में 'सुबाहु' तीर्थंकर का समवसरण है।

ये जम्बूद्वीप संबंधी 4 तीर्थंकर हुए, इसी प्रकार पूर्वधातकी खण्ड के विजय मेरु संबंधी चार तीर्थंकर हैं जिनकी नगरी और तीर्थंकर के नाम इस प्रकार हैं–

विजय मेरु के पूर्व में सीता नदी के उत्तर तट पर ''अलकापुरी'' नगरी में 'संजातक' तीर्थंकर हैं, दक्षिण तट पर विजया नगरी में ''स्वयंप्रभ'' तीर्थंकर हैं। विजयमेरु के पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर सुसीमा नगरी में ''ऋषभानन'' तीर्थंकर तथा उत्तर तट पर 'अयोध्या' नगरी में 'अनन्तवीर्य' तीर्थंकर विराजमान हैं।

पश्चिमधातकी खण्डद्वीप के अचलमेरु संबंधी चार तीर्थंकरों के नगर और तीर्थंकर के नाम निम्न प्रकार हैं–

सीता नदी के उत्तर तट पर विजयानगरी में 'सूरिप्रभ' तीर्थंकर एवं दक्षिण तट की ''पुंडरीकिणी'' नगरी में 'विशालकीर्ति' जिनेन्द्र का समवसरण है।

सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर 'सुसीमा' नगरी में ''श्रीवज्रधर'' तीर्थंकर तथा उत्तरतट की 'पुंडरीकिणी' नगरी में ''चन्द्रानन'' भगवान विराजमान हैं।

इसी प्रकार आगे पूर्व पुष्करार्ध द्वीप में मन्दरमेरु संबंधी 4 तीर्थंकर हैं–

सीता नदी के उत्तर तट की विनीता नगरी में 'चन्द्रबाहु' तीर्थंकर एवं दक्षिणतट की विजया नगरी में ''भुजंगम'' तीर्थंकर का सतत विहार हो रहा है।

सीतोदा नदी के दक्षिण तट की ''सुसीमा'' नगरी में ''ईश्वर'' जिनेन्द्र तथा उत्तर तट पर 'अयोध्या' नगरी में ''नेमीप्रभु'' तीर्थंकर हैं।

पश्चिम पुष्करार्धद्वीप में विद्युन्माली मेरु संबंधी 4 तीर्थंकर हैं–

पश्चिम पुष्कर के पूर्व विदेह में सीता नदी के उत्तर तट पर ''पुण्डरीकिणी'' नगरी में 'वीरसेन'' तथा दक्षिण तट पर ''विजया'' नगरी में ''महाभद्र'' तीर्थंकर हैं।

पश्चिम पुष्कर के पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर ''सुसीमा नगरी''

में ''देवयश'' तीर्थंकर तथा उत्तर तट पर ''अयोध्या'' नामक नगरी में ''अजितवीर्य'' तीर्थंकर समवसरण सहित विराजमान हैं।

इस प्रकार पाँच मेरु संबंधी इन बीस तीर्थंकरों का क्रम मैंने बतलाया है। कम से कम इतने तीर्थंकर तो विदेहक्षेत्रों में सतत रहते ही हैं तथा अधिक से अधिक यदि एक साथ होवें तो 32 विदेहों की प्रत्येक नगरियों में 1-1 तीर्थंकर हो सकते हैं तब पाँचों मेरु संबंधी 32-32 विदेहों में 32×5=160 तीर्थंकर एक साथ विदेहक्षेत्रों में रह सकते हैं।

चन्दनामती–जैसे हमारे भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों की पहचान के लिए चिन्ह होते हैं क्या वहाँ के तीर्थंकरों के भी उसी प्रकार चिन्ह होते हैं अथवा नहीं?

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, चिन्ह तो वहाँ भी होते हैं। बिना चिन्ह के तीर्थंकर की पहचान कैसे हो सकती है। मैंने उन तीर्थंकरों की जन्म नगरियों के नाम तो बताए ही हैं अब उनके चिन्ह और माता-पिता के नाम और बताती हूँ–

तीर्थंकर नाम	चिन्ह	माता का नाम	पिता का नाम
1. सीमंधर	बैल	सत्यवती	श्रेयांस
2. युगमंधर	हाथी	सुतारा	दृढ़रथ
3. श्रीबाहु	हिरण	विजया	सुग्रीव
4. सुबाहु	बन्दर	सुनन्दा	दृढ़रथ
5. संजातक	सूर्य	देवसेना	देवसेन
6. स्वयंप्रभ	चन्द्रमा	सुमंगला	मित्रभूति
7. ऋषभानन	सिंह	वीरसेना	नृपकीर्ति
8. अनन्तवीर्य	हाथी	सुमंगला	मेघरथ
9. सूरिप्रभ	सूर्य	भद्रा	नागराज
10. विशालकीर्ति	चन्द्रमा	विजया	विजय
11. वज्रधर	शंख	सरस्वती	पद्मरथ
12. चन्द्रानन	बैल	पद्मावती	बालचंद्र
13. चन्द्रबाहु	कमल	रेणुका	देवनन्दि
14. भुजंगम	चन्द्रमा	जिनमती	महाबल
15. ईश्वर	सूर्य	ज्वाला	गलसेन
16. नेमीप्रभ	बैल	वीरसेना	वीरसेन
17. वीरसेन	ऐरावत हाथी	भानुमती	भूपाल
18. महाभद्र	चन्द्रमा	उमा	देवराज
19. देवयश	स्वस्तिक	गंगा देवी	श्रीभूति
20. अजितवीर्य	कमल	कनकमाला	सुबोध

चन्दनामती–पूज्य माताजी! आज विहरमाण बीस तीर्थंकरों के विषय में आपसे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हुआ है। हमारे पाठकों को भी इस चर्चा से ज्ञान प्राप्त होगा क्योंकि आज बहुत से लोगों को मैंने यह पूछते देखा है कि पूजा तो हम रोज विद्यमान बीस तीर्थंकरों की करते हैं किन्तु यह पता नहीं है कि ये होते कहाँ हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–पूजन का अभिप्राय आदि समझते हुए पूजा करने से पुण्य अधिक मिलता है तथा स्वाध्याय का लाभ भी प्राप्त होता है। मैं तो यही चाहती हूँ कि आगम के अनेक छोटे-बड़े विषयों का ज्ञान जनसामान्य को प्राप्त होता रहे। इसके लिए मुझे यदि परिश्रम भी करना पड़ता है तो मन को बड़ा संतोष मिलता है।

चन्दनामती–आपकी इस उदार भावना के लिए मैं किन शब्दों में आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करूँ, समझ में नहीं आता है। शायद आपके गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज ने इसीलिए आपका 'ज्ञानमती' नाम सार्थक ही रखा है। आपके श्रीचरणों में पुनः नमन करते हुए मैं इस विषय को यहीं सम्पन्न करती हूँ।

रत्नत्रय स्वरूप बोधि अत्यन्त दुर्लभ है

अनुष्टुपछंद-**स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिन्नष्टैश्च नाशितः।**
कश्चित्प्रच्यवते मार्गाच्चण्डपाषण्डशासनैः।।9।।
सुप्रापं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भावार्णवे।
हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे।।12।।

मालिनी- **सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-मुरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम्।**
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्, किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥13।।

अर्थ–कोई-कोई तो सम्यग्दर्शन से आप ही नष्ट हो जाते हैं, कोई अन्य मार्ग से च्युत हुए मनुष्यों के द्वारा नष्ट किए जाते हैं और कोई-कोई प्रचंड पाखंडियों के उपदेशे हुए मतों को देखकर स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं।

यह जो विधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप रत्नत्रय है, संसार रूपी समुद्र में प्राप्त होना सुगम नहीं है, किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है। इसको पाकर भी जो खो बैठते हैं, उनको हाथ में रखे हुए रत्न को बड़े समुद्र में डाल देने पर जैसे फिर मिलना कठिन है, उसी प्रकार सम्यग्रत्नत्रय का होना दुर्लभ है।

इस जगत् में समस्त द्रव्यों का समूह सुलभ है तथा धरणेन्द्र, नरेन्द्र, सुरेन्द्रों द्वारा प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपना भी सुलभ है, क्योंकि ये सब ही कर्मों के उदय से मिलते हैं तथा उत्तम कुल, सुभगता, सुन्दर स्त्री आदि समस्त पदार्थ सुलभ हैं किन्तु जगत्प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप बोधिरत्न अत्यन्त दुर्लभ है।

(ज्ञानार्णव-श्री शुभचन्द्राचार्य)

प्रवचन–63

''णमोकार मंत्र एवं चत्तारिमंगल''

(गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से एक सम-सामयिक वार्ता)

चन्दनामती–पूज्य माताजी! जिस णमोकार महामंत्र को सभी जैन लोग उच्चारण करते हैं उसके बारे में मैं आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी–पूछो, क्या पूछना है?

चन्दनामती–णमोकार मंत्र के प्रथम पद में कोई तो 'णमो अरिहंताणं'' पढ़ते हैं तथा कुछ लोगों को ''णमो अरहंताणं'' भी पढ़ते देखा है। इस विषय में आगम का क्या प्रमाण है?

श्री ज्ञानमती माताजी–आगम-सूत्र ग्रंथ धवला की प्रथम पुस्तक में इस विषय का अच्छा खुलासा है। उसी के आधार से मैं तुम्हें बताती हूँ।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

धवला के मूल मंगलाचरण में यही मंत्र आया है जिसमें ''अरिहंताणं'' पाठ ही लिया है। आगे टीकाकार श्री वीरसेनस्वामी ने और टिप्पणकार ने 'अरहंताणं' पद को भी शुद्ध माना है। इसी का स्पष्टीकरण-''अरिहननादरिहंता''।

1. केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्मगुणों के आविर्भाव को रोकने में समर्थ होने से मोह प्रधान अरि–शत्रु है और उस शत्रु के नाश करने से 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है।

2. ''रजो हननाद्वा अरिहन्ता'' अथवा रज अर्थात् आवरण-कर्मों के नाश करने से अरिहंत हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मधूलि की तरह बाह्य और अंतरंग स्वरूप समस्त त्रिकाल गोचर अनंत अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय स्वरूप वस्तुओं को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबंधक होने से रज कहलाते हैं, उनका नाश करने वाले अरिहंत हैं।

3. ''रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता'' अथवा रहस्य के अभाव से भी अरिहंत होते हैं। रहस्य अन्तराय कर्म को कहते हैं। अन्तराय कर्म का नाश शेष तीन घातिया कर्मों के नाश का अविनाभावी है और अन्तराय कर्म के नाश होने पर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीज के समान निःशक्त हो जाते हैं। ऐसे अन्तराय कर्म के नाश से अरिहंत होते हैं।

णमो अरहंताणं पद भी ठीक है। जैसा कि धवला ग्रंथ के अनुसार–

4. ''अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः'' अथवा सातिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन्त होते हैं। क्योंकि गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पाँचों कल्याणकों में देवों द्वारा की गई पूजाएं देव, असुर और मनुष्यों को प्राप्त पूजाओं से अधिक अर्थात् महान हैं, इसलिए इन अतिशयों के योग्य होने से अर्हन्त होते हैं। यहाँ अर्ह धातु पूजा अर्थ में है उससे 'अरहन्त' बना है।

इस प्रकार आगम के आधार से तो णमो अरिहंताणं और णमो अरहंताणं दोनों ही पद ठीक हैं इनके उच्चारण में कोई दोष नहीं है। फिर भी मूलपाठ अरिहंताणं है अतः हम लोग अरिहंताणं ही पढ़ते हैं।

चन्दनामती—इसका समाधान तो हो गया। एक दूसरा प्रश्न भी आज हम सबके सामने है कि जो चत्तारिमंगल का पाठ पढ़ा जाता है उसमें बहुत सारे लोग तो विभक्तियाँ लगाकर पढ़ते हैं। जैसे-अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, अरिहंता लोगुत्तमा या अरिहंते सरणं पव्वज्जामि इत्यादि।

आप तो बिना विभक्ति का पाठ पढ़ती हैं तथा हम लोगों को भी बिना विभक्ति वाला पाठ ही पढ़ने को कहती हैं, किन्तु इसमें आगम प्रमाण क्या है? कृपया बताने का कष्ट करें।

श्री ज्ञानमती माताजी—इस विषय में आगम प्रमाण जो मेरे देखने में आया वह क्रियाकलाप नामक ग्रंथ है। जिसे पण्डित श्री पन्नालाल जी सोनी ब्यावर वालों ने संपादित करके छपवाया था। उस क्रियाकलाप की उन्हें कई हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ भी उपलब्ध हुई थीं। उन प्रतियों के आधार पर पण्डित जी ने क्रियाकलाप ग्रंथ के पृ. 89 पर पाक्षिक प्रतिक्रमण का दंडक दिया है। जिसमें बिना विभक्ति वाला पाठ ही छपा है, जो कि बहुत प्राचीन माना जाता है। इसी क्रियाकलाप में सामायिक दण्डक की टीका में श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बिना विभक्ति का ही पाठ लिखा है। जैसे-अरिहंतमंगलं, सिद्धमंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं, चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंतलोगुत्तमा, सिद्धलोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा, चत्तारि शरणं पव्वज्जामि— अरिहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि ग्रंथ के टीकाकार को भी बिना विभक्ति वाला प्राचीन पाठ ही ठीक लगा था। इसी प्रकार ज्ञानार्णव, प्रतिष्ठातिलक, प्रतिष्ठासारोद्धार आदि ग्रंथों में भी बिना विभक्ति के ही पाठ देखे जाते हैं।

चन्दनामती—माताजी! पहले एक बार आपने मुझसे ब्रह्मचारिणी अवस्था में चत्तारिमंगल विषयक कुछ पत्राचार भी कराए थे। उसमें विद्वानों के क्या अभिमत आए थे?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, सन् 1983 में तुम्हारे द्वारा किए गए पत्राचार के उत्तर में भी विद्वानों के उत्तर आए थे जिन्हें मैंने 'मेरी स्मृतियाँ' में दिया भी है। पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने लिखा था कि "श्वेताम्बरों के यहाँ विभक्ति सहित पाठ प्रचलित है। उसमें व्याकरण की दृष्टि से कोई अशुद्धि नहीं है अत उसे दिगम्बर जैनियों ने भी अपना लिया है।

ब्र. सूरजमल जी प्रतिष्ठाचार्य एवं पं. शिखरचंद प्रतिष्ठाचार्य ने भी बिना विभक्ति वाले प्राचीन पाठ को ही मान्यता दी है।

स्व. पं. मोतीलाल जी कोठारी फल्टण वालों से एक बार दरियागंज- दिल्ली में मेरी चर्चा हुई थी, उन्होंने प्राचीन विभक्ति रहित पाठ को प्रामाणिक कहा था।

पं. सुमेरचंद दिवाकर-सिवनी वालों से भी दिल्ली में इस विषय पर वार्ता हुई थी तब उन्होंने भी प्राचीन पाठ को ही मान्यता दी थी।

चन्दनामती—यदि व्याकरण से विभक्ति सहित पाठ शुद्ध है तो उसे पढ़ने में क्या बाधा है?

श्री ज्ञानमती माताजी—बात यह है कि मंत्रशास्त्र का व्याकरण अलग ही होता है, आज उसको जानने वाले विद्वान् नहीं हैं। अतः मेरी मान्यता तो यही है कि प्राचीन पाठ में अपनी बुद्धि से परिवर्तन, परिवर्द्धन नहीं करना चाहिए।

सन् 1958 में ब्यावर चातुर्मास में मैंने पं. पन्नालाल जी सोनी से इस विषय में चर्चा की थी, तब उन्होंने कहा था कि—

हमारे यहाँ सरस्वती भवन में बहुत प्राचीन यंत्रों में भी बिना विभक्ति वाला प्राचीन पाठ ही है, हस्तलिखित प्रतियों में भी वही पाठ मिलता है। विभक्ति सहित चत्तारिमंगल का पाठ शास्त्रों में देखने को नहीं आया है अतः प्राचीन पाठ ही पढ़ना चाहिए। आजकल के विद्वानों द्वारा संशोधित पाठ नहीं अपनाना चाहिए।

उन्होंने भी इस बात पर जोर दिया था कि मंत्रों का व्याकरण अलग ही होता है, अभी हम लोगों को उसका ज्ञान नहीं है अतः मूलमंत्रों में अपने मन से विभक्तियाँ नहीं लगानी चाहिए।

एक पत्र सन् 1983 में क्षुल्लक श्री सिद्धसागर जी का मौजमाबाद से प्राप्त हुआ था। उससे मुझे बहुत संतोष हुआ था। उन्होंने लिखा था—

"अ आ इ उ ए तथा ओ को व्याकरण सूत्र के अनुसार समान भी माना जाता है। 'एदे छ च समाणा' इस प्राकृत सूत्र के अनुसार अरहंता मंगलं के स्थान पर अरहंत मंगलं, सिद्धा मंगलं के स्थान पर सिद्ध मंगलं तथा साहू मंगलं के स्थान में साहूमंगलं और केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं है। 'आ' तथा 'अ' को समान मानकर अरहंत के 'आ' के स्थान में 'अ' पाठ रखा गया है यह व्याकरण से शुद्ध है। इसी प्रकार 'अरहंत लोगुत्तमा' इत्यादि पाठ भी शुद्ध है। 'अरहंते सरणं पव्वज्जामि' के स्थान पर 'अरहंत सरणं पव्वज्जामि' पाठ शुद्ध है क्योंकि 'एदे छ च समाणा' इस व्याकरण सूत्र के अनुसार 'ए' तथा 'अ' को समान मानकर 'ए' के स्थान में 'अ' पाठ शुद्ध है।

इसलिए जो चत्तारिमंगल पाठ विभक्ति रहित है, प्राचीन काल से चला आ रहा है वह शुद्ध है। शास्त्रों और यंत्रों में भी विभक्ति रहित ही जो पाठ देखे जाते हैं, वे शुद्ध हैं और लाघवयुक्त हैं।

चन्दनामती—इससे निष्कर्ष क्या निकालें?

श्री ज्ञानमती माताजी—निष्कर्ष तो यही निकलता है कि प्राचीन पाठ ही पढ़ना चाहिए क्योंकि खोज करने से यही प्रतीत होता है कि समस्त पूर्वाचार्यों की प्राचीन पद्धति के अनुसार बिना विभक्ति वाला पाठ ही पढ़ते और लिखते आए हैं। अतः हम लोगों को इस विषय में अपनी बुद्धि न लगाकर प्राचीन पाठ का ही अनुसरण करना चाहिए।

चन्दनामती—आपके श्रीचरणों में बारम्बार वंदामि। णमोकार मंत्र और चत्तारिमंगल पर आपके द्वारा जो समुचित समाधान प्राप्त हुआ है, उससे समस्त जनमानस को अवश्य ही मार्गदर्शन प्राप्त होगा।

प्रवचन–64

सरस्वती की मूर्ति वंदनीय हैं या नहीं?

(गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से एक विशेष वार्ता)

चन्दनामती–पूज्य माताजी! वंदामि, आज मैं आपसे सरस्वती–जिनवाणी माता की पूजा, स्तुति से संबंधित कुछ प्रश्न करना चाहती हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी–पूछो, जो पूछना है।

चन्दनामती–कई जगह मंदिरों में सरस्वती देवी की प्रतिमा वेदी में विराजमान देखी जाती है। तो क्या सरस्वती की मूर्ति बनाने का आगम में विधान है?

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, प्रतिष्ठा ग्रंथों में तो श्रुतदेवी की प्रतिमा बनाने का कथन आया है। मैंने दक्षिण प्रान्त में भी कई मंदिरों में सरस्वती माता की प्रतिमा देखी हैं।

चन्दनामती–लेकिन सरस्वती तो जिनवाणी माता का ही दूसरा नाम है और जिनवाणी शास्त्र रूप ही देखी जाती है। उसे आंगोपांग से सहित देवी का रूप देना कहाँ तक उचित है?

श्री ज्ञानमती माताजी–जिनवाणी को द्वादशांगरूप भी तो माना है। जिन्हें सरस्वती पूजा की जयमाला में सभी लोग पढ़ते हैं। उन बारहों अंगादि से समन्वित श्रुतदेवी की स्थापना करने का विधान बताया है।

धवला में एक श्लोक आया है–

बारह अंगगिज्झा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया।
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं।।(षट्खण्डागम भाग 1, पृ. 6)

अर्थ–जो श्रुतज्ञान के प्रसिद्ध बारह अंगों से ग्रहण करने योग्य हैं अर्थात् बारह अंगों का समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्वप्रकार के मल (अतीचार) और तीन मूढ़ताओं से रहित सम्यग्दर्शनरूप उन्नत तिलक से विराजमान है और नाना प्रकार के निर्मल चारित्र ही जिसके आभूषण हैं ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो। इसी प्रकार जयधवला में भी कहा है-

अंगंगबज्झणिम्मी अणाइमज्झंतणिम्मलंगाए।
सुयदेवयअंबाए णमो सया चक्खुमइयाए।।4।। (जयधवला भाग 1, पृ. 3)

अर्थ–जिसका आदि, मध्य और अंत से रहित निर्मल शरीर, अंग और अंगबाह्य से निर्मित है और जो सदा चक्षुष्मती अर्थात् जाग्रत चक्षु हैं ऐसी श्रुतदेवी माता को नमस्कार हो।

चन्दनामती–क्या उस श्रुतदेवी को वस्त्र भी पहना सकते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, एक जगह सरस्वती स्तोत्र में भी श्वेत वस्त्र का कथन आया है।

चन्द्रार्ककोटिघटितोज्वलदिव्यमूर्ते, श्रीचन्द्रिकाकलितनिर्मलशुभ्रवासे।
कामार्थ दे च कलहंस समाधिरूढे, वागीश्वरि! प्रतिदिन मम रक्षदेवि।।1।।

इस श्लोक में "शुभ्रवासे" शब्द से यह स्पष्ट होता है कि सरस्वती की प्रतिमा श्वेतवस्त्र से युक्त होती है।

चन्दनामती–क्या वस्त्र सहित सरस्वती की मूर्ति को नमस्कार किया जा सकता है?

श्री ज्ञानमती माताजी–शास्त्र–जिनवाणी ग्रंथों के ऊपर भी कपड़े का वेस्टन लपेटा होता है। जैसे उस वस्त्र सहित ग्रंथ को नमस्कार करने में कोई दोष नहीं है वैसे ही वस्त्र युक्त श्रुतदेवी की प्रतिमा भी नमस्कार के योग्य है। वह श्रुतदेवी कोई भवनवासी या व्यंतरी देवी तो हैं नहीं। उनका श्वेत वस्त्र तो ज्ञान की उज्ज्वलता–निर्मलता का प्रतीक है। ज्ञान के विभिन्न विशेषणों को श्रुतदेवी के विभिन्न अंगों की उपमा दी गई है। इसीलिए उनकी प्रतिमा बनाने की प्राचीन परम्परा चली आ रही है। प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ में सरस्वती माताकी एक बड़ी सुन्दर स्तुति है जो यहाँ दी जा रही है। यह स्तुति मुझे प्रारंभ से ही अत्यन्त प्रिय है। इसे सभी ज्ञानेच्छु भव्य जीवों को कंठस्थ कर लेना चाहिए तथा सरस्वती प्रतिमा अथवा जिनवाणी के समक्ष प्रतिदिन पढ़ना चाहिए, जिससे अतिशय ज्ञान की वृद्धि होगी।

सरस्वती स्तोत्र

बारह अंगंगिज्जा, दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।
चोद्दसपुव्वाहरणा, ठावे दव्वाय सुयदेवी।।1।।

आचारशिरसं सूत्र-कृतवक्त्रां सुकंठिकाम्।
स्थानेन समवायांग-व्याख्याप्रज्ञप्तिदोर्लताम् ।।2।।

वाग्देवतां ज्ञातृकथो-पासकाध्ययनस्तनीम्।
अंतकृद्दशसन्नाभि-मनुत्तरदशांगतः ।।3।।

सुनितंबां सुजघनां, प्रश्नव्याकरणश्रुतात्।
विपाकसूत्रदृग्वाद-चरणां चरणांबराम् ।।4।।

सम्यक्त्वतिलकां पूर्व-चतुर्दशविभूषणाम्।
तावत्प्रकीर्णकोदीर्ण-चारुपत्रांकुरश्रियम्।।5।।

आप्तदृष्टप्रवाहौघ-द्रव्यभावाधिदेवताम् ।
परब्रह्मपथादृप्तां, स्यादुक्तिं भुक्तिमुक्तिदाम् ।।6।।

निर्मूलमोहतिमिरक्षपणैकदक्षं, न्यक्षेण सर्वजगदुज्ज्वलनैकतानम् ।
सोषेस्व चिन्मयमहो जिनवाणि ! नूनं, प्राचीमतो जयसि देवि ! तदल्पसूतिम् ।।7।।

आभवादपि दुरासदमेव, श्रायसं सुखमनन्तमचिंत्यम् ।
जायतेऽद्य सुलभं खलु पुंसां, त्वत्प्रसादत इहांब ! नमस्ते।।8।।

चेतश्चमत्कारकरा जनानां, महोदयाश्चाभ्युदयाः समस्ताः।
हस्ते कृताः शस्तजनैः प्रसादात्, तवैव लोकांब! नमोस्तु तुभ्यम् ।।9।।
सकलयुवतिसृष्टेरंब ! चूडामणिस्त्वं,
त्वमसि गुणसुपुष्टेर्धर्मसृष्टेश्च मूलम् ।

त्वमसि च जिनवाणि ! स्वेष्टमुक्त्यंगमुख्या,
तदिह तव पदाब्ज, भूरिभक्त्या नमामः।।10।।

सरस्वती स्तोत्र

(द्वादशांग जिनवाणी स्तुति)

अर्थ– श्रुतदेवी के बारह अंग हैं, सम्यग्दर्शन यह तिलक है, चारित्र उनका वस्त्र है, चौदहपूर्व उनके आभरण हैं ऐसी कल्पना करके श्रुतदेवी की स्थापना करनी चाहिए।

बारह अंगों में से प्रथम जो 'आचाराँग' है, वह श्रुतदेवी–सरस्वती देवी का मस्तक है, 'सूत्रकृतांग' मुख है, 'स्थानांग' कंठ है, 'समवायांग' और 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' ये दोनों अंग उनकी दोनों भुजाएं हैं, ज्ञातृकथांग' और 'उपासकाध्ययनांग' ये दोनों अंग उस सरस्वती के दो स्तन हैं, 'अंतकृद्दशांग' यह नाभि है, 'अनुत्तरदशांग' श्रुतदेवी का नितंब है, 'प्रश्नव्याकरणांग' यह जघन भाग है, 'विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग' ये दोनों अंग उन सरस्वती के दोनों पैर हैं। 'सम्यक्त्व' यह उनका तिलक है, चौदह पूर्व ये अलंकार हैं और 'प्रकीर्णक श्रुत' सुन्दर बेल बूटे सदृश हैं। ऐसी कल्पना करके यहाँ पर द्वादशांग जिनवाणी को सरस्वती देवी के रूप में लिया गया है।

श्री जिनेन्द्रदेव ने सर्व पदार्थों की संपूर्ण पर्यायों को देख लिया है, उन सर्व द्रव्य पर्यायों की यह 'श्रुतदेवता' अधिष्ठात्री देवी हैं अर्थात् इनके आश्रय से पदार्थों की सर्व-अवस्थाओं का ज्ञान होता है। परम ब्रह्म के मार्ग का अवलोकन करने वाले लोगों के लिए यह स्याद्वाद के रहस्य को बतलाने वाली है तथा भव्यों के लिए भुक्ति और मुक्ति को देने वाली ऐसी यह सरस्वती माता है।

जो चिन्मय ज्योति संपूर्ण मोहरूपी अंधकार को नष्ट करने वाली है और सर्वजगत् को प्रकाशित करने वाली है। हे जिनवाणि मातः! हे सरस्वती देवि! ऐसी चिन्मय ज्योति को आप उत्पन्न करने वाली हो इसलिए अपने अल्प प्रकाश धारक सूर्य को जन्म देने वाली ऐसी पूर्व दिशा को आपने जीत लिया है।

अनादिकाल से संसार में दुर्लभ ऐसा अचिन्त्य और अनंत मोक्षसुख है, आपके प्रसाद से वह मनुष्यों को प्राप्त हो जाता है इसलिए हे मातः! मैं आपको नमस्कार करताहूँ।

हे मातः! अन्तरंग को आश्चर्यचकित करने वाले स्वर्गादि के जो समस्त अभ्युदय–ऐश्वर्य हैं वे सब आपके प्रसाद से लोगों को प्राप्त हो जाते हैं इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

हे अम्ब! आप सम्पूर्ण स्त्रियों की सृष्टि में चूड़ामणि हो। आपसे ही धर्म की और गुणों की उत्पत्ति होती है। आप मुक्ति के लिए प्रमुख कारण हो, इसलिए मैं अतीव भक्तिपूर्वक आपके चरणकमलों में नमस्कार करता हूँ।

प्रवचन–65

गतियाँ कितनी हैं?

(गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से एक आगम वार्ता)

चन्दनामती– पूज्य माताजी! वंदामि, आज मैं आपसे गतियों के बारे में कुछ पूछना चाहती हूँ?

श्री ज्ञानमती माताजी– पूछो, क्या पूछना चाहती हो।

चन्दनामती– ज्ञानावरण आदि 8 कर्मों में 'गति' कौन से कर्म का भेद है?

श्री ज्ञानमती माताजी– नामकर्म की 93 प्रकृतियों में गति नामकर्म की 4 प्रकृतियाँ बताई हैं। नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

चन्दनामती– गति का लक्षण क्या है?

श्री ज्ञानमती माताजी– जिस कर्म के उदय से जीव एक पर्याय से दूसरी पर्याय में गमन करता है उसे गति नामकर्म कहते हैं। धवला की प्रथम पुस्तक में भी है-'भवाद्भवसंक्रान्तिर्वागतिः' अर्थात् एक भव से दूसरे भव में जाने को गति कहते हैं।

प्राकृतपंचसंग्रह में गति का लक्षण निम्न प्रकार है–

गइ-कम्म-विणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति त्ति य गई होइ।।

इसका अर्थ यह है कि गति नामा नामकर्म के उदय से जो जीव की चेष्टा विशेष उत्पन्न होती है उसे गति कहते हैं अथवा जिसके निमित्त से जीव चतुर्गति में जाते हैं उसे गति कहते हैं।

चन्दनामती– क्या इन गतियों के कुछ अवान्तर भेद भी होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– हाँ, यूं तो चारों गतियों में नाना जीवों की अपेक्षा से नाना भेद हो सकते हैं, फिर भी नरकगति के 7 नरक पृथ्वियों की अपेक्षा 7 भेद हैं– रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा। इन नरकों में घोर यातनाओं को सहन करने वाले नारकी निवास करते हैं। उसके तीन भाग हैं– खरभाग, पंकभाग, अब्बहुलभाग। खरभाग में राक्षसों के सिवाय सभी व्यंतरदेव एवं असुरकुमार के सिवाय सभी भवनवासी देवों के निवास हैं तथा पंकभाग में राक्षस और असुरकुमार देव रहते हैं। आगे अब्बहुल भाग में नारकी रहते हैं पुनः दूसरे से लेकर सातवें नरक तक पृथ्वियों में केवल नारकी ही रहते हैं।

इसी प्रकार तिर्यंचों के 14 जीवसमासों की अपेक्षा 14 भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं– एकेन्द्रिय के बादर, सूक्ष्म ये दो भेद, विकलत्रय के दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार

इन्द्रिय ये तीन भेद, पंचेन्द्रिय के संज्ञी-असंज्ञी दो भेद मिलकर सात हुए, इन सातों में पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों भेद होते हैं अतः 7×2=14 जीवसमास के भेद से तिर्यंचों के भी 14 भेद हो जाते हैं।

चन्दनामती—क्या एकेन्द्रिय आदि जीव भी तिर्यंच गति में आते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, एक इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों की एक तिर्यंच गति ही होती है तथा संज्ञी पंचेन्द्रियों के मनुष्य, तिर्यंच आदि सभी गतियाँ हो सकती हैं। अथवा यूं समझ लो कि देव, नारकी, मनुष्य तो संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में संज्ञी और असंज्ञी दोनों होते हैं। जैसे—पानी में रहने वाले कोई-कोई सर्प एवं कुछ तोते असंज्ञी होते हैं।

चन्दनामती—तब तो अग्नि, घास, वृक्ष आदि की भी तिर्यंच गति माननी पड़ेगी?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, और वनस्पतिकायिक इन पांचों एकेन्द्रिय स्थावरकायिकों की भी तिर्यंचगति होती है।

चन्दनामती—क्या इसी प्रकार मनुष्यगति में भी कुछ भेद हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, सबसे पहले तो आर्य और म्लेच्छ की अपेक्षा दो भेद हैं। जैसे भरतक्षेत्र में पाँच म्लेच्छ खंडों में म्लेच्छ मनुष्य पैदा होते हैं और एक आर्यखंड में जो मनुष्य रहते हैं उन्हें आर्य कहा जाता है। इन आर्य और म्लेच्छों के भी क्षेत्र और कर्म की अपेक्षा भेद हो जाते हैं। जैसे—म्लेच्छ खंडों में जन्में मनुष्य क्षेत्र से म्लेच्छ होते हैं वे सभी कर्म से म्लेच्छ हों यह आवश्यक नहीं है, इसी तरह आर्यखंड में उत्पन्न होने वाले मनुष्य क्षेत्रार्य होते हैं किन्तु जाति और क्रिया से म्लेच्छ भी होते हैं। आर्यों में से यदि कोई आर्य अनार्य सरीखे हीन और बुरे कार्य करने लगते हैं, तो वे जाति और क्षेत्र से आर्य होते हुए भी कर्म से म्लेच्छ हो जाते हैं। यह तो हुई आर्य और म्लेच्छ मनुष्यों की बात, पुनः भोगभूमि और कर्मभूमि की अपेक्षा भी मनुष्य के दो भेद हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रों में भोगभूमि और कर्मभूमि दोनों तरह की व्यवस्थाएं कालपरिवर्तन के अनुसार होती हैं। विदेहक्षेत्र में शाश्वत कर्मभूमि रहती है और शेष चार क्षेत्रों में (हैमवत, हरि, रम्यक्, हैरण्यवत) शाश्वत भोगभूमि रहती है। जहां के मनुष्य कल्पवृक्षों से प्राप्त भोगोपभोग वस्तुओं के बल पर जीवनयापन करते हैं उन क्षेत्रों को भोगभूमि कहते हैं एवं जहाँ पर मनुष्य असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या, और शिल्प इन षट्क्रियाओं को करके आजीविका चलाते हैं, वे स्थान कर्मभूमि कहलाते हैं।

चन्दनामती—देवगति के कितने भेद हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—सामान्य से तो देवगति एक ही है पुनः "देवाश्चतुर्णिकायः" अर्थात् देव 4 प्रकार के हैं—भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिर्वासी और कल्पवासी।

भवनवासी और व्यन्तरवासी मध्यलोक में भी रहते हैं जैसे—जम्बूद्वीप आदि द्वीपों के कुलाचल, वक्षार, विजयार्ध आदि पर्वतों पर पूर्व दिशा में एक-एक सिद्धकूट के अतिरिक्त भवनवासी और व्यंतरवासी देव-देवियों के भवन बने हुए हैं, जिनमें वे देव परिवार सहित निवास करते हैं। भगवान की माता की सेवा करने हेतु जो श्री आदि देवियाँ आती हैं, वे भी उन्हीं में से होती हैं। यहाँ (हस्तिनापुर में) बनी जम्बूद्वीप रचना में भी इन देवों के कुछ भवन दर्शाये गये हैं, जिनमें गृह चैत्यालय भी हैं।

चन्दनामती—व्यंतर देव यहाँ मध्यलोक में कहाँ और कैसे रहते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—किसी भी वृक्ष, पर्वत, नदी, मंदिर, मकान आदि स्थानों में व्यंतर देवों के निवास हो सकते हैं, जो कि उस स्थान के अप्रत्यक्ष रूप से अधिष्ठाता कहे जाते हैं। जैसे—तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में कहा है कि जम्बूद्वीप का अधिष्ठाता "अनावृत" नाम का यक्ष है और लवण समुद्र के जल को वेलन्धर नामक देव संभालते हैं। ये व्यंतर जाति के देव अपनी इच्छानुसार रूप बदलकर अदृश्य रूप में यत्र-तत्र क्रीड़ा भी करते हैं। अपने पूर्व जन्म के हितैषी का उपकार एवं शत्रु का अपकार भी करते हुए देखे जाते हैं।

ज्योतिर्वासी देवों के सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक और तारा आदि भेद हैं। इनमें भी कोई मिथ्यादृष्टि देव अपने शत्रु पर उपसर्ग करते देखे जाते हैं। जैसे—संबर नामक ज्योतिष देव ने भगवान पार्श्वनाथ के ऊपर उपसर्ग किया था, जिसका पूर्व जन्म का नाम कमठ था।

ऊर्ध्वलोक में सोलह स्वर्गों में रहने वाले देव, इन्द्र आदि कल्पवासी देव कहलाते हैं। ये सभी चारों निकाय के देव तीर्थंकर के पंचकल्याणक में एकत्रित होकर महोत्सव मनाने मध्यलोक में आते हैं। इस प्रकार कल्पवासियों के सोलह स्वर्गों की अपेक्षा 16 भेद हो जाते हैं—सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

इनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर ये कल्पातीत कहलाते हैं इन्हें वैमानिक देव भी कहते हैं।

ये चार गतियों के कुछ भेद-प्रभेद मैंने बताए हैं इन्हें विशेष रूप से जानने के लिए करणानुयोग ग्रंथ जैसे—तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, त्रिलोकभास्कर आदि का अध्ययन करना चाहिए।

चन्दनामती—आपके श्रीचरणों में नमन करते हुए आज की लेखनी को यहीं विराम देती हूँ।

प्रवचन–66

गुणस्थान चर्चा

(गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से एक सैद्धांतिक वार्ता)

चन्दनामती–पूज्य माताजी! आज मैं आपसे जानना चाहती हूँ कि गुणस्थान किसे कहते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–इसके विषय में मैं तुम्हें बताती हूँ–दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम आदि अवस्था के होने पर जीव के जो परिणाम होते हैं, उन परिणामों को गुणस्थान कहते हैं। जैसा कि गोम्मटसार जीवकाण्ड में आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी कहा है–

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं।।4।।

अर्थात् दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं, उन जीवों को सर्वज्ञदेव ने गुणस्थान वाला और उन परिणामों को गुणस्थान कहा है।

चन्दनामती–ये परिणाम कैसे बनते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–मोह और योग के निमित्त से परिणाम बनते हैं। उन्हीं का नाम गुणस्थान है।

चन्दनामती–गुणस्थान के कितने भेद होते हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी–गुणस्थान के 14 भेद होते हैं–

1. मिथ्यात्व	**2. सासादन**	**3. मिश्र**
4. अविरत सम्यग्दृष्टि	**5. देशविरत**	**6. प्रमत्तविरत**
7. अप्रमत्तविरत	**8. अपूर्वकरण**	**9. अनिवृत्तिकरण**
10. सूक्ष्मसांपराय	**11. उपशांतमोह**	**12. क्षीणमोह**
13. सयोगकेवलीजिन	**14. अयोगकेवलीजिन**	

चन्दनामती–इन गुणस्थानों की पहचान क्या है ?

श्री ज्ञानमती माताजी–गुणस्थान तो परिणामों के बल पर ही बदलते हैं अतः बाह्य रूप से तो उनकी पहचान हम और आप कर नहीं सकते । यह तो केवली– श्रुतकेवली के गम्य व्यवस्था है। फिर भी इन गुणस्थानों के लक्षण धवला ग्रंथ तथा गोम्मटसार मेंबताए हैं। उन्हीं के अनुसार यहाँ सभी गुणस्थानों के लक्षण बताए जा रहे हैं–

1. मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान वाले की स्थूल बाह्य पहचान यह है कि इसे सच्चा

धर्म अच्छा नहीं लगता है।

2. उपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त काल में जब कम से कम एक समय या अधिक से अधिक छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने काल में अनंतानुबन्धी क्रोधादि चार कषाय में से किसी एक का उदय आ जाने से सम्यक्त्व की विराधना हो जाने पर सासादन गुणस्थान होता है। इसमें जीव सम्यक्त्व से तो गिर गया है किन्तु मिथ्यात्व मेंअभी नहीं पहुँचा है इसीलिए इसका नाम सासादन है। इसका काल बहुत थोड़ा है।

3. सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम न होकर जो मिश्र रूप परिणाम होते है उसे मिश्रगुणस्थान कहते हैं।

4. दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम आदि के होने पर जीव का जो तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप परिणाम होता है वह अविरत सम्यक्त्व नाम का चतुर्थ गुणस्थान है। सम्यक्त्व के तीन भेद हैं–उपशम, क्षायिक और क्षायोपशमिक या वेदक। इन तीनों का लक्षण इस प्रकार है–दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार ऐसी सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन और क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक या वेदक सम्यग्दर्शन होता है।

इस चतुर्थ गुणस्थान वाला जीव जिनेन्द्र कथित प्रवचन का श्रद्धान तो करता है परन्तु इन्द्रियों के विषय आदि से विरक्त नहीं होता है इसलिए इसका "अविरत सम्यग्दृष्टि" यह नाम सार्थक है।

5. सम्यग्दृष्टि के अणुव्रत आदि एक देशव्रत रूप परिणाम को देशविरत गुणस्थान कहते हैं। देशव्रती जीव के प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से महाव्रत रूप पूर्ण संयम नहीं होता है।यह जीव त्रसहिंसा का त्यागी होता है तथा आरंभादि के निमित्त से स्थावर हिंसा को छोड़नें में असमर्थ रहता है इसलिए इस गुणस्थान का नाम विरताविरत भी है।

6. प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से सकल संयम रूप मुनिव्रत तो हो चुके हैं। किन्तु संज्वलन कषाय और नोकषाय के उदय से संयम में मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी आ जाता है अतः इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते हैं। यह गुणस्थान केवल दिगम्बर मुनियों के ही होता है अन्य किसी के नहीं।

7. संज्वलन कषाय और नोकषाय का मन्द उदय होने से जब संयमी मुनि के प्रमाद रहित संयमभाव होता है तब उनके अप्रमत्तविरत गुणस्थान प्रगट होता है। इसके दो भेद हैं–स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त।

जब मुनि शरीर और आत्मा के भेद विज्ञान में तथा ध्यान में लीन रहते हैं तब स्वस्थान अप्रमत्त होता है और जब श्रेणी के सन्मुख होते हुए ध्यान में लीन होते हैं तब सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान वाले मुनि हो सकते हैं, सातिशय अप्रमत्त परिणाम वाले नहीं हो सकते हैं।

8. जिस समय भावों की विशुद्धि से उत्तरोत्तर अपूर्व परिणाम होते जावें उस समय भावों को अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। इसमें भिन्न समयवर्ती मुनि के परिणाम विसदृश ही होते हैं तथा एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हो सकते हैं विसदृश भी हो सकते हैं।

9. जिस गुणस्थान में एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणाम सदृश ही हों और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही हों उसको अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

10. अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभ कषाय के उदय को अनुभव करते हुए, जीव के सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान होते हैं। ये आठवें, नवमें और दशवें तीनों गुणस्थान महामुनियों के शुक्लध्यान में ही होते हैं।

11. सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम होने से अत्यन्त निर्मल यथाख्यात चारित्र को धारण करने वाले मुनि के उपशांत मोह गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल समाप्त होने पर जीव मोहनीय का उदय आ जाने से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है या आयु कर्म समाप्त होने पर मृत्यु को प्राप्त करके सर्वार्थ सिद्धि स्वर्ग विमान में जन्म ले लेता है।

12. मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे जल के सदृश निर्मल परिणाम वाले निर्ग्रन्थ मुनि क्षीणकषाय नामक गुणस्थान वाले होते हैं।

13. घातिया कर्म की 47, अघातिया कर्म की 16 इस प्रकार 63 प्रकृतियों के सर्वथा नाश हो जाने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। उस समय अनन्तचतुष्टय और नव केवललब्धि प्रगट हो जाती हैं किन्तु योग पाया जाता है, इसलिए वे अरिहंत परमात्मा सयोग केवलिजिन कहलाते हैं।

14. सम्पूर्ण योगों से रहित, केवली भगवान अघाति कर्मों का नाश कर मुक्त होने से सम्मुख हुए अयोग केवलीजिन कहलाते हैं । इस गुणस्थान के अन्त में अरिहंत भगवान शेष 85 प्रकृतियों को नष्ट करके सर्व कर्म रहित सिद्ध हो जाते हैं और एक समय में लोक के शिखर पर पहुंच जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ पर चौदहों गुणस्थान के संक्षिप्त लक्षण मैंने बताए हैं। विशेष जानकारी के लिए गोम्मटसार जीवकाण्ड आदि ग्रंथ देखने चाहिए।

चन्दनामती—इन सभी गुणस्थानों की प्राप्ति कौन कर सकते हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी—मनुष्य गति में चौदहों गुणस्थान की प्राप्ति संभव है तथा तिर्यंच गति में प्रारंभ के पांच गुणस्थान हो सकते हैं और देवगति तथा नरकगति में प्रारंभ के चार गुणस्थान ही संभव है, इससे अधिक नहीं ।

चन्दनामती—क्या तिर्यंच देशव्रती बन सकता है ?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच किसी के सम्बोधन से अणुव्रती बनकर पंचम गुणस्थान वाला हो सकता है। जैसे शेर और हाथी आदि के उदाहरण पुराणों में पाये जाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के केवल मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है । वे सम्यग्दर्शन या अणुव्रत धारण नहीं कर सकते हैं।

चन्दनामती—आज पंचम काल में मनुष्यों के कितने गुणस्थान संभव हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—पंचमकाल में प्रारम्भ के सात गुणस्थान मनुष्यों में संभव हैं। उनमें भी द्रव्य पुरूषवेदी जिसने मुनि दीक्षा धारण कर ली है, वह ही छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती हो सकते हैं। शेष सभी श्रावक-श्राविकाएं पंचम गुणस्थान तक के हो अधिकारी होते हैं।

चन्दनामती—कौन से श्रावक पंचमगुणस्थानवर्ती हो सकते हैं ?,

श्री ज्ञानमती माताजी—जो श्रावक-श्राविका देव शास्त्र गुरू की साक्षी से पाँच अणुव्रत या प्रतिमा आदि व्रतों को ग्रहण करते हैं वे पंचम गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों की अपेक्षा पंचम वाले की कर्मनिर्जरा अधिक होती है।

चन्दनामती—आर्यिकाओं के कौन सा गुणस्थान होता हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—आर्यिकाओं के पंचम गुणस्थान होता है क्योंकि आगम में ऐसा ही विधान है कि द्रव्य स्त्रीवेदी के पाँच गुणस्थान से अधिक नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार ऐलक, क्षुल्लक और क्षुल्लिका के भी पंचम गुणस्थान ही होता है किन्तु ये तीनों तो उत्कृष्ट श्रावक की कोटि में आते हैं और आर्यिका उपचार महाव्रती कहलाती हैं।

सागार धर्मामृत में कहा है कि कौपीन मात्र ग्रहण करने वाले ऐलक से भी आर्यिका पूज्य होती है क्योंकि वह स्त्री पर्याय की मजबूरी के कारण एक धोती पहनती हैं।

चन्दनामती—क्या पंचम गुणस्थानवर्ती सभी जीवों की कर्म निर्जरा एक सदृश होती है या कुछ भेद हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—नाम की दृष्टि से तो आर्यिका, क्षुल्लक-ऐलक, श्रावक आदि सभी के पांचवां गुणस्थान ही माना है किन्तु सभी के भावों में तरतमता की अपेक्षा भेद है इसी प्रकार उनकी कर्मनिर्जरा में भी महान अन्तर पड़ता है। आर्यिका की तो सारी चर्या, दीक्षाविधि, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदि मुनि के समान ही बताया है। इसीलिए उन्हें आर्यिका की संज्ञा प्रदान की गई है न कि श्राविका शब्द से। नाना जीवों के परिणामों की अपेक्षा इस गुणस्थान के असंख्यात लोक प्रमाण भेद भी होते हैं।

यहाँ संक्षेप में यही समझना कि पंचमकाल के अंत तक होने वाले भावलिंगी दिगम्बर मुनियों के छठा-सातवां गुणस्थान एवं आर्यिका, व्रती श्रावक-श्राविकाओं के पांचवां गुणस्थान माना है।

प्रवचन–67

ढाईद्वीप में कर्मभूमियाँ कितनी हैं?

(गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से एक सैद्धान्तिक वार्ता)

चन्दनामती– पूज्य माताजी! वंदामि, मैं आपसे ढाईद्वीप की कर्मभूमियों के संबंध में कुछ प्रश्न पूछना चाहती हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी– पूछो, जो भी पूछना है।

चन्दनामती– मैंने तो अभी तक मुख्यरूप से 15 कर्मभूमियों के बारे में पढ़ा है किन्तु आप कहती हैं कि मध्यलोक में कुल 170 कर्मभूमियाँ हैं। सो कहाँ-कहाँ हैं? कृपया बताने का कष्ट करें।

श्री ज्ञानमती माताजी– कर्मभूमि के विषय को जानने हेतु सर्वप्रथम तो 15 कर्मभूमियों की व्यवस्था ही जाननी होगी जैसा कि श्री गौतम स्वामी ने कहा है–

''अड्ढाइज्जदीव दोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु''..... इत्यादि

ढाईद्वीप में निम्न प्रकार से 15 कर्मभूमियाँ पाई जाती हैं–

1. जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में 1 कर्मभूमि, ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में 1 कर्म भूमि, विदेह क्षेत्र की 1, इस प्रकार जम्बूद्वीप संबंधी अथवा एक सुदर्शन मेरु संबंधी 3 कर्मभूमियाँ हुईं।

2. धातकीखण्ड द्वीप में इष्वाकार पर्वत होने से उसके पूर्वधातकी और पश्चिम धातकी के भेद से दो भाग हो गए। जिनमें पूर्वधातकी खण्ड में विजयमेरु और पश्चिम में अचल मेरु पर्वत हैं। जम्बूद्वीप के समान ही दोनों धातकी खण्डों में 3-3 कर्मभूमि होने से दो मेरु संबंधी 6 कर्म भूमियाँ हुईं।

3. पुष्कर नाम के तृतीय द्वीप के बीच में वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है, जो मनुष्यों की गमन सीमा का द्योतक है। उससे आगे कोई विद्याधर, मनुष्य नहीं जा सकते, मात्र इन्द्र और देवतागण ही जाते हैं। अतः इस द्वीप का नाम पुष्करार्ध द्वीप पड़ गया है। इस पुष्करार्ध द्वीप में भी इष्वाकार पर्वत पड़ने से पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध ये दो भेद हो जाते हैं। यहाँ पूर्व में मंदरमेरु है और पश्चिम में विद्युन्माली मेरु हैं। इन दोनों मेरु संबंधी भी 3-3 कर्मभूमियाँ होने से 6 हो गईं।

इस प्रकार ढ़ाई द्वीप में 3+3+3+3+3=कुल 15 कर्मभूमियाँ भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्र संबंधी होती हैं।

चन्दनामती– ये 15 कर्मभूमियाँ तो अच्छी तरह से लोग समझ लेते हैं किन्तु आगे जो सप्ततिशतक्षेत्रभवा.....इत्यादि शब्द आया है सो 170 का क्रम किस प्रकार है?

श्री ज्ञानमती माताजी– सुनो! उनका क्रम भी बतलाती हूँ-

पाँचो मेरु संबंधी 5 भरत क्षेत्र और 5 ऐरावत क्षेत्रों की तो 1-1 ही कर्मभूमि हैं अतः ये 10 निश्चित हैं इसके पश्चात् 160 की संख्या देखो-प्रथम द्वीप जम्बूद्वीप में जो महाविदेह क्षेत्र है उसके बीचोंबीच में सुदर्शनमेरु पर्वत होने से विदेह के पूर्व और पश्चिम ये दो भाग हो गये। पुनः पूर्वविदेह के बीच में सीता नदी और पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी होने से दोनों के उत्तर और दक्षिण ये 2-2 भेद हो जाते हैं।

उत्तर दिशा में जो विदेह है उसमें भद्रशाल वन की वेदिका–दीवाल के बाद विदेह क्षेत्रों की संख्या प्रारंभ होती है। बीच-बीच में 4 वक्षार पर्वत व 3 विभंगा नदियों के अन्तराल में व आगे देवारण्य की वेदिका ऐसे पूर्व विदेह के उत्तर दिशा संबंधी 8 विदेह क्षेत्र और दक्षिण दिशा संबंधी भी इसी प्रकार 8 विदेह क्षेत्र होते हैं। ये तो हुए पूर्वदिशा के 16 विदेह क्षेत्र, इसी तरह से पश्चिम दिशा में भी सीतोदा नदी के कारण उत्तर-दक्षिण दो भेद हुए उनमें भी 4-4 वक्षार और 3-3 विभंगा नदियों के अन्तराल से 8 विदेह क्षेत्र हो गये इस प्रकार जम्बूद्वीप के 32 विदेह क्षेत्र हैं। प्रत्येक विदेह क्षेत्र में भरत-ऐरावत क्षेत्र के समान 6-6 खण्ड हैं उनमें आर्यखण्डों में शाश्वत कर्मभूमि की व्यवस्था रहती है। अतः 32+2=34 कर्मभूमियाँ जम्बूद्वीप में मानी हैं।

चन्दनामती– इन 32 विदेहक्षेत्रों के, 16 वक्षार पर्वतों तथा विभंगा नदियों के नाम भी कहीं शास्त्रों में मिलते हैं क्या?

श्री ज्ञानमती माताजी– हाँ, तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के आधार से मैं इनके नाम बता रही हूँ–

सबसे पहले बत्तीस विदेहों के नाम सुनो–

1. कच्छा विदेह 2. सुकच्छा 3. महाकच्छा 4. कच्छकावती 5. आवर्ता 6. लांगलावर्ता 7. पुष्कला 8. पुष्कलावती 9. वत्सा 10. सुवत्सा 11. महावत्सा 12. वत्सकावती 13. रम्या 14. सुरम्यका 15. रमणीया 16. मंगलावती 17. पद्मा 18. सुपद्मा 19. महापद्मा 20. पद्मकावती 21. शंखा 22. नलिना 23. कुमुदा 24. सरित 25. वप्रा 26. सुवप्रा 27. महावप्रा 28. वप्रकावती 29. गंधा 30. सुगंधा 31. गंधिला 32. गंधमालिनी। इन बत्तीस विदेह क्षेत्रों में शाश्वत कर्मभूमि होती है।

सोलह वक्षार पर्वतों के नाम–

1. चित्रकूट वक्षार 2. नलिनकूट 3. पद्मकूट 4. एकशैल 5. त्रिकूट 6. वैश्रवण 7. अंजनशैल 8. आत्मांजन 9. श्रद्धावान् 10. विजटावान् 11. आशीविष 12. सुखावह 13. चन्द्रमाल 14. सूर्यमाल 15. नागमाल 16. देवमाल।

12 विभंगानदियों के नाम–

1. दृहवती विभंगा 2. ग्राहवती 3. पंकवती 4. तप्तजला 5. मत्तजला 6. उन्मत्तजला 7. क्षीरोदा 8. सीतोदा 9. औषधवाहिनी 10. गभीरमालिनी 11. फेनमालिनी 12. ऊर्मिमालिनी।

चन्दनामती—विदेह क्षेत्रों की 32 और भरत ऐरावत की 1-1, इस प्रकार 34 कर्मभूमियाँ जम्बूद्वीप में हो गईं इसके अतिरिक्त 136 कर्मभूमियाँ कहाँ-कहाँ हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—अब आगे की भी व्यवस्था सुनो-

जैसा कि मैंने पूर्व में भी बताया है कि धातकी खण्ड और पुष्करार्धद्वीप में इष्वाकार पर्वत होने से उनके दो-दो भेद हो गए हैं। अतः जम्बूद्वीप की अपेक्षा उन दोनों द्वीपों में दूनी-दूनी व्यवस्था है अर्थात् पूर्व धातकी खण्ड में 34 कर्मभूमि, पश्चिमधातकी खण्ड में 34 कर्मभूमि, पूर्वपुष्करार्धद्वीप में 34 कर्मभूमि तथा पश्चिमपुष्करार्ध में 34 कर्मभूमियाँ हैं।

इस प्रकार कुल मिलाकर ढाईद्वीप में 34+34+34+34+ 34=170 कर्मभूमियाँ हैं। इन प्रत्येक कर्मभूमियों में तीर्थंकरों के जन्म होते हैं यदि मध्यलोक में एक साथ इन सभी कर्मभूमियों में तीर्थंकर जन्म लेवें तो अधिक से अधिक 170 तीर्थंकर एक समय में हो सकते हैं। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि जब सभी भरत और ऐरावत क्षेत्रों में चतुर्थकाल का वर्तन होगा तभी 170 तीर्थंकरों का होना संभव है अन्यथा नहीं।

चन्दनामती—क्या? इसीलिए हस्तिनापुर की तेरहद्वीप रचना में आपने 170 समवसरण बनवाएं हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, चूँकि तेरहद्वीपों में ढाईद्वीप की रचना तो पूरी बन ही रही है इसलिए मैंने इस रचना में 170 तीर्थंकरों के 170 समवसरण भी यथास्थान बनाने की प्रेरणा दी है।

चन्दनामती—पूज्य माताजी! क्या ढाई द्वीपों से आगे कोई भी कर्मभूमि नहीं है?

श्री ज्ञानमती माताजी—नहीं, ढाईद्वीप से आगे कोई कर्मभूमि नहीं है। क्योंकि आगे असंख्यात द्वीप समुद्रों में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है।

चन्दनामती—समयोचित प्रश्नों के आधार पर आपसे बहुत सुन्दर समाधान प्राप्त हुआ। आपके श्रीचरणों में बारम्बार वंदामि। आशा है हमारे पाठकों को इस विषय से करणानुयोग का सहज में ज्ञानलाभ प्राप्त होगा।

किसी भी कार्य के प्रारंभ में इष्टदेव का नाम स्मरण करें

आरंभे तु पुराणस्यान्यव्यापाराय कस्यचित्।
''नमः सिद्धेभ्यः'' इत्युच्चैर्नभ्रीभूतो वदेद्वचः।।

अर्थ—किसी शास्त्र के प्रारंभ में तथा अन्य किसी भी कार्य के प्रारंभ में नम्रता के साथ ''ॐ नमः सिद्धेभ्यः'' इस पद का उच्चारण करना चाहिए।

प्रवचन—68

नंदीश्वर द्वीप में क्या-क्या है?

(गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से हुई सैद्धांतिक वार्ता)

चन्दनामती—पूज्य माताजी! वंदामि, मैं नंदीश्वर द्वीप के बारे में आपसे कुछ प्रश्न करना चाहती हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी—पूछो, मैं आगम के आधार से नंदीश्वरद्वीप के बारे में बताऊँगी।

चन्दनामती—प्रत्येक अष्टान्हिका पर्व में लोग नंदीश्वर द्वीप की पूजा करते देखे जाते हैं सो अष्टान्हिका पर्व का नंदीश्वर द्वीप के साथ भला क्या संबंध है?

श्री ज्ञानमती माताजी—नंदीश्वर द्वीप मध्यलोक के असंख्यात द्वीपों में आठवां द्वीप है, वहाँ मनुष्य तो जा नहीं सकते अतः चारों निकाय के देवगण वहाँ जाते और पूजा आदि करते हैं। अष्टान्हिका पर्व प्रारंभ होते ही वे नियमपूर्वक आठों दिन वहाँ पूजा करने जाते हैं। अष्टान्हिका पर्व का असली नाम तो 'नंदीश्वर पर्व' ही है क्योंकि इन दिनों में नंदीश्वर द्वीप के चैत्यालयों की ही विशेषरूप में पूजन होती है। आठ दिन का पर्व होने से इसे अष्टान्हिका पर्व भी कहते हैं।

चन्दनामती—यह नंदीश्वर पर्व कब से प्रारंभ हुआ है?

श्री ज्ञानमती माताजी—यह अनादिनिधन पर्व है। इसे न तो किसी ने शुरू किया है और न ही इसका कभी अंत होगा।

चन्दनामती—अभी आपने कहा कि वहाँ मनुष्य नहीं जा सकते हैं, ऐसा क्यों?

श्री ज्ञानमती माताजी—क्योंकि मनुष्य की गमन सीमा ढाई द्वीप तक ही है। उससे आगे नहीं, आप लोग अठाई पूजा में पढ़ते हैं-

हमें शक्ति सो नाहिं इहां करि थापना।
पूजें जिनगृह प्रतिमा है हित अपना।।

चन्दनामती—पूज्य माताजी! क्या स्वर्गों में भी यहाँ के समान कार्तिक, फाल्गुन आदि महीने तथा दिन और रात होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—नहीं, वहाँ के सूर्य-चन्द्रमा अपने-अपने स्थान पर स्थिर हैं अतः वहाँ महीने एवं रात-दिन आदि का विभाग नहीं है।

चन्दनामती—तब उनका आठ दिन अष्टान्हिका पर्व में नंदीश्वरद्वीप में पूजन का कैसे क्रम चलता है?

श्री ज्ञानमती माताजी—रात-दिन का विभाग तो नंदीश्वरद्वीप में भी नहीं है परन्तु तिथियाँ भी तो अनादिनिधन हैं अतः यहाँ की उन तिथियों की व्यवस्था के अनुसार ही

अष्टान्हिका का पर्व शुरू होते ही चारों निकाय के देव नंदीश्वर द्वीप में पहुँच जाते हैं और रात-दिन के भेद से रहित वहाँ अखण्ड पूजा करते हैं। जैसा कि मैंने इन्द्रध्वज विधान में नंदीश्वर पूजा की जयमाला में तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के आधार से लिखा भी है-

चारों निकाय के देव मिले,
आठों दिन पूजा करते हैं।
रात्री दिन भेद रहित वहं पे
सु अखंडित अर्चा करते हैं।।

चन्दनामती—देवों का वहाँ पर पूजन का क्रम कैसा चलता है?

श्री ज्ञानमती माताजी—पूर्वाण्ह में दो प्रहर तक कल्पवासी देव पूर्व दिशा में, भवनवासी देव दक्षिण में, व्यन्तरवासी देव पश्चिम दिशा में और ज्योतिषी देव उत्तर दिशा में पूजा करते हैं। पुनः अपराण्ह में सबकी दिशाएं बदल जाती हैं तब दो प्रहर तक कल्पवासी देव दक्षिण में, भवनवासी पश्चिम में, व्यन्तरवासी उत्तर में और ज्योतिषी देव पूर्व दिशा में पहुँचकर पूजा करते हैं। अनंतर पूर्वरात्रि में दो प्रहर तक कल्पवासी देव पश्चिम में, भवनवासी देव उत्तर में, व्यंतर देव पूर्व में और ज्योतिषी देव दक्षिण में पूजा करते हैं। तत्पश्चात् पिछली रात्रि में दो प्रहर तक कल्पवासी उत्तर में, भवनवासी देव पूर्व में, व्यंतर देव दक्षिण में और ज्योतिषी देव पश्चिम में पूजा करते हैं।

इस प्रकार ये चारों निकाय के देव अष्टमी से पूर्णिमा तक पूर्वाण्ह, अपराण्ह, पूर्वरात्रि और पश्चिम रात्रि में दो-दो प्रहर (छह-छह घण्टे तक) प्रदक्षिणा क्रम से पूजा करते हैं। यह रात-दिन प्रहर तिथि आदि का हिसाब तो यहाँ के अनुसार बतलाया है। वहाँ तो मात्र 2-2 प्रहर के क्रमानुसार प्रदक्षिणा करते हुए वे देव 24 घण्टे में चारों दिशा के जिनबिम्बों की पूजा कर लेते हैं।

चन्दनामती—उन देवों द्वारा लाई गई पूजन सामग्री भी विलक्षण ही होती होगी?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ उनकी तो सारी सामग्री ही कल्पवृक्षों द्वारा लाई गई दिव्य होती है। जैसा कि तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में बताया है कि वहाँ जाने वाले सभी इन्द्र-देवगण अलग-अलग तरह के फलों आदि के गुच्छे लेकर जाते हैं। उनके अपने-अपने वाहन भी रहते हैं जिन पर सवार होकर वे नंदीश्वर द्वीप में जाते हैं। इन्द्रध्वज विधान की एक जयमाला में मैंने इस प्रकरण को भी लिया है-

सौधर्म इन्द्र ऐरावत इभ, चढ़कर श्रीफल कर लाते हैं।
ईशान इन्द्र हाथी पर चढ़, गुच्छे सुपारि के लाते हैं।।
सानत्कुमार सुरपति मृगपति, पर चढ़ आमों के गुच्छे ले।
माहेन्द्र श्रेष्ठ घोड़े पर चढ़, केलों को अच्छे अच्छे लें।।

यह तो दिव्य फलों का वर्णन है जिन्हें ले जाकर वे भगवान के समक्ष चढ़ाते हैं

इसके अतिरिक्त अभिषेक एवं अष्टद्रव्य की पूजन सामग्री भी लाते हैं जिसके द्वारा नंदीश्वर द्वीप में महाभिषेकपूर्वक महापूजा करते हैं।

चन्दनामती—नंदीश्वर द्वीप में 52 चैत्यालय किस क्रम से बने हुए हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—सबसे पहले तो नंदीश्वर द्वीप का ही विस्तार जानना आवश्यक है जो कि गोलाकार से एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है। इस द्वीप से पूर्व दिशा में ठीक बीचों बीच 'अंजनगिरि' नाम का एक पर्वत है। यह चौरासी हजार योजन विस्तृत और इतना ही ऊँचा गोल है तथा इन्द्रनील मणि से निर्मित है।

आज भी नंदीश्वर द्वीप की रचनाएँ तो कई जगह बनी हुई हैं। उनमें इन्हें लोग काले रंग का दर्शाते हैं। नीले रंग का बनाना चाहिए। इस अंजनगिरि के चारों ओर चार दिशाओं में चार द्रह हैं, इन्हें बावड़ी भी कहते हैं। ये बावड़ियाँ एक लाख योजन विस्तृत चौकोन हैं, खाई एक हजार योजन है। जैसा कि पूजा में कहा भी है-

एक इक चार दिश चार शुभ बावड़ी,
एक इक लाख योजन अमल जल भरी।

इन वापिकाओं में स्वच्छ जल भरा हुआ है तथा जलचर जीव भी इनमें नहीं रहते हैं। बावड़ियों के अंदर एक हजान योजन विस्तार वाले बड़े-बड़े कमल खिले हुए हैं।

चन्दनामती—इन बावड़ियों के क्या नाम हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—पूर्व दिशा की बावड़ी का नाम नंदा है, दक्षिण दिशा में नन्दवती पश्चिम में नन्दोत्तरा और उत्तर में नन्दिघोषा नाम की बावड़ियाँ हैं।

इन वापियों के चारों तरफ चार वन—उद्यान हैं जो कि एक लाख योजन लम्बे और पचास हजार योजन चौड़े हैं। इनमें पूर्व दिशा के वन का नाम 'अशोकवन' है, दक्षिण दिशा में सप्तच्छद (सहतूत) वन है, पश्चिम में चंपक (चम्पा) वन और उत्तर में आम्रवन हैं।

चन्दनामती—वर्तमान में जहाँ-जहाँ भी नन्दीश्वर द्वीप की रचनाएँ बनी हैं वहाँ कहीं भी ये वन तो बने नहीं हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, वे रचनाएँ तो मात्र 52 चैत्यालयों को दर्शाने हेतु ही लोग बना लेते हैं किन्तु आगम में तो बड़ा सुन्दर और रोचक वर्णन आता है। जैसे कि वनों में ही प्रत्येक वन के नाम सहित चैत्यवृक्ष हैं जिनमें जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाएं विराजामन हैं यह तो एक बावड़ी संबंधी 4 वन मैंने बताए, इसी प्रकार पूर्व दिशा की चारों बावड़ियों से संबंधित 4-4 वन हैं अतः एक दिशा में 16 वन और उनमें सोलह ही चैत्यवृक्ष समझना चाहिए। चार वापिकाओं के मध्य भाग में 1-1 'दधिमुख' पर्वत हैं जो कि दही के समान सफेद रंग वाले हैं। ये पर्वत दश हजार योजन ऊँचे तथा इतने ही योजन विस्तृत गोल हैं। वापियों के दोनों कोणों पर 'रतिकर' नाम के पर्वत हैं जो

स्वर्णमय हैं। ये पर्वत भी एक हजार योजन विस्तृत और ऊँचे हैं।

इस प्रकार पूर्व दिशा संबंधी एक अंजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर ऐसे 13 पर्वत हैं। इन सभी पर्वतों के शिखर पर उत्तम रत्नमय एक-एक जिनेन्द्र मंदिर बने हुए हैं। इसी तरह दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में भी एक समान रचना है अतः कुल मिलाकर नन्दीश्वर द्वीप में 52 अकृत्रिम जिनालय हैं। वन के चैत्यवृक्षों में स्थित प्रतिमाओं की इसमें गणना नहीं की गई है।

इनमें प्रत्येक जिनमंदिर 100 योजन लम्बे 50 योजन चौड़े और 75 योजन ऊँचे हैं। प्रत्येक मंदिर में 108-108 गर्भगृह हैं और प्रत्येक गर्भ गृह में 500 धनुष ऊँची पद्मासन जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं। इन मंदिरों में नाना प्रकार के मंगल घट, धूप घट, स्वर्णमालाएं, मणिमालाएं अष्ट मंगलद्रव्य आदि शोभायमान हैं।

नन्दीश्वर द्वीप का यह संक्षिप्त वर्णन मैंने बतलाया है इसका विशेष वर्णन तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में देखना चाहिए।

चन्दनामती—पूज्य माताजी! आपसे यह करणानुयोग संबंधी चर्चा करके काफी ज्ञान लाभ प्राप्त हुआ। आपके श्रीचरणों में वंदामि करके मैं अपनी लेखनी को यहीं विराम देती हूँ।

महामंत्र की महिमा

उत्तिष्ठन् निपतन् चलन्नपि धरापीठे लुठन् वा स्मरेत्।
जाग्रद्वा प्रहसन् स्वपन्नपि वने बिभ्यन्निषीदन्नपि।।
गच्छद् वर्त्मनि वेश्मनि प्रतिपदं कर्म प्रकुर्वन्नपि।
यः पञ्चप्रभु मंत्रमेकमनिशं किं तस्य नो वाञ्छितम्।।

-श्री उमास्वामी आचार्य

श्रुतार्थी भयजृम्भेष्टार्थारम्भस्खलने बुधैः।
शयने विस्मयादौ च स्मर्तव्यो व्रजिनो जिनः।।

-श्री वीरनंदि आचार्य

उठते, बैठते, चलते, फिरते समय, घर से निकलते समय, मार्ग में चलते समय, घर में कुछ काम करते समय पद—पद पर जो णमोकार मंत्र को जपते रहते हैं उनके कौन से मनोरथ सफल नहीं हो जाते हैं? अर्थात् संपूर्ण वांछित सिद्ध हो जाते हैं।

छींक आने पर, जंभाई लेने पर, खांसी आदि आने पर या अकस्मात् कहीं वेदना के उठ जाने पर या चिंता हो जाने पर, सोते समय और सोकर उठते ही और आश्चर्य आदि प्रसंगों में श्री जिनेन्द्रदेव का स्मरण करना चाहिए।

प्रवचन—69

जानें, तेरहद्वीप की रचना में क्या है?

(गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से तेरहद्वीप संबंधी एक वार्ता)

चन्दनामती—पूज्य माताजी! हस्तिनापुर में आपकी प्रेरणा से जैन भूगोल की अद्वितीय "तेरहद्वीप रचना" बनी है और उसमें लगभग दो हजार जिनप्रतिमाओं की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई है। सो उसके बारे में मैं जैन समाज के श्रद्धालु भक्तों तक सही जानकारी पहुँचाने हेतु आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहती हूँ।

गणिनी ज्ञानमती माताजी—ठीक है, पूछो जो पूछना है। तेरहद्वीप रचना तो करणानुयोग ग्रंथों के आधार से ही मैंने बताई है। मैं तो स्वयं चाहती हूँ कि सभी लोग उसकी पूरी व्यवस्था जाने-समझें, ताकि उन्हें ज्ञात हो कि इस वृहत ब्रह्माण्ड में हम लोग कहाँ निवास कर रहे हैं और पूरे ब्रह्माण्ड में कहाँ-क्या व्यवस्था है।

चन्दनामती—हाँ, मेरा भी प्रश्न करने का यही अभिप्राय है। माताजी! सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि मध्यलोक में द्वीप-समुद्र तो असंख्यात हैं, फिर तेरहद्वीपों को ही प्रधानता से क्यों बनाया गया है?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—इसका प्रमुख कारण यह है कि असंख्यात द्वीप-समुद्रों में प्रथम जम्बूद्वीप से लेकर तेरहवें रुचकवर द्वीप तक ही अकृत्रिम जिनमंदिर हैं, उसके आगे मंदिर नहीं हैं इसीलिए तेरहद्वीप तक के चैत्यालयों की पूजा-विधान करने की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है।

चन्दनामती—तो तेरहद्वीपों के आगे वाले द्वीप-समुद्रों में क्या रहता है?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—आगे के द्वीपों में केवल पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच जीव (युगलिया) रहते हैं और अंतिम स्वयंभूरमण द्वीप के आधे द्वीप तक (स्वयंप्रभ पर्वत के पूर्व भाग तक) जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था पाई जाती है, अर्थात् वहाँ सभी जगह पंचेन्द्रिय तिर्यंच युगलिया जीव भोगभूमि का जीवन व्यतीत करते हैं और उन द्वीपों में तथा समुद्रों में विकलत्रय जीव नहीं होते हैं।

चन्दनामती—फिर आधे स्वयंभूरमण द्वीप (स्वयंप्रभपर्वत के आगे) और अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र की क्या व्यवस्था है?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—वहाँ तो कर्मभूमि की व्यवस्था है और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के साथ विकलत्रय जीव भी वहाँ पाये जाते हैं। एक हजार योजन वाला महामत्स्य भी तो उसी स्वयंभूरमण समुद्र में रहता है।

चन्दनामती—ठीक है, यह तो हुई तेरहद्वीप से आगे की बात, अब जम्बूद्वीप से लेकर रुचकवर तक तेरहद्वीपों में कितने मंदिर आदि हैं उनके बारे में बताने की कृपा कीजिए?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—तेरहद्वीप में कुल चार सौ अट्ठावन अकृत्रिम जिनमंदिर हैं। इन अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना, अर्चना करने के लिए चारों प्रकार के देव-इन्द्र आदि हमेशा जाते रहते हैं।

चन्दनामती—पूज्य माताजी! इन्द्रध्वज विधान में भी तो इन्हीं तेरहद्वीप के 458 मंदिरों की पूजा आपने लिखी है, सो उसका क्या विशेष महत्व है?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—हाँ, तुमने ठीक कहा है कि इन्द्रध्वज विधान में भी इन्द्रगण इन्हीं तेरहद्वीपों के 458 अकृत्रिम मंदिरों की पूजा करते हैं। उसमें खास बात यह है कि इन्द्र उन सभी मंदिरों पर ध्वजा चढ़ाते हुए पूजा करते हैं इसलिए उस विधान का नाम ''इन्द्रध्वज'' सार्थक हुआ है।

चन्दनामती—यह कैसा सुखद संयोग है कि आपको सन् 1965 में तेरहद्वीप रचना की उपलब्धि ध्यानसाधना करके हुई और सन् 1976 में आपने उन्हीं चैत्यालयों के चिन्तनस्वरूप इन्द्रध्वज विधान बनाया पुनः सन् 1993 में हस्तिनापुर के जम्बूद्वीप परिसर में तेरहद्वीप रचना बनाने हेतु विशाल जिनालय का शिलान्यास हुआ और अब वह रचना साकार हो गई है। इसे देख-देखकर तो आपको बहुत संतोष होता होगा?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—हाँ, इस रचना को साकार हुआ देखकर मुझे अतिप्रसन्नता हो रही है दरअसल सबसे पहले सन् 1967 में मेरी प्रेरणा से ब्र. मोतीचंद जी (वर्तमान क्षुल्लक मोतीसागर) ने सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र पर तेरहद्वीप रचना बनाने के लिए बहुत बड़ी भूमि देख ली थी किन्तु वहाँ मेरे न रुकने के कारण वह रचना नहीं बन सकी पुनः सन् 1974 में संयोग बना हस्तिनापुर तीर्थ दर्शन का। इस तीर्थ के दर्शन करके मेरे मन में भावना हुई कि यहाँ तेरहद्वीपों में से एक द्वीप ''जम्बूद्वीप'' का निर्माण खुले मैदान में किया जावे, तो भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की जन्मभूमि का विकास भी हो जायेगा और जैनभूगोल के एक भाग का ज्ञान भी भौतिक जगत् को प्राप्त होगा। मेरी भावना साकार हुई और सन् 1985 में जम्बूद्वीप बनकर तैयार हुआ, तब से लाखों तीर्थयात्री जम्बूद्वीप दर्शन के साथ हस्तिनापुर की यात्रा करके महान पुण्यार्जनकरते हैं।

उसके बाद मैंने प्रेरणा दी कि एक जिनालय में मेरी मूलयोजना के रूप में तेरहद्वीप की रचना का भी निर्माण अवश्य हो। वह शीघ्र बन जाती, किन्तु पिछले सन् 1990 से मेरा भ्रमण देश के विभिन्न भागों में चलता रहा, इसलिए रचना बनने में व्यवधान पड़ा। अब एक वर्ष से मैंने ब्र.रवीन्द्र जी को तिलोयपण्णत्ति-त्रिलोकसार आदि ग्रंथों के आधार से पूरी रचना का रूपक बताया, उन्होंने पूरी रुचि लेकर कारीगरों से काम शुरू कराया तभी वह रचना बन सकी है।

चन्दनामती—मैंने तो स्वयं देखा है कि आपने इस तेरहद्वीप रचना के चैत्यालय आदि की संख्या, आकार, डिजाइन आदि हम लोगों को बताने में कितना परिश्रम किया है। आप तो वास्तव में हम लोगों की प्रेरणास्रोत हैं कि आज 73 वर्ष की उम्र में रूखा-सूखा अल्प आहार लेकर भी कभी खाली न रहकर काम में लगी हैं।

गणिनी ज्ञानमती माताजी—(हँसकर) पता नहीं मेरे पूर्व जन्म के क्या संस्कार हैं कि मैं जब जम्बूद्वीप या तेरहद्वीप के 1-1 भाग का अध्ययन करने लगती हूँ तो मैं भावों से साक्षात् उन्हीं अकृत्रिम चैत्यालयों के पास पहुँच जाती हूँ। अभी भी मैंने एक-एक दिन में 7-8 घंटे बैठकर जब पर्वतों एवं चैत्यालयों के डिजाइन, साइज आदि इंच और फुट में निकालती थी तो भले ही शारीरिक थकान बहुत हो जाती थी, किन्तु मानसिक संतुष्टि इतनी अधिक मिलती थी कि जैसे अमृत का पान कर लिया हो।

चन्दनामती—धन्य है आपकी तपस्या और लगनशीलता। पूज्य माताजी! अब मैं आपसे जानना चाहती हूँ कि इस तेरहद्वीप पंचकल्याणक में पाँच भगवन्तों को विधिनायक क्यों बनाया गया, क्या इसका कोई विशेष महत्त्व है?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—देखो चन्दनामती! इस विशेष रहस्य को बड़ी सूक्ष्मता से समझने की आवश्यकता है इसलिए तुम ठीक से इस विषय पर खुलासा करना।

तेरहद्वीपों में प्रारंभिक जो ढाईद्वीप (जम्बूद्वीप-धातकीखण्ड और पुष्करार्ध) हैं, वहाँ पाँच मेरु स्थित हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है-जम्बूद्वीप के बीचों बीच में सुमेरु पर्वत, पूर्वधातकीखण्ड में-विजयमेरु पर्वत, पश्चिम धातकीखण्ड में-अचलमेरु पर्वत, पूर्व पुष्करार्ध द्वीप में-मंदरमेरु पर्वत और पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप में विद्युन्माली मेरु पर्वत है। इन सभी मेरु संबंधी अलग-अलग भरत-ऐरावत-विदेह आदि क्षेत्र हैं जहाँ तीर्थंकरों के जन्म होते हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि जिस द्वीप में जिस तीर्थंकर का जन्म होता है उनका जन्माभिषेक उसी द्वीप में स्थित मेरु पर्वत की पाण्डुकशिला पर होता है। दूसरे द्वीप के मेरुपर्वत की पाण्डुकशिला पर उनका अभिषेक नहीं हो सकता है।

यहाँ पर चूँकि तेरहद्वीप के पंचकल्याणक हुए हैं, उस रचना में पाँचों मेरु तो हैं ही अतः वहाँ-वहाँ के 5 भरतक्षेत्रों में जन्में पाँच तीर्थंकरों को इसमें विधिनायक के रूप में रखने की मैंने प्रेरणा दी, इसीलिए पाँचों तीर्थंकर के पाँच माता-पिता के रूप में पाँच सौभाग्यशाली दम्पत्तियों का चयन किया गया। श्री जयसेन प्रतिष्ठापाठ (पृ. 233) में शरीर, कुल, जाति से शुद्ध कुलांगना को तीर्थंकर माता बनाने का विधान है।

यहाँ यह जरूर ध्यान देने योग्य है कि यदि तुम सोचो कि हम किसी भी पंचकल्याणक में किन्हीं पाँच तीर्थंकरों को विधिनायक करके उनके पाँच माता-पिता बना लें तो वह गलत हो जायेगा, क्योंकि एक मेरु संबंधी एक द्वीप के एक भरत क्षेत्र में एक बार में तो एक ही तीर्थंकर का जन्म होता है, उनके निर्वाण के बाद ही दूसरे

भगवान का जन्म हो सकता है इसलिए वर्तमानकालीन एक तीर्थंकर से अधिक को विधिनायक और उनके एक माता-पिता के अतिरिक्त दूसरे को माता-पिता नहीं बनाया जा सकता है। तेरहद्वीप की अलौकिक रचना के कारण ही मैंने यहाँ 5-5 की व्यवस्था रखी है।

चन्दनामती—पूज्य माताजी! इस तेरहद्वीप की रचना में जो 458 चैत्यालय हैं वे किस क्रम से उसमें विराजमान किये गये हैं?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—उनकी संख्या का क्रम ध्यानपूर्वक सुनो। मैं क्रम से तुम्हें बता रही हूँ-सबसे पहले हॉल में निर्मित की गई इस रचना के अंदर बीचोंबीच में जम्बूद्वीप दिखाया गया है। उसमें बीच में **सुदर्शनमेरु (सुमेरुपर्वत) के** चार वनों में 4-4 मंदिर ऐसे **16 मंदिर** हैं पुनः मेरु की चारों विदिशा में **गजदंतपर्वतों पर 1-1 ऐसे 4 मंदिर**, आगे मेरु के उत्तर-दक्षिण में उत्तरकुरु-देवकुरु में **जम्बूवृक्ष-शाल्मलिवृक्ष पर 1-1 ऐसे 2 मंदिर** पुनः सुमेरु के पूर्व-पश्चिम में 8-8 वक्षार ऐसे **16 वक्षार पर्वत के 16 मंदिर** पुनः पूर्व-पश्चिम में ही 16-16 विदेह क्षेत्रों के मध्य में 32 विजयार्ध + भरत-ऐरावत के 2 विजयार्ध पर्वत ऐसे कुल **34 विजयार्धों पर 34 मंदिर** और मेरु के दक्षिण-उत्तर में **छह कुलाचल पर्वतों पर 6 मंदिर** इस प्रकार 16+4+2+16+34+6=78 अकृत्रिम जिनमंदिर जम्बूद्वीप में हैं।

इसी प्रकार पूर्वधातकीखण्ड में विजयमेरु के साथ 78 जिनमंदिर हैं, पश्चिमधातकीखण्ड में अचलमेरु के साथ 78 मंदिर एवं 2 इष्वाकार के **ऐसे कुल 158 मंदिर** हैं और पूर्व पुष्करार्धद्वीप मे ंमंदर मेरु संबंधी 78 मंदिर, पश्चिम पुष्करार्ध में विद्युन्माली मेरु संबंधी 78 एवं इष्वाकार के 2 **ऐसे कुल 158 मंदिर** हैं। मानुषोत्तर पर्वत पर **4 मंदिर** है पुनः उसके आगे चौथे, पाँचवे, छठे और सातवें द्वीप में मंदिर नहीं है इसलिए इस रचना में भी उन्हें केवल 1-1 लाइन मात्र में दिखाया गया है और आठवें **नंदीश्वरद्वीप में 52 मंदिर** हैं पुनः नवमें-दशवें द्वीप में मंदिर नहीं है और ग्यारहवें कुण्डलवरद्वीप के मध्य में स्थित वलयाकार **कुण्डलवर पर्वत पर 4 मंदिर** हैं, बारहवें द्वीप को छोड़कर तेरहवें रुचकवर द्वीप के मध्य में स्थित गोलाकार **रुचकवर पर्वत पर 4 मंदिर** हैं। इस प्रकार 78+158+158+4+ 52+4+4=458 अकृत्रिम जिनमंदिर हैं। ये सभी मंदिर इस रचना में बहुत सुन्दर स्वर्णिम वर्ण के तथा कलाकृतिपूर्ण दर्शाये गये हैं। इन मंदिरों में स्वयं सिद्ध भगवन्तों की प्रतिमा विराजमान होंगी।

चन्दनामती—लेकिन इस तेरहद्वीप रचना में तो आपने और बहुत सारे मंदिर बनवाए हैं वे कैसे, कहाँ-कहाँ विराजमान किये गये हैं?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—इन 458 अकृत्रिम मंदिरों के अतिरिक्त सैकड़ों देवभवन हैं उनमें देव-देवी रहते हैं और उनके गृहचैत्यालय में सिद्ध भगवान की प्रतिमा रहती हैं

ऐसे लगभग 800 देवभवन इस रचना में बने हैं जो धातु से निर्मित रंग-बिरंगे हैं।

चन्दनामती—इनके अतिरिक्त वहाँ और क्या-क्या है?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—देखो! ढाईद्वीप में 170 कर्मभूमियों में तीर्थंकरों के 170 समवसरण भी बनाने की मैंने प्रेरणा दी है। उनमें समवसरण के प्रतीक में कमलासन चार-चार भगवान विराजमान हैं। इनके अतिरिक्त पूरी रचना में यथास्थान कुण्ड, नदी, सरोवर, गुफा, पर्वत, नाभिगिरि, वृषभाचल आदि के साथ भोगभूमियों में कल्पवृक्ष भी दिखाए गये हैं। इसमें भरत-ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्डों में कर्मभूमि के प्रतीक में मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका भी दिखाए गये है।

चन्दनामती—इस अभूतपूर्व रचना को तो आपके मुख से सुनकर ही रोमांच हो रहा है तो पूरी रचना को देखने वालों को तो बहुत ही प्रसन्नता होगी।

गणिनी ज्ञानमती माताजी—हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह रचना बहुत मनोहारी है। जैसे संसार में जम्बूद्वीप की रचना अभूतपूर्व है, उसी प्रकार यह तेरहद्वीप की रचना भी अभूतपूर्व ही है। पर्यटक और तीर्थयात्री तो इसके दर्शन का पुण्यलाभ लेंगे ही, शोधकर्ता विद्वानों को भी जैनभूगोल का ज्ञान प्राप्त करके असीम प्रसन्नता होगी।

मोक्षमार्ग में निर्विघ्न कौन चल सकते हैं?

मइधणगुहं जस्स थिरं सुदगुण वाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्ध लक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स।।

जिस मुनि के पास मतिज्ञान रूपी दृढ़ धनुष है, उस धनुष में श्रुतज्ञानरूपी डोरी है और भेद-अभेद रत्नत्रयरूपी अतिशयवान् वाणी है और जिसने परमार्थ में—निज आत्म स्वरूप में अपना लक्ष्य-निशाना लगा रखा है ऐसा मुनि मोक्षमार्ग से कभी भी च्युत नहीं हो सकता है।

लक्ष्य कौन प्राप्त कर सकता है?

जह ण वि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्जयविहीणो।
तह ण वि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स।।

जिस प्रकार निशाना लगाने के अभ्यास से रहित पुरुष लक्ष्य का वेध नहीं कर सकता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान से रहित अज्ञानी पुरुष मोक्षमार्ग में लक्ष्यभूत अपनी आत्मा के स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता है।

—भगवान श्री कुंदकुंददेव

प्रवचन–70

ढाई द्वीप में भोगभूमियाँ कितनी हैं?

चन्दनामती–पूज्य माताजी! इस ज्ञानवार्ता में मैं आपसे तेरहद्वीपों के अंदर होने वाली भोगभूमियों के बारे में कुछ प्रश्न करना चाहती हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी–पूछो, भोगभूमि के बारे में तुम्हारे क्या प्रश्न हैं?

चन्दनामती–सबसे पहले यह बतलाने की कृपा करें कि भोगभूमि किसे कहते हैं एवं वहाँ कैसी व्यवस्था रहती है?

श्री ज्ञानमती माताजी–भोगभूमि शब्द से ही उसका अर्थ प्रतिभाषित हो रहा है कि जिस भूमि पर भोगों की प्रधानता होती है उसे भोगभूमि कहते हैं। वहाँ पूर्णतया समाजवाद होता है। कोई गरीब-अमीर न होकर एक सदृश सुख सम्पन्न होते हैं क्योंकि वहाँ तो कल्पवृक्षों के द्वारा वे लोग भोग्य सामग्री प्राप्त करते हैं, उन्हें किसी प्रकार का परिश्रम नहीं करना पड़ता है।

चन्दनामती–ये भोगभूमियाँ कहाँ-कहाँ हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–मध्यलोक के ढाईद्वीपों में 30 भोगभूमियाँ हैं। उनका विस्तार मैं बतलाती हूँ कि किन-किन क्षेत्रों में भोगभूमि है-

1. जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं-भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत। इनमें से हैमवत, हरि, रम्यक् हैरण्यवत, देवकुरु, उत्तरकुरु ये 6 भोगभूमियाँ हैं। इसी प्रकार पूर्व धातकीखण्ड में 6, पश्चिम धातीखण्ड में 6, पूर्व पुष्करार्धद्वीप में 6 एवं पश्चिम पुष्करार्ध में 6 अतः कुल मिलाकर 6×5=30 भोगभूमि की संख्या है तथा इन ढाई द्वीपों में भरत, ऐरावत क्षेत्रों में षट्काल परिवर्तन के अंतर्गत भोगभूमि एवं कर्मभूमि दोनों प्रकार की व्यवस्थाएं चल रही हैं और विदेहक्षेत्रों में शाश्वत कर्मभूमि ही रहती है।

चन्दनामती–इन भोगभूमियों में कितने प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं-

पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और ज्योतिरंग।

पानांग जाति के कल्पवृक्ष मधुर, सुस्वादु, छह रसों से युक्त पुष्टिकारक बत्तीस प्रकार के पीने वाले पेय पदार्थ होते हैं।

तूर्यांग जाति के कल्पवृक्ष उत्तम वीणा, मृदंग, पटह आदि बजाने वाले वादित्रों को देते है।

भूषणांग कल्पवृक्ष कंकण, कटिसूत्र, हार आदि सौंदर्य को वृद्धिंगत करने वाले आभूषण प्रदान करते हैं।

वस्त्रांग कल्पवृक्ष चीनपट्ट, कौशेयादि सूती, रेशमी सभी तरह के वस्त्र देते हैं।

भोजनांग कल्पवृक्ष सोलह प्रकार के आहार, सोलह प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार की दाल, एक सौ आठ प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ त्रेसठ प्रकार के स्वाद्य पदार्थ एवं त्रेसठ प्रकार के रसों को दिया करते हैं।

आलयांग कल्पवृक्ष स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि सोलह प्रकार के दिव्य भवनों को मनुष्यों के रहने हेतु प्रदान करते हैं।

दीपांग कल्पवृक्ष शाखा, प्रवास, फल, फूल और अंकुरों के द्वारा जलते हुए दीपकों के समान प्रकाश को देते हैं।

भाजनांग कल्पवृक्ष सुवर्ण आदि निर्मित झारी, कलश, गागर आदि बर्तन प्रदान करते हैं।

मालांग जाति के कल्पवृक्ष बेल, तरु, गुच्छे और लताओं से उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पों की मालाओं को देते हैं।

ज्योतिरंग कल्पवृक्ष करोड़ों सूर्यों के किरणों के समान होते हुए नक्षत्र, सूर्य और चन्द्र आदि की रोशनी प्रदान करते हैं।

चन्दनामती–इन भोगभूमियों में केवल मनुष्य ही रहते हैं या तिर्यंच भी हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–तिर्यंच जीव भी रहते हैं, वे भी युगल रूप में वहाँ उत्पन्न होते हैं। किन्तु वहाँ परस्पर में वैरभाव नहीं होता, सभी तिर्यंच प्राणी शाकाहारी होते हैं मात्र हरी घास को खाकर ही वे उदरपूर्ति करते हैं।

चन्दनामती–सभी भोगभूमियाँ एक सदृश हैं अथवा इनमें कुछ उत्कृष्टता, मन्दता की अपेक्षा भेदभाव भी हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–उत्तम, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा इनमें भेद भी है। सो मैं बताती हूँ-

सभी द्वीपों के देवकुरु एवं उत्तरकुरु क्षेत्रों में उत्तम भोगभूमि है। यहाँ उत्पन्न होने वाले मनुष्य चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। उनकी आयु 3 पल्य प्रमाण होती है, शरीर की ऊँचाई 3 कोस होती है।

इसी प्रकार हरि और रम्यक् क्षेत्रों में मध्यम भोगभूमि होती है। यहाँ के लोग तीसरे दिन बहेड़ा बराबर भोजन ग्रहण करते हैं। उनकी आयु 2 पल्य की एवं शरीर की ऊँचाई 2 कोस होती है।

हैमवत, हैरण्यवत क्षेत्रों में जघन्य भोगभूमि होती है। यहाँ के मनुष्य एक दिन के अंतराल से आंवले के बराबर भोजन ग्रहण करते हैं। उनकी आयु एक पल्य एवं शरीर की ऊँचाई एक कोस होती है।

इन तीनों प्रकार की भोगभूमियों में दशों प्रकार के कल्पवृक्ष होत हैं, उपर्युक्त थोड़े से अंतर होते हैं, किन्तु सभी जगह चोर, शत्रु आदि की बाधाएं, असि, मषि आदि छह कर्म, सर्दी-गर्मी, प्रचण्ड वायु एवं वर्षा आदि नहीं होती है। इन भोगभूमियों में अकालमरण भी नहीं होता वे लोग अपनी पूर्ण आयु को भोगकर ही शरीर छोड़ते हैं।

चन्दनामती—पूज्य माताजी! मेरा एक प्रश्न और है किन कर्मों के उदय से जीव इन भोगभूमियों में जन्म लेते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—सत्पात्र-दिगम्बर साधुओं को आहारदान देने वाले या अनुमोदना करने वाले उपवास आदि से शरीर को कृश करने वाले, मधु-मांसादि का त्याग करने वाले यदि मिथ्यात्व भाव से युक्त होते हैं तो वे मिथ्यात्व मिश्रित पुण्य के प्रभाव से भोगभूमियों में जन्म धारण करते हैं। अथवा जिन्होंने पूर्वभव में मनुष्य आयु को बांध लिया है और उसके पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया है ऐसे कितने ही बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

कोई अज्ञानी जिनलिंग को ग्रहण करके छोड़ देते हैं, मायाचार में प्रवृत्त होकर कुलिंगियों को अनेक प्रकार के दान देते हैं वे भोगभूमि की तिर्यंच पर्याय में उत्पन्न होते हैं।

चन्दनामती—शायद कहीं ऐसा भी है कि वहाँ जन्म लेने वाले बालक-बालिका के जन्म लेते ही उनके माता-पिता मर जाते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ ऐसा ही नियम है कि भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों की नव मास आयु शेष रहने पर स्त्रियों को गर्भ रहता है और पति-पत्नी दोनों की मृत्यु का समय निकट आने पर युगल बालक-बालिका का जन्म होता है अर्थात् संतान के जन्म लेते ही माता-पिता मरण को प्राप्त हो जाते हैं। पुरुष को छींक और स्त्री कों जंभाई आते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं और उनके शरीर शरत्कालीन मेघ के सदृश तत्क्षण विलीन हो जाते हैं।

चन्दनामती—फिर उन बच्चों को संभालता कौन है? वे बड़े कैसे होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—यह प्रश्न होना तो स्वाभाविक ही है किन्तु वहाँ की तो व्यवस्था ही कुछ और है। भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले वे बाल युगल शय्या पर सोकर अंगूठा चूसते हुए तीन दिन निकाल देते हैं पश्चात् बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कला गुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यग्दर्शन की योग्यता, इनमें से क्रमशः प्रत्येक अवस्था में तीन-तीन दिन व्यतीत होते हैं अर्थात् इक्कीस दिन में ये युगल सात प्रकार की योग्यता को प्राप्त करके पूर्ण यौवन सहित सर्वकलाओं में कुशल हो जाते हैं। यह तो उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था मैंने बताई है। इसी प्रकार मध्यम भोगभूमियों में 5-5 दिनों में सातों कार्य होते हैं अतः 35 दिनों में वहाँ के युगल पूर्ण यौवन अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तथा जघन्य भोगभूमि में 7-7 दिनों में 7 अवस्थाएं सम्पन्न होती हैं अतः 49

दिनों में वहाँ के युगल सभी प्रकार की योग्यताएं प्राप्त कर लेते हैं।

चन्दनामती—आपने 30 भोगभूमियों के बारे में तो बतलाया ही है अब मैं यह जानना चाहती हूँ कि कुभोगभूमि किसे कहते हैं तथा वे कहाँ-कहाँ होती हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—करणानुयोग संबंधी ग्रंथों में जैसे-तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, सिद्धांतसार दीपक आदि ग्रंथों में इन विषयों का अच्छा खुलासा है। जहाँ पर पशुओं की मुखाकृति वाले मनुष्य जन्म लेते हैं उन्हें कुभोग भूमि कहते हैं। वे कुभोगभूमियाँ कहाँ-कहाँ पाई जाती हैं सो सुनो-

लवणसमुद्र में अड़तालिस कुभोगभूमियाँ हैं जिनमें कुमानुष निवास करते हैं। इनमें से 24 द्वीप तो लवण समुद्र के अभ्यन्तर भाग में हैं और 24 द्वीप बाह्य भाग में हैं अर्थात् लवणसमुद्र की चारों दिशाओं में चार, चारों विदिशाओं में चार, अन्तरदिशाओं में आठ, हिमवन आदि छह कुलाचल और विजयार्ध पर्वत के दो ये आठ इस प्रकार 24 द्वीप हैं। इसी प्रकार बाह्यभाग में 24 हैं अतः लवण समुद्र संबंधी 48 द्वीपों में कुभोगभूमि की व्यवस्था है।

ऐसे ही 48 कुभोगभूमियाँ कालोदधि समुद्र के अन्तर्गत हैं।

चन्दनामती—वहाँ पैदा होने वाले मनुष्य किस प्रकार के होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—कुभोगभूमि में मनुष्य युगलिया (स्त्री-पुरुष) के रूप में ही उत्पन्न होते हैं और 49 दिन में पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में वर्णन आया है कि ये सभी द्वीप वनखंड व तालाबों से रमणीय, फल-फूलों के भार से संयुक्त, मधुररस एवं जल से परिपूर्ण हैं तथा वहाँ पैदा होने वाले कुमानुषों की शारीरिक बनावट निम्न प्रकार है-

पूर्वादिक दिशाओं में स्थित चार द्वीपों के कुमानुष क्रम से एक जंघा वाले, पूछ वाले, सींग वाले और अभाषक अर्थात् गूंगे होते हुए इन्हीं नामों से युक्त होते हैं।

आग्नेय, वायव्य, नैऋत्य और ईशान इन विदिशाओं में स्थित चार द्वीपों के कुमानुष क्रम से शष्कुलीकर्ण-पूड़ी के समान कान वाले, कर्ण प्रावरण-रजाई के समान ओढ़े जाने वाले कान वाले, लम्ब कर्ण-लम्बे कान वाले और शशकर्ण-खरगोश के समान कान वाले होते हैं।

शष्कुलीकर्ण और एकोरुक आदिकों के बीच में अर्थात् अन्तरदिशाओं में स्थित आठ द्वीपों के वे कुमानुष क्रम से सिंह, अश्व, श्वान-कुत्ता, महिष-भैंसा, वराह-शूकर, शार्दूल-सियार, धूक-उल्लू और बंदर के समान मुख वाले होते हैं।

हिमवान पर्वत के समीपवर्ती पूर्व पश्चिम दिशाओं में क्रम से मत्स्यमुख व कालमुख तथा दक्षिण विजयार्ध के समीपवर्ती द्वीपों में मेषमुख व गोमुख वाले कुमानुष होते हैं।

शिखरी पर्वत के पूर्व-पश्चिम भाग में क्रम से मेघमुख व विद्युन्मुख तथा उत्तर

विजयार्ध के प्रणिधि भाग में आदर्शमुख व हस्तिमुख वाले कुमानुष होते हैं।

ठीक इसी प्रकार की व्यवस्था कालोदधि समुद्र के अन्तर्गत कुभोग भूमियों मेंभी है।

चन्दनामती—वहाँ के मनुष्य खाते-पीते क्या हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—इन कुभोग भूमियों में कल्पवृक्ष नहीं होते हैं। सभी कुमानुषों में जो एक जांघ वाले कुमानुष हैं वे गुफाओं में रहते हैं और मीठी मिट्टी खातेहैं। शेष सभी जगह के कुमानुष वृक्षों के नीचे रहकर फल-फूलों से जीवन व्यतीत करते हैं।

चन्दनामती—इसका मतलब तो यह रहा कि वहाँ के मनुष्य नाम मात्र से ही मनुष्य हैं किन्तु उनका जीवन तो पशुओं के समान ही व्यतीत होता है।

श्री ज्ञानमती माताजी—यह तो कर्मों का खेल है जो कुभोगभूमियों में जन्म लेते हैं उन्हें तो वहाँ की व्यवस्था के अनुसार ही जीना पड़ता है।

चन्दनामती—पूज्य माताजी? ऐसे कौन से कर्म हैं जिनके निमित्त से कुभोगभूमि में जन्म लेना पड़ता है?

श्री ज्ञानमती माताजी—तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के श्लोक नं. 2500 से 2511 तक इस प्रकरण का खुलासा है कि जो सदैव मिथ्यात्व में रत रहते हैं, मिथ्यादेवों की भक्ति में तत्पर रहते हैं, जो विषम पंचाग्नितप व कायक्लेश को करने वाले होते हैं और जो सम्यक्त्वरूपी रत्न से रहित अधन्य जीव अज्ञानरूपी जल में डूबते हुए प्राणी लवण समुद्र के द्वीपों में कुमानुष उत्पन्न होते हैं।

इसके अतिरिक्त जो लोग तीव्र अभिमान से गर्वित होकर सम्यक्त्व और तप से युक्त साधुओं का किंचित् भी अपमान करते हैं, जो दिगम्बर साधुओं की निंदा करते हैं, जो पापी संयम तप व प्रतिमायोग से रहित होकर मायासार में रत रहते हैं, जो ऋद्धि रस और सात इन तीन गारवों से महान होते हुए मोह को प्राप्त हैं, जो अपने दोषों की गुरुजनों के पास आलोचना नहीं करते हैं, जो गुरु के साथ स्वाध्याय व वंदनाकर्म नहीं करते हैं, जो दुराचारी मुनि संघ को छोड़कर एकाकी रहते हैं, जो सबके साथ कलह करते हैं, जो जिनलिंग को धारण कर घोर पाप करते हैं, जो अरहंत तथा साधुओं की भक्ति नहीं करते हैं, इत्यादि प्रकार से जो पाप क्रियाओं में रत रहते हैं वे इन द्वीपों में कुत्सित रूपों से युक्त कुमानुष उत्पन्न होते हैं।

चन्दनामती—उन कुमानुषों के शरीर की ऊँचाई और वर्ण कैसे होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—वे सब कुमानुष दो हजार धनुष ऊंचे, मन्दकषायी, प्रियंगु के समान श्यामल वर्ण वाले और एक पल्य प्रमाण आयु से युक्त होकर कुभोगभूमि में स्थिर रहते हैं।

चन्दनामती—क्या कहीं ऐसा भी वर्णन है कि वे कुमानुष मरकर कहाँ जन्म लेते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, तिलोयपण्णत्ति के 2514 नं. श्लोक में आया है-

तब्भूमिजोग्गभोगं भोत्तूणं आउसस्स अवसाणे।

कालवसं संपत्ता जायंते भवणतिदयम्मि।।

अर्थ—पश्चात् वे उस भूमि के योग्य भोगों को भोगर आयु के अंत में मरण को प्राप्त हो भवनत्रिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

इन कुभोगभूमियों में जो मनुष्य या तिर्यंच सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं वे सौधर्म युगल में उत्पन्न होते हैं।

सम्यग्दर्शन की संसार में अपूर्व महिमा है इसे प्राप्त करने वाले प्राणी कुभोग भूमियों में जन्म नहीं लेते हैं।

चन्दनामती—आज आपसे काफी ज्ञान की बातें हुई हैं। आपके श्रीचरणों में वंदामि करते हुए आज की लेखनी को विराम देती हूँ।

द्वादशांग श्रुतज्ञान कल्पतरु है

पुव्वंगविउल विडवं वत्थुवसाहाहि मडियं परमं।
पाहुडसाहाणिवहं अणिओयपलाससंछण्णं।।
अब्भुदयकुसुमपउरं णिस्सेयसअमदसादफलणिवहं।
सुददेवदाभिरक्खं सुकप्पतरुं णमंसामि।।

अर्थ—अंग—पूर्वरूप विशाल विटप से संयुक्त, वस्तुओं (उत्पादपूर्वादि के अन्तर्गत अधिकार विशेषों) रूप उपशाखाओं से मंडित, श्रेष्ठ, प्राभृतरूप शाखाओं के समूह से सहित, अनुयोगों रूप पत्तों से व्याप्त, अभ्युदय रूप प्रचुर पुष्पों से परिपूर्ण, अमृत के समान निःश्रेयस रूप फलों के समूह से संयुक्त और श्रुतदेवता से रक्षणीय ऐसे श्रुतरूप कल्पतरु को नमस्कार करता हूँ अर्थात् श्रुतज्ञान की उपासना-आराधना कल्पवृक्ष के समान फल देने वाली है।

—आचार्य पद्मनंदि

न बिना यानपत्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः।
नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः।।175।।

अर्थ—जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र नहीं तिरा जा सकता है, उसी प्रकार गुरु के उपदेश बिना यह संसाररूपी समुद्र नहीं तिरा जा सकता है।

(आदि पु. पृ. 9)

प्रवचन–71

दिगम्बर जैन साधु-साध्वियों की सामायिक

चन्दनामती–पूज्य माताजी! मैं आपसे जानना चाहती हूँ कि साधुओं की सामायिक के बारे में आगम क्या आज्ञा प्रदान करता है ?

श्री ज्ञानमती माताजी–सामायिक कब और कैसे करें, इस विषय में आगम प्रमाण बताती हूँ। सुनो–

साधुओं की सामायिक और देववंदना एक है। विधिवत् देववंदना करना इसी का नाम सामायिक है। ''सत्त्वेषु मैत्री'' आदि पाठ पढ़कर जाप्य आदि करके सामायिक करना और देवदर्शन के समय देववंदना क्रिया करना ऐसा नहीं है प्रत्युत त्रिकाल सामायिक के समय ही तीन बार देववंदना का विधान है। उसी को यहां सप्रमाण दिखाया जाता है।

मूलाचार में श्री कुन्दकुन्ददेव ने अट्ठाईस मूलगुणों का वर्णन करते हुए समता नाम के आवश्यक का लक्षण किया है–

जो जिदमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा, सामाइयं णाम।।23।।

इसकी टीका में श्री वसुनंदि आचार्य ने कहा है कि–

सामाइयं णाम-सामायिकं नाम भवति। जीवितमरणलाभालाभसंयोग विप्रयोगबन्ध्वरिसुख दुःखादिषु यदेतत्समत्वं समानपरिणामः त्रिकालदेववंदनाकरणं च तत्सामायिकं व्रतं भवति। अभिप्राय यह है कि जीवन-मरण, लाभ, अलाभ, संयोग-वियोग, बंधु-शत्रु और सुख-दुःख आदि में जो समान परिणाम का होना है और त्रिकाल में देवदर्शन करना है वह सामयिक व्रत है।

अन्यत्र सामायिक के नियतकालिक–अनियतकालिक ऐसे दो भेद करके नियतकालिक में त्रिकालदेववंदना और अनियतकालिक में समता भाव को रखना ऐसा कहा है।

आचारसार ग्रंथ में सामायिक आवश्यक का वर्णन करते हुए सिद्धांत चक्रवर्ती श्री वीरनंदि आचार्यदेव तीर्थक्षेत्र या जिनमंदिर में जाकर विधिवत् ईर्यापथशुद्धि और चैत्य-पंचगुरुभक्ति करने का आदेश दे रहे हैं। यथा–

समतोपेतचित्तो यः स तत्परिणतह्रयः,
प्रकृतो त्रायमन्यासु क्रियास्वेवं निरूपयेत् ।।22।।

सर्वव्यासंगनिर्मुक्तः संशुद्धकरणत्रयः,
धौतहस्तपदद्वंद्वः परमानंदमंदिरम् ।।23।।
चैत्यचैत्यालयादीनां स्तवनादौ कृतोद्यमः,
भवेदनंतसंसारसंतानोच्छित्तये यतिः ।।24।।
मत्वेति जिनगेहादिं त्रिपरीत्य कृतांजुलिः,
प्रकुर्वंस्तच्चतुर्दिक्षु सज्यावर्ता शिरोनतिम् ।।30।।
ईर्यागःशुद्धयै व्युत्सर्ग कृत्वासीनोनुकंपया,
आलोच्य समतां वर्या कुर्यादात्मेच्छयान्यदा ।।33।।
क्रियायामस्यां व्युत्सर्गं भक्तेरस्याः करोम्यहं,
विज्ञाप्येति समुत्थाय गुरुस्तवन पूर्वकम् ।।35।।
देवतास्तवने भक्ति चैत्यपंचगुरूभयोः,
चतुर्दश्यां तयोर्मध्ये श्रुतभक्तिर्विधीयते ।।43।।

इसका अर्थ यह है–

जो समता से उपयुक्त चित्त मुनि हैं वे उस सामायिक से परिणत भाव सामायिक हैं। यहाँ इस सामायिक में यह प्रकरण है अन्य क्रियाओं में भी इसका निरूपण करते हैं। सर्व क्रियाओं से रहित हुए मन, वचन, काय से शुद्ध होकर हाथ पैर धोकर परमानंद के स्थान ऐसे यतिराज अनंत संसार परंपरा को छेद करने के लिए जिनबिम्ब और जिनमंदिर आदि के स्तवन आदि करने में उद्यमशील होते हैं। चंपापुरी, पावापुरी आदि क्षेत्रों के समान पवित्र ऐसे जिनमंदिर आदि की हाथ जोड़कर तीन प्रदक्षिणा देते हुए चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करते हुए संसार समुद्र में डूबते हुए जनों के लिए हस्तावलंबन स्वरूप ऐसे जिनेन्द्रदेव की अर्चा-पूजा-वंदना करने के लिए मंदिर में प्रवेश करें।

वहाँ पहुँचकर ईर्यापथ शुद्धि करके कायोत्सर्ग करें पुनः बैठकर अनुकंपा से आलोचना करके समता भाव रूप-सामायिक को स्वीकार करें। इसके आगे इस क्रिया में देववंदना आदि क्रिया में इस चैत्यभक्ति का कायोत्सर्ग मैं करता हूँ ऐसी विज्ञापना करके उठकर गुरूस्तवन-णमोकार मंत्र स्तवन पूर्वक उठकर तीन आवर्त एक शिरोनति आदि क्रिया करें। यह तो कृतिकर्म का लक्षण हुआ। आगे कहते हैं कि देववंदना क्रिया में चैत्यपंचगुरू ये दो भक्तियां की जाती हैं और चतुर्दशी के दिन देववंदना में चैत्यभक्ति के बाद श्रुतभक्ति करके पंचगुरूभक्ति की जाती है इत्यादि।

चन्दनामती–अन्य चरणानुयोग ग्रंथों में भी सामायिक की कोई विधि है क्या ?

श्री ज्ञानमती माताजी–यही सारी विधि अनगार धर्मामृत में कही गई है। क्रियाकलाप ग्रंथ में भी छपी हुई है। अनेक प्रमाणों को उद्धृत कर ''दिगम्बर मुनि'' ग्रंथ में मैंने भी

स्पष्टीकरण किया है। विशेष जिज्ञासुओं को उन-उन ग्रंथों को देखना चाहिये। यहाँ तो मैंने संक्षेप में सामायिक और देवदर्शन की प्रयोग विधि बताई है।

दिनचर्या के प्रकरण में सूर्योदय से लेकर 48 मिनट तक इस देववंदना का काल अनगार धर्मामृत में कहा है। इसी ग्रंथ के आठवें अध्याय में 6-6 घड़ी का उत्कृष्टकाल कहा है एक घड़ी 24 मिनट की होती है।

तीनों संध्या सम्बन्धी देववंदना में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति तथा वंदना पाठ की हीनाधिकतारूप दोषों की विशुद्धि के लिए प्रियभक्ति (समाधिभक्ति) करना चाहिए।

इस देववंदना में छह प्रकार का कृतिकर्म भी होता है। यथा–

स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ताः।
द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम् ।।2।।

तथा-आदाहीणं, पदाहीणं, तिक्खुत्तं, तिऊणदं, चदुस्सिरं, वारसावत्तं चेदि।

(1) वंदना करने वाले की स्वाधीनता (2)तीन प्रदक्षिणा (3) तीन भक्ति सम्बन्धी तीन कायोत्सर्ग (4) तीन निषद्या–

1. ईर्यापथ कायोत्सर्ग के अनन्तर बैठकर आलोचना करना और चैत्यभक्ति सम्बन्धी क्रिया विज्ञापन करना, 2.चैत्य-भक्ति के अंत में बैठकर आलोचना करना और पंचमहागुरुभक्ति सम्बन्धी क्रिया विज्ञापन करना, 3.पंचमहागुरुभक्ति के अंत में बैठकर आलोचनाकरना। 4. चार शिरोनति, 5. बारह आवर्त। यही सब आगे सामायिक विधि में आता है।

वंदना योग्य मुद्रा–

मुद्रा के 4 भेद हैं– जिनमुद्रा, योग मुद्रा, वंदना मुद्रा, मुक्ताशुक्ति मुद्रा। इन चारों मुद्राओं का लक्षण क्रम से कहते हैं।

जिनमुद्रा– दोनों पैरों में चार अंगुल प्रमाण अंतर रखकर और दोनों भुजाओं को नीचे लटकाकर कायोत्सर्ग रूप में खड़े होना सो जिनमुद्रा है। योग मुद्रा– पद्मासन, पर्यंकासन और वीरासन इन तीनों आसनों की गोद में नाभि के समीप दोनों हाथों की हथेलियों को चित्त रखने को जिनेन्द्रदेव योगमुद्रा कहते हैं। वंदना मुद्रा– दोनों हाथों को मुकुलित कर और कुहनियों को उदर पर रखकर खड़े हुए पुरूष के वंदनामुद्रा होती है। मुक्ताशुक्ति मुद्रा– दोनों हाथों की अंगुलियों को मिलाकर और दोनों कुहनियों को उदर पर रखकर खड़े हुए आचार्य मुक्ता-शुक्ति मुद्रा कहते हैं।

देव वंदना के लिये जिनमंदिर में पहुँच कर हाथ-पैर धोकर "निःसहि" का तीन बार उच्चारण कर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करें। अनंतर "दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि" इत्यादि स्त्रोत पढ़ते हुए चैत्यालय की तीन प्रदक्षिणा देवें। पुनः "निःसगोऽहं जिनानां" इत्यादि दर्शनस्तोत्र पढ़कर यदि बैठकर सामायिक करना है तो खड़े होकर "ईर्यापथशुद्धि पाठ" से सामायिक शुरू करें। यदि खड़े होकर सामायिक करने की शक्ति नहीं है तो

बैठकर भी देववंदना कर सकते हैं इसका भी प्रमाण देखिये–

"साधुःपुनर्वंदनां यथोक्तविशेषणविशिष्ट सपर्यंकः सप्रतिलेखन-मुकुलितवत्सोत्संगितकर कुर्यात्। कया? अशक्तया। ऊर्द्धो यदि वदितुं न शक्नुयादित्यर्थः।"

साधु यदि खड़े होकर वंदना नहीं कर सकते हैं-असमर्थ हैं तो पर्यंकासन से बैठकर पिच्छी लेकर मुकुलित हाथ जोड़कर वक्षःस्थल के पास रखकर देववंदना करें।

चैत्यभक्ति पढ़ते-पढ़ते भी जिनप्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा देने का विधान हैं।

दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनंदीश्वरेषु हि।
वंद्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्तिं प्रदक्षिणा।।92।। अनगार धर्मामृत अ.8

चैत्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, योगिभक्ति और नंदीश्वर भक्ति पढ़ते-पढ़ते मंदिर में, निर्वाण क्षेत्रों में, योगियों की व जिनबिम्बों की प्रदक्षिणा करना चाहिए।

चन्दनामती– यह त्रैकालिक सामायिक पंचमकाल के साधुओं के लिए ही बताई है या चतुर्थकाल में भी साधु ऐसी ही सामायिक करते थे ?

श्री ज्ञानमती माताजी– बात यह है कि समताभाव रूप सामायिक तो साधु के सदाकाल रहती ही है किन्तु उपर्युक्त सामायिक की विधि मुख्य रूप से स्थविरकल्पी साधुओं के लिए बताई है। पंचमकाल में तो सभी स्थविरकल्पी ही हैं अतः उनके लिए तो त्रैकालिक सामायिक सर्वथा उपादेय ही है, हाँ, चतुर्थकाल में जो जिनकल्पी मुनि होते थे वे तो महीनों, वर्षों तक योग में लीन रहते थे उन्हें सामायिक ही क्या किसी व्यवहारिक क्रिया से कोई प्रयोजन नहीं होता था। किन्तु स्थविरकल्पी साधारण मुनि तो चतुर्थकाल में भी अवश्य करते होंगे क्योंकि साधुओं के अहोरात्र सम्बन्धी जो 28 कायोत्सर्ग होते हैं वे सामायिक के बिना अधूरे रह जायेंगे तथा 28 मूलगुणों में सामायिक नाम का एक मूलगुण भी है।

चन्दनामती– क्या केवल आत्मचिन्तन या जाप्यमंत्र करने से सामायिक पूरी नहीं होती है ?

श्री ज्ञानमती माताजी– आत्मचिंतन या जाप्यमंत्र तो चौबीस घण्टों में से कभी भी कितनी ही देर तक किया जा सकता है किन्तु विधिवत् त्रैकालिक सामायिक अवश्य करनी चाहिए, देववंदना (सामायिक पाठ) पढ़ने के बाद खूब आत्मचिंतन कर सकते हैं। एक समय भी यदि सामायिक प्रमादवश छूट जावे तो प्रायश्चित लेने का विधान है।

चन्दनामती– आज समयोचित आपसे उत्तर पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपके द्वारा प्रदत्त आगम प्रमाणों से सहित समाधान पाकर अनेकों साधु तथा जिज्ञासुगण अपने पत्रों द्वारा प्रसन्नता व्यक्त करते हैं। अतः आप इसी प्रकार अपने अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग से हम सभी को सम्बोधित करती रहें। इसी भावना के साथ आज की लेखनी को विराम देती हूँ।

प्रवचन–72

चारित्र से ही निर्वाण की प्राप्ति

चन्दनामती–पूज्य माताजी! वंदामि, माताजी! मैं आपसे जानना चाहती हूँ कि मोक्ष की प्राप्त का कारण क्या है?

श्री ज्ञानमती माताजी–दर्शन, ज्ञान हैं प्रधान जिसमें ऐसा चारित्र इस जीव को देवेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती के वैभव के साथ-साथ निर्वाण को प्राप्त करा देता है।'

चन्दनामती–'तो क्या चारित्र सांसारिक अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों फलों को दे सकता है?'

श्री ज्ञानमती माताजी–'हां, चूंकि उस चारित्र के दो भेद किये गये हैं-सराग और वीतराग। इसमें से जो सराग चारित्र है उसका फल तो देवेन्द्र, अहमिंद्र, धरणेंद्र और मनुजराज का वैभव ही है तथा परंपरा से मोक्ष भी है किंतु वीतराग चारित्र मोक्ष का ही कारण है।'

चन्दनामती–सराग चारित्र सम्यग्दर्शन सहित होता है या रहित ?

श्री ज्ञानमती माताजी–यह तो ऊपर ही कहा है कि जिसमें दर्शन और ज्ञान प्रमुख है वही चारित्र मोक्ष का कारण है तथा सरागचारित्र की परम्परा से मोक्ष का कारण है अतः यह भी दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन से सहित ही होता है।'

चन्दनामती–माताजी! यह चारित्र किस-किस गुणस्थान में होता है सो भी बतलाइये?'

श्री ज्ञानमती माताजी–तुम इस प्रश्न का उत्तर ध्यानपूर्वक सुनो! चौथे गुणस्थान में मात्र सम्यक्त्व है अतः उसे असंयत या अविरत कहते हैं अतः वहां संयम अर्थात् चारित्र नहीं है। पंचम गुणस्थान में देशचारित्र अर्थात् अणुव्रत होते हैं अतः उसमें संयमासंयम या देश संयम होता है। छठे गुणस्थान में सराग चारित्र होता है चूंकि यहाँ देव, धर्म, गुरू आदि के विषय में प्रशस्त राग विद्यमान है। सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग तरतम भाव से माना गया है। इस अपेक्षा से वीतराग चारित्र भी सप्तम से प्रारंभ होकर बारहवें तक पाया जाता है, आगे चारित्र का फल है सो ही देखिये–'मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग होता है, असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत गुणस्थान में तरतमता से शुभोपयोग होता है, अप्रमत्तसंयत आदि सप्तम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग होता है, आगे सयोगीजिन और अयोगीजिन अर्थात् तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हंत अवस्था में और चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल माना गया है।'

सर्वथा वीतरागता की दृष्टि से अर्थात् सिद्धांत ग्रंथों की अपेक्षा से ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती को ही वीतराग संज्ञा है, क्योंकि दशवें गुणस्थान तक कषायों का उदय विद्यमान है। इसलिए वहां तक का चारित्र भी सराग चारित्र कहा जा सकता है। उपर्युक्त अध्यात्म का कथन जो कि सप्तम से वीतराग चारित्र को मानता है उसमें बुद्धिपूर्वक रागादि का न होना ही विवक्षित है क्योंकि वहां ध्यान में निर्विकल्प अवस्था होने से उपयोग में राग आदि परिणाम नहीं पाये जाते हैं। इसलिये कथंचित् बुद्धिपूर्वक राग न होने की अपेक्षा सप्तम गुणस्थान से बारहवें तक वीतराग चारित्र है और कथंचित् किसी अपेक्षा अर्थात् सर्वथा राग के न होने से चारित्र मोहनीय जन्य कषायों का उदय न होने से पूर्ण निर्मल ऐसा वीतराग चारित्र ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में ही है।'

चन्दनामती–"आजकल पंचमकाल में कितने गुणस्थान तक होते हैं ?"

श्री ज्ञानमती माताजी–"आजकल सप्तम गुणस्थान तक हो सकते हैं। आगे के गुणस्थान उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी वालों के ही हैं।"

चन्दनामती–"ऐसा क्यों ?"

श्री ज्ञानमती माताजी–"क्योंकि क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले मुनि के तो नियम से वज्रवृषभनाराच नाम का उत्तम संहनन ही होना चाहिये और उपशम श्रेणी वाले के नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और वज्रवृषभनाराचसंहनन इन उत्तम संहननों में से ही कोई होना चाहिए। और ये तीनों संहनन इस पंचमकाल में पुरूषों में हो नहीं सकते हैं किंतु अर्धनाराच कीलित और असंप्राप्तसृपाटिका ये तीन हीन संहनन ही होते हैं। अतएव आजकल के मुनि उपशम या क्षपकश्रेणी पर नहीं चढ़ सकते हैं"।

चन्दनामती–ये श्रेणी क्या हैं ?"

श्री ज्ञानमती माताजी–"चढ़ते हुये परिणामों का अर्थात् विशुद्धि से वृद्धिंगत होते हुए परिणामों का नाम ही श्रेणी है। आठवें, नवमें, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों का उपशम करते हुए जाना, यह उपशम श्रेणी है और आठवें, नवमें, दशवें गुणस्थान में कषायों का क्षय करते हुये जाना क्षपकश्रेणी है। इस श्रेणी वाला जीव दशवें में मोहनीय का समूल नाशकर बारहवें गुणस्थान में जाकर ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्मों का नाशकर केवली हो जाता है अतः ये चार गुणस्थान क्षपक श्रेणी के हैं। उपशमश्रेणी वाला जीव नियम से नीचे गिरता है।"

चन्दनामती–पूज्य माताजी! कृपया एक बात और बताएं ?

श्री ज्ञानमती माताजी–"कहिये! वह क्या है ?"

चन्दनामती–"यहां भगवान् कुंदकुंद देव स्वयं ऐसा कह रहे हैं कि 'चारित्र से सुरराज- असुरराज धरणेन्द्र और मनुजराग का वैभव मिलता है और अन्यत्र ग्रंथों में

ऐसा कथन है कि सम्यग्दृष्टी जीव मरकर भवनवासी, व्यंतरवासी और ज्योतिषी देवों में जन्म नहीं ले सकता है पुनः असुरराज से भवनवासी देवों में जन्म लेने की बात कैसे कही ?''

श्री ज्ञानमती माताजी–''हाँ, तुमने शंका बहुत ही सुंदर उठाई है, इस विषय में श्री जयसेनाचार्य ने शंका उठाकर समाधान किया है। यथा-'असुरेषु मध्ये सम्यग्दृष्टिः कथमुत्पद्यते इतिचेत् निदानबंधेन सम्यक्त्व विराधनां कृत्वा तत्रोत्पद्यते इति ज्ञातव्यं।' असुरों में सम्यग्दृष्टि जीव कैसे उत्पन्न होते हैं? यदि कोई निदानबंध के द्वारा सम्यक्त्व की विराधना करते हैं तो वहां पर उत्पन्न हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

इसी प्रकार से सराग चारित्र युत भावलिंगी मुनि तपश्चरण करते हुए कदाचित् नारायण या प्रतिनारायण होने का निदान कर लेते हैं तो सम्यक्त्व की विराधना करके इन शलाका पुरूषों में जन्म ले लेते हैं। फिर भी सामान्य कथन की अपेक्षा से इस चारित्र को सराग चारित्र कह दिया गया है। ऐसे ही जो वीतराग चारित्र को साक्षात् मोक्षमार्ग का कारण कहा है उसमें भी यदि अधिक बारीकी से करणानुयोग की अपेक्षा देखें तो ग्यारहवें गुणस्थान में निश्चित ही वीतराग चारित्र है फिर भी वह गिरता है। यदि उसी गुणस्थान से मरण करे तो सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हो जाता है वहां पर देवराज के वैभव को प्राप्त कर लेता है। अथवा यदि नीचे उतर आता है और मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है तथा मरकर एकेंद्रिय आदि में चला जाता है तो कुछ अन्तर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गल परिवर्तन तक संसार में परिभ्रमण कर लेता है। पुनः वीतराग चारित्र भी साक्षात् मोक्ष का कारण कहां रहा ? यहां पर भी यही समाधान है कि क्षपकश्रेणी वाले वीतराग चारित्र की प्रधानता है। अतः इस अध्यात्म शास्त्र में जो 'भगवान् कुंदकुंद देव का कथन है और टीकाकार अमृतचंद्र सूरि का कथन है वह सामान्य की अपेक्षा से है। यह विशेष विवक्षा करणानुयोग की अपेक्षा रखती है।

करणानुयोग हीरे के कांटे जैसा तोल करने वाला है क्योंकि इसमें अणुमात्र की भी हानि-वृद्धि का प्रमाण बता दिया है तथा अध्यात्म आदि ग्रंथों में इतना बारीक विवेचन नहीं होता है। जैसे कि किसी ने कहा यह सहस्रदल कमल हैं तो उसमें हजार ही दल हों ऐसा नहीं किंतु एक दो कम या एक दो अधिक भी हो सकते हैं फिर भी वह कमल सहस्रदल ही कहा जाता है। इसी तरह यह कथन समझना चाहिए। भगवन्!

'संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुय राय विहवेहिं।
जीवस्य चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ।।6।।'

यदि इस गाथा में द्वितीय चरण को 'देव सुरमणुचरायविहवेहिं।' ऐसा बदलकर पढ़ें तो अर्थ ठीक हो जाता है अर्थात् देवों में जन्म लेते हैं तथा सुरराज एवं मनुजराज के वैभवों को प्राप्त करते हैं। इस अर्थ में असुरराज अर्थ नहीं आता है।'

'नहीं नहीं, ऐसा गाथा का चरण बदलना उपयुक्त नहीं है। देखो! श्री अमृतचंद्र सूरि ने भी वैसा ही अर्थ किया है किंतु गाथा को बदलने का अतिसाहस नहीं किया यथा–'सरागा देवासुरमनुजराजविभवक्लेश रूपो बन्धः।' सराग चारित्र से देवराज, असुरराज और मनुराज के वैभव रूप क्लेश का कारण ऐसा बन्ध होता है। ऐसे ही श्री जयसेनाचार्य भी 'देवासुर मनुष्यराज विभूतिजनक को' ऐसा पाठ रखते हैं। पुनः शंका उठाकर समाधान भी कर देते हैं। अतः जब इन उभय टीकाकारों ने गाथा को परिवर्तित करना नहीं सोचा तो हम और आप ऐसा क्यों सोचें।''

चन्दनामती–'ठीक है माताजी! आपकी आज्ञानुसार आचार्यों के वचनों को अपेक्षाकृत समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसा कि यहां पर सामान्य कथन की विवक्षा है उसी दृष्टि से अर्थ संगत हो जाता है।'

श्री ज्ञानमती माताजी–हां! इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि सरागचारित्र से निर्वाणसुख नहीं मिल सकता है। यदि मोक्ष मिलेगा तो वीतराग चारित्र से, सिद्धांत भाषा में शुक्ल ध्यान से ही मिलेगा क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करना शुक्ल ध्यान का ही काम है। ऐसे ही वीतराग चारित्र होगा तो सरागचारित्र वाले निर्ग्रन्थ मुनि के ही होगा न कि अव्रती या देशव्रती वस्त्रधारी के। यद्यपि वीतराग चारित्र की अपेक्षा सराग चारित्र हेय है फिर भी प्रारम्भिक अवस्था में धारण किया जाने वाला होने से और वीतराग को प्राप्त कराने वाला होने से कथंचित् उपादेय भी है ऐसा समझना।'

चन्दनामती–ठीक है माताजी! आपकी आगमसम्मत यह जानकारी प्रत्येक भव्यात्मा के लिए ग्राह्य है और मोक्ष की प्राप्ति में कारणभूत है। इस जानकारी के साथ ही मैं अपनी लेखनी को विराम देती हूँ।

शुभ ध्यान की महिमा

स्तोकममीहं न चाद्भुतमस्ति न्यस्य समस्त परिग्रहसंगम्।
यत्क्षणतो दुरितस्य विनाशं ध्यानबलाज्जनयंति बृहन्तः।।

इसमें किंचित् मात्र भी आश्चर्य नहीं है कि बड़े पुरुष समस्त परिग्रह का त्याग करके ध्यान के बल से क्षण मात्र में समस्त पापों का नाश कर देते हैं।

अर्जितमत्युरुकालविधानादिन्धनराशिमुदारमशेषम्।
प्राप्य परं क्षणतो महिमानं किं न दहत्यनिलः कणमात्रः।।

क्या बहुत काल से इकट्ठी की हुई ईंधन की बड़ी राशि को कणमात्र अग्नि अपनी विशाल महिमा से क्षणभर में भस्म नहीं कर देती है? अवश्य कर देती है।

–श्री रविषेणाचार्य

प्रवचन–73

''जिनेन्द्र देव की अष्टविध पूजा में स्थापना करना आवश्यक क्यों?''

चन्दनामती–पूज्य माताजी! मैं आपसे जिनेन्द्र पूजा से संबंधित कुछ जानकारी लेकर श्रद्धालुभक्तों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहती हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी–ठीक है, पूछो।

चन्दनामती–आगम के अनुसार पूजा की सही विधि क्या है? कृपया बताने का कष्ट करें।

श्री ज्ञानमती माताजी–पूजा विधि के परिज्ञान हेतु श्रावकों को श्रावकचार ग्रंथों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। जैसे उमास्वामी श्रावकाचार में आचार्यश्री उमास्वामी ने पूजा विधि बहुत अच्छी तरह बतलाई है–

आह्वाननं च प्रथमं, ततः संस्थापनम् परम्।
सन्निधीकरणं कृत्वा, पूजनं तदनन्तरम्।।147।।
ततो विसर्जनं कार्यं, ततः क्षमापणा मता।
पंचोपचारोपचितिः, कर्तव्याहर्निशं जनैः।।148।।

देखो! इन श्लोकों में स्पष्ट कहा है कि पूजा में सर्वप्रथम आह्वान, स्थापन और सन्निधीकरण करके अष्टद्रव्य से पूजन करें, पुनः विसर्जन करें। इस प्रकार प्रतिदिन पंचोपचारी पूजा करनी चाहिए। भगवान का अभिषेक पूजा के पहले किया जाता है अर्थात् अभिषेकपूर्वक पूजन करने से षट्प्रकारी पूजा हो जाती है।

चन्दनामती–लेकिन कुछ लोग यह कहते हैं कि जब भगवान की प्रतिमा सामने विराजमान ही है तो उनकी स्थापना चावलों से करने की क्या जरूरत है?

श्री ज्ञानमती माताजी–पूजा तो किसी न किसी भगवान के सामने ही मंदिर में की जाती है। घर में बैठकर फोटो आदि के सामने द्रव्य चढ़ाने से पूजा नहीं होती है। इसी उमास्वामी श्रावकाचार में पृष्ठ नं. 59 पर इस विषय पर विशेष खुलासा भी है–

''पूजा करने के पहले आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण अवश्य करना चाहिए। जो लोग आह्वानन नहीं करते हैं वे गहरी भूल करते हैं। ऐसे लोग कहते हैं कि जब भगवान की प्रतिमा सामने विराजमान हैं तब फिर आह्वानन करने की क्या आवश्यकता है परन्तु ऐसे लोग आह्वानन का अर्थ नहीं समझते हैं। जैन शास्त्रों में एक स्थापना निक्षेप

माना है। साकार या निराकार पदार्थ में किसी के गुण का आरोपण करना स्थापना निक्षेप है, जैसे सामने की विराजमान प्रतिमा में किसी तीर्थंकर की स्थापना है परन्तु आह्वानन स्थापन में जो स्थापना है वह स्थापना निक्षेप नहीं है, वह तो पूजा का एक अंग है।

जैसे किसी बड़े आदमी या छोटे आदमी को बुलाते हैं और वह बुलाया हुआ व्यक्ति जब सामने आ जाता है, तो उसके आदर-सत्कार के लिए कहा जाता है कि आइए साहब! अच्छे तो हैं आइए! यहाँ बैठिए। इस प्रकार कहना आदर सत्कार का एक अंग है। उसी प्रकार आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण भी पूजा या आदर सत्कार के अंग हैं। यदि बुलाने वाला मनुष्य आए हुए अतिथि को आइए, बैठिए इत्यादि वचन न कहे तो वह आया हुआ व्यक्ति अपना अनादर समझता है। उसी प्रकार यदि पूजा के पहले आह्वानन स्थापन न किया जाए, तो वह भी एक प्रकार से भगवान का अनादर समझना चाहिए। आह्वानन स्थापन का अर्थ भी 'आइए यहाँ विराजिए' यही होता है और इसीलिए वह पूजा का अंग माना जाता है।

प्राचीन एवं अर्वाचीन जितनी भी पूजाएँ हैं उन सबमें आह्वानन, स्थापन है इसलिए पूजा में आह्वानन, स्थापन न करना पूजा शास्त्र के विपरीत चलना है।''

चन्दनामती–आजकल श्रावकों की पूजा पद्धति में बहुत विवाद चलता है, इस विषय में आपका क्या अभिमत है?

श्री ज्ञानमती माताजी–बात यह है कि इस युग में आगम–जिनवाणी ही हम सबके लिए आधार है, उसके अनुसार यदि श्रावक और साधु क्रियाएँ करें तो कभी विवाद की स्थिति ही नहीं आ सकती है। जैसे-रयणसार, वसुनन्दि श्रावकाचार, उमास्वामी श्रावकाचार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि श्रावकाचार ग्रंथों में ही पूजा पद्धति का वर्णन है। इनका स्वाध्याय श्रावकों को अवश्य करना चाहिए।

चन्दनामती–क्या मुनि एवं आर्यिका आदि भी श्रावकों को पूजा का उपदेश दे सकते हैं? मैंने तो पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में पढ़ा है कि मुनि को मुनिधर्म का उपदेश ही देना चाहिए। यदि वे पहले गृहस्थधर्म का उपदेश देते हैं, तो दोष के भागी होते हैं।

श्री ज्ञानमती माताजी–पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में आचार्यश्री अमृतचन्द्र जी ने यह श्लोक कहा है–

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने, प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्।।

अर्थात् जो साधु अपने पास आए हुए भव्य श्रावक को पहले यति-मुनिधर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है वह जिनागम के अनुसार प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसका अभिप्राय यही खोला है कि यदि आगन्तुक भक्तश्रावक मुनिधर्म

ग्रहण करने में सक्षम है तो पहले श्रावक धर्म का उपदेश देने से वह वहीं तक सीमित रह जावेगा। जैसे ग्राहक के आने पर दुकानदार पहले तो अच्छा कीमती माल दिखाता है, तब ग्राहक यदि अर्थ सम्पन्न है तो ऊँची वस्तु खरीद लेता है अन्यथा उससे कम कीमत का माल दिखाने का अभिप्राय व्यक्त करता है, तब दुकानदार उसे दूसरा कम कीमत वाला माल दिखाकर संतुष्ट करता है। ठीक इसी प्रकार मुनि को तो श्रावक के लिए पहले मुनिधर्म का ही उपदेश देना चाहिए यदि वह गृहस्थ उसे धारण करने में असमर्थता व्यक्त करता है तो बाद में उसके लिए श्रावक धर्म का उपदेश देना चाहिए। जैसा कि पद्मपुराण के अनुसार अयोध्या के राजा श्री रामचन्द्र के भाई भरत के लिए ''द्युति'' नामक जैनाचार्य ने गृहस्थ धर्म का उपदेश देते हुए कहा था कि ''हे भरत! गृहस्थ धर्म भी मुनिधर्म का लघुभ्राता है।''

यहाँ तो केवल सबसे पहले अपने पास आए हुए श्रावक को उपदेश देने का क्रम बताया है, जिसका रहस्य तुमने समझ ही लिया है। आगे एक प्रमाण मैं प्रवचनसार का बताती हूँ उसमें आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती आचार्यों के लिए जिनेन्द्रपूजा के उपदेश का अधिकार बताया है।

दंसणणाणुवदेसो, सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं, जिणिन्द पूजोवदेसो य।।248।।

अर्थात् दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना, यह सब सरागी मुनि-शुभोपयोगी मुनियों की चर्या है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि में मुनियों के द्वारा दान पूजा आदि का उपदेश देना दोषास्पद नहीं है। किन्तु उपदेश पूर्वाचार्यों की परम्परानुसार ही देना चाहिए, अपने मन से या प्रान्तीय परम्परा के हठाग्रह से युक्त होकर आगम का अपलाप नहीं करना चाहिए। देखो! मैना सुन्दरी ने मुनिराज के उपदेश से ही सिद्धचक्र आराधना करके अपने पति एवं समस्त कुष्टियों का कुष्ट रोग दूर किया था। ऐसे कई उदाहरण ग्रंथों में मिलते हैं।

चन्दनामती—पूजा करने वालों को मुख्यरूप से किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

श्री ज्ञानमती माताजी—सबसे पहले तो पूजक के लिए उमास्वामी आचार्य ने निर्देश दिया है कि ''खण्डितवस्त्र (वस्त्र का टुकड़ा), गला हुआ वस्त्र, फटा हुआ वस्त्र और मैला वस्त्र पहन कर दान, पूजा, जप, होम और स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे वस्त्र पहनकर किया गया दान-पूजन आदि सब निष्फल हो जाता है।''

दूसरी बात शुद्ध जल से अष्टद्रव्य धोकर पूजन करनी चाहिए। तभी अशुभ कर्मों

की निर्जरा होती है। आठों द्रव्यों में से किसी भी द्रव्य के चढ़ाने में हिंसा या सावद्य की कल्पना नहीं करनी चाहिए क्योंकि आचार्यों ने कहा है कि—'जिस वायु से पर्वत के समान बड़े-बड़े हाथी उड़ जाते हैं उस वायु के सामने क्या डांस, मच्छर टिक सकते हैं? कभी नहीं। उसी प्रकार जिस पूजा से जन्म-जन्मान्तर के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं उस पूजा से क्या उसी से उत्पन्न होने वाली थोड़ी सी हिंसा नष्ट नहीं होगी? अवश्य होगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

मेरा तो कहना यही है कि उत्तम कुल में जन्म लेकर जब तक साधु बनने की शक्ति नहीं है, तब तक श्रावक-श्राविकाओं को खूब दान पूजा कर करके पुण्यार्जन करना चाहिए।

तीसरी बात पूजकों के लिए यह है कि अपने शरीर को शुद्ध करने के लिए भगवान् का गन्धोदक लेना चाहिए, चन्दन से तिलक लगाना चाहिए और सन्तति की वृद्धि के लिए शेषाक्षत ले लेना चाहिए।

चन्दनामती—शेषाक्षत किसे कहते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—पूजा करने के बाद बचे हुए अक्षतों को शेषाक्षत कहते हैं। पूजा के बाद उन अक्षतों को मस्तक पर लगाना चाहिए। आजकल इसकी परम्परा नहीं है किन्तु शास्त्रों में ऐसा उल्लेख आया है कि सुलोचना अपने पिता के पास शेषाक्षत लेकर गई थी।

इसकी जगह वर्तमान में यह परम्परा देखी है कि ठोना में जो स्थापना के चावल या लौंग होते हैं उन्हें लोग मस्तक पर चढ़ाते हैं, लेकिन इसका आगम में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। इस शेषाक्षत वाले प्रकरण से मुझे तो यही समझ में आता है कि जैसे चौके में साधुओं को आहार देने के पश्चात् थाली में बचे हुए भोजन को लोग पवित्र प्रसाद मानकर खाते और खिलाते हैं उसी प्रकार जिन द्रव्यों से भगवान् की पूजा की गई है उन बचे हुए चावल आदि को शेषाक्षत-पवित्र मानकर उन्हें मस्तक पर चढ़ाने का उल्लेख है। ऐसा ही मेरे गुरु आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज भी कई बार कहा करते थे।

चन्दनामती—आज आपसे चर्चा करने में यह निष्कर्ष निकला कि पूजा के प्रारंभ में स्थापना करना अति आवश्यक है क्योंकि आगम का विधान है।

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, यह तो मैंने जो कुछ भी बताया है श्रावकाचारों के आधार से ही है, मेरे मन का कुछ नहीं है। आह्वानन, स्थापन और सन्निधीकरण करने की भी अपनी एक विधि होती है, उसे उमास्वामी श्रावकाचार में देखना चाहिए, जहाँ पूजन संबंधी अन्य और भी निर्देश आचार्यश्री ने दिये हैं।

चन्दनामती—वंदामि माताजी! इस विषय को मैं यही विराम देती हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपके द्वारा प्रतिपादित पूजन पद्धति के विषय से श्रावक-श्राविकाएं अवश्य लाभ प्राप्त करेंगे। पुनः-पुनः आपके श्रीचरणों में वंदामि।

प्रवचन–74

''कुर्वेऽहं या करोम्यहं?''

चन्दनामती–पूज्य माताजी! इस परिचर्चा में मैं आपसे दिगम्बर जैन साधुचर्या और उनके प्रतिक्रमण संबंधी कुछ प्रश्न पूछना चाहती हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी–पूछो, क्या पूछ रही हो?

चन्दनामती–हम लोग जो प्रतिदिन दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण और चतुर्दशी को पाक्षिक प्रतिक्रमण करते हैं, उसमें सिद्ध, चैत्य आदि भक्तियाँ पढ़ने से पूर्व जो प्रतिज्ञा की जाती है जैसे–

''दैवसिक प्रतिक्रमण क्रियायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं'' इत्यादि पाठ पढ़ते हैं। पिछले कुछ वर्षों से कतिपय नई पुस्तकों में ''कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं'' पाठ छप रहा है, जबकि आप हम लोगों को 'करोम्यहं' ही पढ़ने को कहती हैं। इस विषय में जानना चाहती हूँ कि आप कुर्वेऽहं क्यों नहीं पढ़ती हैं तथा इस विषय में आगम प्रमाण क्या है?

श्री ज्ञानमती माताजी–डुकृञ्-करणे धातु से करोमि और कुर्वे ये दोनों क्रिया उत्तम पुरुष के एक वचन में बनती हैं। जिसमें 'करोमि' परस्मैपदी है और 'कुर्वे' आत्मनेपदी है। अहं कर्ता के साथ करोमि या कुर्वे क्रिया का प्रयोग किया जाता है।

इस विषय में आगम प्रमाण जो मुझे प्राप्त हुए हैं उनमें से अति प्राचीन ग्रंथ 'आचारसार' जो सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वीरनन्दि आचार्य द्वारा रचित है उसमें 'करोम्यहं' पाठ ही है। जैसे–''क्रियायामस्यां व्युत्सर्गं, भक्तेरस्याः करोम्यहं।'' इसका अर्थ यही है कि ''अस्यां क्रियायां अस्याः भक्तेः व्युत्सर्गं करोम्यहं'' अर्थात् इस क्रिया को करने में मैं इस भक्ति का कायोत्सर्ग करता हूँ। जहाँ जिस क्रिया में जो भक्ति पढ़ते हैं वहाँ उस क्रिया का नाम और भक्ति का नाम पढ़ते हैं।

दूसरा प्रमाण अनगार धर्मामृत में पाक्षिक प्रतिक्रमण के पाँच श्लोकों की स्वोपज्ञ टीका में 'करोम्यहं' शब्द का प्रयोग पन्द्रह बार टीकाकार ने किया है। जैसे-''सर्वातिचार विशुद्ध्यर्थं.....सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।''

तीसरा प्रमाण–दैवसिक और पाक्षिक प्रतिक्रमण जो कि ''क्रियाकलाप'' के आधार से सभी पुस्तकों में छपे हुए हैं उसमें पं. पन्नालाल जी सोनी ने प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के अनुसार 'करोम्यहं' पाठ ही सभी जगह दिया है।

चतुर्थ प्रमाण चारित्रसार ग्रंथ के पृष्ठ 146-147 पर मिलता है। जैसा कि देवतास्तवन क्रिया में लिखा है–

''चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्य.....''

''पंचगुरुभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्य.....''

इसी प्रकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य की टीका सहित सामायिकभाष्य नामक पुस्तक जो कि सोलापुर से प्रकाशित है, उसमें बड़ी सामायिक में भी 'करोमि' पाठ ही आता है।

प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ में भी ''करोम्यहं'' पाठ ही है।

मेरा तो कहने का तात्पर्य यही है कि सामायिक और प्रतिक्रमण की रचना करने वाले प्राचीन आचार्य निश्चित ही संस्कृत ज्ञान से परिपूर्ण थे उन्हें भी आत्मनेपदी और परस्मैपदी क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान था उनके ग्रंथों में ''करोमि'' क्रिया मिलती है अतः ''कुर्वे'' क्रिया अपने मन से लगाने का अधिकार हम लोगों को नहीं है। यह परिवर्तन किसने किया है मुझे पता नहीं।

देखो! मेरी नीति तो यह है कि कहीं कोई पाठ यदि अपने को नहीं जंचता है या शास्त्र से उसमें कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है तो उस भिन्न पाठ को टिप्पण में देना चाहिए, उसी में परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं करना चाहिए। स्वरचित अपनी कृति में कोई कैसा भी पाठ रख सकता है किन्तु दूसरे की कृति में परिवर्तन करना एक नैतिक अपराध भी है। जो लोग उपर्युक्त समस्त ग्रंथों का स्वाध्याय नहीं करते हैं वे तो पुराना, नया पाठ समझ ही नहीं सकते हैं। मेरा तो सभी विद्वानों से भी यही कहना रहता है कि किसी की कृति में अपने मन से कोई संशोधन न करें, ईमानदारीपूर्वक किसी भी भिन्न पाठ को टिप्पण में ही देवें, ताकि पाठक संशोधित पाठ को ही असली पाठ न समझ लेवें।

चन्दनामती–पूज्य माताजी! मेरा द्वितीय प्रश्न आपसे साधुओं की आहार चर्या के विषय में है। आपने तो हम लोगों को बतलाया है कि आहार शुरू करने से पूर्व चौके में ही प्रत्याख्यान निष्ठापन करके सिद्धभक्ति पढ़ो पुनः आहार शुरू करो किन्तु कुछ संघों में मैंने देखा है कि साधुगण आहारचर्या को निकलने से पूर्व ही गुरु के पास प्रत्याख्यान निष्ठापन कर लेते हैं। इस संबंध में आगम प्रमाण क्या है? कृपया बताने का कष्ट करें।

श्री ज्ञानमती माताजी–इस विषय में अनगार धर्मामृत और आचारसार इन दो ग्रंथों में बहुत स्पष्ट खुलासा है कि साधु चौके में पहुँचने के पश्चात् श्रावकों द्वारा नवधाभक्ति के अनंतर ही पूर्व दिन के ग्रहण किए गए प्रत्याख्यान की निष्ठापना करके लघु सिद्धभक्ति पढ़े, पुनः करपात्र की अंजुलि बनाकर भोजन ग्रहण करे क्योंकि सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान निष्ठापना के पश्चात् तो समस्त अन्तरायों का

पालन करना भी आवश्यक होता है।

अनगार धर्मामृत के पृ. 649 पर लिखा है–

''हेयं-त्याज्यं साधुना। निष्ठाप्यमित्यर्थः। किं तत्? प्रत्याख्यानादि-प्रत्याख्यानमुपोषितं वा। क्व? अशनादौ-भोजनारंभे। कया? सिद्धभक्त्या। किंविशिष्ट्या? लघ्व्या।''

अर्थात् चौके में नवधाभक्तिपूर्ण हो जाने पर जब श्रावक मुनि से आहार ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करते हैं तब वे मुनि अपने खड़े होने की जगह और दातार के खड़े होने की जगह को ठीक से देख लेते हैं कि कोई विकलत्रय आदि जीव जन्तु तो नहीं है। पुनः शुद्ध गरम प्रासुक जल से श्रावक द्वारा हाथ धुलाए जाने पर वे ''पूर्व दिन के ग्रहण किए गए प्रत्याख्यान या उपवास का सिद्धभक्तिपूर्वक निष्ठापन करके आहार शुरू करते हैं।''

इसी प्रकार आचारसार ग्रंथ में भी कहा है–

दातार के द्वारा पादप्रक्षाल आदि क्रियाओं के होने के बाद, उनके द्वारा प्रार्थना की जाने पर साधु सिद्धभक्ति करके प्रत्याख्यान का निष्ठापन करते हैं और समचतुरंगुल पाद से (पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर) खड़े होकर नाभि से ऊपर हाथ रखते हुए करपात्र में दातार द्वारा प्रदत्त आहार ग्रहण करते हैं।

पुनः अनगार धर्मामृत में वर्णन है कि आहार करने के पश्चात् साधु वहीं (चौके में) लघु सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण कर लें, इसके बाद गुरु के पास आकर लघुसिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़कर पुनः गुरु के पास प्रत्याख्यान ग्रहण करके लघु आचार्यभक्तिपूर्वक गुरु की वंदना करें। वे पंक्तियाँ अनगार धर्मामृत के पृ. 649 पर इस प्रकार हैं-

''आदेयं च-लघ्व्या सिद्धभक्तया प्रतिष्ठाप्यं साधुना। किं तत्? प्रत्याख्यानादि।

क्व? अंते प्रक्रमाद भोजनस्यैव प्रान्ते। कथं? आशु-शीघ्रं भोजनांतरमेव। आचार्यासन्निधावेतद्विधेयं।'' सूरौ-आचार्यसमीपे पुनर्ग्राह्यं प्रतिष्ठाप्य साधुना। किं तत्? प्रत्याख्यानादि। कया? लघ्व्या सिद्धभक्त्या लघुयोगिभक्त्या। तथा वंद्यः साधुना। कोऽसौ? स सूरिः। कया? सूरिभक्त्या। किंविशिष्ट्या? लघ्व्या।

चंदनामती– माताजी! जैसे आहार के बाद गुरु के पास प्रत्याख्यान ग्रहण करने की बात है वैसे ही आहार से पहले भी यदि गुरु के पास आहार प्रत्याख्यान निष्ठापन करके साधु आहार को जाते हैं तो क्या बाधा है?

श्री ज्ञानमती माताजी– सबसे बड़ी बाधा तो आगम आज्ञा का उल्लंघन है। जैसा कि ऊपर आगम पंक्तियाँ दी ही गई हैं। पहले गुरु के पास प्रत्याख्यान निष्ठापन इसलिए नहीं किया जाता है कि सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान निष्ठापन के पश्चात् समस्त अन्तरायों का पालन आवश्यक हो जाता है तथा मान लो किसी

कारण से आहार की विधि नहीं मिली तो अगले दिन आहार लेने तक उनको अप्रत्याख्यान में ही रहना पड़ेगा। अथवा किसी साधु का मार्ग में मरण हो जावे तो प्रत्याख्यानरहित मरण कहलाएगा किन्तु चौके में प्रत्याख्यान निष्ठापन करने पर इन दोषों की संभावना नहीं रहती है।

भोजन के अंत में वहीं (चौके में) प्रत्याख्यान ग्रहण करने में हेतु दिया है कि यदि कदाचित् गुरु के पास आते हुए मार्ग में मरण भी हो जाये तो वह प्रत्याख्यानपूर्वक होगा। बाद में दुबारा गुरु के पास भी विधिवत् प्रत्याख्यान ग्रहण करने का आदेश भी दिया है।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि आहार से पूर्व गुरु के पास प्रत्याख्यान निष्ठापन न करने से गुरु का कोई अपमान नहीं है बल्कि यह परम्परा कब से, किसने और किस आधार से चालू की है मुझे समझ में नहीं आता। साधु की तो प्रत्येक क्रिया के लिए आगम के आधार भरे पड़ें हैं। क्रियाकलाप में भी पृ. नं. 41 पर यही विधि है एवं हमें गुरुपरम्परा से भी यही विधि प्राप्त हुई है।

बात यह है कि अनगारधर्मामृत, मूलाचार और आचारसार आदि चरणानुयोग के ग्रंथों का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए उसी से इन सब क्रियाओं का ज्ञान होता है।

चंदनामती– वंदामि माताजी! आपसे आज इन दो प्रश्नों का समाधान पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपका ज्ञानरूपी वरदहस्त हम सबके मस्तक पर सदैव बना रहे, इसी कामना के साथ लेखनी को विराम देती हूँ।

दिगम्बर मुनि की निन्दा से सम्यक्त्व नहीं रहता

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजम पडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।।

जो स्वाभाविक नग्नमुद्रा धारी दिगम्बर मुनि को देखकर उन्हें नहीं मानता है उल्टा द्वेषभाव करता है वह संयम को प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि है।

–श्री कुन्दकुन्द देव

अन्यत्र भी कहा है-

''ण च गुरूणमच्चासणं कुणंतो सम्माइट्ठी होइ, विरोहादो।''

जो गुरुओं की आसादन करता है अर्थात् उन्हें दोष लगाता है, उनकी निंदा या अवहेलना करता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है क्योंकि दोष भी लगावे और सम्यग्दृष्टि भी बना रहे, इन दोनों बातों में परस्पर में विरोध है।

–जयधवला पु. प्र., पृ. 185

प्रवचन–75

निषद्या किसे कहते हैं?

चन्दनामती–पूज्य माताजी के श्रीचरणों में वंदामि! मैं आपसे जैनागम में वर्णित 'निषीधिका' शब्द के बारे में कुछ पूछना चाहती हूँ। कृपाकर मेरे कतिपय प्रश्नों का समाधान करने का कष्ट करें।

श्री ज्ञानमती माताजी–ठीक है, जो भी पूछना है पूछो।

चन्दनामती–'निषीधिका' शब्द का क्या अर्थ है? क्या आजकल जो शहरों के बाहर नशिया बनी रहती हैं उन्हें शास्त्रीय भाषा में निषीधिका कहते हैं या निषीधिका कोई और होती है?

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, किसी दृष्टि से उन नशियाओं को भी निषीधिका कह सकते हैं। वैसे शास्त्रीय भाषा में निषीधिका का अर्थ दूसरी तरह से है। श्री गौतम स्वामी कृत रात्रिक एवं दैवसिक प्रतिक्रमण जिसका पाठ प्रतिदिन मुनि और आर्यिकाएं करते हैं उसकी प्रतिक्रमण भक्ति में 'णमो णिसीहिए णमो णिसीहिए णमो णिसीहिए' ऐसा तीन बार पाठ आया है।

'णिसीहियाए' पाठ भी प्रभाचन्द्राचार्य की टीका में है। उन्होंने णिसीहियाए और णिसीधिए' दोनों पदों का अर्थ खोला है। उसमें निषीधिका के 17 अर्थ बतलाए हैं। जैसे–'णिसीहियाए-निषीधिकाशब्दोऽनेकार्थाभिधायी। तथाहि-1. जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि 2. तथा तदालयः 3. बुद्धयादिलब्धिसम्पन्न मुनयः 4. तैराश्रितानि क्षेत्राणि 5. अवधिमनःपर्यय-केवलज्ञानिनः 6. ज्ञानोत्पत्ति प्रदेशाः 7. तैराश्रितक्षेत्राणि 8. सिद्ध जीवाः 9. तन्निर्वाणक्षेत्राणि 10. तैराश्रितआकाशप्रदेशाः 11. सम्यक्त्वादिचतुर्गुण-युक्तास्तपस्विनः 12. तैराश्रितक्षेत्रम् 13. तत्त्यक्तशरीराश्रितप्रदेशाः 14. योगस्थितास्तपस्विनः 15. तैराश्रितक्षेत्रम् 16. तन्मुक्तशरीराश्रितप्रदेशाः 17. त्रिविधपण्डितमरणस्थिता मुन्यः।

चन्दनामती–इन सत्तरह भेदों के अर्थ बता दीजिए?

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ इनका अर्थ बताती हूँ। सुनो–

1. अरहंत और सिद्धों के कृत्रिम-अकृत्रिम जिनबिंब अर्थात् प्रतिमाओं को निषीधिका कहते हैं।

2. उन अरहंत-सिद्धों की प्रतिमाएं जहाँ विराजमान रहती हैं उन मंदिरों को निषीधिका कहते हैं।

3. बुद्धि आदि ऋद्धियों से सम्पन्न-सहित मुनिराजों को निषीधिका अर्थात् निषद्या कहते हैं।

4. उन ऋद्धि सम्पन्न मुनियों के रहने वाले स्थान को भी निषीधिका कहते हैं।

5. अवधि और मनःपर्ययज्ञानी मुनिराज तथा केवलज्ञानी महापुरुषों को निषीधिका कहते हैं।

6. मुनियों को अवधि, मनःपर्यय अथवा केवलज्ञान जिस स्थान पर उत्पन्न होता है उस स्थान को निषद्या कहते हैं।

7. इन तीनों ज्ञानों से युक्त मुनि जहाँ निवास करते हैं उस स्थान को भी निषीधिका कहते हैं।

8. निर्वाणपद को प्राप्त सिद्ध जीवों को निषीधिका कहते हैं।

9. जहाँ से जीव निर्वाणपद प्राप्त करते हैं उसे निषीधिका कहते हैं। जैसे-सम्मेदशिखर, चम्पापुर, पावापुर आदि।

10. सिद्ध जीवों से आश्रित आकाश प्रदेश को निषीधिका कहते हैं। जैसे-सिद्धशिला।

11. सम्यक्त्व आदि चार गुण–सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र, तप से युक्त तपस्वियों को भी निषीधिका कहते हैं।

12. इन चार गुणों से युक्त तपस्वियों के रहने वाले स्थान भी निषीधिका कहलाते हैं।

13. उन मुनियों की समाधि वाले स्थान को निषीधिका कहते हैं।

14. आतापन योग, अभ्रावकाश, वृक्षमूल आदि योगों में स्थित तपस्वियों को निषीधिका कहते हैं।

15. मुनिराज जहाँ योग धारण करते हैं उस स्थल को भी निषीधिका कहते हैं।

16. वे योगी जिस स्थान पर शरीर छोड़ते हैं–समाधिमरण को प्राप्त होते हैं उस स्थल को निषीधिका कहते हैं।

17. तीन प्रकार के पण्डित मरण–भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन मरणों में से किसी भी मरण के लिए स्थित मुनिराजों को निषीधिका कहते हैं।

ये 17 निषीधिका स्थान-निषद्या स्थल पूज्य होते हैं।

चन्दनामती–तो क्या इन्हीं भेदों के अन्तर्गत दिगम्बर मुनियों के समाधि स्थल को निषद्या मानकर वंदनादि की जाती है?

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चतुर्गुणों से सम्पन्न ऋषियों ने जहाँ शरीर का त्याग किया है उस स्थल को निषद्या मानने में वर्तमान साधुओं के समाधिस्थल भी निषद्या-निषीधिका कहलाते हैं। साधुओं की नैमित्तिक क्रियाओं में निषद्या वंदना नाम की क्रिया भी है जिसमें आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीनों की निषद्याओं की वंदना में अलग-अलग भक्तियाँ पढ़ने का विधान है।

जैसे–1. सामान्य साधु की निषद्या वंदना में सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति

पढ़कर समाधिभक्ति पढ़ी जाती है।

2. सिद्धांतवेत्ता साधु की निषद्या वंदना में सिद्ध, श्रुत, योग और शांतिभक्ति करके समाधिभक्ति पढ़ते हैं।

3. मूलगुणों के साथ-साथ उत्तरगुणधारी साधु की निषद्या वंदना में सिद्ध, चारित्र, योगि और शांतिभक्तिपूर्वक समाधिभक्ति की जाती है।

4. यदि वे सिद्धांतवेत्ता भी हैं तो सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि और शांतिभक्ति पढ़कर समाधि भक्ति करते हैं।

5. आचार्य की निषद्या वंदना में सिद्ध, योगि, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पुनः समाधिभक्ति।

6. यदि आचार्य सिद्धांतवेत्ता हैं तो सिद्ध, श्रुत, योगि, आचार्य और शांतिभक्ति, पुनः समाधिभक्ति।

7. यदि आचार्य सिद्धांतवेत्ता और उत्तर गुणधारी भी हैं तो उनकी निषद्या वंदनों में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि, आचार्य और शांतिभक्तिपुनः समाधिभक्ति पढ़कर नमोऽस्तु करते हैं।

चन्दनामती—कहीं-कहीं ऐसा भी देखा है कि समाधि होने के पश्चात् साधुओं के मृत शरीर की वंदना में भी संघस्थ साधुगण कुछ भक्तिपाठ पढ़ते हैं क्या यह भी आगम सम्मत है?

श्री ज्ञानमती माताजी—हाँ, तपस्वियों का मृत शरीर भी निषीधिका कहलाता है अतः उनके शरीर की वंदना में उपर्युक्त क्रम से ही भक्तियाँ पढ़ी जाती हैं। यह सारा वर्णन अनगार धर्मामृत, आचारसार, चारित्रसार आदि आचार ग्रंथों में पाया जाता है। इन अपेक्षाओं से जो शहर के बाहर नशियाएं बनी होती हैं वे भी किसी न किसी साधु की समाधि के निमित्त से अथवा मंदिर आदि होने से निषद्या कहलाती हैं।

वर्तमान के तीर्थस्थल, अतिशयक्षेत्र, निर्वाण क्षेत्र आदि सभी स्थान निषीधिका में गर्भित हो जाते हैं। उनमें कल्याणकों के अनुसार जो भक्ति पाठ नैमित्तिक क्रियाओं में आया है उसी क्रमानुसार भक्तियाँ पढ़कर क्षेत्रों की वंदना की जाती है।

अब दूसरे पद ''णिसीहिए'' का अर्थ देखो। श्री प्रभाचन्द्राचार्य की टीका में ''णिसीधिए'' पाठ है उसका व्युत्पत्ति अर्थ इस प्रकार किया है—

णि त्ति णियमेहिं जुत्तो सि त्ति य सिद्धिं तहा अहिग्गामि।
धि त्ति य धिदिबद्धकओ ए त्ति य जिणसासणे भत्तो।।

अर्थात् ''णि'' शब्द का अर्थ है जो नियमरत्नत्रय से युक्त हैं, 'सि' शब्द से जो सिद्धि के अभिमुख हैं, 'धि' शब्द से धृति-धैर्य गुण से बद्ध है कमर जिनकी अर्थात् जो धैर्य से सम्पन्न हैं एवं 'ए' शब्द से जो जिनशासन के भक्त हैं। इन चान विशेषणों से युक्त ऋषि-मुनि आदि के नमस्कार हेतु 'णिसीधिए' पद का प्रयोग किया गया है।

चन्दनामती—वंदामि माताजी! मैं लेखनी को यहीं विराम देती हूँ।

प्रवचन—76

जैनागम में वर्णित हवन विधि आवश्यक क्यों?

चन्दनामती—पूज्य माताजी! वंदामि, मैं आपसे श्रावकों द्वारा पूजा-विधानों के अंत में की जाने वाली हवन विधि के बारे में कुछ समयोचित बातें पूछना चाहती हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी—पूछो।

चन्दनामती—पूजा विधानों के समापन में एवं पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में अग्निकुण्डों में हवन क्यों किया जाता है?

श्री ज्ञानमती माताजी—ऐसा आगम का विधान है कि प्रत्येक पूजा-विधानों के अन्त में हवन अवश्य करना चाहिए अन्यथा वह यज्ञ अधूरा कहलाता है। सभी विधानों के शुभारंभ में विधानाचार्य पण्डित जी उस विधान के मूलमंत्र का जाप्यानुष्ठान सभी पूजकों से करवाते हैं, जो कि पूरे विधान तक किया जाता है। अन्त में सभी के मंत्रों का कुल जोड़ लगाकर उसकी दशमांश आहुति अग्नि में कराने की प्राचीन परम्परा है।

इसी प्रकार पंचकल्याणकों में भी प्रतिष्ठाचार्य इन्द्र-इन्द्राणियों से कई दिन पूर्व से ही पूजा-पाठ और मंत्र अनुष्ठान प्रतिष्ठा स्थल पर शुरू करवा देते हैं और विधिवत् उन मंत्रों की आहुतिपूर्वक हवन कराते हैं इसकी पूरी विधि जानने हेतु आचार्यश्री नेमिचन्द्र स्वामी द्वारा रचित प्रतिष्ठा तिलक आदि प्रतिष्ठा ग्रंथ देखना चाहिए।

चन्दनामती—हवन की वास्तविक (शास्त्रोक्त) विधि क्या है?

श्री ज्ञानमती माताजी—प्रतिष्ठा शास्त्रों के अनुसार हवन की विधि निम्न प्रकार है—

मंडप के सामने वेदी के सम्मुख चौकोर, गोल और त्रिकोण ऐसे तीन कुण्ड बनवाना चाहिए। यदि तीन कुण्ड बनवाने में असुविधा हो तो एक चौकोर कुण्ड बना लें। हवन करने वालों की संख्या यदि अधिक हो, तो अलग से स्थण्डिल बना लेना चाहिए।

पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा संपादित ''मंदिर वेदी प्रतिष्ठा-कलशारोहण विधि'' नामक पुस्तक में भी उन्होंने हवन से संबंधित प्रारंभिक जानकारी देते हुए उपर्युक्त बातें भी बताई हैं तथा पृ. नं.-74 पर हवन करने वालों के लिए विशेष नियम भी बताए हैं। जैसे-हवन के लिए साकल्य (धूप) आदि और समिधाएं (लकड़ी के टुकड़े) पहले से तैयार करके रखें। हवन करने वाले दो वस्त्र पहनकर हवन करें इसके बाद थोड़ी सी हवन क्रिया बताकर पृ.77 पर उल्लेख किया है—

''ॐ ह्रीं होमार्थं अग्नित्रयाधारभूतां समिधां स्थापयामि'' इत्यादि मंत्र बोलते हुए कुण्डों के अंदर समिधा (लकड़ी) स्थापित करें पुनः ॐ ॐ ॐ ॐ रं रं रं रं'' यह मंत्र

बोलकर कपूर जलाकर हवनकुण्ड में डालें अनंतर "ॐ ह्रीं श्रीं रं रं रं रं दर्भपूलेन ज्वालय ज्वालय नमः फट् स्वाहा" इस मंत्र का उच्चारण करते हुए डाभ के पूले से हवन कुण्ड की अग्नि संधुक्षित करें।

इसके बाद पण्डित पन्नालाल जी ने प्रतिष्ठाशास्त्रों के अनुसार तीनों कुण्डों को अलग-अलग मंत्रों द्वारा अर्घ्य चढ़ाने का नियम बताया है तथा पीठिका मंत्र, जाति मंत्र, निस्तारक मंत्र, ऋषि मंत्र, सुरेन्द्र मंत्र, परमराजादि मंत्र एवं परमेष्ठी मंत्रों से आहुतियाँ देना बताया है और जिस मंत्र का अनुष्ठान किया गया है उसकी दशांश आहुतियाँ भी देने के लिए लिखा है। स्वाहा बोलते हुए हवनकुण्डों में धूप, घी, लौंग, सप्तधान्य, समिधा आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं।

चन्दनामती—पूज्य माताजी! ये तीन कुण्ड किस अभिप्राय से बनाए जाते हैं, कृपया इस विषय में बताने का कष्ट करें।

श्री ज्ञानमती माताजी—आचार्यश्री जिनसेन द्वारा रचित आदिपुराण के द्वितीय भाग (भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित) में 40वें पर्व में उत्तरचूलिका रूप क्रियाओं के कथन में हवन विधि भी खूब अच्छी तरह बताई है। इसमें पृ. 301 पर श्री जिनसेन स्वामी कहते हैं—

कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः।
गार्हपत्याहवनीय दक्षिणाग्निप्रसिद्धयः।।84।।

अर्थात् गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नाम से प्रसिद्ध तीनों महाअग्नियों को तीनों कुण्डों में स्थापित करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि चौकोर कुण्ड तीर्थंकर कुण्ड कहलाता है, गोलकुण्ड गणधर कुण्ड के नाम से प्रसिद्ध है तथा त्रिकोण कुण्ड सामान्य केवली कुण्ड के नाम से जाना जाता है। शास्त्रों में वर्णन आता है कि तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवलियों के निर्वाण होने पर अग्नि कुमार इन्द्र आकर उन-उन नाम वाले चौकोर, गोल और त्रिकोण कुण्ड बनाकर अपने मुकुट से अग्नि जलाकर उनके परमौदारिक शरीर का संस्कार करते हैं इसीलिए चौकोर कुण्ड जिसमें तीर्थंकरों के शरीर का संस्कार होता है उसकी अग्नि को गार्हपत्य अग्नि कहा है, गोल कुण्ड जिसमें गणधरों के शरीर का संस्कार होता है उसे आहवनीय कुण्ड एवं उसकी अग्नि को आहवनींय अग्नि कहते हैं तथा त्रिकोणकुण्ड जो सामान्य केवलियों के अंतिम संस्कार से पवित्र है उसमें जलाई जाने वाली अग्नि दक्षिणाग्नि कहलाती है।

इन अग्नियों के लिए जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण के द्वितीय भाग में पर्व 40 में पुनः कहा है—

न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं, देवतारूपमेव वा।
किन्त्वर्हद्दिव्यमूर्तीज्यासम्बन्धात् पावनोऽनलः।।88।।

अर्थात् "अग्नि में स्वयं पवित्रता नहीं है और न वह देवतारूप ही है। किन्तु अरहन्तदेव की दिव्यमूर्ति की पूजा के संबंध से वह अग्नि पवित्र हो जाती है। इसीलिए ही द्विजोत्तम लोग इसे पूजा का अंग मानकर इसकी पूजा करते हैं। अतएव निर्वाणक्षेत्र की पूजा के समान अग्नि की पूजा करने में कोई दोष नहीं है।

चन्दनामती—यदि अग्नि में हवन न करके पीले चावलों से हवन विधि कर ली जावे तो क्या हानि है?

श्री ज्ञानमती माताजी—पीले चावलों से पुष्पांजलि हो सकती है, हवन नहीं। हवन का अभिप्राय ही यह है कि अग्नि में आहुति डालना। यदि पुष्पों से हवन किया जा सकता तो पूर्व के आचार्य और विद्वान् अग्नि में हवन करने की विधि क्यों बताते?

चन्दनामती—आजकल कुछ लोग कहते हैं कि धूप से हवन नहीं करना चाहिए क्योंकि पूर्वकाल में राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती का धूप के धुएं में दम घुटने के कारण मरण हो गया था। हवन के धुएँ से भी छोटे-छोटे अनेकों जीवों का घात संभव है अतः हवन-हिंसा का कारण माना जाता है। इस बारे में आपका क्या अभिप्राय है?

श्री ज्ञानमती माताजी—देखो! अपने स्वार्थ की पूर्ति करने हेतु लोग किसी भी शब्द और कथानक का अर्थ कैसा बदल देते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है। राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती के मरण में धूप का निमित्त ही नहीं था किन्तु कर्मचारियों की असावधानी उसमें प्रबल निमित्त थी कि वे धूप जलाने के बाद खिड़कियाँ खोलना भूल गए थे जिससे कमरे में धूएं की गैस भर गई और दोनों का मरण हो गया। दूसरी बात पंचेन्द्रिय विषय भोगों के निमित्त आचार्य ने स्वयं धिक्कारा है किन्तु भगवान की पूजा से उस कथन का तात्पर्य कथमपि नहीं है। जिन आचार्यश्री जिनसेन ने आदिपुराण के पर्व 9 के छंद 30 में भोगों को बुरा कहा है उन्हीं जिनसेन स्वमी ने तो पर्व 40 में हवनविधि का विस्तृत वर्णन किया है। अज्ञानी और सरल प्रवृत्ति वाले श्रावक-श्राविकाओं को अपने मन की एक पंक्ति दिखाकर उन्हें पुण्यक्रिया से वंचित करना अपराध नहीं तो क्या है? मेरा तो श्रावकों से भी यही कहना रहता है कि प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों को तुम स्वयं पढ़ो ताकि दिग्भ्रमित होने की गुंजाइश ही न रहे। अरे भाई! यदि भोजन करते हुए किसी की मृत्यु हो जाती है तो सभी भोजन मात्र का त्याग कर देते हैं? नहीं, उसी प्रकार हवन आदि क्रियाओं का निषेध तो कभी किया ही नहीं जा सकता। हाँ, विवेकपूर्वक इन क्रियाओं को करने का उपदेश अवश्य देना चाहिए।

तुमने दूसरी बात कही कि "हवन हिंसा का कारण माना जाता है" सो इस बारे में तो आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी ने अपने वृहत्स्वयंभूस्तोत्र के अन्तर्गत भगवान वासुपूज्य की स्तुति करते हुए कहा है—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषायनालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।।3।।

इसका अर्थ यह है कि "हे भगवन्! आप पूज्य हैं, जिन हैं। आपकी पूजा करने वाले मनुष्य के जो आरंभजनित थोड़ा सा पाप होता है वह बहुत बड़ी पुण्य की राशि में उसी प्रकार दोष का कारण नहीं है, जैसे शीतल जल से युक्त बहुत बड़े समुद्र में विष की कणिका डाल देने पर भी वह जल को दूषित नहीं कर सकती है।"

अर्थात् हवन करना, पूजन विधान, मंदिर निर्माण आदि प्रत्येक शुभ कार्य करनेमें जो थोड़ी बहुत हिंसा होती है वह उन्हीं कार्यों से संचित हुई महान पुण्यराशि मेंविलुप्त हो जाती है अतः जिनेन्द्रभक्ति संबंधी कार्यों में कभी हिंसात्मक भावना भी नहींलानी चाहिए।

इस बारे में पं. नाथूलाल जी शास्त्री-इंदौर वालों ने अपनी "जैन संस्कार विधि" नामक पुस्तक में अच्छा खुलासा किया है। देखें पृ. नं. 2-3 पर–

"संस्कार विधि" में प्रत्येक संस्कार में हवन करने का विधान है। लगभग 10 वर्ष से यह विचारधारा प्रचारित की जा रही है कि "हवन हिंसा का कारण है" जबकि मंदिरों में बिजली, पंखे और बिम्ब प्रतिष्ठाओं में बड़े-बड़े भोज व बिजली आदि में उससे भी अधिक हिंसा होती है। "गृहस्थ को सभी धार्मिक कार्य सावधानी और मर्यादापूर्वक करना चाहिए।" क्योंकि वह संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्यागी है। इसके पहले तो कभी किसी ने इस संबंध में किसी ग्रंथ का प्रमाण देकर हवन का निषेध नहीं बताया बल्कि सभी प्रतिष्ठा पाठों व महापुराण में हवन के मंत्र और अग्नि स्थापन के मंत्र तथा गोल, चौकोर व त्रिकोण कुण्डों का विधान बताया है। कोई भी शांतिमंत्र जपने पर जयसेन प्रतिष्ठापाठ के श्लोक 359-421 के अनुसार अग्निसंस्कार पूर्वक बिना दशांश हवन के पूर्ण नहीं माना जाता है। हवन के द्रव्यों व घृत को अग्नि में क्षेपण से वैज्ञानिकों ने अनेक लाभ बताए हैं। विविध रोगों की चिकित्सा और वातावरण की शुद्धि हवन से होती है। अभी हरिद्वार में हवन से बड़े-बड़े रोग दूर करने हेतु शोध संस्थान की स्थापना भी हो चुकी है।" यह बात पण्डित नाथूलाल जी शास्त्री ने लिखी है।

चन्दनामती–पूज्य माताजी! इस संबंध में एक प्रश्न और है कि हवन में प्रयुक्त होने वाली समिधा कैसी होनी चाहिए? इस बारे में भी क्या कोई प्रमाण है?

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, प्रतिष्ठातिलक में एक श्लोक आया है–

क्षीरद्रुमाणां च पलाशकानां, नवांगुलायामसमिद्भिरद्य।
द्वित्रयंगुलप्रमितनाहमयी भिरग्नौ करात्करोम्यष्टशतेन होमम्।।

अर्थात् आम्रपलाशादि वृक्षों की 9 अंगुल लम्बी एवं 2-3 अंगुल मोटी लकड़ियों से 108 बार आहुति देना चाहिए (यह समिधाहुति कहलाती है) अन्यत्र कहीं 12 अंगुल लम्बी समिधा से आहुति करना भी बताया है।

चन्दनामती–आपके श्रीचरणों में वंदामि। आपने अपना अमूल्य समय देकर आज बहुत सारी ज्ञान की बातें बताई हैं। आशा है पूजा-विधान करने वाले इस चर्चा से अवश्य लाभान्वित होंगे।

प्रवचन–77

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज के जीवन से संबंधित एक परिचर्चा

(पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी की)

क्षुल्लक मोतीसागर जी–वंदामि, माताजी!

गणिनी ज्ञानमती माताजी–बोधिलाभोऽस्तु!

मोतीसागर–पूज्य माताजी! आज मैं आपसे बीसवीं शताब्दी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर महाराज से संबंधित कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ। वर्तमान में आप उस परम्परा की सबसे वरिष्ठ और प्राचीन दीक्षित आर्यिका जी हैं तथा आपने आचार्यश्री के साक्षात् दर्शन करके उनकी अमूल्य शिक्षाएँ भी प्राप्त की हैं अतः मैं आपके माध्यम से प्राप्त कुछ आवश्यक जानकारियों से प्रबुद्ध जैन समाज को भी अवगत कराना चाहता हूँ।

माताजी–ठीक है, पूछो! मेरी जानकारी में आचार्यश्री से संबंधित जो भी विषय हैं, मैं अवश्य बतलाऊँगी।

मोतीसागर–आपने आचार्यश्री शांतिसागर महाराज के प्रथम दर्शन किस सन् में किए थे?

माताजी–सन् 1954 में नीरा (महाराष्ट्र) में मैंने क्षुल्लिका अवस्था में आचार्यश्री के प्रथम दर्शन किए थे।

मोतीसागर–उस समय आपको कैसा लगा और आचार्यश्री ने आपसे क्या वार्तालाप किया था?

माताजी–मुझे तो बहुत अच्छा लगा था क्योंकि आचार्यश्री की तपस्वी छवि में चतुर्थकालीन मुनि के दर्शन होते थे। मैं उस समय बहुत छोटी मात्र 20 वर्ष की थी फिर भी आचार्यश्री ने जब मेरे साथ गई क्षुल्लिका वीरमती जी से मेरा परिचय प्राप्त किया, तो बड़े खुश होकर मुझे "उत्तर की अम्मा" कहकर खूब वात्सल्यभाव से आशीर्वाद दिया था।

उन्होंने मुझसे सबसे पहली बात यही कही थी कि "अम्मा! अभी तुम्हारी उम्र बहुत ही छोटी है, तीस वर्ष तक किसी न किसी के साथ ही रहना, अकेली नहीं रहना। खूब धार्मिक अध्ययन करना, अनगार धर्मामृत, भगवती आराधना और समयसार अवश्य पढ़ना। मैंने भगवती आराधना 36 बार पढ़ी है।"

इसके अतिरिक्त और भी कई चर्चाएं उपगूहन अंग आदि के बारे में की थी, जो मैं

कई बार प्रवचनों में बताया करती हूँ। कुल मिलाकर उस समय मुझे ऐसा लगा कि मैंने मानो अमृत से ही स्नान कर लिया है और अब मुझे संसार का अंत करने वाले महान् गुरु प्राप्त हो गये हैं पुनः उनके पास 3 दिन रुककर मैं क्षुल्लिका विशालमती जी के साथ वापस जयपुर आ गई। उसके बाद मैंने बारामती (महाराष्ट्र) में आचार्यश्री के दर्शन सन् 1955 में किए और उसी सन् में आचार्यश्री की समाधि मुझे कुंथलगिरि में साक्षात् देखने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था।

मोतीसागर–पूज्य माताजी! उस समय देशभर में लगभग कितने साधु-साध्वी थे? कुछ को तो आपने भी देखा ही होगा?

माताजी–इस संबंध में मैं बताती हूँ कि उत्तर से दक्षिण भारत तक पूरे देश में उस समय लगभग 25 मुनिराज, 15-20 आर्यिकाएं थीं। (दक्षिण में कोई आर्यिका नहीं थीं), करीब 20-25 क्षुल्लक और 25 ही क्षुल्लिकाएं रही होंगी अर्थात् कुल मिलाकर 100 से अधिक पिच्छीधारी तो थे ही नहीं।

मैंने तब सन् 1955 में विशालमती अम्मा के साथ महाराष्ट्र के गांव रुकड़ी में (आचार्यश्री शांतिसागर जी के बड़े भाई) मुनि श्री वर्धमानसागर जी के दर्शन किये और निपाणी में मुनि श्री अनन्तकीर्ति जी के, सोलापुर में आचार्यश्री पायसागर जी के, मुम्बई में मुनि श्री नेमिसागर जी के, कोल्हापुर के पास एक गाँव में मुनि श्री महाबल जी के तथा चाकसू (राज.) में आचार्यकल्प श्री वीरसागर महाराज के संघ सहित दर्शन किये। इन संतों से मैंने कई अनुभवपूर्ण बातें भी सीखीं पुनः आचार्यश्री शांतिसागर महाराज की आज्ञा से सन् 1956 में मैंने उन्हीं के प्रथम पट्टशिष्य आचार्यश्री वीरसागर जी से आर्यिका दीक्षा प्राप्त की है।

मोतीसागर–उन आचार्यश्री के जन्म, दीक्षा, गुरु आदि के संबंध में भी कुछ संक्षिप्त जानकारी चाहता हूँ।

माताजी–ठीक है, मैं बताती हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुनो–

सन् 1872 में आषाढ़ कृष्णा षष्ठी के दिन महाराष्ट्र प्रान्त में कोल्हापुर जिले के 'येळगुळ' ग्राम में इनका जन्म हुआ था। पिता का नाम भीमगौंडा और माता का नाम सत्यवती था। सन् 1914 में ''उत्तूर'' ग्राम में उन्होंने मुनिश्री देवेन्द्रकीर्ति जी से ज्येष्ठ शुक्ला तेरस को क्षुल्लक दीक्षा ली तथा सन् 1920 में ''यरनाल'' में उनसे ही फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी को मुनिदीक्षा धारण की थी। पुनः सन् 1924 में ''समडोली'' ग्राम में चतुर्विध संघ द्वारा उन्हें आचार्यपद प्रदान किया गया। यही आचार्यश्री का संक्षिप्त परिचय है। आचार्य बनने के बाद उनका सन् 1928 में सम्मेदशिखर यात्रा के निमित्त उत्तरभारत में विहार हुआ, तब से यतिपरम्परा में निरन्तर वृद्धि हुई है उसी के फलस्वरूप आज लगभग 1100 साधु-साध्वी भारत में विचरण कर रहे हैं।

मोतीसागर–पूज्य माताजी! अभी कुछ दिन पूर्व नई चर्चा सामने आई कि शांतिसागर महाराज के गुरु मुनि श्री देवेन्द्रकीर्ति जी ने अपने शिष्य शांतिसागर जी से पुनर्दीक्षा ग्रहण की थी, तब उनका नाम मुनि सिद्धसागर रखा गया था। क्या यह बात सच है?

श्री ज्ञानमती माताजी–मैंने तो ऐसा कभी सुना नहीं। सन् 1954-55 में दक्षिण भारत में आचार्यश्री शांतिसागर महाराज से दीक्षित क्षुल्लिका श्री अजितमती अम्मा से भी मेरी मुनि श्री देवेन्द्रकीर्ति जी के बारे में बात हुई थी, तब उन्होंने मात्र इतना बताया था कि देवेन्द्रकीर्ति महाराज की आहारचर्या मात्र थोड़ी सी सदोष थी कि वे मंदिर के उपाध्याय के कहे अनुसार निमंत्रणपूर्वक श्रावक के घर में आहार को चले जाते थे और उधर की परम्परानुसार आहार के बाद श्रावक से दक्षिणा स्वरूप पैसे ले लेते थे, जो कि उपाध्याय को दे दिया करते थे। सो बाद में शांतिसागर जी की देखी गई आगमोक्त चर्यानुसार उसमें संशोधन करके निर्दोष मुनिचर्या का पालन करने लगे। बाकी न तो वे शांतिसागर महाराज के शिष्य बने थे और न पुनर्दीक्षा ली थी। इसलिए मेरा तो कहना यही है कि ऐसी भ्रान्त धारणाओं को प्रचार में नहीं लाना चाहिए।

मोतीसागर–माताजी! पूज्य आचार्यश्री ने अपने जीवन में व्यक्तिगत तपस्या के अतिरिक्त समाज को भी कुछ देन अवश्य दी होगी?

माताजी–उन महापुरुष की देन तो भला शब्दों में क्या बताऊँ मैं? मानो उनके जीवन का प्रत्येक क्षण आत्मकल्याण के साथ-साथ समाजकल्याण के लिए ही बना था। जैसे–चतुर्विध संघ बनाकर अनेक दीक्षाएं देकर जैन मुनिपरम्परा को पुनरुज्जीवित किया। कुम्भोज बाहुबली आदि अनेक तीर्थों पर जिनप्रतिमा स्थापित करने की प्रेरणा दी,षट्खण्डागम ग्रंथ को ताम्रपट्ट पर उत्कीर्ण कराकर जिनवाणी को स्थायित्व प्रदान किया एवं देशभर में मंगलविहार के द्वारा अपूर्व धर्मप्रभावना के कार्य किए हैं।

एक बात इसमें और ध्यान देने की है कि इतने महान कार्यों को करने के बाद भी आचार्यश्री का तप अविस्मरणीय रहा है, उन्होंने अपने 36 वर्षीय दीक्षित जीवन में 25 वर्ष 6 माह उपवास अनेक व्रतों के माध्यम से किये थे।

मोतीसागर–सुना है शांतिसागर महाराज से पूर्व कोई आचार्य नहीं थे?

माताजी–हाँ, बात तो सही है। उससे पूर्व कुछ मुनिराज तो थे लेकिन उनमें से कोई आचार्य पदवी के धारक नहीं थे। इसके अतिरिक्त भी पहले मुनियों की चर्या जो कुछ दोषास्पद थी उसे आचार्यश्री ने मूलाचार, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों के आधार से संशोधित किया था, इसके लिए उन्हें काफी कष्ट सहन करने पड़े

क्योंकि उस समय गृहस्थ श्रावकों को भी मुनियों की निर्दोष आहारचर्या आदि का ज्ञान नहीं था, वे एक घर में चौका लगाकर साधु को आहार के लिए निमंत्रणपूर्वक ले जाते थे।

मोतीसागर–इस बारे में तो मैंने भी कई बार सुना है कि आचार्यश्री प्रारंभ में केवल चावल और दूध ही आहार में लेते थे फिर धीरे-धीरे काफी पूछताछ के बाद गेहूँ की रोटी, सब्जी, फल आदि श्रावकों ने देना शुरू किया था। माताजी! लोग कहते हैं कि इस पंचमकाल में उपसर्ग सहन करने वाले सच्चे साधु होते ही नहीं हैं, तो उनके लिए आप क्या कहना चाहेंगी?

माताजी–देखो! दुराग्रही लोगों के लिए तो कोई भी प्रमाण देना बेकार है, वे तो बेचारे खुद ही कर्म के मारे होते हैं क्योंकि सच्चे को झूठा कहने वालों की गति कर्म सिद्धान्त के दर्पण में स्वयं झलक जाती है। आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी आदि आचार्यों ने भी पंचमकाल के अन्त तक सच्चे भावलिंगी साधु होना स्वीकार किया है। कहा भी है–**''भरहे दुस्समकाले, धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स। तं अप्पसहावठिदे, णहु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।'' अर्थात् ''इस दुःषमकाल में भरतक्षेत्र के अन्दर धर्मध्यान से युक्त साधु आत्मस्वभाव में स्थिर हुए रहते हैं, जो ऐसा नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं।''**

परमपूज्य आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के ऊपर आये उपसर्गों को देखने और दूर करने वाले कतिपय श्रावक-श्राविकाएं आदि तो आज भी दक्षिण भारत में विद्यमान हैं। मैंने तो लोगों के मुँह से सुना और ''चारित्रचक्रवर्ती'' पुस्तक में पढ़ा है कि ''आचार्यश्री एक बार कोन्नूर की गुफा में ध्यान कर रहे थे तो भयंकर सर्प उनके शरीर पर घंटों क्रीडा करके चला गया। एक बार उनके शरीर पर चीटियों का बड़ा भारी उपसर्ग रहा, तो भी वे गजकुमार मुनि के समान ध्यान में निश्चल रहे। दो-तीन दिन गुफा से बाहर नहीं निकलने पर श्रावकों ने वहाँ जाकर देखा, तब चीटियाँ हटाईं और आचार्यश्री के लहूलुहान शरीर को साफ किया।

अब तुम खुद ही बताओ कि ये आचार्य महाराज तो अभी लगभग 80-90 वर्ष पूर्व ही हुए हैं और ऐसे तिर्यंचकृत कई उपसर्ग सहन किए हैं। उन्हें नहीं मानने वालों को कर्महीन या अभागे से ज्यादा और क्या कहा जा सकता है?

मोतीसागर–माताजी! प्रतिवर्ष भादों शुक्ला दूज को आचार्यश्री की पुण्यतिथि आती है, उसे मनाने के लिए आपका समाज के लिए क्या संदेश है?

माताजी–मुझे तो सन् 1955 का वह दृश्य याद करके आज एकदम विह्वलता सी आ रही है। जब एक माह तक कुंथलगिरि में रहकर मैंने रोज आचार्यश्री के दर्शन के साथ-साथ उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति, जिनेन्द्रभक्ति और आत्मा के प्रति लगन देखने का जो

सौभाग्य प्राप्त किया है उसके आधार पर मैं भारत की समस्त दिगम्बर जैन समाज को यही प्रेरणा देना चाहती हूँ कि ''चारित्रचक्रवर्ती पदवी को सार्थक करने वाले आचार्यश्री शांतिसागर महाराज की प्रतिमाएँ और उनके श्रीचरण अपने-अपने मंदिरों में विराजमान करें, प्रतिदिन उनकी पूजा-अर्चना- गुरुभक्ति करें और उनकी पुण्यतिथि के अवसर पर खूब प्रभावनात्मक वैराग्यसभाएं आयोजित करें, उनके जीवन परिचय पर भाषण प्रतियोगिता, प्रश्नमंच, आरती, चालीसा, सामूहिक पूजन आदि कार्यक्रम रखें और आचार्यश्री के गुणों का स्मरण कर गुरुनिंदा न करने का संकल्प लेवें तथा पं. सुमेरचन्द्र जैन दिवाकर द्वारा लिखित ''चारित्रचक्रवर्ती'' पुस्तक का स्वाध्याय बच्चे-बूढ़े सभी को अवश्य ही करना चाहिए।

पूज्य गुरूणांगुरु आचार्यश्री शांतिसागर महाराज के चरणों में मेरी तो यही विनम्र श्रद्धांजलि है कि आपके समान मुझे भी वीरमरण करने का अवसर प्राप्त हो तथा वैसी ही कुछ शारीरिक-आत्मिक दृढ़ता मिले ताकि स्त्रीपर्याय का छेदकर शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति हो।

मोतीसागर–आज आपसे पूज्य आचार्यश्री के बारे में अनेक जानकारियाँ मिली हैं, मैं समझता हूँ कि इन बातों से समाज अवश्य मार्गदर्शन प्राप्त करेगी। आपके चरणों में वंदामि करते हुए मैं इस वार्ता को विराम देता हूँ।

गार्हस्थ धर्म भी पूज्य है

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरूच्चैः,
पात्रेभ्यो दानमापन्नहितजनकृते तच्च कारूण्यबुद्धया।
तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रततरतिममलं दर्शनं यत्र पूज्यं,
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः।।13।।

जहाँ पर जिनेन्द्रदेव की आराधना की जाती है, गुरुओं का विनय किया जाता है, धर्मात्माओं के साथ अतिशय प्रीति रहती है, पात्रों को दान दिया जाता है एवं आपत्ति से पीड़ित प्राणियों को दयाबुद्धि से करुणा दान दिया जाता है, तत्त्वों का अभ्यास किया जाता है, अपने व्रतों में अर्थात् दान-पूजा आदि क्रियाओं तथा पंचअणुव्रत आदि व्रतों में प्रेम किया जाता है, निर्मल सम्यग्दर्शन धारण किया जाता है, वह गृहस्थावस्था विद्वानों के द्वारा पूज्य है। किन्तु इससे विपरीत गार्हस्थ्य जीवन इस संसार में दुःखदायक मोह का जाल ही है।

श्री पद्मनंदि आचार्य

प्रवचन–78

भवनवासी असुरकुमार देव : एक वार्ता

(पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी की)

क्षुल्लक मोतीसागर जी–वन्दामि माताजी!

श्री ज्ञानमती माताजी–समाधिरस्तु!

मोतीसागर–माताजी! आपसे देवों के विषय में कुछ विशेष जानकारी चाहता हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, सुनो देवगति नाम कर्म के उदय से देवों में जन्म होता है। इन देवों के चार भेद हैं-भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक ।

मोतीसागर–भवनवासी देवों के कितने भेद हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी–भवनवासी के दश भेद हैं- असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार।

मोतीसागर–इन दश भेदों में चालीस इंद्र कैसे होते हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी–इन प्रत्येक भेद में दो-दो इन्द्र और दो-दो प्रतीन्द्र होने से चालीस भेद हो जाते हैं।

मोतीसागर–आज मैं आपसे असुरकुमार देवों के बारे में विशेष जानना चाहता हूँ, पहले यह बताइये कि ये रहते कहाँ हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, सुनिये । अधोलोक में सात "पृथिवी " हैं, इनमें से प्रथम पृथिवी-रत्नप्रभा के तीन भेद हैं-खरभाग, पंक बहुल भाग और अब्बहुल भाग । असुरकुमार जाति के देवों के भवन पंकबहुल भाग में हैं और शेष नव प्रकार के देवों के भवन खर भाग में हैं।

मोतीसागर–भवनवासी देवों के कुल कितने भवन हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी–सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं। इनमें से असुरकुमार देव के चौंसठ लाख भवन हैं। इनका विस्तार ऐसा है। असुरकुमार जाति में दो इन्द्र हैं उनके नाम हैं-चमर और वैरोचन। चमरेन्द्र के चौतीस लाख भवन हैं और वैरोचन के तीस लाख।

भवनवासी देवों के निवास तीन प्रकार के माने गये हैं-भवन, भवनपुर और आवास। रत्नप्रभा पृथिवी में स्थित निवास स्थानों को भवन, द्वीप-समुद्रों के ऊपर स्थित निवास स्थानों को भवनपुर और रमणीय पर्वत, तालाब तथा वृक्षादिक के ऊपर स्थित निवास स्थानों को आवास कहते हैं। नागकुमार आदि देवों में से किन्हीं के तो भवन, भवनपुर और आवास ये तीनों तरह के निवास स्थान होते हैं, परन्तु असुरकुमारों के केवल एक भवनरूप ही निवास स्थान होता है।

मोतीसागर–इन भवनवासी देवों के असुरकुमार जाति के देवों के मुकुटों में चिन्ह कौन-सा होता है और इनके भवन कैसे होते हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी–इनके मुकुटों में चूड़ामणि का चिन्ह रहता है। इन देवों के भवन सम चतुष्कोण होते हैं और उनमें वज्रमय द्वार होते हैं। ये भवन तीन सौ योजन ऊँचे, विस्तार में कोई संख्यात योजन वाले और कोई असंख्यात योजन वाले होते हैं। संख्यात योजन विस्तृत भवनों में संख्यात देव और असंख्यात योजन विस्तृत भवनों में असंख्यात देव रहते हैं।

मोतीसागर–प्रत्येक देवों के भवन में जिनमंदिर माने हैं, वे कहाँ हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी–प्रत्येक भवन के मध्य में एक सौ योजन ऊँचे, वेत्रासन के आकार वाले, रत्नमय महाकूट स्थित हैं। इन कूटों के मूल में और ऊपर चारों तरफ दिव्य वेदियाँ हैं। प्रत्येक महाकूट के ऊपर जिनमंदिर हैं ये अनादिनिधन-अकृत्रिम हैं। ये मंदिर श्रेष्ठ रत्न एवं सुवर्ण से निर्मित बहुत ही सुंदर बने हुए हैं।

जिनमंदिर के चारों तरफ चार गोपुर द्वार सहित तीन परकोटे हैं। प्रत्येक वीथी में एक मानस्तंभ, नौ स्तूप तथा परकोटों के अंतराल में क्रम से वन-भूमि, ध्वजभूमि और चैत्यभूमि हैं। इन जिनमंदिर में चारों वनों में एक-एक दिशा में एक-एक वन हैं– अशोक, सप्तच्छद, चंपक और आम्रवन। इन वनों में एक-एक चैत्यवृक्ष है। ध्वजभूमि में सिंह, गज, बैल, गरूड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, कमल और वक्र इन चिन्हों से अंकित चिन्हवाली एक सौ आठ महाध्वजाएँ होती हैं।

इन जिनमंदिर में वंदन मंडप, अभिषेक मंडप, नर्तन मंडप, संगीत मंडप, प्रेक्षण मंडप हैं तथा क्रीड़ागृह, गुणनगृह, स्वाध्यायशाला एवं विशाल चित्रशालाएँ हैं। इस मंदिर में देवच्छन्द के भीतर प्रत्येक जिनप्रतिमा के आजू-बाजू में श्री देवी, श्रुतदेवी, तथा सर्वाण्हयक्ष और सनत्कुमार यक्ष इनकी मूर्तियाँ हैं और प्रत्येक जिनप्रतिमा के पास आठ-आठ मंगलद्रव्य हैं जो कि एक सौ आठ-एक सौ आठ होते हैं। झारी, कलश, दर्पण, ध्वजा, चामर, छत्र, व्यजन, पंखा और सुप्रतिष्ठ वे आठ मंगलद्रव्य माने गये हैं।

इन जिनमंदिरों में रत्नदीपक हैं, धूपघट हैं, मंगलघट हैं, धूपघटों में सतत अग्नि प्रज्वलित रहती है। इनमें देवगण हमेशा कालागरू, मलयचंदन, गोशीर्ष आदि से सहित सुगंधित धूप खेया करते हैं। यहाँ भंभा, मृदंग, मर्दल, जयघंटा, कांस्यताल, दुंदुभि, पटह आदि वाद्य बजाये जाते हैं।

मोतीसागर–एक अकृत्रिम जिनमंदिर में जिनप्रतिमाएँ कितनी होती हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी–एक जिनमंदिर में 108 गर्भगृह होते हैं और प्रत्येक गर्भगृह में एक-एक जिन प्रतिमा विराजमान रहती है। ये प्रतिमाएँ सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान हैं। इनके दोनों तरफ नागयक्ष हाथ में चँवर ढोरते हुए स्थित हैं। ये जिन प्रतिमाएँ रत्नों से बनी हुई

हैं, पृथिवीकायिक होते हुए भी चिंतामणि रत्न के समान भक्तों को मनवांछित फल देने वाली हैं।

जो देव सम्यग्दृष्टि हैं वे कर्मक्षय के हेतु से हमेशा इन जिन प्रतिमाओं की पूजा करते हैं और जो मिथ्यादृष्टि देव हैं वे सम्यग्दृष्टि द्वारा संबोधन प्राप्त कर इन जिन प्रतिमाओं को ''कुलदेवता'' मानकर बहुत प्रकार से उनकी पूजा करते हैं।

इन जिनमंदिरों के चारों तरफ भवनवासी देवों के प्रासाद बने हुए हैं। ये महल भी रत्नों से बने हुए सात, आठ, नौ खनों वाले हैं। इनमें देवों की उपपाद शैय्या बनी हुई है। जहाँ देव जन्म लेते हैं ; ये अंतर्मुहूर्त अड़तालीस मिनट के अंदर ही सोलह वर्ष के नवयुवक के समान शरीर प्राप्त कर उठ बैठते हैं और एकदम सोचते हैं। मैं कहाँ हूँ ? यह स्थान क्या है ? तत्क्षण ही उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे वे पूर्वभव की सारी बातें जानकर प्रसन्न होते हुए सामने आये हुए देव परिकर को देखते हैं।

मोतीसागर—इन इन्द्रों का वैभव क्या है?

श्री ज्ञानमती माताजी—इन इन्द्र के दश प्रकार के परिवार देव होते हैं। प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक, लोकपाल, आत्मरक्षक, पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक।

इनमें इन्द्र तो राजा के सदृश हैं, प्रतीन्द्र युवराज के समान, त्रायस्त्रिंश देव पुत्र सदृश, सामानिक देव कलत्रसदृश, लोकपाल तंत्रपाल के सदृश, आत्मरक्षक अंगरक्षक के सदृश, पारिषद सभासद हैं, अनीक देव सेना के समान, प्रकीर्णक देव पूजा के समान, आभियोग्य जाति के देव दास के समान और किल्विषिक देव सभा बाह्य होते हैं।

प्रतीन्द्र इन्द्र के बराबर संख्या वाले, त्रायस्त्रिंश देव तैंतीस होते हैं। भवनवासी के असुरकुमार देवों में चमर इन्द्र और वैरोचन इंद्र का वैभव-देव परिवार ऐसा है—

चमरेन्द्र के सामानिक देव 64000, वैरोचन के 60000 हैं, लोकपाल चार दिशा संबंधी चार-चार हैं। इनके सोम, यम, वरूण और कुबेर ये नाम हैं।

चमरेंद्र के आत्मरक्षक देव 256000, वैरोचन के 240000 हैं। पारिषद के तीन भेद हैं—बाह्य, मध्यम और अभ्यंतर।

चमरेंद्र के अभ्यंतर पारिषद देव 28000, मध्यम 30000, बाह्य 32000 हैं।

वैरोचन के अभ्यंतर पारिषद देव 26000, मध्यम 28000, बाह्य 30000 हैं। अनीक के सात भेद हैं। उनमें से प्रथम कक्षा का प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवों के बराबर तथा इसके आगे अंतिम कक्षा तक उत्तरोत्तर प्रथम कक्षा से दूने-दूने प्रमाण होते गये हैं। असुरकुमारों में महिष, घोड़ा, रथ, हाथी, पदाति, गंधर्व और नर्तकी ये सात सेनाएँ हैं। इनमें से आदि के छह अनीकों में छह महत्तर (प्रधान) और अंतिम अनीक में एक महत्तरी (प्रधान देवी) होती हैं।

प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देव असंख्यात होते हैं।

चमरेंद्र के कृष्णा, रत्ना, सुमेधा, देवी और सुकान्ता ये पाँच अग्रमहिषी हैं। प्रत्येक अग्रमहिषी के आठ हजार परिवार देवियाँ होने से 8000×5=40000 प्रमाण देवियाँ मानी गई हैं। चमरेंद्र की एक अग्रमहिषी आठ हजार सुंदर शरीर धारण कर लेती है। चमरेंद्र की सोलह हजार बल्लभिका देवियाँ हैं। इस प्रकार चमरेंद्र के पाँचों प्रधान देवियों और बल्लभा देवियों को मिलाकर सब देवियाँ छप्पन हजार हैं।

वैरोचन इंद्र के पद्मा, पद्मश्री, कनकश्री, कनकमाला, और महापद्मा ये पाँच अग्रमहिषी हैं। बाकी देवियों की संख्या चमरेंद्र के समान है। इनके अतिरिक्त सभी देवों की देवियाँ आगम से ज्ञातव्य हैं। सबसे हीन देव के भी कम से कम बत्तीस देवियाँ अवश्य होती हैं।

मोतीसागर—इन देवों का आहार कैसा है ?

श्री ज्ञानमती माताजी—सभी देवों का आहार मानसिक होता है। चमर-वैरोचन इंद्र के एक हजार वर्षों के बाद कंठ से अमृतमय आहार होता है। इन दोनों इन्द्रों की आयु एक सागर है। ये पंद्रह दिन में उच्छ्वास लेते हैं। इन असुरकुमार के शरीर का वर्ण कृष्ण है। ये सभी देव-देवियाँ रोग, वृद्धावस्था, अकालमृत्यु से रहित हैं। हाड़-मांस, मज्जा, रक्त आदि धातुओं के रहित, नख और बालों से रहित हैं और उत्तम लावण्य से सहित हैं। वैक्रियक शरीर वाले ये देव अत्यंत सुखी हैं। ये काय प्रवीचार से रहित हैं-अपनी-अपनी देवांगनाओं के साथ शरीर से कामसेवन करते हैं।

मोतीसागर—इन इन्द्रों के यहाँ और क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी—इन चमरेंद्र और वैरोचनेन्द्र के महलों की ओलगशालाओं के आगे विविध प्रकार के रत्नों से निर्मित चैत्यवृक्ष होते हैं। इनका पीपलवृक्ष चैत्यवृक्ष है। इनके कुल का चिन्ह है। इस चैत्यवृक्ष के मूलभाग में चारों ओर पल्यंकासन से स्थित पाँच-पाँच जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। एक-एक जिनप्रतिमा के आगे एक-एक मानस्तंभ में अट्ठाईस-अट्ठाईस जिनप्रतिमाएँ हैं अर्थात् मानस्तंभ में एक-एक दिशा में सात-सात प्रतिमाएँ हैं।

मोतीसागर—किस पुण्य से ये भवनवासी इंद्र या देव होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—जो चारित्रधारण कर शिथिलचर्या रखते हैं, सम्यग्दर्शन से रहित हैं। गुरूद्रोह आदि करके भी बहुत प्रकार का तपश्चरण करते हैं। इत्यादि प्रकार से पुण्य करने वाले मनुष्य ही भवनवासी इंद्र या सामान्यदेव हो जाते हैं। वहाँ पर जातिस्मरण कोई देव जिनेन्द्रदेव के कल्याणकों को देखकर, कोई देव अन्य देवों की ऋद्धि को देखकर, कोई जातिस्मरण से एवं कोई धर्मोपदेश को सुनकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेते हैं।

मोतीसागर—ये असुरकुमार देव नरकों में जाकर उनको आपस में और अधिक जोर से लड़ाते-भिड़ाते हैं ?

श्री ज्ञानमती माताजी—तत्त्वार्थवार्तिक में वर्णन आया है कि ''सभी असुर जाति

के देव नारकियों को दुःख नहीं देते हैं, किन्तु अम्ब, अम्बरीष आदि जाति के कुछ असुरकुमार जाति के देव तृतीय नरक तक जाकर नारकियों को परस्पर में पूर्व वैर आदि का स्मरण दिलाकर लड़ा-भिड़ा कर खुश होते रहते हैं।''

मोतीसागर-माताजी! आज मैंने आपसे वार्त्ता करके भवनवासी के प्रथम भेद असुरकुमार देवों के बारे में बहुत-सी जानकारी प्राप्त की है, आपने जो मुझे समय दिया है वह आपकी बहुत बड़ी अनुकंपा है।

श्री ज्ञानमती माताजी–अच्छा है, इससे तो मेरा पुनः तिलोयपण्णत्ति का स्वाध्याय हो गया है। मैंने तीनलोक विधान में असुरकुमार के भवनों में जिनमंदिर की पूजा में जो जयमाला बनाई है उसे भी भक्तगण भगवान् के समाने स्तुतिरूप में पढ़ें तो उन्हें ज्ञान वृद्धि के साथ-साथ भक्ति का आनंद भी आयेगा–

दोहा– चिच्चिंतामणिरत्न हैं, शाश्वत जिनवरबिंब।
गाऊँ गुणमणिमालिका, हरूँ सकल जग डिंभ ।।1।।

नरेन्द्र छंद–

असुरकुमारों के मुकुटों में, चूड़ामणि शुभ सोहे ।
कृष्णवर्ण तनु नानाविधि विक्रिय से जन मन मोहे ।।
धनु पच्चीस देह ऊँचा है आयू इक सागर की ।
जघन्य आयू दश हजार वर्षों किनही असुरों की ।।2।।
नहिं नख केश देव के होते दाढ़ी-मूँछ न होवें।
अवधिज्ञान इन नरक तीसरे, उपरिम मेरू तक होवे ।।
चमर और वैरोचन इनमें इंद्र विभवशाली हैं।
इनके दशविध परिकर सुर हैं, बहुविध गुणशाली हैं।।3।।
एक इंद्र का इक प्रतीन्द्र है त्रायस्त्रिंश तेतिश ही।
सामानिक चौंसठ हजार हैं लोकपाल सुर चउ ही ।।
आत्मरक्ष सुर दोय लाख छप्पन हज्जार कहे हैं।
अंतः परिषद सहस अट्ठाइस मध्यम तीस सहस हैं।।4।।
बाह्य पारिषद् सहस बत्तीसे, अनीक सात तरह हैं।
पाँचकोटि अड़सठ सुलाख ये छ्यानवे सहस सभी हैं।।
देव प्रकीर्णक, आभियोग्य अरू सुर किल्विषिक असंख्ये।
चमरइंद्र के ये परिकर सुर नानाविध सुख लभ्ये ।।5।।
इनकी पाँच देवियाँ मुख्या, छप्पन सहसहिं देवी।
वैरोचन सुरपति का इससे कुछ कम वैभव ये ही ।।
असुरकुमार भवन में चौंसठ लाख जिनालय सुंदर ।

उनकी पूजा वंदन करते बाँधे पुण्य निरंतर ।।6।।
कोई कोई कलह वैरप्रिय असुरकुमार कहाये।
अंबावरीष जाती के ही नरकधरा में जायें ।।
पूर्व वैर स्मरण दिलाकर, लड़ा भिड़ा सुख पाते।
नारकियों के दुःख देख हर्षित हो पाप कमाते ।।7।।
जो मिथ्यात्व सहित तप तपते बिन समाधि से मरते।
जिनवर मुनिवर श्रुत प्रतिपक्षी सदोष चारित्र धरते।।
ऐसे नर इन असुरगती में जन्म धारते सुख से।
अड़तालिस मिनटों के अंदर नवयौवन तनु धरते ।।8।।
इसके नंतर जातिस्मृति या धर्मोपदेश सुनकर।
जिनमहिमा अवलोकें या देवों की ऋद्धि निरखकर ।।
बहुत देव सम्यग्दृष्टी बन भव अनंत को नाशें।
जिनवर भक्ति करें अतिशायी करें मोक्ष को पासे।।9।।
मिथ्यादृष्टी सुर भी वहाँ पर जिनमंदिर में जाते।
जिनप्रतिमा को वंदे पूजें, बहुविध पाप नशाते ।।
जय जय अकृत्रिम जिनमंदिर, जय जय जिनवर प्रतिमा।
जय जय मंगलमय लोकोत्तम, शरणभूत जिनप्रतिमा।।10।।

घत्ता- जय जय श्री जिनवर, पद्मासनधर, जय जय नासादृष्टि धरें।
जय सौम्य छवि तुम, पूजें त्रिभुवन, 'ज्ञानमती' सुखशांति भरें।।11।।

आत्मा परिणमनशील है

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो।।8।।
जिस काल द्रव्य जिन भावों से, परिणमन करे उस काल सही।
तन्मय हो जाता द्रव्य अहो! उस काल कहा उस रूप सही।।
इस हेतु धर्म से परिणत हो, आत्मा ही धर्म कहा जाता।
अग्नी से तप कर लोह पिंड, जैसे अग्नीमय हो जाता।।8।।

अर्थ–यह द्रव्य जिस काल में जिस भाव से परिणमन करता है, उस काल में उस रूप हो जाता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इसलिए धर्म से परिणत हुई आत्मा को धर्मरूप जानना चाहिए अर्थात् निज शुद्ध आत्मा की परिणतिरूप निश्चय धर्म है और पंच परमेष्ठी आदि की भक्ति के परिणामरूप व्यवहार धर्म है। इन उभय धर्म से परिणत हुआ आत्मा धर्म रूप है जैसे अग्नि से संतप्त हुआ लोहे का गोला अग्निरूप ही हो जाता है।

(भगवान कुंदकुंद)

प्रवचन–79

भवनवासी नागकुमारदेव : एक वार्ता

(पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी की)

क्षुल्लक मोतीसागर जी– वन्दामि माताजी!

गणिनी ज्ञानमती माताजी– बोधिलाभोऽस्तु!

मोतीसागर– माताजी! मैं आपसे ''नागकुमार'' देव के विषय में जानकारी चाहता हूँ सो आप बतलानें की कृपा करें।

गणिनी ज्ञानमती माताजी– ठीक, सुनिये! भवनवासी देवों के दूसरे भेद में नागकुमार देव माने गये हैं। इनके भवन चौरासी लाख हैं, ये रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में बने हुए हैं।

मोतीसागर– इनमें कितने इन्द्र हैं ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी– दो इन्द्र हैं, एक भूतानंद, दूसरे धरणानंद। भूतानंद इन्द्र के चवालीस लाख भवन हैं और धरणानंद इन्द्र के चालीस लाख भवन हैं। इन सबके एक-एक भवनों में एक-एक जिनमंदिर बने हुए हैं और प्रत्येक मंदिर में एक सौ आठ-एक सौ आठ जिन प्रतिमायें विराजमान हैं। अतः इन सब प्रतिमाओं की संख्या नब्बे करोड़, बहत्तर लाख हो जाती है।

मोतीसागर– नागकुमार के मुकुटों में क्या चिन्ह है ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी– इनके मुकुटों में सर्प का चिन्ह है।

मोतीसागर– इन नागकुमार देवों के भवन कैसे हैं ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी– इनके भवन तीन सौ योजन ऊँचे हैं और विस्तार से संख्यात व असंख्यात योजन वाले हैं। इन भवनों की चारों दिशाओं में दिव्य वेदिका हैं। इस वेदी (चारदीवारी) के बाहर चैत्यवृक्षों से सहित चार वन हैं। क्रम में पूर्व दिशा में अशोक वन है, दक्षिण दिशा में सप्तच्छद, पश्चिम में चंपकवन और उत्तर में आम्रवन है। ये सब दिव्यवृक्ष पृथ्वीकायिक हैं, रत्नों से निर्मित अनादिनिधन हैं। इनमें रत्नों की शाखायें हैं, जो विचित्र पुष्पों से सुन्दर हैं और मरकतमणि के पत्ते बने हुए हैं। इन वनों में एक-एक चैत्य वृक्ष हैं। इनके मूल में चारों दिशाओं में पद्मासन में स्थित पांच-पांच जिन प्रतिमायें विराजमान हैं। जो सदा देवों से पूज्य हैं और परोक्ष में मुनियों से भीवंद्य हैं।

मोतीसागर– इन भवनों में जिनमंदिर कहाँ बने हैं ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी– उपर्युक्त कथित वेदिका के बिल्कुल बीच में महाकूट बने हुए हैं और वेत्रासन के आकार वाले रत्नों से बने हुये हैं। इन कूटों के मूलभाग में और ऊपर भी चारों तरफ दिव्य वेदियाँ हैं।

प्रत्येक महाकूट के ऊपर जिनमंदिरों में चार-चार गोपुर द्वार हैं, तीन-तीन परकोटे हैं और प्रत्येक वीथी (महागली) में एक-एक मानस्तंभ व नौ-नौ स्तूप बने हुए हैं, प्रत्येक परकोटे के अंतराल में क्रम से वन भूमि (उद्यान) ध्वजभूमि और चैत्यभूमि हैं। इन जिनमंदिरों के चारों वनों में नंदा आदि वापियां बनी हैं एवं प्रत्येक वन में चैत्यवृक्ष हैं। ध्वज भूमि में सिंह, गज, बैल, गरूड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, कमल और चक्र इन दश चिन्ह वाली महाध्वजायें रत्नों से बनी हुई लहरा रही हैं। ये महाध्वजायें एक सौ आठ हैं और प्रत्येक महाध्वज के आश्रित लघुध्वजायें एक सौ आठ-एक सौ आठ रहती हैं।

मोतीसागर– जिनमंदिरों में और क्या-क्या वैभव हैं ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी– जिनमंदिरों में मंगलघट, धूपघट आदि रखे हुये हैं। मणियों एवं स्वर्ण की मालायें लटक रही हैं। वहाँ के वैभव का वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता है।

जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं के आजू-बाजू श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाण्ह यक्ष, सनत्कुमार यक्ष की मूर्तियां बनी हुई हैं।

मोतीसागर– भूतानंद, धरणानंद इंद्रों की इंद्राणियां कितनी हैं ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी– इन दोनों इन्द्रों की पांच-पांच अग्र–प्रधान इन्द्राणियां हैं और दश-दश हजार बल्लभिकायें हैं। प्रत्येक प्रधान इन्द्राणी के आठ-आठ हजार परिवार देवियां हैं और उनके आश्रय में रहने वाली देवियां हैं। प्रत्येक प्रधान इन्द्राणी अपनी विक्रिया से आठ-आठ हजार प्रमाण रूप बना सकती है।

मोतीसागर– इन इंद्रों का मानसिक आहार कब होता है ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी– ये दोनों इन्द्र साढ़े बारह दिनों में मानसिक अमृतमयी आहार ग्रहण करते हैं अर्थात् भोजन की इच्छा होते ही उनके कंठ में अमृत झर जाता है और उनकी तृप्ति हो जाती ही है।

मोतीसागर– इन देवों का वर्ण आदि कैसा है ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी– इन देवों का वर्ण काला श्यामल है। ये साढ़े बारह मुहूर्तों के बाद उच्छ्वास लेते हैं।

मोतीसागर– इनके परिवारदेव कौन और कितन-कितने हैं?

गणिनी ज्ञानमती माताजी– इन देवों के तीन प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक, लोकपाल, आत्मरक्ष, पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ऐसे दश प्रकार के परिवार देव होते हैं। प्रत्येक इंद्र के एक-एक प्रतीन्द्र और तेंतीस-तेंतीस त्रायस्त्रिंशदेव होते हैं। भूतानंद इंद्र के सामानिक देव छप्पन हजार और धरणानंद के पचास हजार होते हैं। लोकपाल चार-चार होते हैं। भूतानंद इंद्र के आत्मरक्षदेव 2 लाख 24 हजार और धरणानंद के 2 लाख हैं। भूतानंद के अभ्यंतर पारिषद देव छह हजार,

मध्यम पारिषद देव आठ हजार और बाह्य पारिषद देव दश हजार हैं। धरणानंद के अभ्यंतर पारिषद चार हजार, मध्यम छह हजार और बाह्य आठ हजार देव हैं।

अनीक देवों में सात-सात कक्षायें होती हैं। प्रथम कक्षा का प्रमाण सामानिक देवों के समान है। आगे द्वितीय कक्षा में सातवीं कक्षा तक दूना-दूना होता गया है। नागकुमार के अनीक में प्रथम कक्षा में नाग नाम के देव होते हैं। दूसरे से सातवें अनीक में क्रम से घोड़ा, रथ, हाथी, पदाति, गंधर्व, और नर्तकी रहते हैं। यहां अनीक का अर्थ सेना है।

प्रत्येक इंद्रों के ये सभी परिवार देव होते हैं। इनसे अतिरिक्त प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक जाति के देव असंख्यातों होते हैं। आभियोग्य जाति के देव इन्द्रों के वाहन बनते हैं।

मोतीसागर—ये देव कहां-कहां भ्रमण करते हैं ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—ये इंद्र और देवगण तीर्थंकरों के पांचों कल्याणकों में सौधर्म इंद्र की आज्ञा से आते रहते हैं। अकृत्रिम जिनमंदिरों की पूजा के लिये, सुदर्शन मेरू आदि पर्वतों की वंदना के लिये और नंदीश्वरद्वीप में जिनमंदिर की पूजा-वंदना-भक्ति के लिए यहां मध्यलोक में सर्वत्र विचरण करते रहते हैं।

मोतीसागर—इन इंद्रों की ओलगशाला में कौन-सा चैत्यवृक्ष है ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—इन दोनों इन्द्रों की ओलगशाला के आगे "सप्तपर्ण" नाम का चैत्यवृक्ष है। ये इनके कुल का चिन्ह माना गया है। इस चैत्यवृक्ष के मूलभाग में चारों ओर पल्यंकासन से रिक्त पांच-पांच मानस्तंभ हैं। ऐसे बीस मानस्तंभ हो गये। प्रत्येक मानस्तंभ के ऊपर एक-एक दिशा में सात-सात ऐसी अट्ठाईस जिनप्रतिमायें विराजमान हैं।

मोतीसागर—इन दोनों इन्द्रों की आयु कितनी हैं ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—इन्द्रों की आयु तीन पल्य प्रमाण है।

मोतीसागर—इनके शरीर की ऊँचाई कितनी है ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—इन इंद्रों के शरीर की ऊँचाई दश धनुष अर्थात् चालीस हाथ प्रमाण है। यह मूलशरीर की है, विक्रिया से बने शरीर की ऊँचाई इच्छानुसार अनेक प्रकार है। ये सभी इंद्र व देव-देवियां मूल शरीर से कहीं भी नहीं जाते हैं, विक्रिया के शरीर से ही सर्वत्र गमन करते हैं।

मोतीसागर—वहां जन्म लेने के क्या कारण हैं ?

गणिनी ज्ञानमती माताजी—ये सभी इंद्र व देवगण सम्यक्त्व से रहित हुये हीवहाँ जन्में हैं, फिर भी अंतर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकते हैं। अतः वहां पर मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और असंयत सम्यग्दृष्टि ये चार गुणस्थान होते हैं। यहां जो कोई मनुष्य गुरू के प्रतिकूल रहकर तपश्चर्या करते हैं या शिथिल चारित्र पालते हैं अथवा

अनेक प्रकार के कुतप तपते हैं ऐसे मनुष्य ही इन भवनवासी देवों के नागकुमार जाति में जन्म ले लेते हैं। कोई-कोई पंचेंद्रिय तिर्यंच भी बहुत प्रकार के कायक्लेश तपश्चरण आदि से इन देवों में जन्म ले सकते हैं।

ये नागकुमार देव सुंदर, मनुष्यों के समान शरीर वाले हैं। इनके नख, केश, रोम आदि नहीं होते हैं। नइनके अकाल मृत्यु ही होती है। ये सर्प के समान हैं नाग के समान नहीं हैं प्रत्युत् इनके मुकुटों में सर्प का चिन्ह माना गया है। ये विक्रिया से नाग का शरीर बना लेते हैं जैसे कि धरणानंद (धरणेन्द्र) ने भगवान पार्श्वनाथ के उपसर्ग को दूर करने के समय नाग का फणा का छत्र बना लिया था इत्यादि।

इनका संक्षिप्त वर्णन मैंने यहां किया है। कुछ पद्यों में इन नागकुमार देवों का वर्णन द्रष्टव्य है—

नागकुमार गृह-जिनालय वंदना

सोरठा—

भवन चुरासीलाख, नागकुमारों के कहे ।
नमूँ नमूँ नत माथ, सर्व अकृत्रिम जिन भवन ।।1।।

स्रग्विणी छन्द—

मैं नमूँ मैं नमूँ सर्व जिनधाम को।
पाप संताप मेरा सबै शांत हो।।
पद्म आसन धरें मूर्तियां शोभतीं ।
भव्य के चित्त को सौम्यछवि मोहती ।।2।।
नागकूमार में इन्द्र प्रातीन्द्र हैं।
त्रायत्रिंशत् सुसामानिके देव हैं ।।
लोकपालक तनूरक्ष त्रैपारिषद।
सात सेना प्रकीर्णक व अभियोग्य सब ।।3।।
किल्विषिक भेद ये इंद्र के दश कहे।
दो अधिप श्रेष्ठ वैभव धरें सुख लहें ।।
इन भवनवासि में जन्म समकित बिना।
पुण्य मिथ्यात्वयुत भी फले है घना ।।4।।
भूमि दीवाल भी रत्न मणियों जड़े ।
वस्त्र आभूषणादी चमकते बड़े ।।
अष्ट विध ऋद्धियां विक्रिया सौख्य है ।
किंतु समकित बिना दूर ही मोक्ष है ।।5।।

नागसुर मुकुट में सर्प का चिन्ह है।
वर्ण श्यामल दिपे कांति से पूर्ण है।।
भूमि खरभाग में भवन नागेन्द्र के।
द्वीप सागर में हैं भवनपुर नाम के ।।6।।
नग नदी वृक्ष आदी पे आवास हैं।
ये विहरते सदा क्रीड़नासक्त हैं ।।
जन्मते ही अवधिज्ञान को पावते।
जैनमंदिर पहुँच शीश को नावते।।7।।
भक्ति वंदन करें अर्चना भी करें।
कोई कोई वहां रत्न समकित धरें।।
नागसुर के जिनालय नमूँ भाव से।
नाथ! सम्यक्त्व मेरा कभी ना छुटे ।।8।।
इन भवनवासियों में जनम ना धरूँ।
मोह मिथ्यात्व के फंद में ना परूँ ।।
नाथ! ऐसी कृपा कीजिये दास पे ।
'ज्ञानमति' हो न अज्ञानमति फिर अबे।।9।।

दोहा–

धन्य धन्य यह शुभ घड़ी, जिनपूजन में प्रीति।
मोक्षमार्ग की रीति यह, फले स्वात्म नवनीत।।10।।

ध्यान का माहात्म्य

देव गुरूम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो।।52।।
उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवेहि बहुएहि।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतोमुहूत्तेण।।53।।

अर्थ–जो देव और गुरु का भक्त है, सहधर्मी भाई तथा संयमी जीवों का अनुरागी है तथा सम्यक्त्वरूपी रत्न को बड़े आदर से अपने मस्तक पर धारण करता है, ऐसा योगी ही ध्यान करने का अधिकारी होता है। अज्ञानी मुनि उग्र तपश्चरण के द्वारा जितने कर्मों को अनेक भवों में खिपा पाता है, तीन गुप्तियों से सुरक्षित ज्ञानी मुनि उतने कर्मों को अन्तर्मुहूर्त में नष्ट कर देता है अर्थात् निर्विकल्प ध्यान में लीन हुए मुनि के अन्तर्मुहूर्त में असंख्यात गुण श्रेणीरूप कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं।

–श्री कुंदकुंद देव

प्रवचन–80

भवनवासी सुपर्णकुमार देव

(गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी से क्षुल्लक मोतीसागर जी की एक वार्ता)

क्षुल्लक मोतीसागर–पूज्य माताजी वंदामि!

श्री ज्ञानमती माताजी–बोधिलाभोऽस्तु!

क्षुल्लक मोतीसागर–माताजी! मैं आपसे भवनवासी देवों का तीसरा भेद ''सुपर्णकुमार'' देव के विषय में जानकारी चाहता हूँ सो आप बतलाने की कृपा करें।

श्री ज्ञानमती माताजी–ठीक है, बोलो! क्या जानकारी चाहते हो?

क्षुल्लक मोतीसागर–मेरा सबसे पहला प्रश्न है कि सुपर्णकुमार देवों के कितने भवन हैं और ये रहते कहाँ हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में सुपर्णकुमार देवों के बहत्तर लाख भवन बने हुए हैं। जिनमें वे सपरिवार निवास करते हैं तथा अपनी इच्छानुसार यत्र-तत्र एवं भगवान के पंचकल्याणकों में भाग लेने हेतु विचरण भी करते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर–भवनवासी देवों में अनेक प्रकार के देव हैं फिर उन सबकी पहचान कैसे होती है कि ये असुरकुमार हैं या नागकुमार या सुपर्णकुमार हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–इनके मुकुटों में अलग-अलग चिन्ह बने होते हैं जिनके द्वारा इनकी पहचान की जाती है। पहले भी मैंने बताया था कि असुरकुमार देवों के मुकुटों में चूड़ामणि, नागकुमार देवों के मुकुटों में सर्प चिन्ह रहता है इसी प्रकार सुपर्णकुमार देवों के मुकुटों में ''गरुड़'' पक्षी का चिन्ह बना रहता है। यह इनकी खास पहचान है।

क्षुल्लक मोतीसागर–इनमें इन्द्र कितने हैं और उनके नाम क्या है?

श्री ज्ञानमती माताजी–सभी देवों की भांति इनके भी दो इन्द्र हैं जिनके नाम हैं– वेणु और वेणुधारी।

क्षुल्लक मोतीसागर–इन इन्द्रों के और भी भेद हैं क्या?

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र के भेद से ये दो भागों में विभक्त हैं। जिसमें से ''वेणु'' इन्द्र दक्षिणेन्द्र कहलाते हैं और ''वेणुधारी'' इन्द्र उत्तरेन्द्र कहलाते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर–इन इन्द्रों में क्या विशेषता रहती है?

श्री ज्ञानमती माताजी–ये इन्द्र अणिमादिक ऋद्धियों से युक्त और मणिमय कुण्डलों से अलंकृत कपोलों को धारण करने वाले होते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—इन दोनों इन्द्रों के कितने-कितने भवन हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—"वेणु" इन्द्र के अड़तीस लाख भवन हैं तथा वेणुधारी के चौंतीस लाख भवन हैं। इन सब भवनों में एक-एक जिनमंदिर बने हुए हैं और प्रत्येक मंदिर में 108-108 जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—इन भवनवासी देवों के गुणस्थान कौन-कौन से होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—भवनवासी सभी देवों के अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं तथा पर्याप्त अवस्था में मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि ये चार गुणस्थान होते हैं। अपने-अपने परिणामों के अनुसार वे देव यथायोग्य इन चारों गुणस्थानों में से किसी को भी प्राप्त कर सकते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—इन देवों के शरीर का वर्ण कैसा है?

श्री ज्ञानमती माताजी—इनके शरीर का 'श्याम' वर्ण है फिर भी शरीर की चमक-दमक अनोखी ही रहती है।

क्षुल्लक मोतीसागर—सुपर्णकुमार देवों के भवनों में जिनप्रतिमाएं कितनी हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—इनके बहत्तर लाख भवनों में प्रत्येक मंदिरों की 108-108 प्रतिमाओं को मिलाकर सम्पूर्ण जिनप्रतिमाओं की संख्या "सत्तर करोड़ छियत्तर लाख" है। मैंने सर्वतोभद्र विधान में "सुपर्णकुमार जिनालय पूजा" के अन्तर्गत दो अर्घ्यों में इनके भवनों एवं प्रतिमाओं की संख्या दी है-

दोहा— **देव सुपर्णकुमार के, भवन बहत्तर लाख।**
तिन सबके जिनभवन को, जजूँ छोड़ जुगहाथ।।1।।
कोटि सतत्तर पुनरपी, लाख छियत्तर मान।
जिनप्रतिमा इन भवन में, नमत मिले निजस्थान।।2।।

क्षुल्लक मोतीसागर—पूज्य माताजी! आपने इसी पूजन में आगे लिखा है कि उन देव भवनों में "ओलगशाला" होती है सो यह "ओलगशाला" क्या चीज है?

श्री ज्ञानमती माताजी—वहाँ भवनों में एक स्थान विशेष का नाम तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में ओलगशाला बताया है। उन ओलगशालाओं के आगे विविध प्रकार के रत्नों से निर्मित चैत्यवृक्ष होते हैं। उन चैत्यवृक्षों की चारों दिशाओं में पाँच-पाँच जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। इन बीसों जिनप्रतिमाओं के आगे 1-1 मानस्तंभ बने हुए हैं उनमें बीस प्रतिमाएँ हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—वास्तव में आपने इस पूजन में संगीत के साथ-साथ सारा सिद्धांत ही समाविष्ट कर दिया है। देखो न पूर्णार्घ्य में चैत्यवृक्ष एवं मानस्तंभ के जिनबिंबों की संख्या बताते हुए अर्घ्य चढ़ाया है-

रोला छंद— **चैत्यवृक्ष के बीस, जिनबिम्बों को पूजूँ।**
मानस्तंभ सुबीस, जजत जगत से छूटूँ।।
चउदिशि मानस्तंभ, सात सात जिनप्रतिमा।
जजूँ पाँच सौ साठ, जिनप्रतिमा अतिसुषमा।।

श्री ज्ञानमती माताजी—यह सारा वर्णन मैंने सर्वतोभद्र एवं तीन लोक विधान में तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के आधार से ही लिखा है।

क्षुल्लक मोतीसागर—इनके परिवारदेव कौन-कौन और कितने हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—इन सुपर्णकुमार देव के दोनों भेदों में (वेणु एवं वेणुधारी) दश प्रकार के परिवार देव होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं-प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक, लोकपाल, आत्मरक्ष, पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक। इनमें जो प्रतीन्द्र हैं वे इन्द्र के समान ही अधिकारी एवं वैभवशाली होते हैं। (इन सभी की संख्या तिलोयपण्णत्ति से देखें।)

क्षुल्लक मोतीसागर—इन दोनों इन्द्रों की आयु कितनी हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—इनकी आयु ढाई पल्य है।

क्षुल्लक मोतीसागर—अभी आप ओलगशाला और चैत्यवृक्ष की बात बता रही थीं तो सुपर्णकुमार देवभवन के ओलगशाला के चैत्यवृक्ष का क्या नाम है?

श्री ज्ञानमती माताजी—उस चैत्यवृक्ष का "शाल्मलि वृक्ष" नाम है।

क्षुल्लक मोतीसागर—उन वेणु एवं वेणुधारी इन्द्रों के इन्द्राणियाँ कितनी हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—इन दोनों इन्द्रों की चार-चार हजार बल्लभिकाएँ हैं एवं पाँच-पाँच अग्रदेवियाँ (प्रधान इन्द्राणी) हैं। प्रत्येक प्रधान इन्द्राणी के पास आठ-आठ हजार परिवार देवियाँ हैं अतः ये 8000×5=40000 (चालीस हजार) परिवार देवियाँ प्रधान इन्द्राणियों की हुई और प्रत्येक प्रधान इन्द्राणी विक्रिया से आठ हजार रूप बनाती हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—इन इन्द्रों का मानसिक आहार कब होता है?

श्री ज्ञानमती माताजी—साढ़े बारह दिनों में इनका मानसिक आहार होता है, जिससे इच्छा होते ही कंठ में अमृत झर जाता है और ये तृप्त हो जाते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—ये इन्द्र स्वासोच्छ्वास कब-कब लेते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—साढ़े बारह मुहूर्त अर्थात् दस घंटे बाद ये उच्छ्वास लेते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—इन भवनवासी देवों में किन कारणों से जीव जन्म लेता है?

श्री ज्ञानमती माताजी—सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य और तिर्यंच ही यहाँ जन्म धारण करते हैं पुनः वहाँ जन्म लेने के अन्तमुहूर्त बाद उनमें सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। ये देव आकार में मनुष्यों के समान ही होते हैं। इनके नख, केश,

रोम आदि नहीं होते हुए भी दिव्य, सुन्दर रहते हैं।

कुछ पद्यों में मैंने सुपर्णकुमार देवों का वर्णन किया है वह समायोचित द्रष्टव्य है–

सुपर्णकुमार गृह जिनालय वंदना

दोहा– **सुपर्ण देवों के भवन, लाख बहत्तर मान्य।**
उनके जिनगृह नमत ही, हो नवनिधि धनधान्य।।1।।

भुजंगप्रयात छंद– **जयो देवदेवा जयो जैनधामा।**
जयो जैनप्रतिमा जयो चैत्यधामा।
जयो शाश्वते रत्नमणि निर्मिते ये।
महामुक्ति लक्ष्मी स्वयंवर गृहा ये।।2।।

सुपर्णा सुरा पूजते भक्तिभावे।
उन्हीं की रमा वाद्य वीणा बजावें।
प्रभू गीत गावें सुपंचम स्वरों में।
करें देवियाँ नृत्य जिनवर गृहों में।।3।।

गरुड़ चिन्ह है, मौलि में इन सुरों के।
तनू वर्ण श्यामल तथापी चमकते।।
उँचाई धनुष दश धरें मूल तनु में।
अनेकों धरें रूप विक्रिय करें वे।।4।।

दशों विध परीवार सुर हैं असंख्ये।
सदा पुण्य का फल लहें सौख्य संख्ये।।
सदा पंचकल्याण में आवते हैं।
महाद्वीप नंदीश्वरे जावते हैं।।5।।

स्वयं के अकृत्रिम जिनालय जिनों को।
नमें भक्ति से रत्न सम्यक्त्व लें वो।
अनंते भवों के सभी पाप नाशें।
प्रभू की कृपा से स्वयं को विकासें।।6।।

जजूँ भक्ति से मैं सदा जैनगेहा।
मिले आत्मसंपत् धरूँ आप नेहा।।
सभी दुःख हों क्षीण सुगती गमन हो।
प्रभो! ''ज्ञानमती'' पूर्ण हो शिव सुगम हो।।7।।

दोहा– **जिनप्रतिमा चिन्तामणि, चिंतित फल दातार।**
त्रिभुवन के सुख देय के, वरें मुक्ति भरतार।।8।।

प्रवचन–81

भवनवासी–द्वीपकुमार देव

(गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी से क्षुल्लक मोतीसागर जी की एक वार्ता)

क्षुल्लक मोतीसागर– पूज्य माताजी! वंदामि!

श्री ज्ञानमती माताजी– बोधिलाभोऽस्तु!

क्षुल्लक मोतीसागर– माताजी! आज मैं चतुर्थ भेद द्वीपकुमार के विषय में जानना चाहता हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी– ठीक है पूछो! क्या पूछना चाहते हो?

क्षुल्लक मोतीसागर– मेरा प्रश्न है कि द्वीपकुमार देव रहते कहाँ हैं और उनके कितने भवन हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– ये द्वीपकुमार नाम के भवनवासी देव रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में रहते हैं और इनके भवनों की संख्या छियत्तर लाख हैं। सुपर्णकुमार के समान ही द्वीपकुमार देवों के दो इन्द्र हैं। इनमें पूर्ण नाम का इन्द्र दक्षिणेन्द्र कहलाता है और वशिष्ठ नाम के इन्द्र को उत्तरेन्द्र कहते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर– इनके मुकुटों में क्या चिन्ह बना होता है जिनसे इनकी पहचान होती है?

श्री ज्ञानमती माताजी– हाथी का चिन्ह इनके मुकुट में देखकर ज्ञात हो जाता है कि ये द्वीपकुमार देव हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर– पूर्ण और वशिष्ठ इन दोनों इन्द्रों के अलग-अलग कितने भवन हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– पूर्ण इन्द्र के 40 लाख भवन और वशिष्ठ इन्द्र के छत्तिस लाख भवन हैं और इन सबमें एक-एक जिनमंदिर हैं। सभी मंदिरों में 108-108 जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं अतः कुल मिलाकर छियत्तर लाख भवनों में बयासी करोड़ आठ लाख जिनप्रतिमाएं हैं। मैंने सर्वतोभद्र विधान की पूजा नं. 6 में इनकी संख्या दीहै-

कोटि बयासी आठ लख जिनप्रतिमा अभिराम।
पूजूँ अर्घ्य चढ़ाय के, शत शत करूँ प्रणाम।।

क्षुल्लक मोतीसागर– ये द्वीपकुमार देव कौन से वर्ण वाले होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– इनके शरीर श्यामल वर्ण के होते हैं किन्तु वैक्रियिक शरीर होने के कारण उनकी चमक-दमक तो एक अनोखी ही रहती है।

क्षुल्लक मोतीसागर– इन देव भवनों में मात्र देवता ही रहते हैं या देवियाँ भी वहाँ

उत्पन्न होती हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–वहाँ देवियाँ भी उत्पन्न होती हैं और देवों के समान ही वे भी अपूर्व कान्ति, अनुपम रूप, समचतुरस्र संस्थान आदि से युक्त गुणों वाली होती हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर–इन देवों का गमन क्षेत्र कहाँ तक है?

श्री ज्ञानमती माताजी–द्वीपकुमार इन्द्र, देव आदि तीर्थंकर के पंचकल्याणकों में तथा पूजन भक्ति के निमित्त नंदीश्वर आदि द्वीपों में तो जाते ही हैं तथा तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में आया है कि ''शीलादिक से संयुक्त किन्हीं मुनिवरादिक की पूजन व परीक्षा के निमित्त, शत्रु समूह को नष्ट करने की इच्छा से इन असुरादिक देवों की गति ऊर्ध्व रूप से अपने वश अर्थात् अन्य की सहायता से रहित ईशान स्वर्ग तक है तथा पर के वश से अच्युत स्वर्ग तक होती है।

क्षुल्लक मोतीसागर–पूर्ण और वशिष्ठ इन्द्रों की आयु कितनी है?

श्री ज्ञानमती माताजी–इनकी आयु दो पल्योपम है।

क्षुल्लक मोतीसागर–इन देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना है?

श्री ज्ञानमती माताजी–उत्कृष्ट रूप से क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात हजार योजन और काल की अपेक्षा अपने अवधिज्ञान काल से संख्यातगुणा कम है। इन सभी देवों के आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह ये चारों संज्ञाएं होती हैं, दशों प्राण होते हैं तथा औपशमिक, वेदक, मिथ्यात्व, सासादन एवं मिश्र इन पाँचों में से किसी सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। इन देवों में आदि के 4 गुणस्थान हो सकते हैं तथा अपर्याप्त अवस्था में इनको मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं। मैंने कुछ पद्यों में इससे संबंधित विषय लिये हैं जो द्रष्टव्य हैं-

शेरछंद– **जै जै जिनेन्द्र बिम्ब ये अनादि अनन्ता।**
जै जै गणीन्द्र साधुवृन्द वन्द्य महन्ता।।
मैं भक्ति से जिनेन्द्र बिम्ब अर्चना करूँ।
मिथ्यात्व कर्म की निमूल खंडना करूँ।।1।।
जै चैत्यवृक्ष सर्वरत्नमयी बने हैं।
जै मानथंभ मानियों का मान हने हैं।। मैं भक्ति.।।2।।
प्रत्येक जैनबिम्ब पास आठ द्रव्य हैं।
प्रत्येक इक सौ आठ-आठ मंगलीक हैं।। मैं भक्ति.।।3।।
प्रत्येक जैनबिम्ब उभय मूर्तियाँ बनीं।
सर्वाण्ह सनत्कुमार यक्ष की हैं सोहनीं।। मैं. भक्ति।।4।।
श्रीदेवि व श्रुतदेवी की मूर्ति वहाँ पे।
दर्शक जनों के चित्त का आनंद विकासें।। मैं भक्ति.।।5।।

सर्वत्र नागदेव चंवर ढोर रहे हैं।
सर्वत्र छत्र आदि प्रातिहार्य कहे हैं।। मैं. भक्ति.।।6।।
मुनिगण मनुज परोक्ष में हि वंदना करें।
सुरगण वहाँ रहें प्रत्यक्ष अर्चना करें।। मैं. भक्ति.।।7।।
ये धन्य दिवस आज मेरा धन्य जनम है।
जिनदेव देव पूजने में चित्त मगन है।। मैं. भक्ति.।।8।।
हे नाथ! दयासिंधु मुझ पे दृष्टि कीजिए।
हो ''ज्ञानमती'' पूर्ण ऐसी बुद्धि दीजिए।। मैं. भक्ति.।।9।।

दोहा– **द्वीपकुमारन मौलि में, हाथी चिन्ह दिपन्त।**
इनके गृह के जिनभवन, नमूँ नमूँ रुचिमन्त।।10।।

क्षुल्लक मोतीसागर–आज आपसे समाधान प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपके श्रीचरणों में वंदामि।

दान देने और लेने का महत्व

फासुगदाणं फासुगउवधिं तह दो वि अत्तसोधीए।
जो देदि जो य गिण्हदि दोण्हंपि महप्फलं होई।।

अर्थ-जो प्रासुक आहार दान और प्रासुक उपकरणों को तथा दोनों को भी आत्मशुद्धि से मुनियों को देता है और जो मुनि उन्हें ग्रहण करते हैं उन दोनों को ही महाफल प्राप्त होता है।

मरणभयभीरुआणं अभयं जो देदि सव्वजीवाणं।
तं दाणाण वि दाणं तं पुण जोगेसु मूल जोगं पि।।

अर्थ-जो मरण के भय से भीत हुए सर्व प्राणियों को अभयदान देता है-रक्षा करता है, वह सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि सर्वदानों में यह दान श्रेष्ठ है और सर्वयोग-अनुष्ठान या तपश्चरणों में यह प्रधान योग है।

–भगवान कुन्दकुन्ददेव मूलाचार

प्रवचन–82

भवनवासी-उदधिकुमार देव

(गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी से क्षुल्लक मोतीसागर जी की एक वार्ता)

क्षुल्लक मोतीसागर–वंदामि माताजी!

श्री ज्ञानमती माताजी–बोधिलाभोऽस्तु!

क्षुल्लक मोतीसागर–पूज्य माताजी! आज मैं पंचम भेद 'उदधिकुमार' के विषय में जानकारी चाहता हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी–ठीक है पूछो! क्या पूछना चाहते हो?

क्षुल्लक मोतीसागर–मेरा प्रश्न है कि ये उदधिकुमार देव रहते कहाँ हैं और उनके कितने भवन हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–ये रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में रहते हैं तथा उनके भवनों की संख्या छियत्तर लाख (7600000) है, इन प्रत्येक भवनों में 1-1 जिनमंदिर हैं, उन सभी में 108-108 जिनप्रतिमाएं हैं अतः कुल मिलाकर बयासी करोड़ आठ लाख जिनप्रतिमाएँ वहाँ हैं। मैंने इसे तीन लोक विधान में अर्घ्य के माध्यम से दिया भी है-

दोहा– **श्यामल तनु दश धनु उत्तुंग, उदधिकुमारन वेश्म।**
लाख छियत्तर जिनभवन, नमूँ नमूँ धर प्रेम।।1।।
कोटि बियासी आठ लख, जिनप्रतिमा सुर वंद्य।
पूजूँ अर्घ्य चढ़ाय के, पाऊँ पद अभिनंद्य।।2।।

क्षुल्लक मोतीसागर–द्वीपकुमार देव कौन से वर्ण के हैं, इनके शरीर की ऊँचाई कितनी हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–वैसे यह बात ऊपर के दोहे से भी जानी जा सकती है कि इन द्वीपकुमार देवों का शरीर श्याम वर्ण का है और शरीर की ऊँचाई दश धनुष है काले रंग के होते हुए भी इनके वैक्रियिक शरीर की चमक-दमक अनोखी है।

क्षुल्लक मोतीसागर–इनमें इन्द्र कितने होते हैं और उनके अलग-अलग कितने भवन हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–द्वीपकुमार देवों में दो इन्द्र होते हैं-जलप्रभ और जलकांत, इनमें से जलप्रभ दक्षिणेन्द्र कहलाते हैं और जलकांत उत्तरेन्द्र कहलाते हैं। जलप्रभ इन्द्र के चालीस लाख भवन हैं तथा जलकांत के छत्तीस लाख भवन हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर–क्या इन द्वीपकुमार देवों के भवनों में देवियाँ भी जन्म लेती हैं।

श्री ज्ञानमती माताजी–हाँ, वहाँ देवियाँ भी उत्पन्न होती हैं और देवों के समान ही वे भी अपूर्व कांति, अनुपम रूप, समचतुरस्रसंस्थान आदि से युक्त गुणों वाली होती हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर–उदधिकुमार देवों के भवनों में जो चैत्यवृक्ष है उसका क्या नाम है?

श्री ज्ञानमती माताजी–उस चैत्यवृक्ष का नाम "वेतसतरु" है जिसके ऊपर चार दिशा में चार जिनभवन हैं, उसमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर–इन चैत्यवृक्षों के आसपास क्या और भी कोई रचना है?

श्री ज्ञानमती माताजी–इन चैत्यवृक्षों की चारों दिशाओं में प्रत्येक में 5-5 मानस्तंभ हैं और उन मानस्तंभों में जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर–इन देवों के मुकुटों में क्या चिन्ह होता है जिससे इनकी पहचान होती है?

श्री ज्ञानमती माताजी–"मगर" का चिन्ह उनके मुकुट में देखकर उदधिकुमार देवों की पहचान होती है। मैंने लिखा भी है–

उदधिकुमार मुकुट में, मगर चिन्ह विलसन्त।
इनके जिनमंदिर जजूँ, कुसुमाञ्जलि विकिरन्त।।

क्षुल्लक मोतीसागर–पूज्य माताजी! आपने तो करणानुयोग के इन जटिल विषयों को भी पूजा-विधानों के माध्यम से इतना सरस बना दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति उसे पढ़कर अर्थ को हृदयंगम कर सकता है।

श्री ज्ञानमती माताजी–वास्तव में करणानुयोग के ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि को तो आज कोई उठाकर देखना ही नहीं चाहते हैं इसीलिए मैंने उसे सरस शब्दों में पूजा, स्तुति आदि के रूप में संजोया है।

जैसे–उदधिकुमार देवों के भवनों में विराजमान जिनप्रतिमाओं की वंदना के लिए ये निम्न पद्य दृष्टव्य है–

तोटक छंद– **जय नित्य जिनेश्वर की प्रतिमा, जय नित्य जिनेश्वर की महिमा।**
जय केवलभानु उद्योत करें, जय वंदत आतम ज्योति भरें।।1।।
जय भव्य सरोज विकास करें, जय पाप पिशाच निमूल करें।
जय साधुगणा प्रणमें नित ही, शत इन्द्र नमें जजते नित ही।।2।।
जय आत्म सुधारस निर्झरणी, भववारिधि हेतु महातरणी।
जय ज्ञानप्रकाश करें घट में, भवि मोह अंधेर हरें क्षण में।।3।।
जिन मंदिर में घनघंट बजें, वहाँ झांझन की झनकार उठे।
सुरवृन्द जजें गुण को उचरें, बहु नृत्य करें संगीत करें।।4।।
सुर अप्सरियाँ गुणगान करें, बहु वीण मृदंग सुवाद्य करें।
जय सौम्य छवी मन को हरती, नमते घट साम्य सुधा भरती।।5।।
धन धन्य जिनेश्वर भक्ति घड़ी, धन धन्य अनूपम शक्ति बढ़ी।
धन धन्य शिवंकर युक्ति मिली, धन धन्य निजात्म कली सु खिली।।6।।

दोहा– **जय जय जय चिन्तामणि, जिनगृह जिनवर रूप।**
ज्ञानमती सुख हेतु मैं, नमूँ नमूँ चिद्रूप।।7।।

प्रवचन–83

भवनवासी स्तनित कुमार एवं विद्युत्कुमार देव

(गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी से क्षुल्लक मोतीसागर जी की एक वार्ता)

क्षुल्लक मोतीसागर– वंदामि माताजी!

श्री ज्ञानमती माताजी– बोधिलाभोऽस्तु!

क्षुल्लक मोतीसागर– माताजी! आज मैं आपसे भवनवासियों के दो भेद स्तनित कुमार एवं विद्युत्कुमार देवों के विषय में जानकारी चाहता हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी– पूछो! जो भी पूछना चाहते हो?

क्षुल्लक मोतीसागर– इन दो प्रकार के देवों के आवास स्थान कहाँ बने हुए हैं जहाँ ये निवास करते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– ये सभी रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में रहते हैं, वहीं इनके आवास बने हैं जिन्हें देवभवनों के नाम से जाना जाता है।

क्षुल्लक मोतीसागर– क्या पूर्व के देवों के समान इनमें भी दो-दो इन्द्र हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– हाँ, सभी भवनवासी देवों के समान इन स्तनित और विद्युत्कुमार देवों में दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र के भेद से दो प्रकार के इन्द्र होते हैं।

इनमें से स्तनित कुमार के दक्षिणेन्द्र का नाम घोष है और उत्तरेन्द्र का नाम महाघोष है। इसी प्रकार विद्युत्कुमार जाति के देवों में दक्षिणेन्द्र का नाम हरिषेण है और उत्तरेन्द्र का नाम हरिकांत है।

क्षुल्लक मोतीसागर– इनके शरीर का वर्ण कैसा है तथा मुकुटों में क्या चिन्ह होता है?

श्री ज्ञानमती माताजी– स्तनित कुमार देवों के शरीर का श्याम वर्ण है तथा विद्युत्कुमार देवों के शरीर का वर्ण बिजली जैसा चमकदार है एवं स्तनित कुमार देवों के मुकुटों में स्वस्तिक चिन्ह होता है तथा विद्युत्कुमार देवों के मुकुटों में वज्र का चिन्ह होता है जिससे इन देवों की पहचान की जाती है।

क्षुल्लक मोतीसागर– इनके शरीर की ऊँचाई क्या है?

श्री ज्ञानमती माताजी– स्तनित कुमार देवों की ऊँचाई दश धनुष है तथा विद्युत्कुमारों के शरीर की भी दश धनुष ऊँचाई है।

क्षुल्लक मोतीसागर– इन देवों के कितने-कितने भवन हैं जिनमें जिनमंदिर बने हुए हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– दोनों प्रकार के देवों के ही छियत्तर-छियत्तर लाख देव भवन होते हैं जिनमें प्रत्येक मंदिरों में 108-108 जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं।

मैंने तीनलोक विधान में लिखा भी है–

देव स्तनित कुमार के, भवन छियत्तर लाख।
उनके सब जिनधाम को, नमूँ जोड़ जुग हाथ।।1।।
विद्युत्कुमार देव के, लाख छियत्तर धाम।
तिनके सब जिनगेह को, कोटी कोटि प्रणाम।।2।।

और इन मंदिरों की 108-108 प्रतिमाओं की गणना करने पर बयासी करोड़ आठ लाख प्रतिमाएं स्तनित कुमार के भवनों में हुई और इतनी ही विद्युत्कुमार देवों के भवनों की प्रतिमाएं होती हैं। जिनके दर्शन-वंदन से असंख्य कर्मों की निर्जरा होती है। इसी प्रकार से और भी सारी व्यवस्थाएं पूर्व के भवनवासी देवों के समान होती हैं स्तनित कुमार देवों के विषय में अग्रलिखित स्तुति भी द्रष्टव्य एवं पठितव्य है–

रोला छंद– **जय जय श्री जिनराज, त्रिभुवन मंगलकारी।**
जय जय श्री जिनराज, लोकोत्तम सुखकारी।।
जय जय जिनवरवेश्म, शरणभूत त्रिभुवन में।
जय जय जिनवरबिंब, क्षेम करो सब जग में।।1।।
भवनवासि के भवन, योजन संख्याते हैं।
भवन अनेक असंख्य योजन विख्याते हैं।।
सभी भवन चौकोर, त्रयशत योजन ऊँचे।
इनके बीचहिं कूट, सौ योजन के ऊँचे।।2।।
कूटों ऊपर जैन मंदिर शाश्वत शोभें।
रत्नमयी जिनबिंब सौम्य छवी मन लोभे।।
दर्शन करते भव्य नरक पशू गति नाशें।
जिनमहिमा को देखें, समकित ज्योति प्रकाशें।।3।।
मिथ्यादृष्टी देव, मरण समय आकुल हों।
बहुत विलाप करेय, मर एकेन्द्रिय भी हों।
महा शत्रु मिथ्यात्व, इस सम शत्रु न जग में।
देव विभूती पाय, फिर एकेन्द्रिय जन्में।।4।।
हे देवन के देव! यही अरज इक सुनिये।
जब तक मोक्ष न होय, निज चरणों में रखिये।।
मेरे चित में नाथ! चरण कमल तुम तिष्ठें।
कृपा करो हे नाथ! सम्यक रत्न न छूटे।।5।।
भव भव में जिनदेव, मिले समाधी मरणा।
भव भव में जिनदेव मिले आपका शरणा।।
एक यही अरदास, और नहीं कुछ मांगूँ।
करो ज्ञानमती पूर्ण पुनः नहीं कुछ याचूँ।।6।।

क्षुल्लक मोतीसागर–यह तो आपकी जैन समाज के लिए बहुत बड़ी देन है कि शास्त्रीय कठिन विषयों को भी आपने इतना सरस बना दिया जिससे प्रत्येक जनमानस उन्हें ग्रहण कर सकता है।

श्री ज्ञानमती माताजी–भक्ति ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति नर से नारायण बन सकता है और कठिन से कठिन विषयों को भी संगीत के माध्यम से सरलरूप में समझा जा सकता है। ये देव भी अपने भवनों में विराजमान जिनप्रतिमाओं की अर्चना कर-करके अपना सम्यग्दर्शन निर्मल करते हैं तथा अनेक मिथ्यादृष्टि देव उनके दर्शन कर सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं।

विद्युत्कुमार देव के जिनालय की वंदना हेतु निम्न स्तुति पठनीय है–

दोहा– **जिनप्रतिमा जिनसारखी, पाप अनंत हरन्त।**
मुक्तिरमा की प्रियसखी, नमत लहूँ भव अन्त।।1।।

शेर छंद– **जैवन्त रत्नकान्त शाश्वते जिनालया।**
जैवन्त मूर्तिमन्त सर्वसौख्य आलया।।
जैवन्त रहे मूर्तिमयी जैन मूर्तियाँ।
जैवन्त रहें कामधेनु रत्न मूर्तियाँ।।2।।
हे नाथ! आप भक्ति है चिन्तामणि समा।
चिंतित मनोरथों को पूरने में है क्षमा।।
यह भक्ति चार गती दुःख दूर करेगी।
पंचम गती में लेय जाके शीघ्र धरेगी।।3।।
हे नाथ! नरक दुःख मैं अनन्तशः सहा।
तिर्यंचयोनि में अनन्तकाल दुख लहा।।
नरयोनि में नाना प्रकार दुख सहे हैं।
देवों में भी मिथ्यात्व से दुखी ही रहे हैं।।4।।
हे नाथ! दयासिंधु दयादान दीजिए।
निज भक्त जानके मुझे स्थान दीजिए।।
अब फेर जन्म मृत्यु ना हो युक्ति कीजिए।
मैं मृत्यु को भी मार दूं ये भक्ति दीजिए।।5।।
बहुतेक ने तुम भक्ति से संकट को निवारा।
अतएव मैंने भक्ति से तुमको हि पुकारा।।
सब रोग शोक दुःख व्यथा दूर कीजिए।
सम्पूर्ण ''ज्ञानमती'' सुधापूर दीजिए।।6।।

प्रवचन–84

भवनवासी दिक्कुमार एवं अग्निकुमार देव

(गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी से क्षुल्लक मोतीसागर जी की एक वार्ता)

क्षुल्लक मोतीसागर–वंदामि माताजी!

श्री ज्ञानमती माताजी–बोधिलाभोऽस्तु!

क्षुल्लक मोतीसागर–माताजी! आज आपसे मैं दिक्कुमार एवं अग्निकुमार देवों के विषय में जानकारी चाहता हूँ कृपया बतलाने का कष्ट करें।

श्री ज्ञानमती माताजी–वैसे तो लगभग सभी भवनवासी देवों की स्थिति एक सदृश है, थोड़ा-बहुत अन्तर है। जो मैं बतलाती हूँ, सुनो–

दिक्कुमार देवों के मुकुट में 'सिंह' का चिन्ह होता है तथा अग्निकुमार देवों के मुकुट में कलश चिन्ह बना होता है जिससे उनकी पहचान की जाती है। दिक्कुमार के दक्षिणेन्द्र का नाम अमितगति है और उत्तरेन्द्र का नाम अमितवाहन है। इसी प्रकार अग्निकुमार का दक्षिणेन्द्र अग्निशिखी है और उत्तरेन्द्र अग्निवाहन है।

क्षुल्लक मोतीसागर–इनके शरीर का वर्ण कैसा रहता है?

श्री ज्ञानमती माताजी–दिक्कुमार देवों के शरीर का वर्ण श्यामल है तथा अग्निकुमार देव जलती हुई अग्नि की ज्वाला के सदृश कांति वाले होते हैं।

ये सभी देव मध्यलोक में अकृत्रिम चैत्यालयों की, तपस्वी मुनिराजों की पूजा करने तो प्रायः जाते ही रहते हैं। स्वेच्छा से ईशान स्वर्ग तक भी जाते हैं और दूसरे देवों के कहने से वे सोलहों स्वर्ग तक भी जा सकते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर–क्या इन भवनवासी देवों में इन्द्रिय विषयभोग मनुष्यों जैसे ही रहते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी–वहाँ मनुष्यों के समान भोजन आदि की व्यवस्था तो है नहीं, क्योंकि उनके कण्ठ में तो अमृत झरता है और वे तृप्त हो जाते हैं। हाँ, कामसुख वहाँ भी मनुष्यों के समान ही है क्योंकि वे कायप्रवीचार से युक्त होते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर–इनके शरीर की ऊँचाई और आयु कितनी होती है?

श्री ज्ञानमती माताजी–भवनवासी दिक्कुमार एवं अग्निकुमार देवों के शरीर की ऊँचाई दस धनुष होती है। इनकी आयु दस हजार वर्ष की है। ये अपनी शक्ति के द्वारा एक सौ मनुष्यों को मारने अथवा उनका पोषण करने में समर्थ होते हैं अर्थात् अपने सौ शत्रु मनुष्यों को एक साथ मार गिराने की क्षमता इनमें होती है तथा जिनके साथ उनकी मित्रता होती है ऐसे सौ मनुष्यों का एक साथ वे उपकार भी कर सकते हैं। उपकार या अपकार करना उनकी अपनी इच्छा की बात होती है।

क्षुल्लक मोतीसागर–इनके भवनों की और उनमें विराजमान जिनप्रतिमाओं की कितनी संख्या है?

श्री ज्ञानमती माताजी–इनके छियत्तर लाख भवन हैं और उनमें बयासी करोड़ आठ लाख जिनप्रतिमाएं हैं। जैसा कि मैंने लिखा है–

कोटि बियासी आठलख, जिनवर बिम्ब महान।
पूजत आत्म पियूष रस, मिले पंचकल्याण।।

दिक्कुमार देवों के भवनों में स्थित जिनालयों की अग्रलिखित स्तुति भी पठनीय है–

दोहा– **सर्व अकृत्रिम जिनभवन, अतिशय विभव धरन्त।**
नमूँ नमूं शिर नायके, निज गुणमणि विलसन्त।।1।।

नरेन्द्र छंद– **जय जय जय जिनमंदिर अनुपम, रत्न सुवर्ण विनिर्मित।**
जय जय तीन कोट है इनमें, चउ चउ गोपुर संयुत।।
चार चार गलियाँ अति लंबी, शोभे जिनमंदिर में।
इक इक मानस्तंभ व नौ-नौ, स्तूप प्रत्येक गली में।।2।।
परकोटे के अंतराल में, वनभूमी ध्वज भूमी।
अशोक सप्तच्छद चंपक अरु आम्रवनों की भूमी।।
इन चारों वन मध्य एक इक चैत्यवृक्ष अति ऊँचे।
प्रतिदिश जिनप्रतिमा से मण्डित छत्र चंवर युत दीपें।।3।।
नन्दा नन्दोत्तरा आदि बावड़ियाँ जल से पूर्णा।
फूलें कमल कुमुद फूलों से महकें कलकल पूर्णा।।
हंस बतख बहु पक्षिगणों के, कलरव ध्वनि से सुन्दर।
बावड़ियों में क्रीड़ा करते रमते सुरगण मनभर।।4।।
सिंह व गज अरु वृषभ गरुड़ शशि सूर्य मोर अरु हंसा।
कमल चक्र इन दश चिन्हों युत ध्वज फरहरें निशंका।।
ध्वज भूमी में रत्नध्वजाएं पवन झकोरे हिलतीं।
महाध्वजा प्रत्येक चिन्ह की इक सौ अठ अठ दिखतीं।।5।।
इक इक महाध्वजाश्रित इक सौ आठ आठ लघुध्वज हैं।
सर्वध्वजाएं बहु लहराएं गगनस्पर्श दिखत हैं।।
तृतिय कोट मधि चैत्यभूमि है जिनप्रतिमा से सुन्दर।
प्रति जिनगृह में जिनप्रतिमा हैं एक सौ आठ आठ वर।।6।।
देवच्छन्द के भीतर जिनप्रतिमा के उभय तरफ में।
श्रीदेवी श्रुतदेवी की हैं मूर्ती रत्न घटित में।।
यक्षदेव सर्वाण्हकुमार रु सनत्कुमारन मूर्ती।
मंगल द्रव्य आठ सब इक सौ आठ आठ की पूर्ती।।7।।

जिनगृह में मंडन मंडप अभिषेक व नर्तन मंडप।
संगीतरु आलोक सुक्रीड़ा स्वाध्यायादिक मंडप।।
मंगल कलश धूपघट घंटा स्वर्ण रजत मालाएं।
नानाविध शोभायुत गृह में सौम्य छवी प्रतिमाएं।।8।।

दोहा–

जय जिनप्रतिमा जिनभवन, चैत्य द्रु मानस्तंभ।
कोटि कोटि वंदन करूँ ज्ञानमती सुखकन्द।।9।।

अग्निकुमार देवों में स्थित जिनालयों की वंदना इस प्रकार है–

शेरछंद–

जय जय श्री जिनदेव देव हमारे।
जय जय प्रभो! तुम सेव करें सुरपति सारे।।
जय जय अनंत सौख्य के भंडार आप हो।
जय जय समस्त भव्य के सर्वस्व सार हो।।1।।
जो भव्य भक्ति से तुम्हें निज शीश नावते।
वे शिरो रोग नाश स्मृति शक्ति पावते।।
जो एकटक हो नेत्र से प्रभु आपको निरखें।
उन मोतिबिंदु आदि नेत्र व्याधियाँ नशें।।2।।
जो कान से अति प्रीति से तुम वाणि को सुनें।
उनके समस्त कर्ण रोग भागते क्षण में।।
जो मुख से आपकी सदैव संस्तुति करें।
मुख दंत जिह्वा तालु रोग शीघ्र परिहरें।।3।।
जो कंठ में प्रभु आपकी गुणमाल पहनते।
उनके समस्त कंठ ग्रीवा रोग विनशते।।
श्वासोच्छ्वास से जो आप मंत्र को जपते।
सब श्वास नासिकादि रोग उनके विनशते।।4।।
जो निज हृदय कमल में आप ध्यान करें हैं।
वे सर्व हृदय रोग आदि क्षण में हरें हैं।।
जो नाभि कमल में तुम्हें नित धारते मुदा।
नश जातीं उनकी सर्व उदर व्याधियाँ व्यथा।।5।।
जो पैर से जिनगृह में आते नृत्य करें हैं।
वे घुटने पाद रोग सर्व नष्ट करें हैं।।
पंचांग जो प्रणाम करें आपको सदा।
उनके समस्त देह रोग क्षण में हों विदा।।6।।

जो मन में आपके गुणों का स्मरण करें।
वे मानसिक व्यथा समस्त ही हरण करें।।
ये तो कुछेक फल प्रभो तुम भक्ति किये से।
फल तो अचिन्त्य है न कोई कह सके उसे।।7।।
तुम भक्ति अकेली समस्त कर्म हर सके।
तुम भक्ति अकेली अनंत गुण भी भर सके।।
तुम भक्ति भक्त को स्वयं भगवान बनाती।
फिर कौन सी वो वस्तु जिसे ये न दिलाती।।8।।
अतएव नाथ! आप चरण की शरण लिया।
संपूर्ण व्यथा मेट दीजिए अरज किया।।
अन्यत्र नहीं जाऊंगा मैंने परण किया।
बस ज्ञानमती पूरिये यह ही धरन दिया।।9।।

निंदक-अपकारी भी भले हैं

तीर्थेशा सदृशो गुणैरनणुभिः सर्वेऽपि धैर्यादिभिः,
सन्त्यप्येवमधीश विश्व विदितास्ते ते गुणा प्रीणनाः।
तत्सर्वं कमठात्तथाहि महतां शत्रौः कृतापक्रियात्,
ख्यातिर्या महती न जातुचिदसौ मित्रात्कृतोपक्रियात्।।

हे स्वामिन्! धैर्य आदि बड़े-बड़े गुणों से यद्यपि सभी तीर्थंकर समान हैं तथापि सबको संतुष्ट करने वाले जो गुण संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं वे सब एक कमठ के कारण ही प्रसिद्ध हुए हैं। सो ठीक है क्योंकि अपकार करने वाले शत्रु से महापुरुषों की जो ख्याति होती है वह उपकार करने वाले मित्र से कभी नहीं होती?

–श्री गुणभद्राचार्य, उत्तरपुराण

प्रवचन–85

भवनवासी वायुकुमारदेव

(गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी से क्षुल्लक मोतीसागर जी की एक वार्ता)

क्षुल्लक मोतीसागर– वंदामि माताजी!

श्री ज्ञानमती माताजी– बोधिलाभोऽस्तु!

क्षुल्लक मोतीसागर– भवनवासी देवों के दस भेदों में से 5 भेदों का विश्लेषण तो आपसे मैं प्राप्त कर चुका हूँ। अब 10वाँ भेद जो ''वायुकुमार'' नाम का है उसके बारे में मैं आपसे जानना चाहता हूँ।

श्री ज्ञानमती माताजी– वैसे तो भवनवासी लगभग समस्त देवों की व्यवस्था समान है फिर भी जो थोड़ी भिन्नता है वह मैं बताती हूँ।

क्षुल्लक मोतीसागर– क्या ये भी अधोलोक में ही निवास करते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– हाँ, अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में वायुकुमार नाम के असुरकुमार देवों का निवास रहता है।

क्षुल्लक मोतीसागर– वायुकुमार देवों के मुकुटों में क्या चिन्ह होता है?

श्री ज्ञानमती माताजी– इनके मुकुटों में घोड़े का चिन्ह बना होता है जिससे इनकी पहचान होती है। मैंने तीनलोक विधान में एक दोहा लिखा है–

वायुकुमारन मुकुट में, तुरग चिन्ह द्रुतगामि।
इनके जिनगृह को जजूँ, कुसुमांजलि बिखरामि।।

क्षुल्लक मोतीसागर– इनमें भी तो दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र की व्यवस्था होगी?

श्री ज्ञानमती माताजी– हाँ, वायुकुमार देवों में भी एक दक्षिणेन्द्र और एक उत्तरेन्द्र होता है। इनमें से दक्षिणेन्द्र का नाम वेलंब है तथा उत्तरेन्द्र का नाम प्रभंजन है।

क्षुल्लक मोतीसागर– इन वायुकुमार देवों के कुल कितने भवन होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी– इनके कुल छ्यानवे लाख भवन होते हैं जिनमें प्रत्येक मंदिरों में 108/108 जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं अतः वहाँ की प्रतिमाओं की कुल संख्या एक सौ तीन करोड़ अड़सठ लाख है। इन सबको मन, वचन, काय से नमस्कार करना चाहिए।

क्षुल्लक मोतीसागर– इनके भवनों में जो चैत्यवृक्ष है वह किस चीज का है?

श्री ज्ञानमती माताजी– उनके चैत्यवृक्ष का नाम है-राजद्रुम, इसे चिरौंजी का वृक्ष कहते हैं। चैत्यवृक्ष तो इसे इसलिए कहते हैं कि इस वृक्ष पर चारों दिशाओं में जिनमंदिर बने होते हैं। जिसमें पाँच-पाँच जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—उन प्रतिमाओं की पूजन कौन करता है?

श्री ज्ञानमती माताजी—तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में वर्णन आता है कि—

सम्मत्तरयणजुत्ता, णिब्भर भत्तीय णिच्चमच्चन्ति।
कम्मक्खवणणिमित्तं, देवा जिणणाहपडिमाओ।।54।।

अर्थात् जो देव सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से युक्त हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि हैं वे कर्मक्षय के निमित्त नित्य ही इन जिनप्रतिमाओं की भक्ति से पूजा करते हैं।

तथा मिथ्यादृष्टि देवों के लिए कथन आया है—

कुलदेवा इदि मण्णिय अण्णेहिं बोहिया बहुपयारं।
मिच्छाइट्ठी णिच्चं, पूजंति जिणिंदपडिमाओ।।55।।

इसका अभिप्राय यह है कि अन्य सम्यग्दृष्टि देवों से सम्बोधित किये गये मिथ्यादृष्टि देव भी कुलदेवता मानकर उन जिनेन्द्र मूर्तियों की नित्य ही बहुत प्रकार से पूजा करते हैं।

यह तो हुई देवों के द्वारा पूजन की बात, इसके अतिरिक्त मनुष्य भी परोक्ष रूप से अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा में भवनवासी देवों के मंदिरों की भी पूजन करते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—भवनवासियों के कुल कितने मंदिर होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—इनके भवनों की संख्या सात करोड़ बहत्तर लाख है। ये भवन अनादिनिधन होते हैं इन्हें न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई नष्ट कर सकता है।

क्षुल्लक मोतीसागर—इन भवनवासी देवों के कितने ज्ञान होते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—इनमें जो सम्यग्दृष्टि देव होते हैं उनके मति, श्रुत, अवधि ये तीन सम्यग्ज्ञान होते हैं एवं जो मिथ्यादृष्टि हैं उनके कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन कुज्ञान (मिथ्याज्ञान) होते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—पूज्य माताजी! इन देवों में गुणस्थान व्यवस्था कैसी होती है?

श्री ज्ञानमती माताजी—इनमें अपनी-अपनी योग्यतानुसार प्रारंभ के 4 गुणस्थान (मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि) होते हैं। मिथ्यादृष्टि देवों के तो एक प्रथम गुणस्थान ही होता है तथा अपर्याप्त अवस्था में इनके मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं एवं पर्याप्त अवस्था में चारों ही हो सकते हैं।

क्षुल्लक मोतीसागर—किन कर्मों के कारण जीव इन भवनवासियों में जन्म लेते हैं?

श्री ज्ञानमती माताजी—ज्ञान और चारित्र के विषय में जिन्होंने शंका को दूर नहीं किया है, जो क्लिष्ट भाव से युक्त हैं, कलहप्रिय और पापिष्ठ जीव ही इन भवनवासी देवों में जन्म धारण करते हैं परन्तु विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव इन देवों में कदापि जन्म नहीं लेते हैं। भवनवासी देवों के वायुकुमार जाति के देवों के जिनालय की यह वंदना भी पठनीय है—

शंभु छंद— **जय जय जय वायुकुमारों के जिनमंदिर शाश्वत रत्नमयी।**
जय जय जय जिनवर प्रतिमाएं देदीप्यमान मणिरत्नमयी।।
जय जय जय चैत्यवृक्ष मनहर ये पृथ्वीकायिक रत्नमयी।
जय जय जय मानस्तंभ सकल जिनप्रतिमा संयुत रत्नमयी।।1।।
सुरभवनवासि दश भेदों में प्रत्येक में दो-दो इन्द्र कहे।
दो-दो ही उनमें हैं प्रतीन्द्र सब मिल ये चालिस इन्द्र भये।।
नर नानाविध तप तप करके इन इन्द्र विभव को पाते हैं।
उपपाद सुशय्या से जन्में नवयौवन तनु पा जाते हैं।।2।।
अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही अवधी विभंग पा लेते हैं।
निज पुण्य उदय सुर विभव देख मंगल सुवस्त्र धर लेते हैं।।
फिर जिनमंदिर में जा करके कुलदेव मान पूजा करते।
कोई-कोई जातिस्मृति से तत्क्षण सम्यक्त्व निधी लभते।।3।।
कोई सुरदेव ऋद्धि लखकर कोई जिनमहिमा को लखके।
कोई धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व रत्न धारण करते।।
ये सम्यग्दृष्टी अतिशायी जिनभक्ति वंदना करते हैं।
मिथ्यादृष्टी कुलदेव मान जिननाथ अर्चना करते हैं।।4।।
ये पुण्य संपदा संचित कर च्युत हो मानव तन पाते हैं।
फिर मुनि हो घोर तपस्या कर शिवरमाकान्त हो जाते हैं।।
नासाग्रदृष्टि जिनप्रतिमाएं पद्मासन सहित विराजे हैं।
जो इनके दर्शन कर लेते वे आतमज्योति प्रकाशे हैं।।5।।
ये धन्य-धन्य जिनवर प्रतिमा स्वयमेव अचेतन होती हैं।
जो चेतन भक्ति करें इनकी उनको मनवांछित देती हैं।।
मैं नितप्रति वंदन भक्ति करूँ पूजन अर्चन स्तवन करूँ।
निज ज्ञानमती लक्ष्मी पाकर निज में ही सुख आनंद भरूँ।।6।।

दोहा— **धन्य धन्य यह शुभ घड़ी, जिन भक्ती की आज।**
धन संपति संतति बढ़े, मिले मोक्ष साम्राज।।

क्षुल्लक मोतीसागर—भवनवासी के दशों भेदों की आपसे जानकारी प्राप्त करके काफी ज्ञान प्राप्त हुआ है। आपके श्रीचरणों में नमन करते हुए मैं इस लेखनी को यहीं विराम देता हूँ।

प्रवचन–86

चतुर्थगुणस्थान में आत्मानुभूति

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत (अध्यक्ष-अ.भा. दिगम्बर जैन शास्त्रिपरिषद) का एक विशेष साक्षात्कार

डॉ. श्रेयांस–पूज्य माताजी! वंदामि, आज हम लोग आपसे 'चतुर्थ गुणस्थान की पात्रता' के विषय में विद्वानों के बीच चलने वाली ऊहापोह के विषय में समाधान प्राप्त करने हेतु उपस्थित हुए हैं। इस क्रम में मेरा प्रथम प्रश्न है–

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को निश्चल अनुभूति हो सकती है या नहीं?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास, अनुभूति ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी को यह प्रतिभास रहता है कि देह अलग है, आत्मा अलग है अर्थात् उसे भेदविज्ञान का दृढ़ श्रद्धान रहता है अतः इस अनुभूति को माननेमें कोई दोष नहीं है पर निश्चल अनुभूति या निर्विकल्प ध्यान या निर्विकल्प समाधि या शुद्धोपयोग जिसे कहते हैं, उस रूप अनुभूति चतुर्थ गुणस्थान में नहीं हो सकती।

अर्थात् श्रद्धानरूप से प्रतीति या अनुभूति मानने में दोष नहीं है पर चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग मानना आगमसम्मत नहीं है।

डॉ. श्रेयांस–अर्थात् आगम वाक्य श्रद्धा चतुर्थगुणस्थानवर्ती को हो सकती है पर क्या श्रद्धा रूप अनुभव उसके लिए संभव है? परमात्म प्रकाश गाथा नं. 12 की टीका में चतुर्थ, पंचम, षष्ठ गुणस्थानवर्ती के लिए सराग स्वसंवेदन कहा है तो इस गुणस्थान में आंशिक शुद्धोपयोग की संभावना है क्या?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–शुद्धोपयोग शब्द कहने से आगम में बाधा आती है क्योंकि आचार्यों ने शुद्धोपयोग को सातवें गुणस्थान से ही माना है। अंश में तो हम यह भी कह देते हैं कि हमारा श्रुतज्ञान केवलज्ञान का अंश है, केवलज्ञान का बीज है, परन्तु हमारा श्रुतज्ञान केवलज्ञान नहीं है, केवलज्ञान अलग ही है। इसी प्रकार मुनियों को जो शुद्धोपयोग होता है, वह अलग ही होता है, उसकी श्रद्धा, विश्वास, प्रतीति तो सातवें गुणस्थान से पूर्व होती है, पर वह साक्षात् नहीं होता है।

यदि सातवें गुणस्थान से पूर्व हम शुद्धोपयोग का अंश मानें तो आचार्य स्वयं कहते कि शुद्धोपयोग का प्रारंभ हो गया है, भले ही अत्यंत सूक्ष्म रूप में अथवा अत्यंत अल्प समय के लिए, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं कहा। वरन् प्रवचनसार गाथा 9 की तात्पर्यवृत्ति टीका (पृष्ठ 20) में स्पष्टतया उल्लिखित है–

''मिथ्यात्व-सासादन मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः तदनंतरमसंयत-

सम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनंतरम–प्रमत्तादिक्षीण-कषायान्तगुणस्थानषट्केतारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनंतरं सयोग्ययेगी-जिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति।''

अर्थात् मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग है, इसके बाद असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तविरत इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से शुभोपयोग है, इसके अनन्तर अप्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय तक इन छह गुणस्थानों में तरतमता से शुद्धोपयोग है.....आदि।

यहाँ चौथे-पाँचवे और छठे गुणस्थान में आचार्यों ने तरतमता से शुद्धोपयोग नहीं बताया वरन् शुभोपयोग बताया और आगे स्पष्ट रूप से कह दिया कि सातवें गुणस्थान से लेकर अगले 6 गुणस्थानों में अर्थात् 12वें गुणस्थान तक तरतमता से शुद्धोपयोग है। ऐसा हो सकता है कि उन पूर्वाचार्यों के समक्ष भी इस प्रकार की शंकाएँ आती होंगी, तभी उन्होंने इतना स्पष्ट रूप से बताया है।

अतः हम सातवें गुणस्थान से पूर्व शुद्धोपयोग का अंश न मानें। शुद्धनिश्चयनय सेमैं सिद्ध हूँ, यह बात श्रद्धान रूप में कही जाती है, श्रद्धान का अर्थ ये नहीं है कि अंश रूपमें हम सिद्ध हो गये, वरन् हम श्रद्धानरूप में सिद्ध हैं अतः शुद्धोपयोग रूप चिंतन अवश्य करना चाहिए परन्तु शुद्धोपयोग का अंश प्रारंभ हो गया है, ऐसा मानने में बाधा आती है।

डॉ. श्रेयांस–अर्थात् इसे आगम वाक्य श्रद्धा तो कहा जा सकता है, परन्तु तद्रूप अनुभूति या अनुभव नहीं कहा जा सकता, यदि कहा जा सकता हो तो बतावें?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–शब्दों में इसे अनुभव रूप कह सकते हैं पर शुद्धोपयोग रूप अनुभव यह नहीं है अथवा निर्विकल्प रूप अनुभव यह नहीं है। यह सविकल्प रूप अनुभव है। निश्चल अनुभूति रूप एकाग्रता मुनियों के शुद्धोपयोग में ही होती है।

पूज्य चंदनामती माताजी–सविकल्प अनुभव को तो शुद्धोपयोग का नाम दिया ही नहीं जा सकता, वह नाम तो निर्विकल्प अनुभव के लिए ही है।

डॉ. श्रेयांस–माताजी! इसका अर्थ क्या हम ये समझें कि उपयोग आत्मा की एक समय की एकाग्रता रूप अनुभूति है और उसमें अंश-अंशी का भेदपना नहीं पाया जाता है?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–हाँ! इसमें यह भेदपना नहीं माना जा सकता है। अंश रूप में यदि शुद्धोपयोग मानें तो आचार्यों की वाणी से बाधा आती है, अतः हम शुद्ध निश्चयनय की प्रतीति, प्रतिभास तो कह सकते हैं, पर उसका अंश नहीं कह सकते।

डॉ. श्रेयांस–माताजी! कृपया हमें बतायें कि आचार्यों के कौन-कौन से ऐसे वाक्य हैं, जिनसे विरोध आता है?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–एक तो 'जयसेन स्वामी' का मैंने आपको पहले उदाहरण बताया कि **'तदनंतरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुण-स्थानषट्केतारतम्येन शुद्धोपयोगः'** अतः यहाँ चौथे-पाँचवे-छठे गुणस्थान में शुद्धोपयोग की बात ही नहीं कही। पुनः

अनगारधर्मामृत टीका में भी इसी से मिलते-जुलते वाक्य हैं, उन्होंने 11-12वें गुणस्थान में ही वीतराग चारित्र को घटित किया है, जो अभेदरत्नत्रय अथवा शुद्धोपयोग के साथ अविनाभूत है। चारित्र के दो भेद किये हैं-अपहृत संयम और उपेक्षा संयम, इसी प्रकार शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग दो भेद हैं, सराग चारित्र और वीतराग चारित्र ये दो भेद हैं। पूर्ण वीतराग चारित्र तो 11-12वें गुणस्थान में ही घटेगा, जहाँ मोहनीय का बिल्कुल अभाव हो गया, लेकिन फिर भी जयसेनाचार्य के शब्दों में सातवें गुणस्थान से ही उपेक्षा संयम अथवा वीतराग चारित्र अथवा शुद्धोपयोग को मान लिया गया है।

पण्डित आशाधर जी ने अनगारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में वीतराग चारित्र अथवा वीतराग संयम को 11वें-12वें गुणस्थान में ही घटित किया है।

डॉ. श्रेयाँस—पूज्य माताजी! अभी आपने चारित्र और सम्यक्त्व को एक रूप में अनुभव के साथ जोड़ने का क्रम बताया है जबकि चारित्र अलग है और सम्यक्त्व अलग है और इसलिए अलग-अलग ही उसकी अनुभूति होनी चाहिए और अलग-अलग ही उसकी पात्रता होनी चाहिए।

पूज्य ज्ञानमती माताजी—देखिए! चतुर्थगुणस्थान में मात्र सम्यग्दर्शन है, चारित्र नहीं है, इसीलिए उसे कहा जाता है 'असंयत सम्यग्दृष्टि'।

जबकि जो चारित्र वीतराग सम्यक्त्व के साथ अविनाभावी है, वह वीतराग चारित्र है अर्थात् यह वीतराग चारित्र वीतराग सम्यक्त्व के बिना घटित ही नहीं होगा।

समयसार में व्यवहारनय से पंचपरमेष्ठी की भक्ति को सम्यक्त्व कहा गया है, परन्तु जहाँ तक निश्चय सम्यक्त्व की बात है वह चौथे गुणस्थान में घटित ही नहीं होता क्योंकि वह वीतरागचारित्र के साथ अविनाभावी है, जो छठे गुणस्थान के बाद ही घटित होगा। यथा-समयसार गाथा 173 से 176 की तात्पर्यवृत्ति टीका (पृ. 43) में लिखा है—

''भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनरूपा निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति।''

''भक्ति ही पुनः सम्यक्त्व कहलाती है। व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों की भक्ति पंचपरमेष्ठी के आराधनरूप है और निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों की भक्ति शुद्धात्मतत्त्व की भावनारूप है।''

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्धात्मतत्त्व की भावनारूप भक्ति छठे गुणस्थान के ऊपर वाले वीतरागियों के ही होती है।

पुनः मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा 43 प्रकृतियों के बंध का अभाव हो जाने से पंचमगुणस्थानवर्ती 'सराग सम्यग्दृष्टि' है। छठे गुणस्थान तक सराग सम्यग्दर्शन है और वहीं तक सराग चारित्र है।

डॉ. श्रेयांस—स्वामी अकलंक देव ने क्षायिक सम्यग्दृष्टी को वीतराग सम्यग्दृष्टि कहा है तो इस अपेक्षा से वह निश्चय सम्यग्दृष्टी होकर शुद्धोपयोगी माना जाना चाहिए।

पूज्य ज्ञानमती माताजी—यह कथन सम्यक्त्व की अपेक्षा है। निश्चय सम्यक्त्व तो सातवें गुणस्थान से ही होगा, इसके पूर्व नहीं।

मुझे ऐसा लगता है कि चल, मलिन, अगाढ़ आदि दोषों का अभाव हो जाने से उत्पन्न निर्दोषत्व की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टी को वीतराग सम्यग्दृष्टि कहा गया होगा।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टी में आत्मविशुद्धी होती है परन्तु यह आत्मविशुद्धी शुद्धोपयोग रूप नहीं है। शुद्धोपयोग तो श्रेणी में ही होता है।

प्रवचनसार की गाथा नं. 238 में कहा है—

जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमेत्तेण।।238।।

अर्थात् अज्ञानी कोटिसहस्र भवों में जितने कर्मों की निर्जरा करता है, ज्ञानी तीन गुप्ति से रक्षित होकर एक श्वासमात्र में उतने कर्मों की निर्जरा कर देता है।

दौलतराम जी ने भी छहढ़ाला में यही बात कही है—

कोटिजन्म तप तपै, ज्ञानबिन कर्म झरै जै।
ज्ञानी के छिन में त्रिगुप्तितैं सहज टरै ते।।

देखने का विषय यह है कि 'त्रिगुप्ति' किन को होती है। अरे! जब मुनियों में से भी सभी मुनियों को त्रिगुप्ति नहीं होती, विरले मुनियों को ही होती है, तो चतुर्थगुणस्थान में तो अभी महाव्रत और समिति ही नहीं है तो गुप्ति कैसे हो जायेगी?

इस प्रकार दौलतराम जी की पंक्ति आगम से असम्मत नहीं है, मात्र उसके अर्थ का विर्पयास वर्तमान में हो गया है और इस पंक्ति में वर्णित 'ज्ञानी' को लोग चतुर्थगुणस्थान में घटित करने लगे हैं।

डॉ. श्रेयांस—माताजी! आपने बताया कि चतुर्थगुणस्थान में चारित्र नहीं होता, जबकि स्वामी भट्टाकलंकदेव ने 'राजवार्तिक' की प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में ही लिख दिया है—**'सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रं उत्तरं भजनीयम्।'** भजनीयम् का अर्थ हो जाता है कि चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, तब ऐसा कैसे संभव है?

पूज्य ज्ञानमती माताजी—इसका सीधा अभिप्राय यही है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् कोई चारित्र ग्रहण कर भी सकता है अथवा नहीं भी कर सकता है अर्थात् चौथे गुणस्थान में ही बना रह सकता है। इसका अर्थ ये नहीं है कि चतुर्थगुणस्थान में चारित्र है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

अतः भजनीयम् का अर्थ यही है कि कोई उसी भव में चारित्र ग्रहण कर लेता है,

कोई नहीं करता है। जैसे-नारकी चारित्र ग्रहण नहीं कर सकते, देव भी चारित्र ग्रहण नहीं कर सकते, तिर्यंचों और मनुष्यों में चारित्र ग्रहण कर भी सकते हैं, नहीं भी कर सकते हैं अन्यथा असंयत सम्यग्दृष्टि में उनकी गणना हो ही नहीं पायेगी।

डॉ. श्रेयांस–आपकी बात बिल्कुल ठीक है, उत्तरपुराण में भी यही बात कही है–

सततमेव सम्यक्त्वज्ञानाभ्यां चरितं मतम्।
स्यातां विनापि तेन तेन गुणस्थाने चतुर्थके।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान से सहित ही सम्यग्चारित्र होता है, परन्तु चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान तो होता है, पर सम्यग्चारित्र नहीं होता। अर्थात् 'भजनीयम्' का अर्थ 'हो सकता है', यह न लेकर ग्रहण करने के ही अर्थ में लेनाचाहिए।

पूज्य ज्ञानमती माताजी–हाँ! यह बिल्कुल उचित है क्योंकि **'निश्चयचारित्राविना-भावीवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा**.....।' (समयसार गाथा 74, तात्पर्य वृ.टी.पृ. 122)

अर्थात् जो निश्चय चारित्र के साथ अविनाभावी है वही वीतराग सम्यग्दर्शन होताहै।

डॉ. श्रेयांस–एक प्रश्न और है, माताजी! चतुर्थगुणस्थानवर्ती का वेद्य-वेदक भाव क्या है? क्या वह मात्र सुख का वेदक है या उसे दुख का अनुभवन भी है?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–चतुर्थगुणस्थानवर्ती दुःख का अनुभव तो करते हैं। उदाहरण के लिए राजा श्रेणिक का जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टी एवं चतुर्थगुणस्थानवर्ती है तथा इस समय नरक में हैं तो वहाँ उनके प्रतिक्षण सुख का वेदन हो रहा है, यह हम कह ही नहीं सकते। जिस क्षण तत्व की ओर दृष्टि जाती होगी, अवधिज्ञान से सोचते होंगे कि मैं तीर्थंकर का जीव हूँ, कर्म के उदय से मुझे यह दुःख मिल रहा है, उस समय उन्हें शांति मिल जाती होगी परन्तु जो त्रास-संताप एवं शारीरिक पीड़ा उस जीव को प्रतिक्षण झेलनी पड़ती है, उससे दुःख का अनुभवन न आये, ऐसा नहीं है।

और उदाहरण हम देख सकते हैं। सीता का वियोग हुआ तो राम को दुःख हुआ, यदि दुःख व चिंता नही हुई होती, तो वह अनेक उपाय करके सीता को खोजने का प्रयास क्यों करते? इसी प्रकार जब चक्ररत्न अयोध्या में प्रविष्ट नहीं हुआ, तब भरतचक्रवर्ती को क्लेश हुआ और जब उन्होंने चक्र चलाया होगा, तो आर्तध्यान न हुआ हो, ऐसा संभव नहीं है। अंतर यही है कि शारीरिक वेदना की स्थिति में सम्यग्दृष्टी जीव जब यह चिंतन करता है कि वेदना शरीर को है आत्मा को नहीं तो उसको उस क्षण मानसिक शांति मिल जाती है, परन्तु शारीरिक वेदना तो बनी ही रहती है। इस प्रकार सुख और दुःख दोनों का वेदन होता है।

डॉ. श्रेयांस–क्या वह चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव दुःख को अपना मानता है या उसमें उदासीन रहता है?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–बार-बार उस दुःख की ओर से अपनी दृष्टि को हटाना,

उदासीन होने का प्रयास करना सम्यग्दृष्टी का कार्य है परन्तु वह दुःख का अनुभव करता ही नहीं है, ऐसा हम नहीं मान सकते।

आप मुनियों का उदाहरण लें। छठे गुणस्थान में असाता की उदीरणा मानी है, अर्थात् उपसर्ग छठे गुणस्थान तक होता है अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो छठे गुणस्थान तक मुनियों को उपसर्ग का अनुभव आता है, अब जैसे ही उपसर्ग से उनका ध्यान हटा और आत्मा में स्थिर हुआ, उन्हें दुःख का अनुभव आना समाप्त हो जाता है।

देखिए! भगवान पार्श्वनाथ पर सात दिन तक उपसर्ग हुआ और इन सात दिनों तक यदि उनकी निर्विकल्प ध्यान की स्थिति मानी जाये, तो उन्हें केवलज्ञान हो जाना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं हुआ, सात दिन तक वह छठे-सातवें गुणस्थान में आते-जाते रहे, छठे में आते तो उन्हें उपसर्ग का अनुभव आता और सातवें में चढ़ जाते तो उन्हें उपसर्ग का अनुभव आना बंद हो जाता, यही स्थिति सात दिन तक चलती रही।

डॉ. श्रेयांस–पूज्य माताजी! एक पद्य आता है–

'चिन्मूरति दृगधारी की मोहे रीति लागत अटापटी
सदन निवासी तदपि उदासी तातैं आस्रव छटाछटी'

अर्थात् सम्यग्दृष्टी बिल्कुल उदास रहता है, इस कथन के विषय में आप क्या कहना चाहेंगी?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–यह कथन प्रतिक्षण की अपेक्षा नहीं है। सम्यग्दृष्टी अधिकतम उदास रह सकता है पर जिस समय खाना खाता है अथवा अन्य क्रियाएँ करता है, उस समय तद्रूप परिणाम होना कोई असंभव नहीं है। वास्तव में तो सम्यग्दृष्टी को रौद्रध्यान भी हो सकता है।

जैसे मुनियों के छठा-सातवाँ गुणस्थान अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त के लिए हुआ करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी को भावों में तरतमता चला करती है, उसे गुणस्थान बदलना नहीं कहते हैं। कोई समय ऐसा आता है कि वह सांसारिक कार्यों में दत्तचित्त हो रहा है, उस समय उसे 'चिदानंद चैतन्य के रस की गटागटी' नहीं है परन्तु अधिकतम समय वह तत्वचिंतन करता है, संसार से उदासीन रहता है, यह समझना है।

डॉ. श्रेयांस–माताजी! इस संदर्भ में कोई गाथा भी है क्या?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–रत्नकरण्डश्रावकाचार में कथन है–

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पंचगुरुचरणशरणः दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः।।

सम्यग्दृष्टी संसार, शरीर, भोगों से उदास तो रहता है, पर यह उदासीनता 24 घंटे उपयोग रूप नहीं मानी जा सकती, कभी शक्तिरूप से तो कभी व्यक्तरूप से हमें मानना पड़ेगा। सर्वथा एकांतरूप से सदैव व्यक्त अवस्था ही नहीं मानी जा सकती।

डॉ. श्रेयांस–माताजी! यह स्पष्ट हो गया है कि–

''परिणमदि जेणदव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं''

अर्थात् कुंदकुंद स्वामी के कथन सर्वथा उचित सिद्ध होते हैं कि जिस काल में जीव जो कार्य करता है, उस काल में उसका वैसा ही परिणमन हो जाता है।

पूज्य ज्ञानमती माताजी–हाँ! अंतर इतना ही है कि मिथ्यादृष्टि के भावों में दुःख-सुख से एकमेक अवस्था रहती है और सम्यग्दृष्टी के भावों में भिन्नता जरूर अनुभव में आती है तथा मिथ्यादृष्टी की पापबंध की ओर कोई दृष्टि नहीं रहती जबकि सम्यग्दृष्टी तत्वचिंतन द्वारा इससे बचने का सदैव प्रयास करता है।

पूज्य चन्दनामती माताजी–पूज्य माताजी! जहाँ तक मैंने समझा है कि अविरत सम्यग्दृष्टी को शुद्धोपयोग नहीं हो सकता तो कृपया ये बताएँ कि क्या पंचम काल के मुनियों को शुद्धोपयोग माना जा सकता है तथा ग्यारह अंग तक का ज्ञान धारण करने वाली आर्यिकाओं को शुद्धोपयोग की संभावना है क्या?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–शास्त्रों में यह स्पष्ट है कि पंचमकाल के अंत तक भावलिंगी मुनि रहेंगे, जिनके छठा-सातवाँ गुणस्थान निश्चित ही रहेगा, तो उनके सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग मानने में कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि उनको स्वस्थान अप्रमाद ही है, सातिशय अप्रमत्त नहीं हो सकता तो भी उनके लिए शुद्धोपयोग का प्रारंभ माना जा सकता है।

जहाँ तक आर्यिकाओं का प्रश्न है तो अनुभूति, श्रद्धा, प्रतीति तो उन्हें है तथा ग्यारह अंग का ज्ञान होने से उनमें आत्म-निर्मलता भी है पर यह शुद्धोपयोग रूप नहीं है, यह निश्चित है। वास्तव में वस्त्रधारी को शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है।

डॉ. श्रेयांस–माताजी! आचार्यश्री जयसेन स्वामी ने सातवें गुणस्थान में निरतिशय में भी शुद्धोपयोग को माना है, जबकि आचार्यश्री अमृतचंद्रसूरि ने श्रेणी से पूर्व शुद्धोपयोग को माना ही नहीं है, शुक्लध्यान और शुद्धोपयोग को पर्यायवाची माना है, उस पर आपका क्या अभिमत है?

पूज्य ज्ञानमती माताजी–मूलाचार एवं षट्खण्डागम की दसवीं पुस्तक में धर्मध्यान को दसवें गुणस्थान तक माना है, शुक्लध्यान को ग्यारहवें से ही माना है। परन्तु ज्ञानार्णव, सर्वार्थसिद्धि आदि में श्रेणी में भी शुक्लध्यान को मान लिया गया है, धर्मध्यान को सातवें तक पुनः सातिशय अप्रमत्त से लेकर आगे के गुणस्थानों में अर्थात् श्रेणी में शुक्लध्यान माना है, इसी प्रकार हम शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग की बात भी आचार्यों के कथन की अपेक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

डॉ. श्रेयांस–माताजी! आज आपके पास आकर बहुत सी जिज्ञासाएँ शांत हुई हैं, मुझे विश्वास है कि पाठकगणों को भी इस चर्चा से उचित मार्गदर्शन प्राप्त हो सकेगा। आपका दिशानिर्देश इसी प्रकार हमें प्राप्त होता रहे, इसी भावना के साथ आपके श्रीचरणों में विनम्र वंदन ज्ञापित करता हूँ।